वेदार्थ-विज्ञानम्

वैदिक पदों का रहस्यमय विज्ञान

भाग ४

महर्षि यास्क
विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या

आचार्य अग्निव्रत

ओ३म्

वेदार्थ-विज्ञानम्

(महर्षि यास्क विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या)

भाग—४

व्याख्याकार

आचार्य अग्निव्रत

प्रमुख, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास
(संचालक वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान)

सम्पादक

डॉ. मधुलिका आर्या एवं विशाल आर्य

उपप्राचार्या एवं प्राचार्य, वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान

द वेद साइंस पब्लिकेशन

भीनमाल (राज.)

प्रथम संस्करण
वर्ष 2024

महर्षि दयानन्द २००वाँ जन्मदिवस, फाल्गुन कृष्ण १०/२०८०
05 मार्च 2024

मूल्य : ₹6,000/- (सभी चार भागों का)

प्रकाशक : **द वेद साइंस पब्लिकेशन**
वेद विज्ञान मन्दिर, भागलभीम, भीनमाल
जिला - जालोर (राजस्थान) - 343029
वेबसाइट : www.thevedscience.com, www.vaidicphysics.org
ईमेल : thevedscience@gmail.com
सम्पर्क सूत्र : 9530363300

अनुक्रमणिका

भाग—१

भाग—३

दैवत-काण्डम्

भाग—४

परिशिष्टम्

* * * * *

अथ दशमोऽध्यायः

= प्रथमः खण्डः =

अथातो मध्यस्थाना देवताः। तासां वायुः प्रथमागामी भवति। वायुर्वातेः। वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। एतेरिति स्थौलाष्ठीविः। अनर्थको वकारः। तस्यैषा भवति॥ १ ॥

पृथिवीस्थानी देवताओं की व्याख्या के अनन्तर अब मध्यमस्थानी देवताओं की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। यहाँ मध्यम शब्द का क्या अर्थ है, इस विषय में हमारा मत यह है कि पृथिवी और द्युलोक के बीच में जो स्थान होता है, उसे मध्यम स्थान कहते हैं। उधर ग्रन्थकार ने पूर्व में खण्ड २.१० में लिखा है— 'अन्तरिक्षं कस्मात् अन्तरा क्षान्तं भवति अन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा'। इसकी व्याख्या हम यथास्थान कर चुके हैं। यहाँ अन्तरिक्ष पद का निर्वचन उद्धृत करने का उद्देश्य यह है कि मध्यम स्थान और अन्तरिक्ष दोनों ही पदार्थ समान सिद्ध होते हैं। इस प्रकार मध्यमस्थानीय पदार्थ का तात्पर्य अन्तरिक्ष ही सिद्ध होता है। इन स्थानों में जितने भी पदार्थ विद्यमान होते हैं, वे मध्यमस्थानी अर्थात् अन्तरिक्षस्थानी कहलाते हैं। इन मध्यमस्थानी देवता रूप पदार्थों में वायुतत्त्व सर्वप्रथम उत्पन्न होता है और यह व्यापक रूप से फैला हुआ भी होता है।

यहाँ 'वायुः' पद का निर्वचन करते हुए कहा है— 'वायुर्वातेः वेतेर्वा स्याद् गति-कर्मणः' अर्थात् यह पद 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस धातु के अर्थ हैं— हिलना-डुलना, प्रहार करना, क्षति पहुँचाना आदि। इसके साथ ही ग्रन्थकार इस धातु को गति अर्थ में भी मानते हैं। इस प्रकार वायु वह पदार्थ है, जो आकाश की उत्पत्ति के पश्चात् आकाशतत्त्व में सबसे पहले उत्पन्न होकर व्याप्त हो जाता है। यह पदार्थ निरन्तर गतिशील रहता है। ध्यान रहे कि ये वायु के अणु वर्तमान भाषा के मोलिक्यूल नहीं होते, बल्कि रश्मिरूप ही होते हैं। किसी दिशा विशेष में गति करते हुए भी अपने स्थान पर निरन्तर हिलते-डुलते रहते हैं। ये अणु परस्पर एक-दूसरे पर प्रहार करते हुए गमन करते रहते हैं। उधर महर्षि स्थौलाष्ठीविः के मत में यद पद 'इण् गतौ' धातु से निष्पन्न होता है और इसमें वकार अनर्थक है। इस कारण इनके मत में भी वायु उस तत्त्व का नाम है, जो निरन्तर गतिशील रहता है। इसके साथ ही यह पदार्थ सभी पदार्थों के अन्दर व्याप्त रहता है। यह सम्पूर्ण आकाशतत्त्व को भरे हुए है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया

गया है।

पण्डित भगवद्दत रिसर्च स्कॉलर ने इस खण्ड का भाष्य इस प्रकार किया है—

''जब सृष्टि बनने लगी, तो पञ्च महाभूतों के पश्चात्—

अग्निः, आपः और वायुः अपना काम करने लगे। तब प्रजापति = हिरण्यगर्भ = पुरुष उत्पन्न हुआ। प्रजापति पुरुष से पहले पृथिवी और तदनु द्यौ के विभिन्न अङ्ग उत्पन्न हुए। तब द्यावापृथिवी साथ थे। वे जब दूर होने लगे, तब अन्तरिक्ष वरीय होने लगा। उसके कारण अन्तरिक्ष के देवगण भी उत्पन्न हुए। देव उत्पत्ति का स्वल्प निदर्शन हमने पूर्व २.२२ के अपने भाष्य में किया है। अन्तरिक्ष के उरु हो जाने पर देव-निर्माण का संकेत पूर्व २.२२ में उद्धृत मन्त्र में वर्णित है—

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् (ऋ.१०.२७.२३)

इस मन्त्र पर यास्क का भाष्य है— देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्। माध्यमिका देवगणाः। प्रथम इति मुख्यनाम।

माध्यमिक देवगण भी तब क्रमशः उत्पन्न हुए। वायुः पहले से था, पर उत्तर काल में अन्य देवों के साथ वह भी अमर हो गया। उसका वर्णन यहाँ किया गया है।

प्रजापति और देव ही ईश्वरीय नियम के अनुसार मन्त्र-उत्पत्ति का कारण थे। अतः इस देवविद्या को समझे बिना वेदार्थ का ज्ञान और वेदतत्त्व की अनुभूति असम्भव है। योरोपीय ईसाई-यहूदी अध्यापकों ने यह अनुभूति प्राप्त नहीं की। फलतः उनकी वेद-विषयक धारणाएँ निस्सार हैं।

स्थौलाष्ठीविः का निर्वचन अद्भुत है। उसको ऐसा करने का अधिकार था। वस्तुतः व्याकरण शास्त्र में सौकर्य के लिए ही धातु और प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना की गई है।''

* * * * *

द्वितीयः खण्डः

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ [ऋ.१.२.१]
वायवायाहि दर्शनीय। इमे सोमा अरङ्कृता अलङ्कृताः। तेषां पिब।
शृणु नो ह्वानमिति। कमन्यं मध्यमाद् एवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है, जिसकी व्याख्या हम पूर्व में कर चुके हैं। इसका देवता वायु और छन्द पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वायुतत्त्व तीव्र श्वेतवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वायो, आ, याहि, दर्शत्) 'वायवायाहि दर्शनीय' यहाँ वायु को दर्शनीय कहा गया है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र के भाष्य में 'दर्शनीय' पद का अर्थ 'ज्ञानदृष्ट्या द्रष्टुं योग्यो वा', उधर ऋग्वेद १.२४.१ के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने 'दृशेयम्' पद का अर्थ 'दृश्यासम् इच्छां कुर्याम्' किया है। इस कारण वायु वह तत्त्व है, जिसमें पूर्व खण्ड में वर्णित लक्षणों के अतिरिक्त अन्य लक्षण इस प्रकार होते हैं— यह स्पर्श आदि गुणों के ज्ञान से अनुभव किया जाता है अर्थात् इस पदार्थ में आकर्षण आदि गुणों का स्पष्ट प्रादुर्भाव होता है, जिसके कारण यह पदार्थ स्वयं भी संघनित होकर अन्य पदार्थों की उत्पत्ति का कारण बनता है, वहीं यह पदार्थ अन्य पदार्थों के संघनन आदि में अपनी अनिवार्य भूमिका निभाता है। यह तत्त्व आकाश तत्त्व में आश्रित होता हुआ उसे आकृष्ट करने में भी समर्थ होता है। इसी कारण इसके विषय में ऋषियों का कथन है— वायुर्वै नभसस्पतिः (गो.उ.४.९), वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः (तै.ब्रा.३.२.१.३)। यह पदार्थ विभिन्न प्रकार की प्राण एवं छन्द रश्मियों का मिश्रण रूप होता है। इसी कारण ऋषियों का कथन है— यस्स प्राणो वायुस्सः (जै.उ. १.२९.१), वाग्वै वायुः (तै.ब्रा.१.८.८.१, तां.ब्रा.१८.८.७)। इस प्रकार सभी गुणों से युक्त वायु इस आकाशतत्त्व में विद्यमान सभी अग्नि आदि पदार्थों के भीतर और बाहर सब ओर व्याप्त हो रहा है।

(इमे, सोमाः, अरङ्कृताः) 'इमे सोमा अरङ्कृता अलङ्कृताः' इस ब्रह्माण्ड में जो भी

पदार्थ विद्यमान हैं, वे सभी वायुतत्त्व के द्वारा ही निर्मित और अलंकृत हैं। ब्रह्माण्ड में विद्यमान सभी प्रकार की ऊर्जा, सभी मूल कण, सभी लोक-लोकान्तर और उनमें विद्यमान सभी पदार्थों से भरी यह सम्पूर्ण सृष्टि वायुतत्त्व के द्वारा ही निर्मित और सुशोभित है। सुशोभित होने का तात्पर्य क्या है, इस पर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए। वस्तुतः किसी वस्तु का सुशोभित होना यह दर्शाता है कि वह वस्तु किन पदार्थों से बनी है, किन पदार्थों के द्वारा धारण की हुई है और किस क्रम वा रूप में व्यवस्थित है। इसी प्रकार आज ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म कणों से लेकर विशाल गैलेक्सियों तक जो भी पदार्थ वर्तमान रूप में जिस-जिस प्रकार से व्यवस्थित और उत्पन्न हुए हैं, उन सबका कारण वायुतत्त्व ही है। चाहे परमाणु हो अथवा गैलेक्सियाँ, उन सबमें परिक्रमा करते हुए कण वा लोक वायुतत्त्व के द्वारा ही धारण किए गए हैं।

(तेषाम्, पाहि, श्रुधी, हवम्) 'तेषां पिब शृणु नो ह्वानमिति' वह वायुतत्त्व ही इन सभी पदार्थों की रक्षा करने वाला है। इसका कारण यह है कि इस सृष्टि में जो भी बल कार्य कर रहा है, वह सब वायु का ही बल है और बल ही सभी पदार्थों का रक्षण व धारण करने वाला होता है। वह वायु इन सभी पदार्थों का पान भी करता है। इसका अर्थ यह है कि वायुतत्त्व सृष्टि के सब पदार्थों को अपने अन्दर समा लेता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इस तत्त्व में ही समाया है। इसी को यहाँ वायुतत्त्व द्वारा सभी पदार्थों का पान करना लिखा है। यहाँ 'नः' सर्वनामवाची पद इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों के लिए प्रयुक्त है। ये मधुच्छन्दा रश्मियाँ वायुतत्त्व को आकर्षित करते हुए नाना प्रकार के बलों को उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। इसके लिए वे वायुतत्त्व की विभिन्न रश्मियों को प्रयोजनानुसार आकर्षित करती रहती हैं और उस आकर्षण के अनुसार ही वायु रश्मियाँ यत्र-तत्र गमन करती रहती हैं।

हमारी दृष्टि में वर्तमान भौतिकी में जिसे वैक्यूम एनर्जी कहा जाता है तथा जिसमें डार्क एनर्जी भी सम्मिलित है, को ही वायुतत्त्व कहते हैं। वर्तमान भौतिकी में भी इन दोनों ही प्रकार की ऊर्जाओं के अभाव में सृष्टि का निर्माण, धारण एवं संचालन सम्भव नहीं है। वर्तमान भौतिकी को इन दोनों ही प्रकार की ऊर्जाओं के विषय में कोई विशेष ज्ञान नहीं, जबकि इस मन्त्र में वायुतत्त्व का सुन्दर विवेचन किया गया है। इस तत्त्व की विशेष विवेचना के लिए 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' का ६वाँ अध्याय पठनीय है।

भावार्थ— वायु नामक महाभूत विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियों का मिश्रण रूप होता है। यह तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। सभी प्रकार के बल वायु के कारण ही उत्पन्न होते हैं, इस कारण पदार्थ के संघनन में मुख्य भूमिका वायु तत्त्व की ही होती है। इस सृष्टि में विद्यमान सभी लोक-लोकान्तर, सभी प्रकार के कण एवं विकिरण वायु के द्वारा ही निर्मित और आच्छादित हैं। वर्तमान विज्ञान द्वारा ज्ञात वा अज्ञात ऊर्जा का स्रोत भी यह वायु ही है। वायुतत्त्व ही ऊर्जा और द्रव्य के संरक्षण के सिद्धान्त के भंग होने की परिस्थिति में क्षीण हुए पदार्थ की पूर्ति करता है और अतिरिक्त पदार्थ को भी अपने अन्दर समेट लेता है। यह तत्त्व वर्तमान भौतिकी की सीमा से परे है। वर्तमान भौतिकी में जिसे वैक्यूम एनर्जी एवं डार्क एनर्जी कहा जाता है, वह सब वायु ही है। वायु ही सभी लोकों और कण आदि पदार्थों की रक्षा का हेतु भी है और इसी के कारण सभी पदार्थ गति भी करते हैं।

वायुतत्त्व की व्याख्या के उपरान्त ग्रन्थकार प्रश्न उठाते हैं— 'कमन्यं मध्यमाद् एवमवक्ष्यत्' अर्थात् वायुतत्त्व के अतिरिक्त अन्य किस मध्यमस्थानी देवता के विषय में ऐसा कहा गया है। इसके विषय में ऋचा के माध्यम से अगले खण्ड में स्पष्ट किया गया है।

* * * * *

= तृतीयः खण्डः =

आसस्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः।
अभि श्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत्॥

[ऋ.६.३७.३]

आससृवांसः। अभिबलायमानमिन्द्रम्। कल्याणचक्रे रथे योगाय।
रथ्या अश्वाः। रथस्य वोढारः। ऋज्यन्त ऋजुगामिनः।
अन्नमभिवहेयुर्नवं च पुराणं च। श्रवः इत्यन्ननाम। श्रूयत इति सतः।
वायोश्चास्य भक्षो यथा न विदस्येदिति।

इन्द्रप्रधानेत्येके। नैघण्टुकं वायुकर्म। उभयप्रधानेत्यपरम्। वरुणः। वृणोतीति सतः। तस्यैषा भवति॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता इन्द्र और छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अपने बाहुरूप बलों के साथ परिपक्व और विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आसस्राणासः, शवसानम्, अच्छ, इन्द्रम्, सुचक्रे, रथ्यासः, अश्वाः) 'आससृवांसः अभिब-लायमानमिन्द्रम् कल्याणचक्रे रथे योगाय रथ्या अश्वाः रथस्य वोढारः' विभिन्न प्रकार की आशुगामिनी छन्द व प्राण रश्मियाँ पूर्वोक्त रथरूप रश्मियों को वहन करने वाली होती हैं। इसके साथ ही वे रथरूप रश्मियाँ कमनीय अर्थात् तेजस्वी चक्र अर्थात् वज्ररूप रश्मियों से युक्त होती हैं। ये वज्र रश्मियाँ अश्व व रथरूप रश्मियों के आगे-२ चलकर मार्ग को निरापद बनाती जाती हैं। यहाँ 'कल्याणचक्रे' का अर्थ यह भी है कि वे रथरूप रश्मियाँ अनेक कमनीय मार्गों का निर्माण करने वाली होती हैं अथवा इनकी आधाररूप रश्मियाँ कमनीय गुणों से युक्त होती हैं। ऐसी अश्व संज्ञक प्राण व छन्द रश्मियाँ सब ओर सर्पण करने वाले अर्थात् सर्वतः अपना प्रभाव दर्शाने वाले तथा सब ओर अपना बल बढ़ाते रहने वाले इन्द्रतत्त्व के (अभि, श्रवः, ऋज्यन्तः, वहेयुः, नू, चित्, नु, वायोः, अमृतम्, वि, दस्येत्) 'ऋज्यन्त ऋजुगामिनः अन्नमभिवहेयुर्नवं च पुराणं च श्रवः इत्यन्ननाम श्रूयत इति सतः वायोश्चास्य भक्षो यथा न विदस्येदिति' मार्ग में पूर्व से विद्यमान एवं विभिन्न चरणों में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के अन्न रूप पदार्थों अर्थात् संयोज्य वा अवशोष्य कण आदि पदार्थों, जो ऋजुगमन करने वाले होते हैं, को सब ओर से वहन कराने वाली होती हैं। यहाँ श्रवः अन्नवाची है। अन्न को श्रवः कहने का कारण यह है कि इन पदार्थों को प्राण संज्ञक पदार्थ सदैव ही हिलाते-डुलाते रहते हैं अर्थात् ये अपने आकर्षक और अवशोषक पदार्थों के बल के प्रभाव से निरन्तर कम्पन करते रहते हैं। यहाँ 'श्रु श्रवणे' धातु का प्रयोग गति अर्थ में है। यहाँ 'ऋजु गमन करने वाले' का प्रयोग यह दर्शाता है कि अनेक प्रकार के कुटिलगामी अन्न संज्ञक पदार्थों को इन्द्रतत्त्व वहन नहीं करता अर्थात् वे कुटिलगामी पदार्थ यजन प्रक्रिया में भाग नहीं ले पाते। इसका आशय यह भी है कि विभिन्न स्तरों पर जो भी यजन क्रियाएँ होती हैं, उनमें पृथक्-२ गुणधर्म वाले संयोज्य पदार्थ ही भाग ले पाते हैं।

सभी पदार्थ सभी स्थानों पर यजन क्रियाओं को सम्पादित नहीं कर सकते। [अन्नम् = अन्नं प्राणः (तै.ब्रा.३.२.३.४), अन्नं पशवः (ऐ.ब्रा.५.१९)] यहाँ दूसरा अर्थ यह भी है कि उपर्युक्त अश्व संज्ञक रश्मियाँ विभिन्न छन्द एवं प्राण रश्मियों, जो ऋजुगामिनी होती हैं अर्थात् जो यजन कार्यों में आवश्यक होती हैं, को वहन करती रहती हैं। इस कारण वायुतत्त्व की भक्ष्य रूप ये प्राण व छन्द रश्मियाँ अमृत रूप होकर नाना यजन कार्यों में सतत सक्रिय बनी रहती हैं और वे कभी क्षीण नहीं होती हैं। उधर अन्न का अर्थ संयोज्य कण ग्रहण करने पर यहाँ यह स्पष्ट होता है कि इन उपर्युक्त यजन क्रियाओं में वायुतत्त्व का अमरत्व क्षीण नहीं होता है, जिससे यजन क्रियाएँ सतत सम्यक् रूप से चलती रहती हैं।

इस ऋचा को कुछ आचार्य इन्द्रतत्त्व प्रधान कहते हैं अर्थात् उनके मत में इस ऋचा में इन्द्रतत्त्व प्रधान रूप से सक्रिय होता है और वायुतत्त्व का कथन यहाँ गौण रूप में होता है और दूसरे आचार्यों का कहना यह है कि इस ऋचा में इन्द्र और वायु दोनों तत्त्वों की ही प्रधानता है।

भावार्थ— इस सृष्टि में रश्मियों के अनेक स्तर होते हैं। कुछ रश्मियाँ अन्य रश्मियों की वाहिका होती हैं, कुछ रश्मियाँ अपने से बड़ी रश्मियों के आगे-२ गमन करते हुए मार्ग को शुद्ध बनाती रहती हैं और कुछ रश्मियाँ बाधक पदार्थों को नष्ट करती जाती हैं। सृष्टि में विद्यमान सभी प्रकार के कण सभी परिस्थितियों में यजन क्रिया नहीं कर सकते। सभी कण कम्पन करते हुए ही गमन करते हैं। कुटिलगामिनी रश्मियों एवं कुटिलगामी कणों में यजन कर्म दुष्कर होता है। यजन क्रियाओं में वायुतत्त्व के स्तर तक पदार्थ प्रायः संरक्षित रहता है।

इसके अनन्तर अगले पद 'वरुणः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वरुणः वृणोतीति सतः' अर्थात् जो पदार्थ अन्य पदार्थों को आच्छादित करता है, उन्हें नियन्त्रित वा नियमित करता है, उसे वरुण कहते हैं अर्थात् आच्छादित करता हुआ होने से कोई पदार्थ वरुण कहलाता है।

* * * * *

= चतुर्थः खण्डः =

नीचीनबारं वरुणः कबन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम॥ [ऋ.५.८५.३]
नीचीनद्वारं वरुणः। कबन्धं मेघम्। कवनमुदकं भवति। तदस्मिन्धीयते। उदकमपि कबन्धम् उच्यते। बन्धिरनिभृतत्त्वे। कमनिभृतं च। प्रसृजति। द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च। महत्वेन तेन सर्वस्य भुवनस्य राजा। यवमिव वृष्टिर्व्युनत्ति भूमिम्। तस्यैषापरा भवति॥ ४॥

इस मन्त्र का ऋषि अत्रि है। [अत्रिः = वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्य-दत्रिरिति (श.ब्रा.१४.५.२.६)] इसका अर्थ है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति वाक् अर्थात् विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से होती है। इसका देवता वरुण तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से वरुण संज्ञक पदार्थ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नीचीनबारम्, वरुणः, कबन्धम्, प्र, ससर्ज, रोदसी, अन्तरिक्षम्) 'नीचीनद्वारं वरुणः कबन्धं मेघम् कवनमुदकं भवति तदस्मिन्धीयते उदकमपि कबन्धम् उच्यते बन्धिरनिभृतत्त्वे कमनिभृतं च प्रसृजति द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च' वरुण संज्ञक रश्मियाँ विशाल अन्तरिक्ष में कॉस्मिक मेघ का निर्माण करती हैं। यहाँ कबन्ध मेघवाची है, क्योंकि मेघ कवन अर्थात् उदक को धारण करता है अर्थात् ऐसा वह मेघ विभिन्न प्रकार के आयन्स का भण्डार होता है तथा वरुण संज्ञक रश्मियाँ उस मेघ को नीचे की ओर द्वार वाला बनाता है। यहाँ नीचे की दिशा का तात्पर्य उसके केन्द्रीय भाग की विपरीत दिशा मानना चाहिए। इससे यह अर्थ निकलता है कि वे वरुण संज्ञक रश्मियाँ उस कॉस्मिक मेघ को फाड़ देती हैं। ये रश्मियाँ ही किसी मेघ को बाँधकर मेघाकार प्रदान करती हैं और ये ही रश्मियाँ कहीं-२ शिथिल होकर अथवा बिखरकर उस मेघ को फाड़ देती हैं। ऐसे विशाल मेघ के फटने से रोदसी अर्थात् प्रकाशित लोक, जो मध्य भाग के रूप में होता है एवं अप्रकाशित लोकों की उत्पत्ति होती है। उन दोनों ही प्रकार के लोकों को आकार प्रदान करने में भी इन्हीं वरुण संज्ञक रश्मियों की भूमिका होती है। इस प्रक्रिया में दोनों प्रकार के लोक अपना आकार लेते हुए

परस्पर दूर हटने लगते हैं, जिससे उनके मध्य अन्तरिक्ष प्रकट होता है, इसे ही यहाँ अन्तरिक्ष का उत्पन्न होना कहा है।

उधर यहाँ उदक का अर्थ जल ग्रहण करने से मेघ का अर्थ जलीय मेघ (बादल) ग्रहण किया जा सकता है। इन मेघों को बाँधे रखना इन्हीं रश्मियों का कार्य है तथा उसके फटने अथवा वर्षा होने पर इन रश्मियों का शिथिल वा छिन्न-भिन्न हो जाना ही कारण है।

यहाँ ग्रन्थकार की दृष्टि में उदक को भी कबन्ध कहा है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है— 'उदकमपि कबन्धम् उच्यते बन्धिरनिभृतत्त्वे कमनिभृतं च' अर्थात् उदक रूप पदार्थ, जो सभी लोकों को निरन्तर सींचता रहता है, कम् अर्थात् अन्न किंवा संयोज्य वा अवशोष्य कणों से युक्त वा उन्हीं के रूप में होता है और जो निश्चित आकार वा क्षेत्र में बँधा नहीं रहता, वह कबन्ध कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि चञ्चल अवस्था में संयोज्य वा अवशोष्य कणों को भी कबन्ध कहते हैं। यह वरुण संज्ञक रश्मि आदि पदार्थ सूर्य्यादि लोक, पृथिव्यादि लोक एवं अन्तरिक्ष अर्थात् इन लोकों के मध्यस्थ भाग में इन कणों को बिखेरता रहता है। अब वरुण पदार्थ के विषय में अन्य ऋषियों का मत भी जानना आवश्यक है— यः प्राणः स वरुणः (गो.उ.४.११), व्यानो वरुणः (श.ब्रा.१२.९.१.१६), अपानो वरुणः (श.ब्रा.८.४.२.६), इन्द्रो वै वरुणः (गो.उ.१.२२)। इसका आशय है कि उपर्युक्त कर्मों का कर्त्ता वरुण प्राण, अपान एवं व्यान मिश्रित इन्द्रतत्त्व कहलाता है। यद्यपि इन्द्ररूपी तरंगों में ये तीनों रश्मियाँ विद्यमान होती ही हैं, परन्तु वरुणतत्त्व रूपी इन्द्र में इन प्राणादि रश्मियों का अधिक योग होता है, जिससे ये मेघादि पदार्थों को बाँध सकें।

(तेन, विश्वस्य, भुवनस्य, राजा, यवम्, न, वृष्टिः, वि, उनत्ति, भूम) 'महत्वेन तेन सर्वस्य भुवनस्य राजा यवमिव वृष्टिर्व्युनत्ति भूमिम्' अपने महान् गुणों के कारण यह वरुण तत्त्व सम्पूर्ण भुवन अर्थात् सृष्टि के सभी लोकों का राजा कहलाता है। यही सबको नियन्त्रित करता है और प्रकाशित भी करता है। इसका विस्तार भी बहुत होता है। यहाँ विभिन्न कण आदि पदार्थों के सर्वत्र बिखेरने की प्रक्रिया को समझाते हुए कहते हैं कि जैसे वर्षा द्वारा भूमि पर उगे हुए यव आदि धान्य को सींचा जाता है, वैसे ही वरुण संज्ञक पदार्थ सूक्ष्म कणों एवं विकिरणों द्वारा सभी लोकों को सींचते हैं। यहाँ उपमा अलंकार की उपेक्षा करने पर यह संकेत मिलता है कि [यवः = विड् वै यवः (श.ब्रा.१३.२.९.८)] जब विड् संज्ञक

छन्द रश्मियों (ऋ.३.१३ सूक्त) की वृष्टि नाना प्रकार के कण आदि पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया के अनन्तर होती है, उस समय भी वरुण संज्ञक रश्मियाँ सम्पूर्ण भूमि अर्थात् अन्तरिक्ष को सींचने लगती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब विभिन्न कणों के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उस समय वे कण भी सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में इस प्रकार प्रकट हो रहे होते हैं, जैसे उनकी वर्षा हो रही हो।

भावार्थ— विशाल खगोलीय मेघ आयन्स के भण्डार होते हैं। उधर जलीय मेघों में भी आयन्स विद्यमान होते हैं। इन मेघों को आकार प्रदान करने वाली रश्मियों में प्राणापानव्यान का त्रिक अवश्य विद्यमान रहता है। ये रश्मियाँ ही इन मेघों को बाँधती हैं और इनके शिथिल होने से मेघ फटकर बिखर जाते हैं। बिखरने से नाना लोकों की सृष्टि होती है और धरती के वायुमण्डल में विद्यमान मेघों के फटने से जल की वृष्टि होती है। निर्माणाधीन लोकों के मध्य स्थित अन्तरिक्ष में नाना प्रकार के कण भरे रहते हैं। प्राणापानव्यान से समृद्ध इन्द्र नामक पदार्थ सबको नियन्त्रित रखता और नाना लोकों की सृष्टि करता है।

इस वरुण पद की एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= पञ्चमः खण्डः =

तमू षु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः।
नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे॥ [ऋ.८.४१.२]

तं स्वभिष्टौमि। समानया गिरा। गीत्या स्तुत्या। पितॄणां च मननीयैः स्तोमैः। नाभाकस्य प्रशस्तिभिः। ऋषिर्नाभाको बभूव।
यः स्यन्दमानानामासामपामुपोदये। सप्तस्वसारमेनमाह वाग्भिः।
स मध्यम इति निरुच्यते। अथैष एव भवति। नभन्तामन्यके समे।
मा भूवन्नन्यके सर्वे। ये नो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः। पापसङ्कल्पाः।

रुद्रः । रौतीति सतः । रोरूयमाणो द्रवतीति वा । रोदयतेर्वा ।
यदरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम् ।
यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम् । तस्यैषा भवति ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का ऋषि नाभाक काण्व है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति बन्धक बलों से विशेष युक्त सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न एक रश्मि विशेष से होती है। इसका देवता वरुण और छन्द निचृत् जगती होने से पूर्वोक्त वरुण संज्ञक पदार्थ गौर वर्णयुक्त होकर तीक्ष्णतापूर्वक दूर-दूर तक गमन करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तम्, ऊ, षु, समना, गिरा, पितॄणाम्, च, मन्मभिः) 'तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा गीत्या स्तुत्या पितॄणां च मननीयैः स्तोमैः' उस वरुण संज्ञक पदार्थ को इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियाँ सब ओर से प्रकाशित वा सक्रिय करने लगती हैं। वे कैसे प्रकाशित वा सक्रिय करती हैं? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि वे ऋषि रश्मियाँ उन वरुण संज्ञक रश्मियों के अनुकूल विभिन्न प्रकार की वाक् रश्मियों के द्वारा सक्रिय व प्रकाशित होती हैं। इसके साथ ही वे पितृ संज्ञक तेजस्विनी सोम रश्मियों के द्वारा अथवा उनके साथ प्रकाशित होती हैं। इसका अर्थ यह है कि वरुण संज्ञक रश्मियों के प्रकाशित और सक्रिय होने पर सोम रश्मियाँ भी प्रकाशित होने लगती हैं।

(नाभाकस्य, प्रशस्तिभिः) 'नाभाकस्य प्रशस्तिभिः ऋषिर्नाभाको बभूव' इन नाभाक ऋषि रश्मियों की प्रेरणाओं से (यः, सिन्धूनाम्, उपोदये, सप्तस्वसा) 'यः स्यन्दमानानामासामपा-मुपोदये सप्तस्वसारमेनमाह वाग्भिः' [स्वसा = स्वसारः अङ्गुलिनाम (निघं.२.५)] जो वरुण संज्ञक पदार्थ या रश्मियाँ स्यन्दमानानाम् आसाम् अपाम् अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में पदार्थ की बहती हुई धाराओं अथवा विभिन्न प्राण रश्मियों की प्रवाहित होती हुई धाराओं के निकट प्रकट होता है अर्थात् उनके निकट वरुण रश्मियाँ अधिक प्रभावी होकर उन धाराओं को संघनित वा आच्छादित करने के लिए प्रकट होती हैं, उस समय वे वरुण रश्मियाँ बलरूप सात प्रकार की छन्द रश्मियों को भी प्रेरित करती हैं। यहाँ 'वाग्भिः' पद का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि वे वरुण रश्मियाँ, विशेषकर प्राण, अपान एवं व्यान 'ओम्' रश्मियों के द्वारा प्रेरित करती हैं। यहाँ गायत्री आदि सात प्रकार की छन्द रश्मियों को ही स्वसा कहा गया है, क्योंकि ये रश्मियाँ वरुण रश्मियों की अंगुलिरूप होकर नाना प्रकार के

कार्यों को दिशा भी देती हैं और सम्पन्न भी करती हैं।

(स, मध्यम:, नभन्ताम्, अन्यके, समे) 'स मध्यम इति निरुच्यते अथैष एव भवति नभन्ता-मन्यके समे मा भूवन्नन्यके सर्वे ये नो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः पापसङ्कल्पाः' [नभन्ताम् = नभते वधकर्मा (निघं.२.१९)] वे वरुण संज्ञक रश्मियाँ मध्यमस्थानी कही गई हैं। इसका कारण यह है कि वरुण तत्त्व का उद्भव आकाशतत्त्व में ही होता है और वह आकाशतत्त्व यजु रश्मियों से निर्मित होता है। हम ७वें अध्याय में लिख चुके हैं कि पृथ्वी पद का अर्थ संघनित ऋक् रश्मियाँ है, उसी शैली में मध्यम अर्थात् अन्तरिक्ष का अर्थ यजु रश्मियाँ है, [धीः = कर्मनाम (निघं.२.१)। संकल्पः = कल्पते अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)] ये वरुण रश्मियाँ इस प्रकार की होती हैं कि अपने क्षेत्र में अन्य जितने भी बाधक वा हिंसक पदार्थ होते हैं, उन सबको नष्ट कर देती हैं। वे बाधक व हिंसक पदार्थ विभिन्न संयोज्य पदार्थों के प्रति अप्रीति दर्शाते हैं, उनके कर्म यजन क्रियाओं को विचलित करने वाले और पतनकारी प्रभावों को सक्रिय करने वाले होते हैं, परन्तु वरुण रश्मियों के प्रभाव से इनके सभी बाधक कर्म नष्ट वा प्रतिबन्धित हो जाते हैं।

भावार्थ— प्राणापानव्यान रश्मियों को सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ प्रकाशित व सक्रिय करती हैं। इनके प्रकाशित वा सक्रिय होने पर विभिन्न मरुद् रश्मियाँ भी सक्रिय हो उठती हैं। ये सभी रश्मियाँ पदार्थ की प्रवाहित होती हुई धाराओं को संघनित व आच्छादित करने के लिए प्रकट होती हैं। इन सभी रश्मियों को 'ओम्' रश्मियाँ ही बल प्रदान करती हैं। विभिन्न गायत्री छन्द रश्मियों को प्राणापानादि रश्मियाँ दिशा व बल प्रदान करती हैं। ये रश्मियाँ विभिन्न बाधक व हिंसक पदार्थों को अन्तिम रूप से नष्ट वा नियन्त्रित करती हैं।

वरुण देवता के पश्चात् 'रुद्रः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'रुद्रः रौतीति सतः रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा' जो पदार्थ गम्भीर ध्वनियों को उत्पन्न करता है, ऐसा होने से रुद्र कहलाता है। इसके अतिरिक्त जो अति तीव्र घोष करता हुआ तेजी से गमन करता है अथवा अन्य पदार्थों पर प्रहार करके तीव्र ध्वनियों को उत्पन्न कराता है, उसे रुद्र कहते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार का कथन है— 'यदरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्'। महर्षि तित्तिर का भी कथन है— 'यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै.सं.१.५.१.१)। इसका तात्पर्य

यह है कि जो पदार्थ अपने प्रहार के समय रो पड़ता है अर्थात् उसका अतितीव्र ध्वनि उत्पन्न करना ही रुद्रत्व है। यहाँ ग्रन्थकार हरिद्रव शाखा को उद्धृत करते हुए भी यही लिखते हैं— 'यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्'। इसका अर्थ भी पूर्ववत् ही है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने।
अषाळहाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः।
[ऋ.७.४६.१]

इमा रुद्राय दृढधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवायान्नवतेऽषाढायान्यैः। सहमानाय। विधात्रे तिग्मायुधाय भरत। शृणोतु नः। तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः। आयुधमायोधनात्। तस्यैषापरा भवति॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्रखर आग्नेय अवस्था में प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता रुद्र और छन्द विराट् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से रुद्र संज्ञक पदार्थ गौर वर्ण को विविध प्रकार से प्रकाशित वा उत्पन्न करते हुए दूर-२ तक फैलने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इमाः, रुद्राय, स्थिरधन्वने, गिरः, क्षिप्र, इषवे, देवाय, स्वधाव्ने) 'इमा रुद्राय दृढधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवायान्नवते' रुद्र नामक पदार्थ धनु, जिनकी चर्चा हम पूर्व खण्ड में कर चुके हैं, उनके सुदृढ़ वा तीव्र रूप को धारण करते हैं। वे रुद्र संज्ञक पदार्थ इषु संज्ञक रश्मियों को अति तीव्रतापूर्वक असुरादि पदार्थों पर प्रक्षिप्त करते हैं। 'स्वधाव्ने' पद 'स्वधावत्' पद का चतुर्थी रूप है। [स्वधा = अन्ननाम (निघं.२.७), द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)] वे रुद्र संज्ञक पदार्थ विभिन्न संयोज्य कणों के लिए अन्य संयोज्य कणों वा विकिरणों को देने

वाले होते हैं। यहाँ संकेत मिलता है कि रुद्र संज्ञक रश्मियाँ नाना प्रकार के कणों और विकिरणों के साथ विद्यमान होती हैं। विभिन्न लोकों वा अन्य पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया में ये रुद्र संज्ञक रश्मियाँ उन कणों एवं विकिरणों को उपलब्ध कराती हैं।

(अषाळहाय, सहमानाय, वेधसे, तिग्म-आयुधाय, भरत:, शृणोतु, न:) 'अषाढायान्यैः सहमानाय विधात्रे तिग्मायुधाय भरत शृणोतु नः तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मण: आयुधमायोधनात्' वह रुद्र संज्ञक पदार्थ किसी भी असुरादि पदार्थ से कभी पराभूत नहीं होता है और वह उन असुरादि पदार्थों का सदैव ही प्रतिरोध करने में सक्षम होता है। वह रुद्र संज्ञक पदार्थ वेधा कहलाता है, क्योंकि यह अपनी प्रचण्ड शक्ति के द्वारा हिंसक व तीक्ष्ण पदार्थों को नष्ट करके सृष्टि प्रक्रिया का विशेष रूप से भरण और पोषण करता है। इसकी रश्मियाँ तिग्म [तिग्मम् = वज्रनाम (निघं.२.२०)] अर्थात् अति तीक्ष्ण एवं अति सक्रिय रश्मि रूप आयुध को धारण करके बाधक व हिंसक पदार्थों पर तीव्र प्रहार करती हैं।

इन उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त रुद्र संज्ञक पदार्थ के लिए इन प्रत्यक्ष अर्थात् निकटवर्ती विभिन्न वाक् रश्मियों को धारण किया जाता है अर्थात् ऐसी वाक् रश्मियाँ रुद्ररूप ही होती हैं, जो प्राण नामक प्राण रश्मियों से प्रेरित होकर निरन्तर क्रियाशील रहती हैं। यहाँ रुद्र को आयुध इसलिए कहा है, क्योंकि यह अनिष्ट व हिंसक पदार्थों के ऊपर सब ओर से तीक्ष्ण प्रहार करता है। रुद्र संज्ञक रश्मियों के अति तीक्ष्ण होने के कारण ही कहा गया है— 'घोरो वै रुद्र:' (कौ.ब्रा.१६.७)।

भावार्थ— इस सृष्टि में कुछ रश्मियाँ अति तीक्ष्ण होती हैं, जो नाना प्रकार के संयोज्य कणों एवं विकिरणों के साथ गमन करती रहती हैं। ये रश्मियाँ बाधक पदार्थों को नष्ट करके नाना प्रकार के कणों का यजन कराने में सहायक होती हैं। इन अति तीक्ष्ण रश्मियों को प्राण नामक प्राण रश्मियाँ निरन्तर प्रेरित करती रहती हैं।

इस मन्त्र का महर्षि दयानन्द ने आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (इमा:) (रुद्राय) शत्रूणां रोदकाय शूरवीराय (स्थिरधन्वने) स्थिरं दृढं धनुर्यस्य तस्मै (गिर:) वाच: (क्षिप्रेषवे) क्षिप्रा: शीघ्रगामिन इषव: शस्त्रास्त्राणि यस्य तस्मै (देवाय) विदुषे न्यायं कामयमानाय (स्वधाव्ने) य: स्वं वस्त्वेव दधाति य: स्वां धार्मिकां [क्रियां] दधाति तस्मै (अषाळहाय) शत्रुभिरसहमानाय (सहमानाय) शत्रून् सोढुं समर्थाय

(वेधसे) मेधाविने (तिग्मायुधाय) तिग्मानि तीव्राण्यायुधानि यस्य तस्मै (भरता) धरत। अत्र संहितायामिति दीर्घः। (शृणोतु) (नः) अस्माकम्।

भावार्थः — ये दुष्टानां शासितारः शस्त्रास्त्रविदः सोढारो युद्धकुशला विद्वांसः सन्ति तान् सदा धनुर्वेदाध्यापनेन तदर्थगर्भितवक्तृत्वेन विद्वांसः प्रोत्साहयन्तु यश्च सेनेशः स प्रजास्थानां वाचः शृणोतु।

पदार्थ— हे विद्वानो! जिस (स्थिरधन्वने) स्थिरधनुष वाले (क्षिप्रेषवे) शीघ्र जाने वाले शस्त्र अस्त्रों वाले (स्वधाव्ने) तथा अपनी ही वस्तु और अपनी धार्मिक क्रिया को धारण करने वाले (अषाळ्हाय) शत्रुओं से न सहे जाते हुए (सहमानाय) शत्रुओं के सहने को समर्थ (तिग्मायुधाय) तीव्र आयुध शस्त्रयुक्त (वेधसे) मेधावी (रुद्राय) शत्रुओं को रुलाने वाले शूरवीर (देवाय) न्याय की कामना करते हुए विद्वान् के लिये (इमाः) इन (गिरः) वाणियों को (भरत) धारण करो वह (नः) हम लोगों की इन वाणियों को (शृणोतु) सुनो [= सुने]।

भावार्थ— जो दुष्टों के शिक्षा देने वाले, शस्त्र और अस्त्रवेत्ता, सहनशील, युद्धकुशल विद्वान् हैं, उनको सर्वदैव धनुर्वेद पढ़ाने से और उसके अर्थ से भरी हुई वक्तृता से विद्वान् जन अत्यन्त उत्साह दें और जो सेनापति है, वह प्रजास्थ पुरुषों की वाणी सुने।''

इस पद की दूसरी ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= सप्तमः खण्डः =

या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः।
सहस्त्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः॥

[ऋ.७.४६.३]

या ते दिद्युदवसृष्टा। दिवस्परि दिवोऽधि। दिद्युद् द्युतेर्वा।
द्योततेर्वा क्ष्मया चरति। क्ष्मा पृथिवी। तस्यां चरति। तया चरति।

विक्ष्मापयन्ती चरतीति वा। परिवृणक्तु नः सा।
सहस्त्रं ते स्वाप्तवचन भैषज्यानि। मा नस्त्वं पुत्रेषु च पौत्रेषु च रीरिषः।
तोकं तुद्यतेः। तनयं तनोतेः। अग्निरपि रुद्र उच्यते। तस्यैषा भवति॥ ७॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्ववत् हैं। इसका छन्द निचृत् जगती होने से इसका दैवत और छान्दस प्रभाव पूर्व मन्त्र की अपेक्षा कुछ अधिक तीक्ष्ण होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(या, ते, दिद्युत्, अवसृष्टा, दिवः, परि, क्ष्मया, चरति, परि, सा, वृणक्तु, नः) 'या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि दिवोऽधि दिद्युद् द्युतेर्वा द्योततेर्वा क्ष्मया चरति क्ष्मा पृथिवी तस्यां चरति तया चरति विक्ष्मापयन्ती चरतीति वा परिवृणक्तु नः सा' जो तेरी अर्थात् रुद्र नामक पदार्थ की शक्ति, जिन्हें पूर्व में आयुध कहा है, दीप्तियुक्त होती हैं। वे ऐसी दीप्तियुक्त रश्मियाँ और उनके साथ विद्यमान विभिन्न कण या विकिरण द्युलोक से छोड़े जाते हैं। इससे संकेत मिलता है कि रुद्र संज्ञक रश्मियाँ द्युलोक, जिसके विषय में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं, में विद्यमान तीक्ष्ण अग्निमयी अवस्था में विद्यमान होती हैं। विभिन्न ग्रहों की उत्पत्ति और उनके सूर्यादि लोकों से पृथक्करण के समय ये रुद्र रश्मियाँ पृथिव्यादि लोकों की ओर प्रक्षिप्त की जाती हैं। वे प्रक्षिप्त हुई रुद्र रश्मियाँ कम्पन और परिक्रमण करते हुए पृथिव्यादि लोकों से टकराकर उनके साथ ही गमन करने लगती हैं। वे रुद्र रश्मियाँ पृथिव्यादि लोकों के बाहरी भाग में विचरण करने लगती हैं। वे 'नः' अर्थात् उन पृथिव्यादि लोकों को बसाने वाले अर्थात् उन लोकों के निर्माण में सहायक अग्नि को अपने प्रहारों से पृथक् रखती हैं। यद्यपि रुद्र रश्मियाँ हिंसा करती हुई इन लोकों के साथ गमन करती हैं और इन लोकों के निर्माण में बाधक असुरादि पदार्थ को नष्ट करती हुई चलती हैं, परन्तु वे अग्नि और उसमें विद्यमान प्राण रश्मियों, जो इन लोकों को बनाने में सहायक होती हैं, से पृथक् रहती हैं।

(सहस्रम्, ते, सु, अपिवात, भेषजा, मा, नः, तोकेषु, तनयेषु, रीरिषः) 'सहस्त्रं ते स्वाप्तवचन भैषज्यानि मा नस्त्वं पुत्रेषु च पौत्रेषु च रीरिषः तोकं तुद्यतेः तनयं तनोतेः' उस रुद्र संज्ञक पदार्थ के [भेषजम् = यद् भेषजं तदमृतम् (गो.पू.३.४), उदकनाम (निघं.१.१२)] अन्दर अनेक अमृत रूप एवं सेचन सामर्थ्ययुक्त छन्द रश्मियाँ अच्छी प्रकार व्याप्त

होती हैं। यहाँ सेचन सामर्थ्य से तात्पर्य यह है कि रुद्र रूप घोर रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों को सिंचित करती हुई नाना प्रकार के व्यवहार करती हैं। वे रुद्र रश्मियाँ पृथिव्यादि लोकों के ऊपर विद्यमान वसिष्ठ रूप उपर्युक्त अग्नि के पुत्र रूप ऐसे पिण्डों, जो निरन्तर कम्पन करते रहते हैं और इन लोकों के साथ गमन करते रहते हैं, को क्षति नहीं पहुँचाती। ध्यातव्य है कि निर्माणाधीन एवं घूमते हुए पृथिव्यादि लोकों के चारों ओर असंख्य पिण्ड भी बनते रहते और घूमते रहते हैं। उनमें से अनेक पिण्ड इन लोकों में ही समाहित हो जाते हैं और अनेक पिण्ड अब भी स्वतन्त्र कक्षाओं में भ्रमण कर रहे हैं। वे ही कभी-२ हमारी पृथिवी पर उल्का पिण्ड के रूप में गिरते देखे जाते हैं। इन पिण्डों में से जो पिण्ड ग्रहादि लोकों में समाहित हो जाते हैं, वे ग्रहादि लोकों के पुत्र रूप होते हैं और जो पिण्ड इन लोकों से दूर जाकर स्वतन्त्र परिक्रमण करते हैं, वे इन लोकों के तनय अर्थात् पौत्र कहलाते हैं। इन्हें तनय इस कारण कहते हैं, क्योंकि इनका दूर-२ तक विस्तार हो जाता है। रुद्र रूप रश्मियाँ इन दोनों ही प्रकार के पिण्डों को हानि नहीं पहुँचाती हैं।

भावार्थ— पूर्व खण्ड में वर्णित अति तीक्ष्ण रश्मियाँ रुद्र कहलाती हैं। वे रुद्र रश्मियाँ खगोलीय मेघ के विस्फोट के समय विभिन्न निर्माणाधीन ग्रहों-उपग्रहों से तेजी से टकराती हुई उनके साथ ही गमन करने लगती हैं। उस समय वे रश्मियाँ पदार्थ का तीव्रता से छेदन और भेदन करने लगती हैं। उस समय निर्माणाधीन ग्रहों और उपग्रहों के अतिरिक्त असंख्य पिण्ड भी अन्तरिक्ष में बिखरते हुए मेघ के मध्यभाग (निर्माणाधीन सूर्यलोक) एवं निर्माणाधीन ग्रह आदि लोकों के चारों ओर यदृच्छया गति कर रहे होते हैं। रुद्र रश्मियाँ उनको कोई क्षति नहीं पहुँचाती, बल्कि परोक्ष रूप से वे उन पिण्डों को समायोजित करने में सहायिका होती हैं। इस समायोजन के अन्तर्गत कुछ पिण्ड सूर्य अथवा ग्रह आदि लोकों में गिरकर उनमें समाहित हो जाते हैं और बड़ी संख्या में अन्य पिण्ड सूर्यलोक का स्वतन्त्र परिक्रमण करते रहते हैं और कभी-२ विभिन्न ग्रह-उपग्रह आदि पर उल्का के रूप में टकराते हैं।

ऋषि दयानन्द ने इसका आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (या)(ते) तव (दिद्युत्) न्यायदीप्तिः (अवसृष्टा) शत्रुप्रेरिता (दिवः) कमनी-यस्य (परि) सर्वतः (क्ष्मया) भूम्या सह। क्ष्मेति पृथिवीनाम। निघं.१.१ (चरति) गच्छति (परि)(सा) (वृणक्तु) वर्जयतु (नः) अस्मान् (सहस्रम्) असंख्यम् (ते) तव

(सुअपिवात) वायुरिव वर्तमान (भेषजा) ओषधानि (नः) अस्मानस्माकं वा (तोकेषु) सद्यो जातेष्वपत्येषु (तनयेषु) सुकुमारेषु (रीरिषः) हिंस्याः।

भावार्थः — यस्य राज्ञो न्यायप्रकाशः सर्वत्र प्रदीप्यति स एव सर्वानधर्माचरणान्निरोद्धुं शक्नोति यस्य राष्ट्रे सहस्राणि दूताश्चा वैद्याश्च विचरन्ति तस्य स्वल्पाऽपि राज्यस्य हानिर्न जायते।

पदार्थ— हे (सुअपिवात) पवन के समान वर्त्तमान (ते) आपकी (या) जो (दिवः) मनोहर कार्य के सम्बन्ध में (परि) सब ओर से (अवसृष्टा) शत्रुओं में प्रेरणा देने वाली (दिद्युत्) न्यायदीप्ति (क्ष्मया) भूमि के साथ (चरति) जाती है (सा) वह (नः) हम लोगों को अधर्माचरण से (परिवृणक्तु) सब ओर से अलग रक्खे जिस (ते) आपके (सहस्रम्) असंख्य हजारों (भेषजा) ओषधियाँ हैं, वह आप (तोकेषु) शीघ्र उत्पन्न हुए और (तनयेषु) कुमार अवस्था को प्राप्त हुए बालकों में वर्तमान (नः) हम लोगों को वा हमारे संतानों को (मा, रीरिषः) मत नष्ट करो।

भावार्थ— जिस राजा का न्यायप्रकाश सर्वत्र प्रदीपता है, वही सबको अधर्माचरण से रोक सकता है, जिसके राज्य में हजारों दूत और चार गुप्तचर मुखवर वैद्यजन विचरते हैं, उसकी थोड़ी भी राज्य की हानि नहीं होती है।''

अब ग्रन्थकार अग्नि को भी रुद्र कहते हैं, जिसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= अष्टमः खण्डः =

जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम्॥ [ऋ.१.२७.१०]

जरा स्तुतिः। जरतेः स्तुतिकर्मणः। तां बोध। तया बोधयितरिति वा। तद्विविड्ढि। तत्कुरु। मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय। स्तोमं रुद्राय दर्शनीयम्।

इन्द्रः इरां दृणातीति वा। इरां ददातीति वा। इरां दधातीति वा।
इरां दारयते, इति वा। इरां धारयते, इति वा। इन्दवे द्रवतीति वा।
इन्दौ रमते, इति वा। इन्धे भूतानीति वा।
तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्। इति विज्ञायते।
इदं करणादित्याग्रायणः। इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः। इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः।
इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा। द्रावयिता वा। आदरयिता वा।
आदरयिता च यज्वनाम्। तस्यैषा भवति॥ ८॥

इस मन्त्र का ऋषि आजीगर्ति शुनःशेप है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता रुद्ररूप अग्नि और छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि रूपी रुद्र श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(जराबोध, तत्, विविड्ढि, विशेविशे, यज्ञियाय) 'जरा स्तुतिः जरतेः स्तुतिकर्मणः तां बोध तया बोधयितरिति वा तद्विविड्ढि तत्कुरु मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय' वह अग्निरूप रुद्र विभिन्न पदार्थों को चमकाते हुए सक्रिय करता है अर्थात् इस सृष्टि में हो रही यजन क्रियाओं के अनन्तर जो भी पदार्थ निष्क्रिय वा अति न्यून मात्रा में सक्रिय वा मन्द होते हैं, उन्हें यह अग्नि तेजयुक्त करके सक्रिय करने वाला होता है। ऐसा वह पदार्थों का सक्रियकर्त्ता अग्निरूपी इन्द्र विभिन्न पदार्थों के मध्य होने वाली यजन क्रियाओं को सम्पादित करने के लिए उनमें विशेष रूप से व्याप्त हो जाता है। यहाँ उन पदार्थों को विट् कहा है और इसका अर्थ ग्रन्थकार ने मनुष्य किया है। पूर्व में हम मनुष्य नामक कणों की चर्चा कर चुके हैं, जो अनियमित गति वाले और कम सक्रिय होते हैं। इसके विषय में पूर्व में खण्ड ३.७ द्रष्टव्य है। ऐसे कणों के यजन के लिए यह रुद्ररूप अग्नि उनमें व्याप्त होकर उन्हें विशेष सक्रिय और यजनशील बना देता है।

(स्तोमम्, रुद्राय, दृशीकम्) 'स्तोमं रुद्राय दर्शनीयम्' उस रुद्ररूप अग्नि में अनेक प्रकार की दर्शनीय अर्थात् कमनीय छन्द रश्मियों के समूह को उत्पन्न व व्याप्त किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि जब रुद्र रश्मियाँ सक्रिय होती हैं अर्थात् वे किसी पदार्थ विशेष की यजन क्रिया में भाग लेती हैं और इसके लिए वे विभिन्न बाधक व हिंसक पदार्थों पर

आक्रमण करती हैं, तब अनेक प्रकार की छन्दादि रश्मियाँ उन रौद्र रश्मियों के सहयोग के लिए प्रकट होती हैं।

रुद्र के पश्चात् अब 'इन्द्र' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'इन्द्रः इरां दृणातीति वा इरां ददातीति वा इरां दधातीति वा इरां दारयते इति वा इरां धारयते इति वा इन्दवे द्रवतीति वा इन्दौ रमते इति वा इन्धे भूतानीति वा तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्र-त्वम् इति विज्ञायते इदं करणादित्याग्रायणः इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा आदरयिता वा आदरयिता च यज्वनाम्'।

इन निर्वचनों में से सर्वप्रथम हम इरा एवं इन्द्र से सम्बद्ध निर्वचनों पर विचार करते हैं। ये निर्वचन इस प्रकार हैं— 'इन्द्रः इरां दृणातीति वा इरां ददातीति वा इरां दधातीति वा इरां दारयते इति वा इरां धारयते इति वा' [इरा = अन्ननाम (निघं.२.७), अयं वै (पृथिवी) लोक इळा (जै.ब्रा.१.३०७), पशव इळा (जै.ब्रा.१.३००, ३०७)] यहाँ इला के स्थान पर भी इस पद का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार विभिन्न संयोज्य व अवशोष्य कण आदि पदार्थों को फाड़ने वाला तत्त्व इन्द्र कहलाता है। इसके अतिरिक्त पृथिव्यादि लोकों अथवा अप्रकाशित कणों का भेदन करने वाला पदार्थ इन्द्र कहलाता है। इसके प्रहार के समय विभिन्न प्रकार के दृश्य कण छिन्न-भिन्न होने लगते हैं, यहाँ तक कि विभिन्न छन्द रश्मियाँ भी विभाजित होकर छोटी रश्मियों में बदल जाती हैं। [पशुः = पशव आदित्यः (काठ.सं.२८.६), पशवो वा आदित्यः (मै.सं.४.६.९), पशवः पूषा (मै.सं.१.५.१४, ऐ.ब्रा. २.२४), पशवः स्वर्गो लोकः (जै.ब्रा.२.१०९)] इन्द्रतत्त्व सूर्यादि लोकों का भी भेदन करने वाला होता है। इन लोकों के अन्दर छेदन-भेदन की तीक्ष्ण क्रियाएँ इन्द्रतत्त्व के कारण ही निरन्तर होती रहती हैं। यह इतनी व्याख्या 'इरां दृणातीति वा' निर्वचन की ही है।

अगले निर्वचन 'इरां ददातीति वा' से प्रकट होता है कि इन्द्रतत्त्व इन उपर्युक्त इरा संज्ञक पदार्थों (संयोज्य वा अवशोष्य कण, विभिन्न अणु, सूर्यादि लोक एवं नाना प्रकार की छन्द रश्मियाँ) को देने वाला भी होता है। पदार्थों के स्तर के अनुसार इनको उत्पन्न करने वाले इन्द्रतत्त्व के भी पृथक्-२ रूप होते हैं। इनमें से कोई भी पदार्थ बिना इन्द्रतत्त्व की विद्यमानता के नहीं बन सकता।

इसके बाद 'इरां दधातीति वा' से यह सिद्ध होता है कि ये उपर्युक्त इरा संज्ञक पदार्थ इन्द्रतत्त्व द्वारा ही धारण किए जाते हैं। यहाँ पदार्थों के स्तर के अनुसार इन्द्रतत्त्व के

भी पृथक्-२ रूप होते हैं। इन्द्रतत्त्व इन सभी पदार्थों को न केवल धारण करता है, अपितु इनका पोषण भी करता है। इन्द्रतत्त्व के बिना इन सभी पदार्थों का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

अगले निर्वचनों 'इरां दारयते' एवं 'इरां धारयते' में धातुएँ पूर्वोक्तानुसार हैं, परन्तु उनका णिजन्त प्रयोग है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रतत्त्व न केवल उपर्युक्त कर्मों को करता है, अपितु वह इन कर्मों को दूसरे पदार्थों से भी करवाता है अथवा कराने में सहायक होता है। उदाहरण के लिए उपर्युक्त में से कोई भी कर्म यदि अग्नितत्त्व के द्वारा सम्पन्न हो रहा हो, तो उसमें इन्द्रतत्त्व की भी भूमिका होती है। इसी कारण यहाँ इन धातुओं का णिजन्त प्रयोग किया गया है।

इरा से इन्द्र का सम्बन्ध दर्शाने वाले निर्वचनों के अतिरिक्त अन्य निर्वचनों पर क्रमशः विचार करते हैं— 'इन्दवे द्रवतीति वा इन्दौ रमते इति वा'। इसका अर्थ यह है कि इन्द्रतत्त्व सदैव सोम रश्मियों को अवशोषित करने के लिए गमन करता रहता है और वह उन सोम रश्मियों में ही रमण करता है। वस्तुतः इन्द्रतत्त्व मरुद् रश्मियों (सोम) के द्वारा ही शक्तिशाली बनता है। इस विषय में अन्य ऋषियों का कथन है— 'मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रꣳ हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुर्महयन्तः' (श.ब्रा.२.५.३.२०), 'इन्द्रो वै मरुतः क्रीडिनः' (गो.उ.१.२३)। इन वचनों से भी इन्द्र एवं सोम रश्मियों का सम्बन्ध रेखांकित होता है।

अब अगले निर्वचन में कहा है— 'इन्धे भूतानीति वा'। इसका अर्थ यह है कि इन्द्रतत्त्व विभिन्न उत्पन्न पदार्थों को प्रकाशित करता है। जहाँ भी किसी पदार्थ को अग्नितत्त्व प्रकाशित करता है, वहाँ इन्द्रतत्त्व की भी कुछ भूमिका होती है। यहाँ किसी ब्राह्मण ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए लिखा है— 'तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम् इति विज्ञायते' अर्थात् वह इन्द्रतत्त्व इन उत्पन्न पदार्थों को विभिन्न प्राण रश्मियों के द्वारा प्रदीप्त करता है। इस कारण इन्द्र कहलाता है।

इसके पश्चात् अन्य निर्वचनों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है— 'इदं करणादित्याग्रायणः इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा आदरयिता वा आदरयिता च यज्वनाम्'। इस विषय में हम आचार्य भगीरथ शास्त्री के भाष्य को यहाँ उद्धृत करना उचित समझते हैं-

"आग्रायण आचार्य के मत में इन्द्र की निरुक्ति है इदम् करणात् इस इन्द्र ने इदं सर्वम् अकरोत्- यह सब कुछ कर डाला। इसलिए इदम् पूर्वपद कृ धातु से इदङ्कर = इन्द्र हो गया। औपमन्यव के मत में इदम् दर्शनात् इदम् पूर्व पद दर्शिन् उत्तर पद इदं दर्शी सन् इन्द्रः। इदंदर्शी = इन्द्रः असौ इन्द्रः इदं सर्वमद्राक्षीत् इति इन्द्रः। इस इन्द्र ने यह सब कुछ देख रखा है या जान रखा है। वा अथवा ऐश्वर्यकर्मणः ऐश्वर्यार्थक 'इदि' परमैश्वर्ये का इन्द् पूर्वपद और गत्यर्थक 'द्रु' उत्तर पद या विदारणार्थक 'दृ' धातु उत्तरपद है। सो, इन्दन् शत्रूणां द्रावयिता दारयिता वा वह इन्द्र इन्दन्-ईश्वरः सन् परमैश्वर्यशाली होता हुआ शत्रुओं का भगाने वाला- निराकर्त्ता है या शत्रुओं का विदारणकर्त्ता है, इसलिए इन्द्+द्रावि = इन्द्र या इन्द् दारि = इन्द्र। दोनों जगह द्रु और दृ णिजन्त हैं। आदरयिता च यज्वनाम् और वह इन्द्र यजनशील लोगों का आदर करने वाला है, अतः इन्दन् ईश्वरः सन् आदरयिता इन्द्+'दृङ्' आदरे+अक्।"

इन सबसे इन्द्र के इन्द्रत्व का समुचित बोध होता है। यह अपने बल से सर्वकर्त्ता अग्नि के दृष्टि विषय में भी सहयोगी, सर्वनियन्ता, असुरादि बाधक व हिंसक पदार्थों को विदीर्ण करने वाला है। यह संयोज्य पदार्थों का आदर करने वाला अर्थात् उनके यजन कर्मों को निरापद व सुकर बनाने वाला होता है।

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने वायु से आवेष्टित वैद्युत तेज को इन्द्र कहा है। हम इससे सहमत हैं। वस्तुतः वायु के विशेष आवेष्टन से विद्युत् का तेज तीक्ष्ण हो उठता है। इस प्रकार तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें ही इन्द्र हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

नवमः खण्डः

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्बद्बधानाँ अरम्णाः।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव दानवं हन्॥

[ऋ.५.३२.१]

अदृणाः, उत्सम्। उत्सः उत्सरणाद्वा। उत्सदनाद्वा। उत्स्यन्दनाद्वा। उनत्तेर्वा। व्यसृजोऽस्य खानि। त्वमर्णवानर्णस्वतः। एतान्माध्यमिकान्त्संस्त्यायान् बाबध्यमानानरम्णाः। रम्णातिः संयमनकर्मा। विसर्जनकर्मा वा। महान्तमिन्द्र पर्वतं मेघं यद् व्यवृणोः। व्यसृजोऽस्य धारा अवाहन्नेनं दानवं दानकर्माणम्। तस्यैषापरा भवति॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि गातुरात्रेय है। [गातुः = गातुं गमनम् (निरु.४.२१), वाङ्नाम (निघं.१.११)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न एक विशेष प्रकार की रश्मियों, जो सूत्रात्मा वायु की भाँति व्यवहार करती हुई गमन करती हैं, से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न व समृद्ध करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अदर्दः, उत्सम्) 'अदृणाः, उत्सम् उत्सः उत्सरणाद्वा उत्सदनाद्वा उत्स्यन्दनाद्वा उनत्तेर्वा' [उत्सः = कूपनाम (निघं.३.२३), असौ वै लोक उत्सो देवः (जै.ब्रा.१.१२१)] यहाँ उत्स उन कूपों का नाम है, जो सूर्यादि लोकों के ऊपर बनते रहते हैं। इस पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने जो लिखा है, उससे इन कूपों का स्वरूप स्पष्ट होता है। ये कूप निरन्तर ऊपर की ओर तीव्रतापूर्वक गमन करते हैं। यहाँ ऊपरी दिशा का अर्थ इन लोकों के केन्द्र की ओर होता है। इसका अर्थ यह है कि उन कूपों की दिशा सूर्य तल से लेकर इसके केन्द्रीय भाग की ओर रहती है। दूसरा निर्वचन यह संकेत करता है कि ये कूप केन्द्रीय भाग की ओर जाते हुए नष्ट होकर बह जाते हैं। अन्य निर्वचनों से यह ज्ञात होता है कि ये कूप अपने साथ बहुत सारे पदार्थों को बहाकर ले जाते रहते हैं और वे पदार्थ केन्द्रीय भाग में संलयित होकर उस क्षेत्र को बहाकर लाए हुए पदार्थ से सींचते रहते हैं। ऐसे इन कूपों को इन्द्रतत्त्व छिन्न-भिन्न करता रहता है। यहाँ छिन्न-भिन्न करने से कुछ बातें इस प्रकार स्पष्ट होती हैं—

सूर्य के तल को फाड़कर इन्द्रतत्त्व ही कूपों का निर्माण करता है। सूर्य तल पर पदार्थ की धाराओं के टकराव से इन कूपों के निर्माण की प्रक्रिया में इन्द्रतत्त्व की ही विशेष

भूमिका होती है। कोई भी सौर कूप सदैव एक ही स्थान पर और दीर्घकाल तक स्थिर नहीं रहता। कुछ कूप कुछ समय पश्चात् नष्ट होते रहते हैं और उनके स्थान पर अर्थात् नए-नए स्थानों पर नए-नए कूपों का निर्माण होता रहता है। इस प्रक्रिया में भी इन्द्रतत्त्व की ही विशेष भूमिका होती है। इसी बात को यहाँ इन्द्रतत्त्व द्वारा उत्सों को फाड़ना लिखा है।

(असृजः, वि, खानि, त्वम्, अर्णवान्, बद्बधानान्, अरम्णाः) 'व्यसृजोऽस्य खानि त्वमर्णवा-नर्णस्वतः एतान्माध्यमिकान्त्संस्त्यायान् बाबध्यमानानरम्णाः रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जन-कर्मा वा' इन कूपों के छिद्रों को इन्द्रतत्त्व ही खोलता है, जो पहले तरल पदार्थों से भरे हुए होते हैं, परन्तु उनके छिद्र बन्द होते हैं। उन छिद्रों को खोलकर इन्द्रतत्त्व ही तरल पदार्थ की धाराओं को उन छिद्रों में बहाने लगता है। यहाँ ऐसा संकेत मिलता है कि सूर्यादि लोकों में प्रारम्भ में कूपनुमा छिद्र नहीं होते, बल्कि इन लोकों की निर्माण की प्रक्रिया के चलते निर्माणाधीन लोकों के आभ्यन्तर भागों में अनेक स्थानों पर इन्द्रतत्त्व के कारण विशेष हलचल प्रारम्भ होने लगती है। उधर इन लोकों के तल पर भी अनेक स्थानों पर बहने योग्य पदार्थ एकत्र होने लगता है। उस पदार्थ की धाराएँ इन्द्रतत्त्व के बल के कारण उन्हीं स्थानों पर छिद्रों का निर्माण करने लगती हैं, जिन स्थानों पर आभ्यन्तर भागों में इन्द्रतत्त्व के द्वारा हलचल उत्पन्न हो रही होती है। यहाँ 'अरम्णाः' पद को 'रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा' से व्युत्पन्न माना है। इसका अर्थ यह है कि इन्द्र अर्थात् विद्युत् के तीक्ष्ण प्रभाव से सौर कूपों के निर्माण की प्रक्रिया के समय इन्द्रतत्त्व पूर्ण नियन्त्रण के साथ उन छिद्रों को खोलता है, अन्यथा सूर्य तल के छिद्रों और आभ्यन्तर भाग में होने वाले हलचल युक्त क्षेत्रों में परस्पर संगति नहीं हो सकती थी। ध्यातव्य है कि सम्पूर्ण सृष्टि की प्रत्येक क्रिया ईश्वरीय चेतना से साक्षात् उत्पन्न 'ओम्' रश्मियों के विज्ञानपूर्वक नियन्त्रण में ही होती है। यहाँ इन्द्रतत्त्व भी उसी नियन्त्रण के अनुसार कार्य करता है, क्योंकि इन्द्रः पद ऐश्वर्य अर्थात् नियन्त्रण करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस कारण महर्षि जैमिनी ने 'ओम्' रश्मियों को भी इन्द्र नाम देते हुए लिखा है— 'ओमितीन्द्रः' (जै.उ.१.९.२)।

यहाँ ग्रन्थकार ने इन कूपों के विषय में लिखा है— 'एतान्माध्यमिकान्त्संस्त्यायान्'। इससे यह संकेत मिलता है कि इस मन्त्र में दूर-दूर तक फैले माध्यमिक उत्सों अर्थात् कूपों की भी चर्चा की गई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य तल पर निरन्तर कुछ विस्फोट

उसी प्रकार होते रहते हैं, जिस प्रकार पातालतोड़ कुँओं से जल की धाराएँ फूटती हैं अथवा किसी तरल पदार्थ के किसी पाइप में से तेजी से प्रवाहित होने पर और अकस्मात् उस पाइप में छिद्र होने पर तरल पदार्थ की धाराएँ फूट पड़ती हैं। सौर कूप जहाँ पदार्थ की धाराओं को केन्द्रीय भाग की ओर ले जाते हैं, वहीं ये उपर्युक्त माध्यमिक कूप पदार्थ की धाराओं को अन्तरिक्ष की ओर विस्फोट के साथ फेंकते हैं।

(महान्तम्, इन्द्र, पर्वतम्, वि, यत्, वः, सृजः, वि, धाराः, अव, दानवम्, हन्) 'महान्तमिन्द्र पर्वतं मेघं यद् व्यवृणोः व्यसृजोऽस्य धारा अवाहन्नेनं दानवं दानकर्माणम्' वह इन्द्रतत्त्व सूर्यादि लोकों के पूर्व रूप विशाल पर्वतों [पर्वतः = मेघनाम (निघं.१.१०)] अर्थात् विशाल कॉस्मिक मेघों को भी खोल देता है। इसका अर्थ यह है कि उन कॉस्मिक मेघों के अन्दर तीव्र हलचल उत्पन्न करके उन्हें फोड़ देता है और इसी विखण्डन से सूर्य एवं ग्रहादि लोक पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। ग्रन्थकार ने कॉस्मिक मेघ को पर्वत कहा है। इसका अर्थ यह है कि कॉस्मिक मेघ विभिन्न सन्धियों से युक्त होते हैं। इससे ऐसा संकेत मिलता है कि ग्रहादि लोकों के गर्भ भी उसी कॉस्मिक मेघ में पल रहे होते हैं, जिसके केन्द्रीय भाग में सूर्यलोक का गर्भ पल रहा होता है। इस विस्फोट के होने पर पदार्थ की बिखरी हुई धाराएँ इधर-उधर बहते हुए विभिन्न लोकों में मिलने लगती हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे सम्पूर्ण पदार्थ विभिन्न लोकों के रूप में संघनित हो जाता है। यहाँ उस मेघ को दानव भी कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि वह मेघ ही अपने सम्पूर्ण पदार्थ को देकर उन लोकों का निर्माण करता है।

भावार्थ— सूर्यादि तारों के तल पर जो कूपनुमा क्षेत्र विद्यमान होते हैं, वे तेजी से चक्रण करते हुए सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर गमन करते हुए प्रतीत होते हैं और इस प्रकार वे बाहरी भाग से पदार्थ को बहाकर केन्द्रीय भाग की ओर ले जाते रहते हैं। सूर्य के तल पर विद्यमान तीव्र विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र पदार्थ की बहती हुई धाराओं की टक्कर से ऐसे क्षेत्रों का निर्माण करते रहते हैं। ये कूपनुमा क्षेत्र निरन्तर अपना स्थान बदलते रहते हैं। सूर्यादि लोकों के निर्माण की प्रक्रिया के प्रारम्भ में ये कूप विद्यमान नहीं होते। कुछ काल पश्चात् आभ्यन्तर हलचल से सूर्य के तल के स्थान-२ पर ये छिद्र होने लगते हैं। 'ओम्' रश्मियों द्वारा विज्ञानपूर्वक ही ये प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। सूर्य के तल पर इन छिद्रों के बनते समय विस्फोट होते हैं, जिसमें से कुछ पदार्थ बाहर की ओर उछलने लगता है और कुछ

पदार्थ अन्दर की ओर प्रवहित होने लगता है। जिस विशाल खगोलीय मेघ से किसी भी सौरमण्डल की उत्पत्ति होती है, उस मेघ में जहाँ किसी तारे का गर्भ पल रहा होता है, वहीं ग्रह आदि लोकों के गर्भ भी उस मेघ में ही पल रहे होते हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (अदर्दः) विदृणाति (उत्सम्) कूपमिव (असृजः) सृजति (वि) (खानि) इन्द्रियाणि (त्वम्) (अर्णवान्) नदीः समुद्रान् वा (बद्बधानान्) प्रबद्धान् (अरम्णाः) रमय (महान्तम्) (इन्द्र) शत्रूणां दारयिता राजन् (पर्वतम्) पर्वताकारं मेघम् (वि) (यत्) यः (वः) युष्मभ्यम् (सृजः) सृजति (वि) (धाराः) जलप्रवाहा इव वाचः (अव) (दानवम्) दुष्टजनम् (हन्) हन्ति।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। राजा यथा सूर्य्यो निपातितमेघेन नदीसमुद्रादीन् पिपर्ति कूलानि विदारयति तथैवाऽन्यायं निपात्य न्यायेन प्रजाः प्रपूर्य दुष्टाञ्छिन्द्यात्।

पदार्थ— हे (इन्द्र) शत्रुओं के नाश करने वाले राजन्, जिस प्रकार सूर्य्य (उत्सम्) कूप के समान (महान्तम्) बड़े (पर्वतम्) पर्वताकार मेघ को नाश करके (बद्बधानान्) अत्यन्त बँधे हुओं को (अदर्दः) नाश करता है और (अर्णवान्) नदियों वा समुद्रों का (सृजः) त्याग करता है, वैसे (त्वम्) आप (खानि) इन्द्रियों का (वि) विशेष करके त्याग कीजिये और हम लोगों को (वि, अरम्णाः) विशेष रमण कराइये और (यत्) जो सूर्य्य (धाराः) जल के प्रवाहों के सदृश वाणियों का और (दानवम्) दुष्ट जन का (अव, हन्) नाश करता है (वः) आप लोगों के लिये (वि, असृजः) विशेषकर त्यागता अर्थात् जलादि का त्याग करता है, उस का सत्कार प्रशंसा उत्तम किया कीजिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। राजा जैसे सूर्य्य गिराये हुए मेघ से नदी और समुद्र आदिकों को पूर्ण करता और तटों को तोड़ता है, वैसे ही अन्याय को गिरा और न्याय से प्रजा का पालन करके दुष्टों का नाश करे।''

इस पद की दूसरी ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= दशमः खण्डः =

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥

[ऋ.२.१२.१]

यो जातः जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान्। क्रतुना कर्मणा।
पर्यभवत् पर्यगृह्णात्। पर्यरक्षत्। अत्यक्रामदिति वा।
यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीताम्। नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्वेन।
स जनास इन्द्रः। इति। ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता।
पर्जन्यः तृपेः। आद्यन्तविपरीतस्य। तर्पयिता जन्यः। परः जेता वा।
परो जनयिता वा। प्रार्जयिता वा रसानाम्। तस्यैषा भवति॥ १०॥

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है। इसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् है, जिसका प्रभाव पाठक पूर्व खण्ड के अनुसार समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यः, जातः, एव, प्रथमः, मनस्वान्, देवः, देवान्, क्रतुना, परि, अभूषत्) 'यो जातः जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभवत् पर्यगृह्णात् पर्यरक्षत् अत्यक्रामदिति वा' जो पदार्थ उत्पन्न होते ही अपने बल और तेज के कारण विभिन्न देव पदार्थों में सर्वप्रथम अर्थात् सर्वोपरि एवं सबसे व्यापक प्रभाव वाला होता है, उसमें मनस्तत्त्व की मात्रा भी अन्य देवों की अपेक्षा अधिक होती है, जिससे वह पदार्थ विभिन्न प्राणादि रश्मियों का विशेष धारक होने से बलवत्तम होता है। इसी के कारण वह देव पदार्थ नाना प्रकार के कर्मों को करता हुआ अन्य सभी देव पदार्थों को पराभूत करता है। यहाँ पराभूत करने का अर्थ है कि वह सब देव पदार्थों को अपने प्रबल प्रभाव के कारण अपने नियन्त्रण में कर लेता है और उन्हें असुरादि पदार्थों से रक्षित भी करता है। जब भी संयोज्य कणों (देव पदार्थों) पर असुरादि हिंसक व बाधक पदार्थों का प्रहार होता है, तब इन्द्रतत्त्व इन असुरादि पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके उन संयोज्य पदार्थों को अपने अधीन कर लेता है, जिससे वे अपनी यजन क्रियाएँ निरापद रूप से करने लगते हैं।

ज्ञातव्य है कि इन्द्र शब्द का अर्थ सृष्टि प्रक्रिया के भिन्न-२ चरणों में भिन्न-२ होता है। इसके लिए हम कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत कर रहे हैं— ओमितीन्द्रः (जै.उ.१.९.२), वाग्वा इन्द्रः (कौ.ब्रा.२.७, १३.५), स यस्स आकाश इन्द्र एव सः (जै.उ.१.२८.२), इन्द्रो वागित्यु वाऽआहुः (श.ब्रा.१.४.५.४), प्राणऽएवेन्द्रः (श.ब्रा.१२.९.१.१४), यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः (श.ब्रा.४.१.३.१९), मनऽएवेन्द्रः (श.ब्रा.१२.९.१.१३)। इन सभी पदार्थों को इन्द्र कहने का यह तात्पर्य है कि ये सभी पदार्थ अपने-२ स्तर पर अन्य देव पदार्थों को अपने अधीन करके उनकी बाधक पदार्थों से रक्षा करते हैं और देव पदार्थों को नाना प्रकार की यजन प्रक्रियाएँ निरापद ढंग से करने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करते हैं।

(यस्य, शुष्मात्, रोदसी, अभ्यसेताम्, नृम्णस्य, मह्ना, सः, जनासः, इन्द्रः) 'यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीताम् नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्वेन स जनास इन्द्रः इति' जिस देव पदार्थ के महान् बल से द्युलोक एवं पृथिवीलोक निरन्तर कम्पन करते रहते हैं और उसी देव के व्यापक बल के कारण सभी उत्पन्न पदार्थ (सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक) भी निरन्तर कम्पन करते रहते हैं। उस देव पदार्थ का नाम ही इन्द्र है। यहाँ 'इति' का प्रयोग यह दर्शाता है कि मन्त्र का भाष्य पूर्ण हो चुका।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (यः) (जातः) उत्पन्नः (एव) (प्रथमः) आदिमो विस्तीर्णो वा (मनस्वान्) मनो विज्ञानं विद्यते यस्य सः (देवः) द्योतमानः (देवान्) प्रकाशितव्यान् दिव्यगुणान् पृथिव्यादीन् (क्रतुना) प्रकाशकर्मणा (पर्य्यभूषत्) सर्वतो भूषत्यलङ्करोति (यस्य) (शुष्मात्) बलात् (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (अभ्यसेताम्) प्रक्षिप्ते भवतः (नृम्णस्य) धनस्य (मह्ना) महत्त्वेन (सः) (जनासः) विद्वांसः (इन्द्र) दारयिता सूर्य्यः।

भावार्थः — येनेश्वरेण सर्वप्रकाशकः सर्वस्य धर्त्ता स्वप्रकाशाकर्षणाद्व्यवस्थापकः सूर्यलोको निर्मितः स सूर्य्यस्य सूर्योऽस्तीति वेद्यम्।

पदार्थ— हे (जनासः) विद्वन् जनो! (यः) जो (प्रथमः) प्रथम वा विस्तारयुक्त (मनस्वान्) जिसमें विज्ञान वर्त्तमान (जातः) उत्पन्न हुआ (देवः) प्रकाशमान (क्रतुना) अपने प्रकाश कर्म से (देवान्) प्रकाशित करने योग्य दिव्यगुण वाले पृथिव्यादि लोकों को

(पर्यभूषत्) सब ओर से विभूषित करता है जिसके बल से (नृम्णस्य) धन के मह्ना महत्त्व से (रोदसी) आकाश और पृथिवी (अभ्यसेताम्) अलग होते हैं (सः) वह (इन्द्रः) अपने प्रताप से सब पदार्थों को भिन्न-भिन्न करने वाला सूर्य्य है, ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ— जिस ईश्वर ने सबका प्रकाश करने और सबका धारण करने वाला अपने प्रकाश से युक्त आकर्षण शक्तियुक्त लोकों की व्यवस्था करने वाला सूर्यलोक बनाया है, वह ईश्वर सूर्य का भी सूर्य है, यह जानना चाहिये।''

तदनन्तर ग्रन्थकार लिखते हैं— 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' अर्थात् मन्त्र का साक्षात् करके जो ऋषि उसके अर्थ को जान लेते हैं, उनके हृदय में उस मन्त्र के विज्ञान के यथावत् प्रकाश से मन्त्र के प्रति प्रीति व श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि वेद मन्त्रों के प्रति यथार्थ श्रद्धा व प्रीति उसी के आत्मा में हो सकती है, जिसने अपने योग बल से मन्त्र का साक्षात् करके अर्थ को जान लिया हो।

इन्द्रः पद के निर्वचन के पश्चात् अग्रिम पद 'पर्जन्यः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'पर्जन्यः तृपेः आद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परः जेता वा परो जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम्'। इसका भाष्य करते हुए पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार लिखते हैं—

''पर्जन्य = मेघ। (क) 'तृप्' के आद्यन्तविपरीत रूप 'पृत्' और 'जन्य' के योग से पर्जन्य की सिद्धि है। पर्त् जन्य-पर्जन्य, मेघ तर्पयिता और सर्वजनहितकारी है। (ख) पर+'जि' जये+यक् (उ.को.४.११२) यह दुष्काल आदि के जीतने में उत्कृष्ट है। (ग) पर+'जनी' प्रादुर्भावे+यक्-परजन्य-पर्जन्य, मेघ उत्तम उत्पादक है। (घ) प्र+अर्ज्+यक्-पर् जर् य-पर्जन्य, यह वृक्षादिकों में रसों को पैदा करने वाला है।''

आधिदैविक पक्ष में पर्जन्य उस कॉस्मिक मेघ को कहते हैं, जो नाना प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों की वृष्टि द्वारा अनेक लोकों को तृप्त करता है। इसके साथ ही वह विभिन्न उत्पन्न पदार्थों का हितकारी होता है। इसका अर्थ यह है कि वह अपने अन्दर नाना प्रकार के पदार्थों का धारण और पोषण करता रहता है। उसे श्रेष्ठ जेता कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसा मेघ अपने निकटवर्ती अन्तरिक्ष में विद्यमान सूक्ष्म पदार्थों को अपनी ओर आकर्षित करते हुए अपने साथ संयुक्त करता रहता है। इसलिए यहाँ पर्जन्य को रसों का अर्जन करने वाला कहा गया है। इस मेघ में अनेक प्रकार की यजन क्रियाएँ होने से न

केवल अनेक प्रकार के कणों की उत्पत्ति होती है, अपितु अनेक लोकों की उत्पत्ति भी इन्हीं मेघों से होती है।

इस पद की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकादशः खण्डः =

वि वृक्षान्हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति दुष्कृतः॥

[ऋ.५.८३.२]

विहन्ति वृक्षान्विहन्ति च रक्षाँसि।
सर्वाणि चास्माद् भूतानि बिभ्यति महावधात्। महान्ह्यस्य वधः।
अप्यनपराधो भीतः पलायते वर्षकर्मवतः।
यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति दुष्कृतः पापकृतः॥
बृहस्पतिः बृहतः पाता वा। पालयिता वा। तस्यैषा भवति॥ ११॥

इस मन्त्र का ऋषि अत्रि है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति एक विशेष प्रकार के पदार्थ, जिसकी चर्चा हम पूर्व में खण्ड ३.१७ में कर चुके हैं, से होती है। इसका देवता पृथिवी और छन्द स्वराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पृथिवी संज्ञक पदार्थ रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वि, वृक्षान्, हन्ति, उत, हन्ति, रक्षसः, विश्वम्, बिभाय, भुवनम्, महावधात्) 'विहन्ति वृक्षान्विहन्ति च रक्षाँसि सर्वाणि चास्माद् भूतानि बिभ्यति महावधात् महान्ह्यस्य वधः' वृक्ष संज्ञक पदार्थों के विज्ञान को समझने के लिए पूर्व खण्ड २.६ पठनीय है, जहाँ सूर्यादि लोकों को वृक्ष कहा गया है। पूर्व खण्ड में व्याख्यात पर्जन्य संज्ञक कॉस्मिक मेघ सूर्यादि

लोकों को विशेष रूप से प्राप्त करते हैं। इसका अर्थ यह है कि कॉस्मिक मेघों में ही इन लोकों का निर्माण हुआ करता है। 'वृक्षः' पद 'ओव्रश्चू छेदने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कॉस्मिक मेघ से सूर्यादि लोकों के निर्माण की प्रक्रिया के समय छेदन और भेदन की अनेक क्रियाएँ होती हैं। इस कारण भी इन लोकों को वृक्ष कहा गया है। इन लोकों के निर्माण के समय कॉस्मिक मेघ इन्द्रतत्त्व के द्वारा विविध प्रकार के राक्षस संज्ञक हिंसक पदार्थों को विशेष रूप से नष्ट करते रहते हैं। ये असुरादि पदार्थ, जिनमें राक्षस संज्ञक हिंसक पदार्थ भी सम्मिलित हैं, सूर्य व पृथिव्यादि लोकों के निर्माण और उनके पारस्परिक दूरगमन में अपनी अनिवार्य भूमिका निभाते हैं। इस भूमिका के पश्चात् पर्जन्य संज्ञक कॉस्मिक मेघ में विद्यमान इन्द्रतत्त्व इन असुरादि पदार्थों को नष्ट करता है। इस प्रकार असुरादि पदार्थों को कब व कितना नष्ट करना है, इसका निर्धारण 'ओम्' रश्मियों, जो इन्द्रतत्त्व का सूक्ष्मतम रूप हैं, के द्वारा होता है। कॉस्मिक मेघ, जिसमें सूर्य एवं ग्रहादि लोक बन रहे होते हैं, पर असुरादि पदार्थ का बहुत बड़ा प्रहार होता है। उसी प्रहार को यहाँ महावध कहा गया है। उस प्रहार के समय अथवा उस प्रहार से कॉस्मिक मेघस्थ सम्पूर्ण पदार्थ, जिसमें सूर्य एवं ग्रहादि लोकों का आकार ले रहे पिण्ड भी सम्मिलित हैं, तीव्र रूप से कम्पन करने लगते हैं।

(उत, अनागाः, ईषते, वृष्ण्यावतः, यत्, पर्जन्यः, स्तनयन्, हन्ति, दुः, कृतः) 'अप्यनपराधो भीतः पलायते वर्षकर्मवतः यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति दुष्कृतः पापकृतः' जब मेघ में ऐसा विस्फोट होता है, उस समय वे पदार्थ जो अपराधरहित होते हैं, वे भी काँपते हुए दूर भागते हैं। यहाँ अपराधरहित उन पदार्थों को कहते हैं, जो लोक निर्माण व पृथक्करण प्रक्रिया को चोट पहुँचाकर नष्ट नहीं करते हैं। ऐसे पदार्थ विस्फोट के पश्चात् भी उन लोकों के साथ मिलकर उनका अंग बन जाते हैं। यहाँ 'वर्षकर्मवान्' पद का पञ्चमी विभक्ति में प्रयोग यह दर्शाता है कि लोक आदि पदार्थों के पलायन की यह प्रक्रिया उस कॉस्मिक मेघ, जो नाना प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों की विभिन्न लोकों के ऊपर वर्षा करने वाला होता है, की सीमा से बाहर दूर-२ तक होती है। इसका अर्थ यह है कि ये लोक छिटककर उस मेघ की सीमा के बाहर तक चले जाते हैं। वह जो कॉस्मिक मेघ होता है, उसके अन्दर व्याप्त इन्द्रतत्त्व अत्यन्त घोर गर्जना के साथ असुरादि पदार्थों, जो लोक निर्माण की क्रिया को विचलित व विकृत कर सकते हैं, पर तीव्र प्रहार करके उन्हें नष्ट करता है।

भावार्थ— जिस समय विशाल खगोलीय मेघ में विस्फोट होता है, उस समय भयंकर छेदन-भेदन की क्रियाएँ हुआ करती हैं। उस समय देव पदार्थ और असुर पदार्थ में भारी संघर्ष होता है। देव पदार्थ जहाँ इन लोकों का निर्माण करता है, वहीं असुर पदार्थ इन लोकों को परस्पर दूर-दूर हटाने का काम करता है। इस प्रक्रिया में निर्माणाधीन सूर्य वा ग्रह आदि लोक तीव्र रूप से कम्पन करने लगते हैं। उन लोकों पर बिखरे हुए अन्तरिक्षस्थ पदार्थ की वृष्टि होती है और बहुत सारा पदार्थ इन लोकों में समाहित हो जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में गम्भीर घोष उत्पन्न होते रहते हैं।

इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (वि) (वृक्षान्) छेत्तुमर्हान् (हन्ति) (उत) अपि (हन्ति) (रक्षसः) दुष्टाचारान् (विश्वम्) (बिभाय) बिभेति (भुवनम्) उदकम्। भुवनमित्युदकनाम। निघं.१.१२। (महावधात्) महतो हननात् (उत) (अनागाः) न विद्यत आगोऽपराधो यस्मिन् (ईषते) हिनस्ति (वृष्ण्यावतः) वृष्ण्यानि वर्षितुं योग्यान्यभ्राणि विद्यन्ते येषु तान् (यत्) यः (पर्जन्यः) (स्तनयन्) शब्दयन् (हन्ति) (दुष्कृतः) दुष्टाचारान्।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। ये मनुष्याः पालनीयान् पालयन्ति हन्तव्यान् घ्नन्ति ते राजसत्तावन्तो जायन्ते।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जैसे बढ़ई (वृक्षान्) काटने योग्य वृक्षों को (वि, हन्ति) विशेष कर के काटता है (उत) और न्यायकारी राजा, जिन से (विश्वम्) सम्पूर्ण संसार (बिभाय) भय करता है उन (रक्षसः) दुष्ट आचरण वालों का (हन्ति) नाश करता है और (यत्) जो (पर्ज्जन्यः) मेघ (स्तनयन्) शब्द करता हुआ (महावधात्) बड़े हनन से (भुवनम्) जल को वर्षाता है और जैसे (अनागाः) नहीं अपराध जिसमें वह (वृष्ण्यावतः) वर्षने योग्य मेघ जिन में उन का (ईषते) नाश करता है (उत) और (दुष्कृतः) दुष्ट कर्मों के करने वालों का (हन्ति) नाश करता है, वैसा ही मनुष्य वर्ताव करें।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो मनुष्य पालन करने योग्यों का पालन करते हैं और नाश करने योग्यों का नाश करते हैं, वे राजसत्ता से युक्त होते हैं।"

'पर्जन्यः' पद के पश्चात् अग्रिम पद 'बृहस्पतिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'बृहस्पतिः बृहतः पाता वा पालयिता वा' अर्थात् जो बड़े-२ लोकों वा कर्मों का

पालक और रक्षक होता है, उस पदार्थ को बृहस्पति कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= द्वादशः खण्डः =

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य॥

[ऋ.१०.६८.८]

अशनवता मेघेनापिनद्धं मधु पर्यपश्यत्। मत्स्यमिव दीने उदके निवसन्तम्। निर्जहार तच्चमसमिव वृक्षात्। चमसः कस्मात्। चमन्त्यस्मिन्निति। बृहस्पतिर्विरवेण शब्देन विकृत्य।
ब्रह्मणस्पतिः। ब्रह्मणः पाता वा। पालयिता वा। तस्यैषा भवति॥ १२॥

इस मन्त्र का ऋषि अयास्य है। [अयास्य = स प्राणो वा अयास्यः (जै.उ.२.८.८), अयास्य उद्गाता (मै.सं.१.९.१, काठ.सं.९.९)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति उत्कृष्ट रूप से प्रकाशित अर्थात् सक्रिय प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता बृहस्पति और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से बृहस्पति संज्ञक पदार्थ तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि इसके प्रभाव से इस सृष्टि में विभिन्न प्राण रश्मियाँ रक्तवर्णीय प्रकाश को उत्पन्न करने लगती हैं। यहाँ सूत्रात्मा वायु सहित सभी प्राण रश्मियाँ बृहस्पति कहलाती हैं, क्योंकि ये रश्मियाँ ही लघु से लेकर विशालतम लोक-लोकान्तरों का पालन और रक्षण करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अश्ना, अपिनद्धम्, मधु, परि, अपश्यत्, मत्स्यम्, न, दीने, उदनि, क्षियन्तम्) 'अशनवता मेघेनापिनद्धं मधु पर्यपश्यत् मत्स्यमिव दीने उदके निवसन्तम्' [मधु = अन्नं वै मधु (तां.ब्रा. ११.१०.३), प्रजा वै मधु (जै.ब्रा.१.८८), सौम्यं वै मधु (काठ.सं.११.२)] विशाल व

व्यापक कॉस्मिक मेघ द्वारा आच्छादित सोम्य आदि संयोज्य पदार्थों को बृहस्पति रूप प्राण रश्मियाँ सब ओर से घेरकर आकृष्ट करती हैं। इस प्रकरण से संकेत मिलता है कि जिस समय कॉस्मिक मेघ का निर्माण प्रारम्भ हो ही रहा होता है, उस समय सोम पदार्थ और प्राण तत्त्व दोनों दूर-दूर स्थित होते हैं। कालान्तर में गायत्री छन्द रश्मियों के द्वारा सोम को आकर्षित करके इन्हें प्राण रश्मियों के निकट लाया जाता है, इस समय अनेक छन्द रश्मियों का भी निर्माण होता है। इसके लिए वेदविज्ञान-आलोकः का खण्ड ३.२५-२९ पठनीय है। [दीनः = दो+क्त, तस्य नः (आ.को.)] सोम के आकर्षण की प्रक्रिया उसी प्रकार होती है, जैसे उस मेघ में विद्यमान उदक अर्थात् उस मेघ में भरे हुए सोम पदार्थ के अन्दर दुर्बल वा छिन्न-भिन्न हो चुकी मत्स्य रश्मियों को प्राण रश्मियाँ आकर्षित करती हैं। उसे इस प्रकार भी ग्रहण करना चाहिए कि सोम रश्मियों के आकर्षण की प्रक्रिया के साथ-२ मत्स्य रश्मियों के आकर्षण की भी प्रक्रिया हुआ करती है। मत्स्य रश्मियों के बारे में पूर्व में खण्ड ६.२७ पठनीय है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि सोम रश्मियों का आकर्षण गायत्री छन्द रश्मियाँ करती हैं, तब मत्स्य रश्मियों का आकर्षण प्राण रश्मियाँ कैसे करती हैं, जबकि वे वहाँ विद्यमान ही नहीं होती हैं ? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि जिस प्रकार गायत्री रश्मियाँ प्राण रश्मियों से प्रेरित होकर ही सोम रश्मियों की ओर गमन करती हैं, उसी प्रकार प्राण रश्मियाँ गायत्री रश्मियों के द्वारा ही मत्स्य रश्मियों को आकर्षित करती हैं।

(निः, तत्, जभार, चमसम्, न, वृक्षात्, बृहस्पतिः, विरवेण, विकृत्य) 'निर्जहार तच्चमस-मिव वृक्षात् चमसः कस्मात् चमन्त्यस्मिन्निति बृहस्पतिर्विरवेण शब्देन विकृत्य' प्राण रश्मियाँ सोम एवं मत्स्य रश्मियों को उसी प्रकार आकर्षित करके बाहर निकालती हैं, जैसे वृक्ष से चमस को बाहर निकाला जाता है। [चमसः = मेघनाम (निघं.१.१०)] यहाँ वृक्ष से तात्पर्य विशाल कॉस्मिक मेघ से है, क्योंकि इसी को छिन्न-भिन्न करके विभिन्न लोकों का निर्माण होता है। उधर चमस उन मेघों को कहते हैं, जो विशाल कॉस्मिक मेघ का ही भाग होकर एक-एक लोक का प्रारम्भिक रूप होते हैं। विस्फोट के समय इन लघु मेघों, जो लोकों का रूप धारण करने वाले होते हैं, को बाहर फेंका जाता है अथवा निकालकर बाहर किया जाता है। इस विस्फोट के समय विशेष रूप से गम्भीर घोष करता हुआ वायुतत्त्व कॉस्मिक मेघ को विकृत करके सब लोकों को पृथक् करता है। यहाँ 'बृहस्पति' पद

वायुतत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त है। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— 'अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं (वायुः) पवते' (श.ब्रा.१४.२.२.१०)। यद्यपि इस कार्य में इन्द्र एवं असुर पदार्थ की विशेष भूमिका होती है, परन्तु ये दोनों पदार्थ वायु के ही भाग होते हैं। इस कारण बृहस्पति पद से वायुतत्त्व का ग्रहण करना सर्वथा उचित है। यहाँ 'न' को उपमावाची न मानने पर यह अर्थ प्रकट होता है कि जिस समय सर्वत्र फैले हुए पदार्थ समूह को अनेकत्र संघनित करके अर्थात् यत्र-तत्र छिन्न-भिन्न करके विशाल कॉस्मिक मेघों को उत्पन्न किया जाता है, उस समय सोम रश्मियों एवं मत्स्य रश्मियों के आहरण की भी घटनाएँ घटती हैं। यहाँ सम्पूर्ण पदार्थ समूह वृक्ष कहलाता है तथा विशाल कॉस्मिक मेघों को चमस कहते हैं।

'बृहस्पतिः' पद की व्याख्या के पश्चात् 'ब्रह्मणस्पतिः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है—'ब्रह्मणस्पतिः ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा' [ब्रह्मणस्पतिः = एष वै ब्रह्मणस्प-तिर्यऽएष (सूर्यः) तपति (श.ब्रा.१४.१.२.१५)] अर्थात् सूर्यलोक अथवा सूर्यलोक में विद्यमान इन्द्रतत्त्व ही ब्रह्मणस्पति कहलाता है, क्योंकि यह ब्रह्म अर्थात् विभिन्न प्रकार के मन्त्रों का पालक, रक्षक व अवशोषक होता है। वस्तुतः सूर्यादि लोक असंख्य छन्द रश्मियों के न केवल भण्डार होते हैं, अपितु वे अन्तरिक्ष से भी विभिन्न छन्द रश्मियों को अवशोषित करते रहते हैं। यहाँ 'पाता' पद रक्षक एवं अवशोषक दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= त्रयोदशः खण्डः =

अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत्।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्॥

[ऋ.२.२४.४]

अशनवन्तमास्यन्दनवन्तम्। अवातितं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारम्।

अभि यमोजसा बलेनाभ्यतृणत्। तमेव सर्वे पिबन्ति रश्मयः सूर्यदृशः। बह्वेनं सह सिञ्चन्त्युत्सम्। उद्रिणमुदकवन्तम्॥ १३॥

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है, जिसके बारे में पूर्ववत् समझें। इसका देवता ब्रह्मणस्पति और छन्द जगती होने से सूर्यादि लोकों में गौर वर्ण की उत्पत्ति होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अश्म, आस्यम्, अवतम्, ब्रह्मणः, पतिः, मधुधारम्, अभि, यम्, ओजसा, अतृणत्) 'अशनवन्तमास्यन्दनवन्तम् अवातितं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारम् अभि यमोजसा बलेनाभ्यतृणत्' उस व्यापनशील तथा अन्तरिक्ष में इधर-उधर बहते हुए विशाल मेघ, जो मधु अर्थात् विभिन्न प्राण एवं अन्नसंज्ञक पदार्थों को धारण करता है तथा नीचे की ओर गमन कर रहा होता है, को उसके केन्द्र में स्थित निर्माणाधीन सूर्यलोक वा इन्द्रतत्त्व अपने ओजबल से फाड़ता है। [ओजः = वज्रो वाऽओजः (श.ब्रा.८.४.१.२०)] इससे स्पष्ट है कि विशाल कॉस्मिक के केन्द्रीय भाग में निर्माणाधीन सूर्यलोक, जो सम्पूर्ण कॉस्मिक मेघ के साथ घूर्णन कर रहा होता है, के द्वारा सम्पूर्ण मेघ को विखण्डित करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी जाती है। यहाँ 'ओजसा' पद से यह संकेत मिलता है कि घूर्णन करते हुए कॉस्मिक मेघ के महान् सम्पीडक बलों की भी उस मेघ को विखण्डित करने में भूमिका होती है। जब वह मेघ बहुत अधिक सम्पीडित हो चुका होता है, तब विपरीत बल उत्पन्न होकर सम्पूर्ण मेघ कम्पन करने लगता है। ऐसी स्थिति में इन्द्र एवं असुरादि पदार्थ भी अपनी-अपनी भूमिकाओं के कारण उस मेघ के विखण्डन में सहयोग करते हैं। यहाँ ब्रह्मणस्पति पद से विभिन्न प्राण एवं छन्द रश्मियों का भी ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ये रश्मियाँ ही सभी बलों को उत्पन्न करने वाली हैं और किसी भी विखण्डन या संयोजन में बलों की ही भूमिका होती है। इन बलों का ही सभी पदार्थ पान करते हैं अथवा मेघ के विखण्डित होने पर जो पदार्थ अन्तरिक्ष में बिखर जाता है।

(तम्, एव, विश्वे, पपिरे, स्वर्दृशः, बहु, साकम्, सिसिचुः, उत्सम्, उद्रिणम्) 'तमेव सर्वे पिबन्ति रश्मयः सूर्यदृशः बह्वेनं सह सिञ्चन्त्युत्सम् उद्रिणमुदकवन्तम्' उस पदार्थ को सूर्य से निकलने वाली तरंगें पीने लगती हैं अर्थात् वे उन्हें आकर्षित करके पुनः सूर्य की ओर आकृष्ट करने लगती हैं। यहाँ सूर्य से निकलने वाली तरंगों का तात्पर्य गुरुत्वीय तरंगें समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की छन्दादि रश्मियों का भी यहाँ ग्रहण

किया जा सकता है। वस्तुतः मेघ के विखण्डन के पश्चात् सम्पूर्ण पदार्थ नए ढंग से व्यवस्थित होता है और उस कार्य में विभिन्न रश्मियाँ भाग लेती हैं। ये सब रश्मियाँ वा तरंगें एक साथ मिलकर उन मेघ रूप सूर्यादि लोकों को सींचने लगती हैं अर्थात् जो पदार्थ बाहर की ओर प्रक्षिप्त हुआ था, उसकी पुनः इन सूर्यादि लोकों के ऊपर वर्षा होने लगती है। सौर मण्डल के निर्माण के समय न केवल सूक्ष्म पदार्थ, अपितु बड़े व छोटे असंख्य पिण्ड भी पुनः सूर्य में समाहित होने लगते हैं। यहाँ सूर्य को भी उत्स कहा है, इसका कारण यह है कि निर्माणाधीन सूर्यलोक भी मेघरूप ही होता है और यह उदक अर्थात् नाना प्रकार के संयोज्य कणों का भण्डार होता है।

* * * * *

= चतुर्दशः खण्डः =

क्षेत्रस्य पतिः। क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मणः। तस्य पाता वा। पालयिता वा। तस्यैषा भवति॥ १४॥

[क्षेत्रं = इयं वै क्षेत्रं पृथिवी (कौ.ब्रा.३०.११, गो.उ.५.१०)] यहाँ पृथिव्यादि लोकों अथवा पार्थिव कणों को क्षेत्र कहा गया है, क्योंकि इनमें विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म पदार्थ विद्यमान होते हैं। उधर पार्थिव परमाणु, जिन्हें वर्तमान भौतिकी की भाषा में मोलिक्यूल्स कह सकते हैं, इस सृष्टि में सूक्ष्म पदार्थों की शृंखला के अन्तिम पदार्थ माने जा सकते हैं। इनके अन्दर सभी सूक्ष्म पदार्थ विद्यमान होते हैं। उधर पृथिव्यादि लोकों के अन्दर भी अन्य लोकों यथा सूर्य एवं अन्तरिक्ष आदि में विद्यमान पदार्थ विद्यमान रहते हैं। इस कारण पृथिव्यादि लोकों को भी क्षेत्र कहा जाता है। इन पृथिव्यादि लोकों और मोलिक्यूल्स नामक कणों के रक्षक और पालक पदार्थों को 'क्षेत्रस्य पतिः' कहते हैं। इस विषय में ऋषियों का कथन है— असौ (द्यौः) वै क्षेत्रस्य पतिरमुतो वर्षति (काठ.सं.३०.४), सोमो वै देवानां क्षेत्रपतिः (जै.ब्रा.१.८४)। इन वचनों का आशय यह है कि सूर्यादि लोक एवं उनके बाहर चारों ओर विद्यमान द्युलोक इन पृथिव्यादि लोकों के पालक और रक्षक हैं। इसके साथ ही सोम अर्थात् वायुतत्त्व भी इनका पालक और रक्षक है। इन दोनों

ही पदार्थों के अभाव में ग्रहादि लोकों का अस्तित्व सम्भव नहीं है और इनकी उत्पत्ति के पश्चात् भी इनका रक्षण द्युलोक और वायुतत्त्व के बिना सम्भव नहीं है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

पञ्चदशः खण्डः

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
गामश्वं पोषयित्वा स नो मृळातीदृशे॥ [ऋ.४.५७.१]
क्षेत्रस्य पतिना वयं सुहितेनेव जयामः। गामश्वं पुष्टं पोषयितृ चाहरेति।
स नो मृळातीदृशे। बलेन वा धनेन वा। मृळातिर्दानकर्मा।
तस्यैषापरा भवति॥ १५॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है, जिसके विषय में पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता क्षेत्रपति एवं छन्द अनुष्टुप् है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पूर्वोक्त क्षेत्रपति संज्ञक पदार्थ लालिमायुक्त भूरे रंग से युक्त होने लगते हैं। इसके साथ ही विभिन्न छन्द रश्मियाँ इस अनुष्टुप् छन्द रश्मि के साथ मिलकर अधिक सक्रिय प्रभाव दर्शाती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(क्षेत्रस्य, पतिना, वयम्, हितेन, इव, जयामसि) 'क्षेत्रस्य पतिना वयं सुहितेनेव जयामः' [वामदेवः = प्रजापतिर्वै वामदेवः (शां.आ.१.२)] द्युलोक के साथ प्रजापति रूप सूर्यलोक अपने धारण और पोषण आदि बलों के द्वारा विभिन्न ग्रहादि लोकों को निरन्तर नियन्त्रित रखता है। इस प्रक्रिया में 'वयम्' अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत वामदेव रश्मियाँ विभिन्न लोकों के धारण व पोषण में अपनी मौलिक भूमिका निभाती हैं। सूर्यलोक इन रश्मियों के द्वारा ही सब लोकों को नियन्त्रित करने में समर्थ होता है। वामदेव प्रायः प्राण नामक प्राण रश्मियों को कहते हैं। ये प्राण रश्मियाँ सदैव आकर्षण बल को ही उत्पन्न करती हैं, इस कारण गुरुत्वाकर्षण बल में इनकी प्रचुरता होती है और गुरुत्वाकर्षण बल ही

सब लोकों को परस्पर बाँधे रखता है। यहाँ 'इव' पद पदपूरणार्थ प्रयुक्त हुआ है।

(गाम्, अश्वम्, पोषयित्नु, आ, सः, नः, मृळाति, ईदृशे) 'गामश्वं पुष्टं पोषयितृ चाहरेति स नो मृळातीदृशे बलेन वा धनेन वा मृळातिर्दानकर्मा' वे द्युलोक नाना प्रकार की वाक् रश्मियों एवं विभिन्न प्रकार के कणों के साथ-साथ विभिन्न आशुगामी तरंगों (विद्युत् चुम्बकीय तरंग आदि) को सब ओर से ग्रहण करते हैं। इसका तात्पर्य है कि द्युलोक में विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कणों, तरंगों, वाक् एवं प्राण रश्मियों की प्रचुरता होती है। ये तरंग, कण व रश्मि आदि पदार्थ द्युलोक के साथ-साथ सूर्य एवं ग्रहादि लोकों के भी पोषक होते हैं। इसके साथ-२ ये पदार्थ इन लोकों को धारण करने वाले भी होते हैं। इस प्रकार वह द्युलोक और उसमें विद्यमान तथा लोकों के निकट विद्यमान वायु रश्मियाँ सूर्यादि लोकों को निरन्तर कणों, तरंगों एवं विभिन्न रश्मियों का दान करती रहती हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी भी तारे के चारों ओर विद्यमान द्युलोक नामक क्षेत्र सूर्यादि लोकों को नाना प्रकार के सूक्ष्म पदार्थ प्रदान करके उनके अस्तित्व को निरन्तर सुरक्षित रखता है और ये द्युलोक एवं वायु नामक पदार्थ ग्रहादि लोकों को भी नाना प्रकार के सूक्ष्म कण, तरंगें एवं विभिन्न रश्मियाँ प्रदान करके उनके अस्तित्व को सुरक्षित रखते हैं। इसका अर्थ यह है कि द्युलोक एवं वायु रश्मियाँ नाना प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति एवं वृष्टि द्वारा सभी लोकों के मध्य उपयुक्त बल उत्पन्न करके सभी लोकों को परस्पर बाँधे रखते हैं। यहाँ 'नः' पद का आशय वामदेव संज्ञक ऋषि रश्मियाँ नहीं, बल्कि उनके द्वारा पोषित विभिन्न लोक ग्रहण करना चाहिए।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (क्षेत्रस्य) शस्यस्योत्पत्यधिकरणस्य (पतिना) स्वामिना। अत्र षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वेति पतिशब्दस्य घिसंज्ञा (वयम्) (हितेनेव) हितसाधकेन सैन्येनेव (जयामसि) जयामः (गाम्) पृथिवीम् (अश्वम्) तुरङ्गम् (पोषयित्नु) पुष्टिकरम् (आ) (सः) (नः) अस्मान् (मृळाति) (ईदृशे)।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। यथा सुशिक्षितेनानुरक्तेन सैन्येन वीरा विजयं प्राप्नुवन्ति तथैव कृषिकर्मसु कुशला ऐश्वर्यं लभन्ते।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जिस (क्षेत्रस्य) अन्न की उत्पत्ति के आधारस्थान अर्थात् खेत के (पतिना) स्वामी से (वयम्) हम लोग (हितेनेव) हित की सिद्धि करने वाली सेना के

सदृश (गाम्) पृथिवी (अश्वम्) घोड़ा (पोषयित्नु) और पुष्टि करने वाले द्रव्य को (जयामसि) जीतते हैं (सः) वह क्षेत्र का स्वामी (ईदृशे) ऐसे में (नः) हम लोगों को (आ, मृळाति) सुख देवे।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालंकार है। जैसे उत्तम प्रकार शिक्षित और अनुरक्त सेना से वीरजन विजय को प्राप्त होते हैं, वैसे ही कृषि अर्थात् खेतीकर्म्म में चतुर जन ऐश्वर्य्य को प्राप्त होते हैं।''

इसी पद की एक और ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षोडशः खण्डः =

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु॥ [ऋ.४.५७.२]
क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयोऽस्मासु धुक्ष्वेति।
मधुश्चुतं घृतमिवोदकं सुपूतम्।
ऋतस्य नः पातारो वा पालयितारो वा मृळयन्तु।
मृळयतिरुपदयाकर्मा। पूजाकर्मा वा।

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्ववत् हैं तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से रक्तवर्णीय तेज की उत्पत्ति व समृद्धि होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(क्षेत्रस्य, पते, मधुमन्तम्, ऊर्मिम्, धेनुः, इव, पयः, अस्मासु, धुक्ष्व) 'क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयोऽस्मासु धुक्ष्वेति' वह द्युलोक अथवा वायुतत्त्व प्राण रश्मियों से युक्त तरंगों को सूर्यलोक जैसे तेजस्वी लोकों के अन्दर प्रवाहित करता रहता है। इसको उपमा द्वारा समझाते हुए लिखा है कि यह प्रक्रिया ऐसे ही होती है, जैसे गाय के स्तन से

दूध का क्षरण होता है अथवा [पयः = प्राणः पयः (श.ब्रा.६.५.४.१५)] जब द्युलोक सूर्यादि तेजस्वी लोकों के अन्दर प्राण रश्मियों से युक्त विशेष संयोज्य तरंगों को प्रवाहित करता है, उस समय विभिन्न छन्द रश्मियाँ अथवा संयोज्य कण नाना प्राण रश्मियों को उत्सर्जित करते रहते हैं। ये प्राण रश्मियाँ द्युलोक को निरन्तर बलवान् बनाए रखती हैं। ऐसा बलवान् द्युलोक सम्पूर्ण सौर मण्डल को बाँधने और थामने में समर्थ होता है।

(मधुश्चुतम्, घृतम्, इव, सु, पूतम्, ऋतस्य, नः, पतयः, मृळयन्तु) 'मधुश्चुतं घृतमिवोदकं सुपूतम् ऋतस्य नः पातारो वा पालयितारो वा मृळयन्तु मृळयतिरुपदयाकर्मा पूजाकर्मा वा' [ऋतम् = ऋतमित्येष (सूर्यः) वै सत्यम् (ऐ.ब्रा.४.२०)] उस सूर्यलोक की रक्षिका और पालिका रश्मियाँ विभिन्न संयोज्य प्राण रश्मियों का शनैः-शनैः रिसाव करती हुई एवं शुद्धावस्था में 'घृम्' रश्मियों का सिञ्चन करती हुई अथवा इन प्राण और 'घृम्' रश्मियों का नानाविध उपयोग और रक्षण करती हैं।

भावार्थ— किसी भी तारे के बाहर विद्यमान विशाल द्युलोक से विभिन्न संयोज्य प्राण रश्मियों से युक्त तरंगों का प्रवाह होता रहता है। इस प्रक्रिया के समय वे तरंगें अथवा कण अनेक प्रकार की प्राण रश्मियों को उत्सर्जित करते हुए तारों को बलवान् बनाए रखते हैं। इन तारों की रक्षा करने में समर्थ विभिन्न संयोज्य प्राण रश्मियाँ एवं शुद्धावस्था में विद्यमान 'घृम्' रश्मियाँ उन तारों की विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित करती हुई उन लोकों को संरक्षित करती हैं। इसका अर्थ यह है कि द्युलोक और उसके मध्य विद्यमान तारे के मध्य विभिन्न कणों, तरंगों एवं प्राणादि रश्मियों का पारस्परिक संचरण होता रहता है। द्युलोक के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' का १८वाँ अध्याय पठनीय है। ध्यातव्य है कि किसी भी तारे के चारों ओर विद्यमान वह क्षेत्र, जो निकटतम ग्रह की कक्षा और तारे की परिधि के मध्य फैला रहता है, द्युलोक कहलाता है। इसी प्रकार किसी भी आकाशगंगा के केन्द्रीय तारे की बाहरी परिधि और निकटतम तारे की कक्षा के मध्य स्थित भाग को भी विशाल द्युलोक कहते हैं। इस द्युलोक और आकाशगंगा के केन्द्रीय भाग के मध्य इसी प्रकार की क्रियाएँ होती हैं, जिस प्रकार छोटे द्युलोक और तारे के मध्य हुआ करती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (क्षेत्रस्य) (पते) स्वामिन् (मधुमन्तम्) मधुरादिगुणयुक्तम् (ऊर्मिम्) जलधाराम् (धेनुरिव) (पयः) दुग्धम् (अस्मासु) (धुक्ष्व) पूर्णं कुरु (मधुश्चुतम्)

मधुरादिगुणयुक्तम् (घृतमिव) (सुपूतम्) सुष्ठु पवित्रम् (ऋतस्य) (नः) अस्मान् (पतयः) स्वामिनः (मृळयन्तु)।

भावार्थः — अत्र वाचकलु.। यथा धीमन्तः कृषीवलाः सुन्दराणि शुद्धान्यन्नान्युत्पाद्य सर्वानानन्दयन्ति तथैव कृषीवलान् संरक्ष्य सदैवोत्साहयेत्।

पदार्थ— हे (क्षेत्रस्य) अन्न के उत्पन्न होने की आधारभूमि के (पते) स्वामी जैसे (ऋतस्य) सत्य के (पतयः) स्वामी (घृतमिव) घृत के सदृश (मधुश्चुतम्) मधुर आदि गुणों से युक्त (सुपूतम्) उत्तम प्रकार पवित्र विज्ञान को प्राप्त होकर (नः) हम लोगों को (मृळयन्तु) सुख दीजिये तथा (धेनुरिव) गौ के सदृश (मधुमन्तम्) मधुर आदि गुणों से युक्त (ऊर्मिम्) जलधारा और (पयः) दुग्ध को (अस्मासु) हम लोगों में (धुक्ष्व) पूर्ण करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। जैसे बुद्धिमान् खेती करने वाले जन सुन्दर शुद्ध अन्नों को उत्पन्न करके सबको आनन्द देते हैं, वैसे ही खेती करने वाले जनों की उत्तम प्रकार रक्षा करके सदा उत्साह युक्त करे।''

तद्यत्समान्यामृचि समानाभिव्याहारं भवति। तज्जामि भवतीत्येकम्।
मधुमन्तं मधुश्चुतमिति यथा।
यदेव समाने पादे समानाभिव्याहारं भवति। तज्जामि भवतीत्यपरम्।
हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्। [ऋ.२.३५.१०] इति यथा।
यथाकथा च विशेषोऽजामि भवतीत्यपरम्।
मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव॥ [ऋ.१०.१६६.५] इति यथा।
वास्तोष्पतिः। वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः। तस्य पाता वा पालयिता वा।
तस्यैषा भवति॥ १६ ॥

यहाँ ग्रन्थकार कुछ आचार्यों का मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि समान ऋचा में अर्थात् एक ही ऋचा में एक ही अर्थ को कहने वाला एक पद के अतिरिक्त कोई अन्य पद भी विद्यमान होता है, तब उस पद को जामि अर्थात् पुनरुक्त कहते हैं। इसका कारण वे आचार्य यह मानते हैं कि एक ही मन्त्र में समान अर्थ वाले दो पदों का उपयोग हुआ है,

इस कारण यह पुनरुक्ति दोष है। इसके उदाहरण रूप में वे आचार्य उपर्युक्त ऋचा में 'मधुमन्तम्' एवं मधुश्चुतम्' पदों को प्रस्तुत करते हैं। यहाँ 'मधुमन्तम्' एवं 'मधुश्चुतम्' दोनों पदों का अर्थ लगभग समान है।

अब अन्य आचार्यों के मत को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'यदेव समाने पादे समानाभिव्याहारं भवति तज्जामि भवतीत्यपरम्'। इसका अर्थ यह है कि ये आचार्य एक ही ऋचा में समान अर्थ वाले दो पदों के प्रयोग को पुनरुक्ति दोष न मानकर किसी ऋचा के एक ही पाद में समान अर्थ वाले दो पदों की एक साथ विद्यमानता को ही पुनरुक्ति दोष मानते हैं। इसके लिए वे एक निगम को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— 'हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्'। यहाँ ग्रन्थकार ने ऋचा का एक पाद ही उद्धृत किया है। हम इसे पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।
हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै॥

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता अपान्नपात् तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न तन्मात्राओं के मध्य विचरने वाली प्राण रश्मियाँ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न वा समृद्ध करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(हिरण्यरूपः, सः, हिरण्यसंदृक्, अपाम्, नपात्, सः, इत्, उ, हिरण्यवर्णः) विभिन्न तन्मात्राओं में विचरण करने वाली अविनाशी रूप प्राण रश्मियाँ तेजरूप ही होती हैं, ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों एवं उनके द्वारा विभिन्न कणों व तरंगों का हरण करने वाली भी होती हैं। ये रश्मियाँ स्वयं तेजरूप होने के साथ-साथ अन्य पदार्थों को तेजयुक्त करके उन्हें दर्शाने वाली भी होती हैं। वे ही रश्मियाँ सुवर्ण के समान रंग को उत्पन्न करने वाली होती हैं।

(हिरण्ययात्, परि, योनेः, नि, सद्य, हिरण्यदाः, ददति, अन्नम्, अस्मै) [हिरण्यम् = आत्मा हरितँ हिरण्यम् (काठ.सं.१०.४)] वे प्राण रश्मियाँ अपने तेजस्वी कारण रूप आत्मा अर्थात् परब्रह्म परमात्मा अथवा सूत्रात्मा वायु में सब ओर से विद्यमान रहती हैं। इसका आशय यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विचरण करने वाली प्राण रश्मियाँ सदैव सूत्रात्मा वायु

के अन्दर ही विद्यमान रहती हैं और सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ मनस्तत्त्व में एवं मनस्तत्त्व प्रकृति रूपी मूल पदार्थ में और अन्त में सम्पूर्ण पदार्थ, परब्रह्म परमात्मा में स्थित वा गतिमान् रहता है। इनमें से सूत्रात्मा वायु भी तेजयुक्त होता है और परब्रह्म परमात्मा सृष्टि के सभी पदार्थों के तेज का कारण होता है, इसलिए उसे भी तेजस्वरूप कहा जाता है। ये प्राण रश्मियाँ अग्नि आदि पदार्थों को भी तेज प्रदान करने वाली होती हैं। इसके साथ ही वे उन पदार्थों को अन्न प्रदान करने वाली भी होती हैं। इसका अर्थ यह है कि प्राण रश्मियाँ अग्नि आदि परमाणुओं को निरन्तर पोषण प्रदान करती रहती हैं। इसके साथ ही उनमें संयोजन गुण उत्पन्न करके नाना प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति प्रक्रिया को निरन्तर सम्पादित करती रहती हैं। यहाँ 'अस्मै' पद का प्रयोग यह दर्शाता है कि इस प्रत्यक्ष जगत् के लिए ये प्राण रश्मियाँ ही परोक्ष रूप से पोषण और तेज को निरन्तर प्रदान करती रहती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (हिरण्यरूपः) तेजःस्वरूपः (सः) (हिरण्यसंदृक्) यो हिरण्यं तेजः सम्यक् दर्शयति (अपाम्) जलानाम् (नपात्) (सः) (इत्) एव (उ) वितर्के (हिरण्यवर्णः) हिरण्यं सुवर्णमिव वर्णो यस्य सः (हिरण्ययात्) तेजोमयात् (परि) (योनेः) स्वकारणात् (निषद्य) निषण्णो भूत्वा। अत्र निपातस्येति दीर्घः। (हिरण्यदाः) ये वायवो हिरण्यं तेजो ददति ते (ददति) (अन्नम्) (अस्मै) प्राणिने।

भावार्थः — योऽग्निर्वायुजोऽखिलवस्तुदर्शकोऽन्तर्हितो सर्वविद्यानिमित्तोऽस्ति तं विज्ञाय प्रयोजनसिद्धिः कार्य्या।

पदार्थ— जो (हिरण्यदाः) वायु तेज देते हैं वे (अस्मै) इस प्राणी के लिये (अन्नम्) अन्न को (ददति) देते हैं (सः) वह (हिरण्यरूपः) तेजःस्वरूप (हिरण्यसंदृक्) तेज को दर्शाता (स, इत्, उ) वही (हिरण्यवर्णः) सुवर्ण के समान वर्णयुक्त (अपाम्, नपात्) जलों के बीच न गिरने वाला (हिरण्ययात्) तेजःस्वरूप (योनेः) निज कारण से (परि, निषद्य) सब ओर से निरन्तर स्थिर हुआ अग्नि सबका पालन करता है।

भावार्थ— जो अग्नि पवन से उत्पन्न हुआ समस्त पदार्थों को दिखाने वाला सर्व पदार्थों के भीतर रहता हुआ सर्वविद्याओं का निमित्त है, उसको जान कर प्रयोजन सिद्ध करना चाहिये।"

इस मन्त्र में 'हिरण्यरूपः' एवं 'हिरण्यसंदृक्' दोनों ही पद एक ही पाद में होने से कुछ आचार्य इसे पुनरुक्त मानते हैं। इस पर ग्रन्थकार लिखते हैं—

'यथाकथा च विशेषोऽजामि भवतीत्यपरम्'

अर्थात् समान अर्थ वाले प्रतीत होने वाले दो पदों के एक ही ऋचा अथवा उसके एक ही पाद में विद्यमान होने पर जो आचार्य पुनरुक्त बताते हैं, वह उचित नहीं है, क्योंकि इन दोनों ही पदों के अर्थों में अल्प ही सही कुछ भेद अवश्य होता है। इस कारण उन्हें पुनरुक्त नहीं कहा जा सकता। इसका एक और उदाहरण निम्नानुसार प्रस्तुत किया गया है— 'मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव'। यहाँ हम इस मन्त्र को पूर्ण रूप में उद्धृत एवं व्याख्यात करते हैं—

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम्।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव॥

इस मन्त्र का ऋषि वैराज अथवा शाक्वर है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति वैराज अथवा शाक्वर साम रश्मियों से होती है। वेदविज्ञान-आलोक: ४.१३.२ में ऋ.७.२२.१ एवं ऋ.१०.१३३.१ छन्द रश्मियों को क्रमश: वैराज तथा शाक्वर कहा गया है। इस कारण इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति इन दोनों छन्द रश्मियों के कार्यक्षेत्र में इन्हीं के द्वारा होती है। इसका देवता सपत्नघ्न तथा छन्द महापंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से हिंसक व बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट करने वाली रश्मियाँ परिपक्व होकर दूर-दूर तक फैलने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(योगक्षेमम्, वः, आदाय, अहम्, भूयासम्, उत्तमः, आ, वः, मूर्धानम्, अक्रमीम्) उपर्युक्त वैराज और शाक्वर साम रश्मियाँ बाधक व हिंसक असुरादि रश्मियों का हनन करने वाली विभिन्न प्रकार की रश्मियों के योगक्षेम अर्थात् उनकी वृद्धि एवं उनकी मारक रश्मियों को सब ओर से ग्रहण करके उग्र हो उठती हैं। तदुपरान्त वे वैराज और शाक्वर रश्मियाँ असुरघ्न रश्मियों का मूर्धारूप ग्रहण करके बाधक व हिंसक पदार्थों पर तीक्ष्ण प्रहार करती हैं। यद्यपि सर्वत्र वज्र रश्मियों द्वारा असुर पदार्थ पर आक्रमण करने की चर्चा की जाती है, पुनरपि यहाँ विशेष है कि वैराज एवं शाक्वर रश्मियों के क्षेत्र में और उनके सहयोग से वज्र रश्मियाँ अति प्रबल होकर यह आक्रमण करती हैं।

यहाँ योगक्षेम पद का प्रयोग यह दर्शाता है कि जब असुरादि रश्मियाँ देव पदार्थों पर प्रहार करती हैं, उस समय असुर रश्मियों की संख्या निरन्तर बढ़ती रहती है अर्थात् वे रश्मियाँ निरन्तर उत्पन्न भी होती रहती हैं, इसे ही योग कहा है। जो रश्मियाँ देव पदार्थों के मध्य विद्यमान रहती हैं और जो देव पदार्थों पर प्रहार करने वाली होती हैं, उन्हें क्षेम का स्वरूप कहा है। उपर्युक्त शाक्वर और वैराज रश्मियाँ वज्र रश्मियों के साथ मिलकर जहाँ विद्यमान असुर रश्मियों को नष्ट व छिन्न-भिन्न करती हैं, वहीं नवीन उत्पन्न होने वाली असुरादि रश्मियों की उत्पत्ति प्रक्रिया को रोकती हैं।

(अधः, पदात्, मे, उत्, वदत, मण्डूकाः, इव, उदकात्, मण्डूकाः, उदकात्, इव) [पदम् = अन्तरिक्षम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.२२.१४)] इस प्रक्रिया में असुर रश्मियाँ शाक्वर और वैराज रश्मियों से अभिभूत आकाशतत्त्व में मिश्रित होकर उसी प्रकार व्यवहार करती हैं, जिस प्रकार खण्ड ९.२ में वर्णित मण्डूक रश्मियाँ वायुतत्त्व में छिपी हुई अर्थात् निष्क्रिय होकर यजन क्रियाओं को प्रेरित करने में अक्षमता का व्यवहार करती हैं। इसका अर्थ है कि मण्डूक रश्मियाँ जिन रश्मियों के मिश्रित होने से निर्मित होती हैं, उनके मिश्रित होने से पूर्व मण्डूक रश्मियाँ अविद्यमानवत् होती हैं। उसी प्रकार शाक्वर एवं वैराज रश्मियों से प्रेरित वज्र रश्मियों से छिन्न-भिन्न हुआ असुरतत्त्व आकाशतत्त्व में मिश्रित होकर निष्क्रिय हो जाता है।

यहाँ 'वद्' धातु का प्रयोग यह दर्शाता है कि छिन्न-भिन्न असुरतत्त्व एवं अविद्यमानवत् मण्डूक रश्मियाँ सर्वथा नष्ट व गतिहीन नहीं होतीं, बल्कि वे स्पन्दित अवश्य होती रहती हैं, परन्तु वे अपने वांछित प्रभाव को उत्पन्न करने में असमर्थ होती हैं। उधर जब असुर रश्मियाँ वज्र रश्मियों के द्वारा नियन्त्रित मार्गों का अनुसरण करती हैं, तब वे सृष्टि की यजन प्रक्रियाओं को सम्पादित करने में सहायक होती हैं, जिस प्रकार वायु रश्मियों से भरे विशाल समुद्र से मण्डूक रश्मियाँ प्रकट होकर यजन कर्मों को सम्पादित करने में सहायक होती हैं। यहाँ हमने 'उदक' शब्द का अर्थ वायुतत्त्व का विशाल सागर किया है, क्योंकि इसकी रश्मियाँ भी सभी पदार्थों को सींचने वाली होती हैं। यहाँ उपमावाची अर्थ के स्थान पर अन्य अर्थ यह भी है कि शाक्वर एवं वैराज रश्मियों से प्रेरित वज्र रश्मियों के द्वारा असुर रश्मियों के नियन्त्रित व छिन्न-भिन्न होने पर वायुतत्त्व में से मण्डूक संज्ञक रश्मियाँ उत्पन्न होकर प्रभावी हो उठती हैं। जब तक असुर रश्मियाँ

नियन्त्रित नहीं होतीं, तब तक मण्डूक रश्मियाँ भी वायुतत्त्व में छिपी हुई अविद्यमानवत् रहती हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में कुछ ऐसी तीक्ष्ण छन्द रश्मियाँ होती हैं, जो असुरादि पदार्थों को नष्ट करने वाली रश्मियों को और भी तीव्र बना देती हैं। असुरादि रश्मियाँ जिस समय उत्पन्न होती हैं, तब वे उत्तरोत्तर संख्या में बढ़ती हुई उत्पन्न होती हैं। इनको नष्ट करने वाली रश्मियाँ इनकी शृंखलाबद्ध उत्पत्ति को भी रोकती हैं, साथ ही उन उत्पन्न हुई असुरादि रश्मियों को भी नष्ट कर देती हैं। यहाँ असुरादि पदार्थ के नष्ट होने का तात्पर्य यह है कि वह छिन्न-भिन्न होकर आकाश में मिश्रित होते हुए निष्क्रिय हो जाता है। ध्यान रहे कि असुर पदार्थ पूर्णतः कभी नष्ट नहीं होता, बल्कि आकाशतत्त्व में मिश्रित होकर सूक्ष्म स्तर पर स्पन्दन अवश्य करता रहता है, परन्तु उस स्थिति में हानिकारक नहीं होता।

'क्षेत्रस्य पतिः' पद के पश्चात् अगले पद 'वास्तोष्पतिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वास्तोष्पतिः वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः तस्य पाता वा पालयिता वा'। यह पद 'वस निवासे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि वास्तोष्पति नामक पदार्थ सबको बसाने, पालने और रक्षा करने वाला होता है। वस्तुतः वायुतत्त्व को ही वास्तोष्पति कहते हैं। इसी तत्त्व में सभी पदार्थ वास करते हैं और इसी के बल के द्वारा सभी पदार्थों का संरक्षण भी होता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

सप्तदशः खण्डः

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्।
सखा सुशेव एधि नः ॥ [ऋ.७.५५.१]

अभ्यमनहा वास्तोष्पते सर्वाणि रूपाण्याविशन्। सखा नः सुसुखो भव।
शेव इति सुखनाम। शिष्यतेः।
वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः।

शिवम् इत्यप्यस्य भवति। यद्यद्रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति। रूपंरूपं मघवा बोभवीति॥ [ऋ.३.५३.८] इत्यपि निगमो भवति। वाचस्पतिः। वाचः पाता वा। पालयिता वा। तस्यैषा भवति॥ १७॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है, जिसके विषय में पूर्ववत् समझें। इसका देवता वास्तोष्पति तथा छन्द निचृत् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वायुतत्त्व तीक्ष्ण श्वेतवर्णीय तेज की वृद्धि करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अमीवहा, वास्तोः, पते, विश्वा, रूपाणि, आविशन्) 'अभ्यमनहा वास्तोष्पते सर्वाणि रूपाण्याविशन्' [अभ्यमनम् = प्रहार (आ.को.)] सभी सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को अपने प्रहार से क्षतिग्रस्त करने वाले, विभिन्न यजन प्रक्रियाओं में संयोज्य पदार्थों के यजन कर्मों को चोट पहुँचाने वाले राक्षस आदि असुर पदार्थों को वायुतत्त्व नष्ट करता है। यहाँ 'हन्' धातु का प्रयोग यह दर्शाता है कि हिंसक एवं बाधक असुरादि रश्मियों में सूक्ष्म वायु रश्मियाँ व्याप्त होकर उन्हें छिन्न-भिन्न व नियन्त्रित करती हैं। छिन्न-भिन्न करने के पश्चात् भी वे वायु रश्मियाँ उन पर नियन्त्रण रखती हैं। ध्यातव्य है कि पूर्व खण्ड में जिन वैराज एवं शाक्वर अथवा वज्र रश्मियों की चर्चा है, वे सभी वायुतत्त्व का ही एक भाग हैं। वायु रश्मियाँ ही सृष्टि के सभी रूपवान् पदार्थों एवं इन रूपों के कारण रूप अग्नितत्त्व में भी व्याप्त रहती हैं।

(सखा, सुशेवः, एधि, नः) 'सखा नः सुसुखो भव शेव इति सुखनाम शिष्यतेः वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः शिवम् इत्यप्यस्य भवति यद्यद्रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति' वह वायुतत्त्व हमारे अर्थात् वसिष्ठ संज्ञक अग्नि के परमाणुओं के लिए सुखकारी होता है। [सुखम् = सुखं कस्मात् सुहितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः] इसका अर्थ यह है कि वायु रश्मियाँ आकाश की रश्मियों को अच्छी प्रकार धारण किए रहती हैं। इस सृष्टि में जहाँ भी आकाशतत्त्व का संकुचन, प्रसारण अथवा वक्रपन देखा व सुना जाता है, वह वायु रश्मियों के द्वारा ही होता है। यहाँ वायुतत्त्व को सुशेव भी कहा है।

यहाँ हम आचार्य भगीरथ शास्त्री के भाष्य को उद्धृत करना उचित समझते हैं—

''शेव इति सुखनाम शेव यह सुख का नाम है। हिंसार्थक 'शिष्' धातु से 'व' प्रत्यय और षकार का लोप और विकल्प से गुण हो जाता है। इस प्रकार शिव और शेव दो

शब्द बन गए-अर्थ दोनों का सुख है। शेषति-हिनस्ति दुःखमिति शेवः दुःख को जो मार भगाता है, वह सुख है। शिष्यतेः शिष् धातु से वकारः नामकरणः वकार प्रत्यय हो जाता है। अन्तस्थान्तरोपलिङ्गी जो व प्रत्यय शिष् धातु के अन्त में स्थित जो षकार है, उसके अन्तर अर्थात् अवकाश-जगह को उपलिङ्गी-लेने वाला हो जाता है— अर्थात् शिष् से जो 'व' प्रत्यय होता है, वह शिष् के ष की जगह होता है। विभाषितगुणः और एक पक्ष में गुण हो जाता है। जहाँ गुण हो गया, वहाँ शेव और जहाँ गुण नहीं हुआ, वहाँ शिव बन गया। इस तरह शिव और शेव दोनों शब्द सुख के अर्थ में आते हैं। यत् यत् जिस जिस रूपं कामयते रूप को वायु चाहता है, तत् तत् देवता भवति उस उस रूप वाला वह वायु देवता हो जाता है अर्थात् वायु अरूप है, वह जिसमें मिल जाता है, वही उसका रूप हो जाता है।''

इसका सार यह है कि वायुतत्त्व सृष्टि की विभिन्न क्रियाओं को सहज बनाता है। बिना वायुतत्त्व के सृष्टि की कोई भी क्रिया सम्भव नहीं हो सकती। वायुतत्त्व शिवरूप भी है। इसका अर्थ यह है कि वायु में विद्यमान विभिन्न रश्मियाँ सृष्टि के सभी प्राणियों अथवा उनके द्वारा उपभोग्य पदार्थों के लिए हितकारिणी ही होती हैं। जिस-२ प्रक्रिया में जिस-२ पदार्थ को जिस-२ रश्मि की आवश्यकता होती है, वह प्रकट होकर उस पदार्थ द्वारा की जाने वाली क्रियाओं में भाग लेने लगती है। इस सम्पूर्ण सृष्टि में जो भी क्रियाएँ होती हैं, उन सभी में आवश्यक रश्मियों की उत्पत्ति ईश्वरीय चेतना द्वारा प्रेरित 'ओम्' रश्मियों के विज्ञान के निर्देशन में ही होती है। वायुतत्त्व रूप रहित होता है, परन्तु ईश्वरीय चेतना के सानिध्य में जिस-२ रूप की आवश्यकता होती है, उस-२ रूप वाले अग्नि आदि पदार्थ वायुतत्त्व में ही प्रकट होते हैं। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के प्रयोजनानुसार वायुतत्त्व विभिन्न रूपों वाले अन्य देवताओं का रूप ग्रहण करने लगता है। इसके उदाहरण के रूप में एक निगम को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'रूपंरूपं मघवा बोभवीति' [बोभवीति = पुनः पुनर्भवति प्रतिपद्यत इत्यर्थः (स्कन्दस्वामी भाष्य)] अर्थात् वह मघवा संज्ञक वायुतत्त्व समय-२ पर प्रयोजनानुसार नाना प्रकार के रूपों में प्रकट होता रहता है।

'वास्तोष्पतिः' पद के पश्चात् अब 'वाचस्पतिः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वाचस्पतिः वाचः पाता वा पालयिता वा' अर्थात् जो पदार्थ विभिन्न छन्द रश्मियों का पालक और रक्षक होता है, उस पदार्थ को वाचस्पति कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले

खण्ड में प्रस्तुत करते हैं।

* * * * *

= अष्टादश: खण्ड: =

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रामय मय्येव तन्वं१ मम॥
इति सा निगदव्याख्याता।
अपांनपात्। तनूनप्त्रा व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ १८॥

यह मन्त्र अथर्ववेद में कुछ पाठभेद से उपलब्ध है, जो इस प्रकार है—

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ (अथर्व.१.१.२)

प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मन्त्र किसी शाखा में उस समय विद्यमान रहा होगा। स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने इस मन्त्र को पैप्पलाद संहिता १.६.२ में उपलब्ध दर्शाया है, परन्तु इसके भी विभिन्न संस्करणों में कुछ पाठभेद हैं, ऐसा स्वीकार किया है। हम यहाँ ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मन्त्र का आधिदैविक भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

(पुनः, एहि, वाचस्पते, देवेन, मनसा, सह) विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ पतिरूप अर्थात् पुरुषरूप व्यवहार करने वाली विभिन्न प्राण रश्मियाँ कमनीय मनस्तत्त्व के साथ बार-२ छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त होती रहती हैं। यहाँ यह संकेत मिलता है कि प्राण एवं छन्द रश्मियाँ परस्पर युग्म रूप में अवश्य रहती हैं, परन्तु उनके पारस्परिक युग्म टूटते और बनते भी रहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो 'पुनरेहि' का प्रयोग नहीं होता। अब प्रश्न यह उठता है कि प्राण रश्मियाँ मनस्तत्त्व के साथ छन्द रश्मियों से संयुक्त होती हैं, इसका क्या अर्थ है? क्योंकि मनस्तत्त्व में तो प्राण एवं छन्द दोनों ही प्रकार की रश्मियाँ उत्पन्न व विद्यमान होती ही हैं। इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि प्राण रश्मियों में मनस्तत्त्व की मात्रा छन्द रश्मियों की अपेक्षा अधिक होती है। हम जानते हैं कि प्राण रश्मियाँ छन्द रश्मियों की

अपेक्षा वृषा रूप होती हैं, उधर मनस्तत्त्व को भी वृषा रूप कहा गया है। इस विषय में ऋषियों का कथन है— वृषा हि मनः (श.ब्रा.१.४.४.३), वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम् (ऐ.ब्रा.५.२३)। इस प्रकार इन दोनों ही प्रमाणों से यह संकेत मिलता है कि मनस्तत्त्व का प्राण रश्मियों के साथ विशेष सम्बन्ध है, अपेक्षाकृत छन्द रश्मियों के। इस कारण यहाँ प्राण रश्मियों के मनस्तत्त्व के साथ छन्द रश्मियों से बार-बार संयुक्त होने की बात कही गई है।

(वसोष्पते, नि, रामय, मयि, एव, तन्वम्, मम) वे प्राण रश्मियाँ ही विभिन्न वसुओं अर्थात् पदार्थों की पालिका और रक्षिका होती हैं। यहाँ वसु का तात्पर्य सूक्ष्म कणों एवं विकिरणों से लेकर विशाल लोक-लोकान्तरों तक है। ऐसी प्राण रश्मियाँ इन सभी सूक्ष्म एवं विशाल पदार्थों को नाना प्रकार से रमण कराती हैं। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि में जो भी गति विद्यमान है, वह सब प्राण रश्मियों के कारण ही है। ये प्राण रश्मियाँ ही मुझमें अर्थात् सभी पदार्थों में उन पदार्थों को विस्तार देती हैं। यहाँ इस मन्त्र के अन्तिम पाद की रचना विचित्र प्रतीत होती है, जहाँ किसी पदार्थ में उसके ही शरीर को रमण कराने की बात कही गई है। इसका तात्पर्य यह है कि इस सृष्टि में जो भी आकारवान् पदार्थ हैं अथवा पदार्थ जगत् का जो भी विस्तार है, उसका कारण प्राण रश्मियाँ ही होती हैं।

'वाचस्पतिः' पद के निर्वचन के पश्चात् अगले पद 'अपांनपात्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अपांनपात् तनूनप्त्रा व्याख्यातः' अर्थात् इसकी व्याख्या 'तनूनपात्' पद के निर्वचन से ही हो जाती है। इसे हम पूर्व खण्ड ८.५ में लिख चुके हैं। इसका अर्थ यह है कि इस पद का निर्वचन हम 'तनूनपात्' पद के निर्वचन की भाँति ही कर सकते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

एकोनविंशः खण्डः

यो अनिध्मो दीदयदप्स्व१न्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय॥

[ऋ.१०.३०.४]

योऽनिध्मो दीदयद् दीप्यतेऽभ्यन्तरमप्सु। यं मेधाविनः स्तुवन्ति यज्ञेषु। सोऽपांनपान्मधुमतीरपो देह्यभिषवाय। याभिरिन्द्रो वर्धते। वीर्याय वीरकर्मणे। यमः। यच्छतीति सतः। तस्यैषा भवति॥ १९॥

इस मन्त्र का ऋषि कवष ऐलूष है। इसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता अपांनपात् तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से अपांनपात् संज्ञक पदार्थ विविध रूपों में रक्तवर्णीय तीव्र तेज को उत्पन्न वा समृद्ध करने लगता है। यहाँ अपांनपात् पद पर विचार करना आवश्यक है। [अपः = कर्मनाम (निघं.२.१)] यह वह पदार्थ है, जो विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को करते समय पतित नहीं होता अर्थात् जिस पदार्थ पर किसी भी प्रकार के बाधक, हिंसक अथवा पातक पदार्थों का कोई प्रभाव नहीं होता। निश्चित रूप से प्राथमिक प्राण रश्मियाँ ही अपांनपात् कहलाती हैं। इस प्रकार इस मन्त्र के दैवत और छान्दस प्रभाव से ये प्राण रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों में रक्तवर्णीय तेज उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यः, अनिध्मः, दीदयत्, अप्सु, अन्तः, यम्, विप्रासः, ईळते, अध्वरेषु) 'योऽनिध्मो दीदयद् दीप्यतेऽभ्यन्तरमप्सु यं मेधाविनः स्तुवन्ति यज्ञेषु' जो प्राण तत्त्व बिना ईन्धन के सदैव प्रकाशित होता रहता है। इसका अर्थ यह है कि प्राणतत्त्व के प्रकाशन की क्रिया में किसी भी सूक्ष्म तत्त्व की ईन्धन रूप में भूमिका नहीं होती अर्थात् किसी भी पदार्थ की खपत नहीं होती। विभिन्न प्रकार के यजन कर्मों को करते समय उस प्राण तत्त्व को सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ प्रकाशित करती रहती हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पहले तो यह कहा कि प्राणतत्त्व बिना ईन्धन के प्रकाशित होता है और अब यह कहा गया है कि प्राणतत्त्व को सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ प्रकाशित करती हैं, क्या यह परस्पर विरोधाभास नहीं है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि सामान्य अवस्था में प्राण रश्मियाँ स्वतः प्रकाशित रहती हैं, परन्तु जब कोई यजन प्रक्रिया हो रही होती है, उस समय सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ उसे और अधिक प्रकाशित अर्थात् सक्रिय कर देती हैं, पुनरपि इस प्रक्रिया में भी सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ स्वयं ईन्धन की भाँति किसी विकार को प्राप्त नहीं होतीं। यह एक आश्चर्यजनक व रहस्यमयी प्रक्रिया है।

(अपाम्, नपात्, मधुमतीः, अपः, दाः, याभिः, इन्द्रः, वावृधे, वीर्याय) 'सोऽपांनपान्मधुमतीरपो देह्यभिषवाय याभिरिन्द्रो वर्धते वीर्याय वीरकर्मणे' [मधु = अन्नं वै मधु (तां.ब्रा. ११.१०.३), मिथुनं वै मधु प्रजा मधु (ऐ.आ.१.३.४)] विभिन्न यजन कर्मों में वह प्राणतत्त्व संयोज्य कणों वा रश्मियों के युग्म बनाने की प्रक्रियाओं को सम्पादित करता रहता है। ध्यातव्य है कि किसी भी बड़े कण की निर्माण प्रक्रिया में कभी भी अनेक कण एक साथ मिलकर उस बड़े कण का निर्माण नहीं कर सकते, बल्कि सदैव दो-२ कण परस्पर युग्म बनाकर ही शृंखलाबद्ध होकर धीरे-२ ही बड़े कणों का निर्माण करते हैं। यहाँ मधुमती पद का प्रयोग यह भी दर्शाता है कि इस प्रक्रिया में मधु नामक मास रश्मियों की भूमिका भी होती है। इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण बल से युक्त होने के लिए सोम रश्मियों को उत्पन्न व उनका भक्षण करता है। इस प्रक्रिया में भी वह प्राण रश्मियों का ही सहयोग लेकर निरन्तर बढ़ता रहता है। हम जानते हैं कि सोम रश्मियों को अवशोषित करके ही इन्द्रतत्त्व शक्तिशाली बनता है और इस अवशोषण की क्रिया में प्राण रश्मियों की भी अनिवार्य भूमिका होती है।

'तनूनपात्' पद के पश्चात् 'यमः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'यमः यच्छतीति सतः' अर्थात् जो पदार्थ अन्य पदार्थों को नियन्त्रण में रखता है, उसे यम कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= विंशः खण्डः =

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ [ऋ.१०.१४.१]
परेयिवांसं पर्यागतवन्तम्। प्रवत उद्वतो निवत इति। अवतिर्गतिकर्मा।
बहुभ्यः पन्थानमनुपस्पाशयमानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्।
यमं राजानं हविषा दुवस्य। इति। दुवस्यतिराप्नोतिकर्मा।

[राध्नोतीति- क्वचित्] अग्निरपि यम उच्यते।
तमेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति॥ २०॥

इस मन्त्र का ऋषि वैवस्वत यमी है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूर्यलोक के अन्दर सूर्य को नियन्त्रित करने वाली सूत्रात्मा एवं बृहती रश्मियों से होती है। इसका देवता यम और छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से बृहती एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ परस्पर मिलकर रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(परेयिवांसम्, प्रवतः, महीः, अनु, बहुभ्यः, पन्थाम्, अनुपस्पशानम्) 'परेयिवांसं पर्यागत-वन्तम् प्रवत उद्वतो निवत इति अवतिर्गतिकर्मा बहुभ्यः पन्थानमनुपस्पाशयमानम्' सूर्यलोक, जो मही अर्थात् विशाल आदित्य लोक का अनुकरण करता हुआ और उस विशाल आदित्य लोक को अपनी कक्षा द्वारा सब ओर से घेरता हुआ प्रकृष्ट रूप से गति करता रहता है। उसकी गति अपने परिक्रमण पथ पर ऊपर तथा नीचे दोनों ओर विचलित होती रहती है। इस प्रकार वह सूर्यलोक विशाल आदित्य लोक के चारों ओर सर्पिलाकार पथ पर गमन करता है। यहाँ गति अर्थ में 'अव' धातु का प्रयोग है। इससे यह संकेत मिलता है कि इन लोकों की गति और पथ दोनों सदैव संरक्षित रहते हैं। सूर्यलोक अपने परिवार के अनेक लोकों के मार्ग को अनुकूलतापूर्वक दर्शाता अर्थात् बनाता हुआ सबको साथ लेकर गमन करता रहता है। विदित रहे कि कोई भी तारा जब अपनी आकाशगंगा के चारों ओर परिक्रमण करता है, उस समय वह अपने परिवार के सभी ग्रह-उपग्रह आदि लोकों को साथ लेकर गमन करता है। इस कारण वह तारा कम्पित होता हुआ ही गमन करता है। इस समय वह जहाँ आकाशगंगा के केन्द्रीय भाग के प्रबल आकर्षण बल से बँधा होकर अपने मार्ग का निर्धारण करता है, वहीं अपने परिवार के ग्रहादि लोकों को अपने प्रबल आकर्षण बल द्वारा उनके मार्गों को भी बनाता जाता है।

(वैवस्वतम्, सम्, गमनम्, जनानाम्, यमम्, राजानम्, हविषा, दुवस्य) 'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम् यमं राजानं हविषा दुवस्य इति दुवस्यतिराप्नोतिकर्मा' उस ऐसे सूर्यलोक और उसकी किरणें परस्पर सहगमन करती हुई सूर्यलोक के प्रजारूप ग्रहादि लोकों को प्राप्त होती रहती हैं। इसके साथ ही सबके नियामक विशाल आदित्य लोक अथवा प्रकाशक सूर्यलोक एवं इन सब लोकों को सब ओर से आच्छादित करने वाली सूत्रात्मा एवं बृहती

रश्मियों के साथ विभिन्न हवि रूप मास, प्राण एवं छन्द रश्मियाँ व्याप्त होती रहती हैं। वस्तुतः ये सभी क्रियाएँ असंख्य रश्मियों का खेल है, जो सर्वत्र सदा चलता रहता है।

तदनन्तर लिखते हैं कि अग्नितत्त्व को भी यम कहा जाता है। इसका अनुमोदन अनेक ऋचाएँ करती हैं, जिन्हें अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकविंशः खण्डः =

१. सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका॥

२. यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्॥

३. तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्॥

इति द्विपदाः।[ऋ.१.६६.४-५]

१. सेनेव सृष्टा। भयं वा। बलं वा। दधाति। अस्तुरिव दिद्युत्त्वेषप्रतीका। भयप्रतीका। बलप्रतीका यशःप्रतीकाः। महाप्रतीका। दीप्तप्रतीका वा।

२. यमो ह जात इन्द्रेण सह सङ्गतः।

यमाविहेह मातरा॥[ऋ.६.५९.२] इत्यपि निगमो भवति।

यम इव जातः। यमो जनिष्यमाणः। जारः कनीनाम्। जरयिता कन्यानाम्। पतिर्जनीनाम्। पालयिता जायानाम्। तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति।

तृतीयो अग्निष्टे पतिः॥[ऋ.१०.८५.४०] इत्यपि निगमो भवति।

३. तं वः। चराथा चरन्त्या पश्वाहुत्या। वसत्या च निवसन्त्यौषधाहुत्या। अस्तं यथा गाव आप्नुवन्ति तथाप्नुयाम। इद्धं समृद्धं भोगैः। मित्रः। प्रमीतेस्त्रायतेः। सम्मिन्वानो द्रवतीति वा। मेदयतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ २१ ॥

इन ऋचाओं का ऋषि पराशर है। इसका अर्थ यह है कि इन छन्द रश्मिओं की

उत्पत्ति हिंसक पदार्थों की नाशक वज्र रश्मियों से होती है। इनका देवता अग्नि तथा छन्द विराट् पंक्ति होने से इनके दैवत व छान्दस प्रभाव से विविध रूपों वाले नीलवर्ण की उत्पत्ति व समृद्धि होती है। इनका आधिदैविक भाष्य क्रमशः इस प्रकार है—

(सेना, इव, सृष्टा, अमम्, दधाति, अस्तुः, न, दिद्युत्, त्वेष, प्रतीका) 'सेनेव सृष्टा भयं वा बलं वा दधाति अस्तुरिव दिद्युत्त्वेषप्रतीका भयप्रतीका बलप्रतीका यशःप्रतीकाः महाप्रतीका दीप्तप्रतीका वा' वह यमरूप विद्युत् अग्नि प्रेरित की हुई सेना के समान विभिन्न बाधक पदार्थों को भयभीत अर्थात् कम्पित करता है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार युद्ध के लिए प्रेरित सेना शत्रु को भयभीत करती है, उसी प्रकार तीव्र अग्नि उस बाधक वा हिंसक पदार्थ को कम्पायमान कर देता है। इसके साथ ही जिस प्रकार किसी राजा की सुदृढ़ सेना उस राजा वा राष्ट्र को बल प्रदान करती है, उसी प्रकार अग्नितत्त्व विभिन्न संयोज्य कणों को समुचित बल प्रदान करता है। यहाँ उपमावाची 'इव' पद को निरर्थक मानने पर अर्थ इस प्रकार होगा—

अग्नि की तीक्ष्ण किरणों की सेना अर्थात् समान गति और बल से गमन करने वाली तीक्ष्ण किरणें उत्पन्न होते ही बाधक एवं हिंसक पदार्थों में तीव्र कम्पन कराने लगती हैं। वे तीक्ष्ण किरणें संयोज्य कणों को यजन कर्म करने के लिए उपयुक्त बल भी प्रदान करती हैं। वे किरणें प्रक्षेपक बलों से [दिद्युत् = विच्छेदिका (म.द.भ.)] युक्त पदार्थों के समान विभिन्न कणों को विखण्डित करने वाली होती हैं। वे दीप्तियों को दर्शाने वाली, कम्पन कराने वाली, बल को उत्पन्न करने वाली, तेज को उत्पन्न करने वाली, व्यापक रूप से दिखाई देने वाली और सबको प्रकाशित करने वाली होती हैं। ये सभी गुण तीव्र ऊर्जा वाली तरंगों के बतलाए गए हैं।

(यमः, ह, जातः, यमः, जनित्वम्, जारः, कनीनाम्, पतिः, जनीनाम्) 'यम इव जातः यमो जनिष्यमाणः जारः कनीनाम् जरयिता कन्यानाम् पतिर्जनीनाम् पालयिता जायानाम् तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति' वह सबका नियन्त्रक अग्नि निश्चय करके वायुतत्त्व से उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति पूर्व खण्ड में वर्णित इन्द्र रूप यम के समान ही होती है अथवा यमरूप वायु से ही इसकी उत्पत्ति होती है। सृष्टि के सभी कण आदि पदार्थ यमरूप अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं और निरन्तर इसी प्रकार उत्पन्न होते रहेंगे। यह अग्नितत्त्व कन्या अर्थात् आकर्षण और दीप्तियुक्त तरंगों, जिनके विषय में पूर्व में खण्ड ४.१५ पठनीय है, को जीर्ण

करता है। यहाँ आकर्षण एवं दीप्तियुक्त किरणों का तात्पर्य उन सूक्ष्म कणों से है, जो कणों के साथ तरंग रूप व्यवहार भी करते हैं। ऐसे कण वर्तमान भौतिकी में मूल कण कहे जाते हैं। इनको अग्नि कैसे जीर्ण करता है, यह प्रश्न गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है।

यहाँ जीर्ण का अर्थ पुराना नहीं मानना चाहिए, बल्कि इसका अर्थ दीप्तियुक्त मानना चाहिए। यह पद 'जॄ वयोहानौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। मन्त्र में 'जारः' पद है, वह भी इसी धातु से व्युत्पन्न होता है। इसी पद के अर्थ करने में 'जीर्णः' पद का प्रयोग किया गया है। इस धातु को ग्रन्थकार स्तुतिकर्मा बताते हैं। (देखें— पूर्व खण्ड १०.८) इस कारण जारः पद का अर्थ प्रकाशक होता है, न कि किसी पदार्थ की आयु को घटाने वाला। यह सर्वविदित है कि अग्नि ही सभी पदार्थों का प्रकाशक है, इसलिए इसे यहाँ कमनीय तरंगों का प्रकाशक कहा है। इस सृष्टि में जो कोई भी पदार्थ प्रकाशयुक्त है, उसका कारण अग्नि ही है। इसको जनी अर्थात् उत्पन्न पदार्थों का पति भी कहा है। इसका कारण यह है कि अग्नि ही पृथिवी एवं आपः आदि पदार्थों का पालक एवं रक्षक होता है।

यह सामान्य बात है कि बिना अग्नि अर्थात् बिना ऊर्जा के वर्तमान भौतिकी में द्रव्य कहे जाने वाले किसी भी पदार्थ का अस्तित्व सम्भव नहीं है। ऊर्जा से ही इन पदार्थों की उत्पत्ति होती है और इसी के कारण किसी भी कण आदि पदार्थ के अस्तित्व की रक्षा भी होती है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'जनी' का अर्थ 'जाया' किया है। इसका अर्थ यह है कि अग्नि आपः एवं पृथिव्यादि कणों के सापेक्ष पुरुषरूप व्यवहार करता है, इस कारण वह स्त्रीरूप आपः एवं पृथिव्यादि कणों का पालक और संरक्षक होता है। इसका कारण यह है कि अग्नि के बिना इन दोनों पदार्थों का न केवल अस्तित्व असम्भव है, अपितु उनसे किसी भी प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति भी असम्भव है।

यहाँ 'तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति' कथन का तात्पर्य यह है कि स्त्रीरूप कण आदि पदार्थ यजन कर्म के द्वारा ही अग्नि प्रधान होते हैं। हमारे मत में यहाँ ग्रन्थकार का आशय यह है कि स्त्री संज्ञक पदार्थ जब यजनशील होते हैं, उस समय वे विशेष ऊर्जायुक्त होते हैं अर्थात् दो कणों के संयोग के समय सहसा उन कणों की ऊर्जा वा गति विशेष रूप से बढ़ जाती है, इसी को यहाँ स्त्रीरूप कणों का अग्नि प्रधान होना कहा गया है।

तदनन्तर इस मन्त्र से अगले मन्त्र के पूर्वार्ध को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्'।

(तम्, वः, चराथा, वयम्, वसत्या, अस्तम्, न, गावः, नक्षन्ते, इद्धम्) 'तं वः चराथा चरन्त्या पश्वाहुत्या वसत्या च निवसन्त्यौषधाहुत्या अस्तं यथा गाव आप्नुवन्ति तथाप्नुयाम इद्धं समृद्धं भोगैः' पूर्वोक्त पराशर ऋषि संज्ञक वज्र रश्मियाँ अग्नि के परमाणुओं को उनके साथ गमन कराने वाली अथवा मार्ग में प्राप्त होने वाली पशु अर्थात् विभिन्न छन्द रश्मियों एवं अग्नि के परमाणुओं के अन्दर निवास करने वाली औषधी अर्थात् सोम रश्मियों की आहुति के द्वारा उसी प्रकार प्राप्त होती हैं, जिस प्रकार वे किरणें अर्थात् अग्नि के परमाणु [अस्तम् = गृहनाम (निघं.३.४), गृहा वा अस्तम् (श.ब्रा.२.५.२.२९)] अपने गृहरूप सूक्ष्म कणों को प्राप्त होते हैं। यहाँ इसका यह भी अर्थ है कि जैसे ही कोई किरण किसी कण से टकराती है, उस समय वह प्रकाशाणु उस सोम्य कण (इलेक्ट्रॉन) आदि कण द्वारा सोख लिखा जाता है। उसी समय वह प्रकाशाणु भी आकाश में विद्यमान कुछ विशिष्ट छन्द रश्मियों एवं सोम रश्मियों को अवशोषित कर लेता है। वे अवशोषित छन्द वा सोम रश्मियाँ उस इलेक्ट्रॉन आदि कण द्वारा सोख ली जाती हैं। इस प्रक्रिया में उन रश्मियों का उपभोग करके इलेक्ट्रॉन आदि कण प्रदीप्त हो उठते हैं अर्थात् उनकी ऊर्जा की समृद्धि होती है।

तदनन्तर एक और निगम को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'यमो ह जात इन्द्रेण सह सङ्गतः'। यह निगम कहाँ से लिया गया है, यह अज्ञात है। इस निगम का आधिदैविक अर्थ यह है कि यमरूप अग्नि उत्पन्न होते ही इन्द्र के साथ सङ्गत रहता है अर्थात् यम एवं इन्द्र दोनों परस्पर मिले हुए रहते हैं। इसलिए इन्द्र को भी यम कहा गया है।

तदनन्तर एक और निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'यमाविहेह मातरा' अर्थात् इस सृष्टि में इन्द्र और अग्नि रूपी यम दोनों माताओं के समान व्यवहार करते हैं अर्थात् अग्नि और इन्द्र ही सृष्टि के सभी पदार्थों को उत्पन्न करते हैं और पालन करने के साथ-२ उन पर नियन्त्रण भी रखते हैं। वस्तुतः ऊष्मा और विद्युत् ये दो सृष्टि के महत्त्वपूर्ण पदार्थ हैं। सम्पूर्ण सृष्टि इन्हीं के द्वारा उत्पन्न और संचालित होती है।

तदनन्तर अन्तिम निगम प्रस्तुत हुए लिखा है— 'तृतीयो अग्निष्टे पतिः'। इस मन्त्र का देवता सूर्या है। यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥

इस मन्त्र में सूर्या अर्थात् सूर्य की शक्तियों का प्रथम पति अर्थात् रक्षक सोम, द्वितीय रक्षक गन्धर्व अर्थात् सूर्य की किरणें और तृतीय रक्षक अग्नि को ही कहा गया है। यहाँ अग्नि का अर्थ ऊष्मा वा विद्युत् ही है और यह अग्नि यमरूप ही है। प्रश्न यह उठ सकता है कि यहाँ चौथा पति जो मनुष्यज कहा है, वह कौन है? इस विषय में हमारा मत यह है कि यहाँ मनुष्य का अर्थ वे कण हैं, जिनकी चर्चा हम पूर्व में खण्ड ३.७ में कर चुके हैं। यहाँ इन कणों के द्वारा सम्पादित होने वाली अनेक क्रियाओं को ही मनुष्यजा कहकर सूर्य की शक्तियों का रक्षक बताया है।

महर्षि तित्तिर का कथन है— 'बहिः प्राणो वै मनुष्यः' (तै.सं.६.१.१.४) अर्थात् किसी भी लोक वा कण के चारों ओर परिधि रूप में विद्यमान सूत्रात्मा वायु एवं बृहती रश्मियों का आवरण भी मनुष्य कहलाता है। इस आवरण से उत्पन्न बन्धक वा आच्छादक बल भी मनुष्यज कहाते हैं। इनके अभाव में कोई भी लोक न तो अपने अस्तित्व में आ सकता है और न अस्तित्व में आया हुआ लोक अपने अस्तित्व की रक्षा ही कर सकता है। इसलिए यह आवरण भी सूर्या का पति कहलाता है।

'यमः' पद के निर्वचन के पश्चात् अग्रिम पद 'मित्रः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'मित्रः प्रमीतेस्त्रायतेः सम्मिन्वानो द्रवतीति वा मेदयतेर्वा' अर्थात् जो पदार्थ मृत्यु से बचाता है। यहाँ 'प्रमीतिः' पद 'प्र' पूर्वक 'मी' वधकर्मा (निघं.२.१९) धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न हुआ है। हमारी दृष्टि में वायुतत्त्व ही सृष्टि के सभी पदार्थों का रक्षक होने के कारण मित्र कहलाता है और वायुतत्त्व में भी प्राण तत्त्व को विशेष मित्र वा रक्षक कहा गया है। यहाँ 'सम्मिन्वानो द्रवतीति वा' का अर्थ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त भाष्य में 'सम्यक् = चारों ओर से मापता हुआ बहता है' किया है। उधर स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने 'यद्वा सम्मिन्वानो द्रवति मिञ् प्रक्षेपणे (स्वादि.) मिवि सेचने (भ्वादि.) वृष्टिजलं सम्यङ्मिन्वानः प्रक्षिपन् प्रेरयन् वृष्टिजलेन भूमिं सिञ्चन् वा द्रवति। मिन्वानः उपपदे द्रु गतौ ततो डः प्रत्ययः मिन्वानः इत्यस्य मि भावः द्रु इत्यस्य त्र भावः मित्रः' किया है।

इन सबका आशय यह है कि वायुतत्त्व किसी भी लोक वा कण को चारों ओर से

आच्छादित करता हुआ उस लोक वा कण के चारों ओर प्रवाहित होता रहता है, ऐसा वायुतत्त्व उस लोक वा कण को घूर्णन व प्रक्षेपण आदि क्रियाओं के लिए प्रेरित भी करता रहता है। इसके साथ ही वायुतत्त्व का वह आवरण विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों को अन्य लोक वा कणों के ऊपर सिंचित करता हुआ आकर्षण व प्रतिकर्षण आदि क्रियाओं में भाग लेता रहता है। इस कारण भी वह वायुतत्त्व मित्र कहलाता है। अन्तिम निर्वचन 'मेदयतेर्वा' भी आकर्षण आदि क्रियाओं को ही दर्शाता है।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= द्वाविंशः खण्डः =

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत॥

[ऋ.३.५९.१]

मित्रो जनानायातयति प्रब्रुवाणः। शब्दं कुर्वन्।
मित्र एव धारयति पृथिवीं च दिवं च। मित्र कृष्टीरनिमिषन्नभिविपश्यतीति।
कृष्टयः इति मनुष्यनाम। कर्मवन्तो भवन्ति। विकृष्टदेहा वा।
मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोतेति व्याख्यातम्। जुहोतिदानकर्मा।
कः। कमनो वा। क्रमणो वा। सुखो वा। तस्यैषा भवति॥ २२॥

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है, जिसके विषय में पूर्ववत् समझें। इसका देवता मित्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पूर्वोक्त मित्र संज्ञक पदार्थ रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मित्रः, जनान्, यातयति, ब्रुवाणः, मित्रः, दाधार, पृथिवीम्, उत, द्याम्) 'मित्रो जनानाया-

तयति प्रब्रुवाणः शब्दं कुर्वन् मित्र एव धारयति पृथिवीं च दिवं च' मित्र रूप वायुतत्त्व सृष्टि के सभी उत्पन्न पदार्थों को अपने-२ कर्मों में सब ओर से प्रयत्नशील बनाता है। इस प्रक्रिया में वह अनेक प्रकार की ध्वनियों को भी उत्पन्न करता है। इस सृष्टि में जब भी कोई पदार्थ क्रियाशील होकर किसी अन्य पदार्थ के साथ कोई भी क्रिया करता है, तब निश्चित रूप से न्यूनाधिक मात्रा में ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं और ऐसा इस कारण होता है, क्योंकि सभी पदार्थ छन्द रश्मियों से ही मिलकर बने होते हैं। सूक्ष्म कणों से लेकर विशाल लोक-लोकान्तरों तक सभी पदार्थ गति करते समय अपने-२ स्तर के अनुसार ध्वनियाँ उत्पन्न करते रहते हैं। यह वायुतत्त्व ही सभी प्रकाशित और अप्रकाशित लोकों को धारण करता है और यही उनका पोषण भी करता है। इस ब्रह्माण्ड में जो भी लोक वा कण विद्यमान हैं, वे वायुतत्त्व के द्वारा ही एक-दूसरे से बँधे हुए हैं, क्योंकि सभी बल वायु से ही उत्पन्न हुए हैं।

(मित्रः, कृष्टीः, अनिमिषा, अभि, चष्टे, मित्राय, हव्यम्, घृतवत्, जुहोत) 'मित्र कृष्टीरनि-मिषन्नभिविपश्यतीति कृष्टयः इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति विकृष्टदेहा वा मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोतेति व्याख्यातम् जुहोतिदानकर्मा' वायुतत्त्व कृष्टी रूप होता है, क्योंकि यह निरन्तर कर्मशील रहता है। इसमें कभी भी विराम नहीं होता। यहाँ ग्रन्थकार ने कृष्टी का अर्थ मनुष्य किया है। आधिभौतिक अर्थ में मनुष्य उन्हीं को कहते हैं, जो पुरुषार्थी होते हैं। अकर्मण्य मनुष्य, मनुष्य कहलाने के अधिकारी नहीं होते। उधर सूर्यादि लोक में मनुष्य संज्ञक सूक्ष्म कण भी होते हैं और सूत्रात्मा तथा बृहती का समुचित मिश्रण भी मनुष्य कहलाता है। इसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। वह वायुतत्त्व सभी सूक्ष्म पदार्थों को बिना किसी प्रतिस्पर्धा के निरन्तर देखता हुआ गमन करता है। इसका अर्थ यह है कि वायुतत्त्व बिना किसी अवरोध के विभिन्न पदार्थों के साथ निरन्तर अन्योन्य क्रियाएँ करता रहता है। यहाँ स्पर्धारहित होने का आशय यह भी है कि वायुतत्त्व की गति किसी भी अन्य पदार्थ की गति से प्रभावित नहीं होती।

मनुष्य नामक पदार्थ के विषय में ग्रन्थकार ने यह भी कहा है— 'विकृष्टदेहा वा'। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य नामक कण अथवा रश्मियाँ दोनों ही अन्य पदार्थों से आकृष्ट होकर अथवा होते समय अपने आकार को फैलाने वा बढ़ाने वाले होते हैं। इससे यह भी संकेत मिलता है कि इन कणों की अवयवभूत रश्मियों के पारस्परिक बन्धन अपेक्षाकृत

दुर्बल होते हैं। इसलिए आकर्षण बल के कारण उनका आकार प्रकाशाणु की भाँति कुछ फैल जाता है। मित्र अर्थात् यजन कर्मों को सम्पादित करने के लिए सूक्ष्म रश्मियों की हवि 'घृम्' रश्मियों के समान प्रत्येक यजन कार्य में दी जाती है। स्मरणीय है कि 'घृम्' रश्मियाँ अन्य पदार्थों को सींचने वाली होती हैं। जैसे ये रश्मियाँ शनैः-शनैः विभिन्न पदार्थों को सींचने वाली होती हैं, उसी प्रकार हवि रूप सूक्ष्म रश्मियाँ भी यजन कर्मों में रत कण आदि पदार्थों को निरन्तर सींचती रहती हैं। इनके सिंचन के अभाव में किसी भी यजन क्रिया का होना सम्भव नहीं है। यहाँ 'जुहोति' धातु को दानकर्मा कहा है। सींचने और देने की क्रिया समान भाव वाली ही होती है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (मित्रः) सखा (जनान्) (यातयति) पुरुषार्थयति (ब्रुवाणः) उपदेशेन प्रेरयन् (मित्रः) सूर्य इव परमात्मा (दाधार) धरति (पृथिवीम्) भूमिम् (उत) अपि (द्याम्) सूर्यलोकम् (मित्रः) सर्वस्य सुहृद्राजा (कृष्टीः) कर्षिका मनुष्यप्रजाः (अनिमिषा) अहर्निशजन्यया क्रियया (अभि) (चष्टे) अभितः ख्याति (मित्राय) वह्नये (हव्यम्) होतुमर्हम् (घृतवत्) बहुघृतादियुक्तं हविः (जुहोत) दत्त।

भावार्थः — ये मनुष्या सत्योपदेशकं सत्यविद्याप्रदं सखायं सर्वाधारकं परमात्मानं सर्व-व्यवस्थापकं राजानं सत्कुर्वन्ति त एव सर्वस्य सुहृदः सन्ति।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जो (ब्रुवाणः) उपदेश से प्रेरणा करता हुआ (मित्रः) सब का मित्रजन (जनान्) मनुष्यों को (अनिमिषा) दिन और रात्रि में होने वाली क्रिया से (यातयति) पुरुषार्थ कराता जो (मित्रः) सूर्य के समान परमात्मा मित्र (पृथिवीम्) भूमि (उत) और (द्याम्) सूर्यलोक को दिन और रात्रि में होने वाली क्रिया से (दाधार) धारण करता और जो (मित्रः) सब का मित्र (कृष्टीः) खींचने वा जोतने वाली मनुष्य रूप प्रजाओं को दिन और रात्रि में होने वाली क्रिया से (अभि, चष्टे) सब प्रकार उपदेश देता है उस (मित्राय) उक्त सर्व व्यवहार को चलाने वाले मित्र के लिये (घृतवत्) बहुत घृत आदि से युक्त (हव्यम्) हविष्यान्न (जुहोत) दीजिये।

भावार्थ— जो मनुष्य लोग सत्य का उपदेश करने सत्य विद्या देने मित्रता रखने सबको धारण करने वाले परमात्मा और सब के व्यवस्थापक राजा का सत्कार करते हैं, वे ही सब

के मित्र हैं।''

मित्र पद के पश्चात् 'क:' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'क: कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा' अर्थात् दीप्ति वा आकर्षण गुणयुक्त एवं गमन करने वाला पदार्थ 'क:' कहलाता है। इसके अतिरिक्त सुख को भी 'क:' कहते हैं। यहाँ 'सुखम्' पद उन रश्मि आदि पदार्थों के लिए भी प्रयुक्त होता है, जो आकाशतत्त्व को अच्छी प्रकार खोदती और धारण करती हुई गमन करती हैं। हमारी दृष्टि में प्राण रश्मियाँ ही मित्र कहलाती हैं, क्योंकि ये आकाशतत्त्व की इकाईयों के मध्य से सहजतया गमन कर सकती हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

≡ त्रयोविंश: खण्ड: ≡

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

[ऋ.१०.१२१.१]

हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भः। हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा।
गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे। गिरत्यनर्थानिति वा।
यदा हि स्त्री गुणान्गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति।
समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव। स धारयति पृथिवीं च दिवं च।
कस्मै देवाय हविषा विधेम इति व्याख्यातम्। विधतिः दानकर्मा।
सरस्वान्। व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ २३॥

इस मन्त्र का ऋषि प्राजापत्य हिरण्यगर्भ है। [गर्भ: = गर्भा: पञ्चविंश: (स्तोम:) (तै.सं.४.३.८.१, मै.सं.२.८.४), वायव्या गर्भा: (तै.ब्रा.३.९.१७.५)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्रजापति संज्ञक विशाल कॉस्मिक मेघ के अन्दर निर्मित हो रहे सुवर्ण के समान तेजस्वी विशाल पिण्ड में विद्यमान २५ गायत्री छन्द रश्मियों के समूह

विशेष से होती है। इसका देवता कः और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पूर्वोक्त 'कः' नामक पदार्थ रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होने लगता है। यहाँ [कः = को वै प्रजापतिः (काठ.संक.४८.१, गो.उ.६.३), प्रजापतिर्वै कः (मै.सं.१.१०.१०, ऐ.ब्रा.२.३८, ६.२१), प्राणो वाव कः (जै.उ.४.२३.४)] 'कः' उन प्राण रश्मियों को कहा है, जो उस विशाल पिण्ड में विद्यमान होती हैं। ये प्राण रश्मियाँ उस विशाल पिण्ड के अन्तर्गत रक्तवर्णीय तेज की उत्पत्ति करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(हिरण्यगर्भः, सम्, अवर्तत, अग्रे, भूतस्य, जातः, पतिः, एकः, आसीत्) 'हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भः हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा यदा हि स्त्री गुणान्गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव' विशाल कॉस्मिक मेघ सम्पीडन के कारण सर्वप्रथम स्वर्णिम प्रकाश से युक्त होने लगता है। यहाँ 'गर्भः' पद 'गृभ' धातु से व्युत्पन्न माना गया है और यह धातु स्तुति अर्थात् प्रकाशित करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार वह स्वर्णिम आभा लिए विशाल पिण्ड चमकने लगता है। 'गर्भः' पद का दूसरा निर्वचन करते हुए लिखा है कि यह अनर्थकारी अर्थात् अनिष्टकारी पदार्थों को निगलकर नष्ट करने वाला होता है। इस कारण ऐसे पिण्डों में असुरादि बाधक पदार्थ कभी भी सक्रिय नहीं हो सकते और कहीं कुछ होने का प्रयास करते हैं, तो उन्हें देव पदार्थों द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इस कारण ही इन विशाल पिण्डों को गर्भ कहा जाता है। पुनः गर्भ के विषय में लिखा है— 'यदा हि स्त्री गुणान्गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति'।

इस प्रकरण का भाष्य करते हुए पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने लिखा है—

"स्त्री के गर्भ को भी गर्भ कहा जाता है, क्योंकि उसे ग्रहण किया जाता है। 'ग्रह्' के संप्रसारण रूप 'गृह्' से 'घ' प्रत्यय।

जब स्त्री पुरुष के गुणों को ग्रहण करती है और पुरुष स्त्री के गुणों को ग्रहण करता है, तब गर्भ होता है। जब स्त्री-रज पुरुष-वीर्य के अस्थि, स्नायु और मज्जा, इन तीन गुणों को ग्रहण करता है तथा पुरुष-वीर्य स्त्री-रज के त्वचा, मांस और रुधिर, इन तीन गुणों को ग्रहण करता है, तब इन दोनों रजवीर्यों के मिलने से गर्भ रहता है। स्त्री-पुरुषों के इन ६ गुणों के कारण ही शरीर को षाट्कौशिक अर्थात् ६ कोशों से बना हुआ कहा जाता है।

अथवा जब स्त्री अत्यन्त प्रेम से पुरुष के गुणों को ग्रहण करती है और पुरुष अत्यन्त प्रेम से स्त्री के गुणों को ग्रहण करता है, तब परस्पर प्रसन्न और अनुरक्त स्त्री पुरुष के सम्बन्ध से गर्भ स्थिर होता है, अतएव बच्चे में स्त्री और पुरुष दोनों के कुछ न कुछ गुण अवश्य पाये जाते हैं।

एवं यदि रज और वीर्य एक ही समय में स्खलित न होकर आगे पीछे स्खलित होते हैं या स्त्री और पुरुष दोनों में अत्यन्त गाढ़ अनुराग के उत्पन्न हुए बिना सम्बन्ध किया जाता है, तो गर्भधारण कभी नहीं हो सकता— यह सन्तति-शास्त्र का निश्चित सिद्धान्त है।''

आधिदैविक प्रकरण में स्त्री और पुरुष के रूप में व्यवहार करने वाले दो प्रकार के पदार्थ इस सृष्टि में विद्यमान होते हैं। इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों में से भी कुछ सूक्ष्म रश्मियाँ निरन्तर स्पन्दित होती रहती हैं। ये पदार्थ एक-दूसरे से उत्सर्जित होने वाली सूक्ष्म रश्मियों को ग्रहण करते रहते हैं, विशेषकर स्त्रीरूप पदार्थ ही पुरुषरूप पदार्थों से उत्सर्जित सूक्ष्म रश्मियों को ग्रहण करके नवीन पदार्थों का निर्माण करते हैं। यहाँ गुण शब्द उन्हीं सूक्ष्म रश्मियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। गुण शब्द का अर्थ धागा वा रस्सी है और सभी सूक्ष्म रश्मियाँ धागा व रस्सी रूप ही होती हैं। विभिन्न लोकों के निर्माण की प्रक्रिया के सन्दर्भ में यहाँ कहा गया है कि किसी भी सौर मण्डल आदि के निर्माण की प्रक्रिया में सर्वप्रथम तेजस्वी विशाल पिण्ड रूपी गर्भ ही उत्पन्न होता है और वह विशाल गर्भ ही सभी लोकों का प्रसिद्ध पालक पतिरूप होता है। इसका अर्थ यह है कि उस पिण्ड में ही अनेक लोकों के केन्द्र बन रहे होते हैं। यहाँ उस पिण्ड से उत्पन्न लोकों को ही भूत कहा है और यह विशाल पिण्ड भी स्त्री और पुरुष रूप पदार्थों के मेल से उत्पन्न होता है।

(सः, दाधार, पृथिवीम्, द्याम्, उत, इमाम्, कस्मै, देवाय, हविषा, विधेम) 'स धारयति पृथिवीं च दिवं च कस्मै देवाय हविषा विधेम इति व्याख्यातम् विधतिः दानकर्मा' वही विशाल पिण्ड सभी ग्रहादि अप्रकाशित लोकों और सूर्य को धारण करता है। इसके साथ ही सूर्य के चारों ओर विद्यमान द्युलोक रूपी क्षेत्र भी उसी पिण्ड का ही एक अंग होता है। इसका अर्थ यह है कि ये सभी लोक उस पिण्ड में ही गर्भ रूप में समाए हुए होते हैं। इसी पिण्ड में विभिन्न प्रकाशित और अप्रकाशित कणों की अधिकांश मात्रा समायी हुई होती है। इस देदीप्यमान विशाल पिण्ड में २५ गायत्री छन्द रश्मि समूह नाना प्रकार के रश्मि आदि

पदार्थों को उत्पन्न करते रहते हैं और वे उत्पन्न पदार्थ ही नाना लोकों के निर्माण की प्रक्रिया को सम्पादित करते हैं। जब कॉस्मिक मेघ के अन्दर इन गायत्री छन्द रश्मि समूहों की बहुलता होने लगती है, उस समय पिण्डस्थ पदार्थ यत्र-तत्र लोकों के गर्भरूपी केन्द्रों का निर्माण करने लगता है और उन केन्द्रों के चारों ओर दूर-दूर तक विद्यमान पदार्थ केन्द्रों की ओर प्रवाहित होने लगता है।

भावार्थ— जब विशाल खगोलीय मेघ संपीडित होता है, उस समय उसके अन्दर स्वर्णिम प्रकाश उत्पन्न होने लगता है। इस मेघ में असुरादि पदार्थ बहुत बाधक नहीं हो पाते। इसके अन्दर विद्यमान देव पदार्थ सभी अनिष्ट असुरादि पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करते रहते हैं। इस विशाल मेघ को हिरण्यगर्भ भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि इस मेघ का रंग सुवर्ण जैसा होता है और इसके अन्दर विभिन्न लोकों के गर्भ पल रहे होते हैं। जब दो कणों वा लोकों में संयोग होता है, तब उनके बाहरी भाग में स्थित रश्मियाँ ही संयुक्त होती हैं। उन्हीं के संयोग को कणों का संयोग माना जाता है। विभिन्न तारों के बाहर अन्तरिक्ष में विद्यमान द्युलोक भी उन तारों का ही भाग माना जा सकता है अथवा वह तारों का निवास स्थान होता है। उस विशाल खगोलीय पिण्ड में नाना प्रकार के असंख्य कण आदि पदार्थ भरे रहते हैं। जब इस मेघ में गायत्री छन्द रश्मियाँ प्रचुर मात्रा में विद्यमान होती हैं, उस समय इन पिण्डों अर्थात् कॉस्मिक मेघों में विभिन्न लोकों के केन्द्रों का निर्माण होने लगता है।

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का भाष्य भी पठनीय है, इस कारण हम उनका भाष्य भी यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"भाष्य— वेद प्रतिपादित सृष्टि उत्पत्ति को सरलता से समझने के लिए शतपथ ब्राह्मण का अगला प्रवचन ध्यान में रखना चाहिए। उसमें हिरण्यगर्भ की सुन्दर व्याख्या सन्निहित है—

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त। कथं नु प्रजायेमहि इति। ता अश्राम्यन्। तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं सम्बभूव। तदिदं ... यावत् संवत्सरस्य वेला तावत् पर्यप्लवत। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः। ११.१.६.१, २॥

अर्थात्— आपः निश्चय ही आरम्भ में सलिलावस्था [एकार्णवीभूतावस्था] में ही थीं। उनमें

[स्वयम्भू ब्रह्म द्वारा] कामना हुई। कैसे हम प्रजारूप में फैलें । उन्होंने श्रम किया। उन्होंने तप तपा। उन तपती हुई [आपों] में हिरण्याण्ड उत्पन्न हुआ। वह हिरण्याण्ड जब तक [एक दैव] वर्ष का काल तब तक परिप्लव (=चक्र में तैरना) करता रहा। तब संवत्सर बीत जाने पर पुरुष प्रकट हआ। वह प्रजापति [है।]

प्रस्तुत ऋक् में प्रयुक्त कतिपय पदों और उनमें यास्ककृत अर्थों के साथ शतपथ के कतिपय पदों की तुलना आगे दी जाती है—

ऋक्	**यास्क**	**शतपथ**
हिरण्यगर्भ	हिरण्यमय-गर्भ:	हिरण्यमाण्डम्
समवर्तत	समभवत्	सम्बभूव
भूतस्य पति	भूतस्य पति	प्रजापति

जब शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन हो रहा था, तो प्रवचनकार के मन में यह और अन्य ऐसे मन्त्र उपस्थित थे। वेद के अनेक रहस्यों को समझने का यह मूल मन्त्र है।

सृष्टि बनते समय कितनी शक्तियाँ द्यौ और पृथिवी को धारण कर रही थीं और अब कितनी यह काम कर रही हैं, इसका ज्ञान आवश्यक है। एतद्विषयक कुछ सामग्री आगे दी जाती है—

१. स [हिरण्यगर्भ] दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्। ऋ.१०.१२१.१
२. मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्। ऋ.३.५९.१
३. अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभि: सत्यै:। ऋ.१.६७.३
४. उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति। ऋ.१०.३१.८

वैदिक विज्ञान के सूक्ष्म तत्त्वों का अध्ययन आरम्भ होना चाहिए।''

'क:' पद के निर्वचन के पश्चात् 'सरस्वान्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सरस्वान् व्याख्यात:'। 'सर:' पद के विषय में खण्ड ९.२६ में लिख चुके हैं। ऐसे पदार्थों से युक्त पदार्थ को सरस्वान् कहा जाता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= चतुर्विंशः खण्डः =

ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः।
तेभिर्नोऽविता भव॥ [ऋ.७.९६.५] इति सा निगदव्याख्याता॥ २४॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है, जिसके विषय में पूर्ववत् समझें। इसका देवता सरस्वान् और छन्द निचृत् गायत्री होने से सम्पूर्ण पदार्थ तीक्ष्ण श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ये, ते, सरस्वः, ऊर्मयः, मधुमन्तः, घृतश्चुतः) अन्तरिक्ष में बहती हुई जलीय धाराएँ अर्थात् आयन रूप में विद्यमान पदार्थ की जो धाराएँ बहती हैं, वे मधु संज्ञक रश्मियों एवं संयोज्य कणों से विशेषतया युक्त होती हैं। इसके साथ ही उन धाराओं से निरन्तर 'घृम्' रश्मियाँ उत्सर्जित होने से वे धाराएँ तेजयुक्त होती हैं। [घृतम् = वज्रो घृतम् (काठ.सं.२०.५)] उन बहती हुई विशाल धाराओं में से नाना प्रकार की वज्र रश्मियाँ गम्भीर गर्जना के साथ उत्पन्न होती रहती हैं।

(तेभिः, नः, अविता, भव) उन रश्मियों के द्वारा वसिष्ठ अर्थात् विभिन्न पदार्थों को बसाने वा उत्पन्न करने वाले अग्नि की रक्षा होती है। इसका अर्थ यह है कि वे धाराएँ मधु आदि रश्मियों के द्वारा पदार्थ में ऊष्मा के विशेष स्तर को बनाए रखती हैं। इससे यह भी संकेत मिलता है कि सूर्यादि लोकों में पदार्थ कभी भी स्थिर नहीं रहते और न रह सकते। पदार्थ के स्थिर रहने पर अग्नि का प्रादुर्भाव भी नहीं हो सकता।

* * * * *

= पञ्चविंशः खण्डः =

विश्वकर्मा। सर्वस्य कर्त्ता। तस्यैषा भवति॥ २५॥

सर्वकर्त्ता को ही विश्वकर्मा कहा जाता है अर्थात् जो सभी प्रकार के कर्मों को करने वाला होता है, उसे विश्वकर्मा कहते हैं। विश्वकर्मा के विषय में ऋषियों का कथन है— 'वाग्वै विश्वकर्मऽर्षिर्वाचा हीदं सर्वं कृतम्' (श.ब्रा.८.१.२.९), 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा विश्वकर्माऽभवत् प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माऽभवत्' (ऐ.ब्रा.४.२२), 'अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवतऽएष हीदं सर्वं करोति' (श.ब्रा.८.१.१.७), 'विश्वकर्माऽयमग्निः' (श.ब्रा.९.२.२.२)। इसका अर्थ यह है कि वाक् रश्मियाँ, इन्द्र तत्त्व, वायु तत्त्व, अग्नि आदि पदार्थ विश्वकर्मा इसलिए कहे जाते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि के सभी कर्मों में इनकी भूमिका होती है।

* * * * *

= षड्विंशः खण्डः =

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः॥

[ऋ.१०.८२.२]

विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता। धाता च विधाता च।
परमश्च सन्द्रष्टा भूतानाम्।
तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा।
अद्भिः सह सम्मोदन्ते। यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि।
तेभ्यः परः आदित्यः। तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्। विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणाम्। एषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रन्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा। अन्नेन सह सम्मोदन्ते।
यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाणि। एभ्यः पर आत्मा।
तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे। तत्रेतिहासमाचक्षते।

**विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार।
स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति।
य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्॥ [ऋ.१०.८१.१] इति।
तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ २६ ॥**

इस मन्त्र का ऋषि भौवन विश्वकर्मा है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति लोकों में व्याप्त वाक् तत्त्व अर्थात् विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से होती है। इसका देवता विश्वकर्मा और छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से लोकों में विद्यमान अग्नि वारक (बाहुरूप) बलों से युक्त एवं तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(विश्वकर्मा, विमनाः, आत्, विहायाः, धाता, विधाता, परमा, उत, सन्दृक्) 'विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्द्रष्टा भूतानाम्' [अनुष्टुप् = अनुष्टुब्भि छन्दसां योनिः (तां.ब्रा.११.५.१७), गायत्री वै सा याऽनुष्टुप् (कौ.ब्रा.१०.५, १४.२, २८.५), अनुष्टुप् वै प्रजापतेः स्वं छन्दः (काठ.सं.२३.२, क.सं.३५.८), प्रजापतिरनुष्टुप् (तै.सं.३.४.९.७), परमं वाऽएतच्छन्दो यदनुष्टुप् (श.ब्रा.१३.३.३.१)] सृष्टि में सभी प्रकार के कर्मों में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली अनुष्टुप् एवं गायत्री छन्द रश्मियाँ मनस्तत्त्व से विशेष रूप से समृद्ध होती हुई सब पदार्थों में और उनके सब प्रकार के कर्मों में सब ओर से व्याप्त रहती हैं। वे दोनों ही प्रकार की रश्मियाँ विश्वकर्मा रूप होती हैं। ये रश्मियाँ सभी प्रकार के पदार्थों का धारण और पोषण करने वाली और विविध प्रकार के पदार्थों को विज्ञानपूर्वक बनाने वाली होती हैं। वे रश्मियाँ अन्य सभी रश्मियों की अपेक्षा उत्कृष्टतमा और सभी पदार्थों को नियन्त्रित और आकर्षित करने वाली होती हैं। सभी दर्शनीय पदार्थों की दर्शन प्रक्रिया के पीछे भी इन रश्मियों की विशेष भूमिका होती है।

(तेषाम्, इष्टानि, सम्, इषा, मदन्ति, यत्र, सप्तऋषीन्, परः, एकम्, आहुः) 'तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा अद्भिः सह सम्मोदन्ते यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि तेभ्यः परः आदित्यः तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति' उन अनुष्टुबादि रश्मियों के सभी यजन कर्म, द्योतन कर्म, आकर्षण, बाधक पदार्थों का अतिक्रमण, उनका गमन एवं व्यापन कर्म, विज्ञानयुक्त प्रकाशन कर्म एवं आकर्षक पदार्थों की ओर नमन

(झुकना) आदि सभी कर्म आपः अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियों के सहयोग से अच्छी प्रकार से सम्पन्न होते हैं। इससे भी बढ़कर उन सभी क्रियाओं की सक्रियता बहुत बढ़ जाती है, जहाँ सात ऋषि रूपी प्राथमिक प्राण रश्मियाँ अथवा गायत्री आदि सात छन्द रश्मियाँ इस सृष्टि में ज्योति रूप होती हैं। यहाँ प्राण एवं छन्द रश्मियों को ही ऋषि कहा गया है, क्योंकि ये सभी बलरूप ही होती हैं। इन रश्मियों के तेजस्वरूप होने के कारण इन्हें ज्योति भी कहा गया है, इन सभी ज्योतियों से परे एवं इनसे श्रेष्ठतर एक और पदार्थ होता है, जिसे आदित्य कहा गया है। [आदित्यः = ओमित्यादित्यः (जै.उ.३.१३.१२)] वह पदार्थ 'ओम्' रश्मि रूप में ही होता है। वे सातों ऋषि रूप छन्द वा प्राण रश्मियाँ एक 'ओम्' रश्मि में ही विद्यमान होती हैं अर्थात् 'ओम्' रश्मि ही इन सब पदार्थों का आधार है। इसके विषय में कहा गया है—

'अथैऽकस्यैऽवाऽक्षरस्य रसं (प्रजापतिः) नाऽशक्नोदादातुम् ओमित्येतस्यैऽव सेऽयं वागभवत् ओमेव नामैऽषा तस्या उ प्राण एव रसः' (जै.उ.१.१.१.६-७), 'एतद् (ओमिति) एवाक्षरं त्रयी विद्या' (जै.उ.१.१८.१०), 'ओमिति वै साम ...ओमिति मनः ... ओमितीन्द्रः' (जै.उ.१.२.२.२)।

अब ग्रन्थकार इसका आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार करते हैं—

(विश्वकर्मा, विमनाः, आत्, विहायाः, धाता, विधाता, परमा, उत, सन्दृक्) 'विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणाम्' शरीर और इन्द्रियों के द्वारा सभी प्रकार के कर्म करने वाला जीवात्मा ही विश्वकर्मा कहलाता है। वह जीवात्मा मन को आश्रय देता हुआ अथवा मन को साधन के रूप में प्रयोग करता हुआ अपनी चेतना के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है। वह सम्पूर्ण शरीर को धारण करने वाला, शरीर के द्वारा नाना प्रकार के कर्मों का विधान करने वाले मन और इन्द्रिय आदि पदार्थों की अपेक्षा श्रेष्ठतम और सभी इन्द्रियों को अपने ज्ञान और चेतना के द्वारा देखने वाला होता है। इसका अर्थ यह है कि वह चेतनस्वरूप आत्मा सभी इन्द्रियों को चेतनवत् व्यवहार कराता और उन्हें नियन्त्रित करता है। शरीरस्थ सभी इन्द्रियाँ अपने-२ व्यवहारों को जीवात्मा की चेतना के कारण ही कर पाती हैं। इसलिए उपनिषत्कार ने कहा है— 'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा...' (प्रश्नोपनिषद् ४.९)।

(तेषाम्, इष्टानि, सम्, इषा, मदन्ति, यत्र, सप्तऋषीन्, परः, एकम्, आहुः) 'एषामिष्टानि

वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा अन्नेन सह सम्मोदन्ते यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाणि एभ्य: पर आत्मा तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति' शरीर के अन्दर यह आत्मा इन्द्रियों के द्वारा किए जाने वाले सभी इष्ट वा कमनीय कर्म, उनकी प्रत्येक प्रकार की गति वा क्रिया, मननशीलता और उनका विषयों की ओर झुकाव जीवात्मा के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। इस प्रक्रिया में सभी अन्न रूप पदार्थ भी अनिवार्य रूप से सहायक होते हैं। सभी इन्द्रियाँ अन्न के द्वारा प्राप्त बल के साथ संगत होती हुई ही सक्रिय रह पाती हैं। इस शरीर में मुख्यत: सात इन्द्रियाँ ऋषिरूप में विद्यमान रहती हैं, जो निरन्तर विषयों में गमन करती रहती हैं। यद्यपि इन्द्रियाँ दस होती हैं, परन्तु यहाँ सात इन्द्रियों का ही ग्रहण किया गया है। हमारी दृष्टि में ये सात इन्द्रियाँ इस प्रकार ग्रहण की जा सकती हैं— चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, रसना एवं घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक् यह एक कर्मेन्द्रिय और मन यह एक आन्तरेन्द्रिय है। जीवात्मा इन सभी इन्द्रियों से परे सबके अधिष्ठाता के रूप में विद्यमान रहता है। उस एक ही जीवात्मा की चेतन शक्ति में अर्थात् उस जीवात्मा की चेतना में स्थित रहती हुई इन्द्रियाँ अपने सम्पूर्ण व्यवहारों को सम्पादित करती हैं।

यह आध्यात्मिक अर्थ कहा गया है। अगला ऐतिहासिक पक्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—'तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वकर्मा भौवन: सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार तदभिवादिन्येषर्ग्भवति'। यहाँ एक नित्य इतिहास प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि सूर्यलोक में विद्यमान भौवन विश्वकर्मा रूपी अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ सूर्य के केन्द्रीय भाग में सभी पदार्थों को संगत करती हैं अर्थात् वे विभिन्न कणों के संलयन की प्रक्रिया में नाना प्रकार की छन्द रश्मियों की आहुति डालती हैं और उन छन्द रश्मियों को विशेष सक्रिय भी करती हैं। इसी कारण कहा गया है— 'विष्णोरनुष्टुप् (पत्नी)' (तै.आ. ३.९.१) अर्थात् अनुष्टुप् छन्द रश्मि सूर्यलोक की रक्षिका होती है। यह अन्य छन्द रश्मियों का हवन करती हुई अन्त में स्वयं की भी उस संलयन प्रक्रिया में आहुति दे देती है। इसका अर्थ यह है कि वे विभिन्न संलयन वा संगमन प्रक्रियाओं में केवल अन्य रश्मियों की प्रेरक ही नहीं होती हैं, अपितु वे उन प्रक्रियाओं में स्वयं भी भाग लेती हैं और उनका प्रत्यक्ष अंग बन जाती हैं।

इस तथ्य को कहती हुई यह ऋचा प्रस्तुत की गई है—'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्' अर्थात् भौवन विश्वकर्मा रूप अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ इन सभी लोकों को अपने अन्दर

आहुत करती हैं। ध्यान रहे कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ और गायत्री छन्द रश्मियाँ, दोनों के प्रभाव अधिकांशतः समान होते हैं। इस कारण भौवन विश्वकर्मा से दोनों ही प्रकार की छन्द रश्मियों का ग्रहण करना चाहिए। ये दोनों ही प्रकार की छन्द रश्मियाँ इस सृष्टि में नाना प्रकार के यजन कर्मों को सम्पादित करती हैं। यह नित्य इतिहास है, जो सृष्टि की किसी प्रक्रिया की इस प्रकार व्याख्या करता है। वेद में कोई मानवीय अथवा अन्य कोई अनित्य इतिहास नहीं है।

अगले खण्ड में एक अन्य ऋचा को 'विश्वकर्मा' पद के और अधिक निर्वचन के लिए प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= सप्तविंशः खण्डः =

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥

[ऋ.१०.८१.६]

विश्वकर्मन् हविषा वर्धयमानः स्वयं यजस्व पृथिवीं च दिवं च।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनाः सपत्नाः। इहास्माकं मघवा सूरिस्तु प्रज्ञाता।
तार्क्ष्यः। त्वष्ट्रा व्याख्यातः। तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति।
तूर्णमर्थं रक्षति। अश्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ २७॥

इसका ऋषि भौवन विश्वकर्मा है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता विश्वकर्मा और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अनुष्टुप् वा गायत्री छन्द रश्मियाँ विविध प्रकार से तीव्र रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न वा समृद्ध करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(विश्वकर्मन्, हविषा, वावृधानः, स्वयम्, यजस्व, पृथिवीम्, उत, द्याम्) 'विश्वकर्मन् हविषा वर्धयमानः स्वयं यजस्व पृथिवीं च दिवं च' विश्वकर्मा संज्ञक अनुष्टुप् वा गायत्री छन्द

रश्मियाँ अन्य त्रिष्टुबादि छन्द रश्मियों एवं प्राणादि रश्मियों की हवियों के साथ सूर्यादि लोकों में विस्तार को प्राप्त करती हुई स्वयं भी उन रश्मियों के साथ संगत होती हैं तथा प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के कणों को संगत करती हैं। इसके साथ ही वे अनुष्टुबादि छन्द रश्मियाँ न केवल सूर्यादि लोकों, अपितु द्यौ एवं पृथिव्यादि लोकों को भी नाना प्रकार की रश्मियों की आहुतियाँ प्रदान करती हैं। इससे यह भी संकेत मिलता है कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की उपयोगिता केवल नाभिकीय संलयन की प्रक्रियाओं को ही सम्पादित करने में नहीं होती, अपितु द्यौ एवं पृथिव्यादि लोकों में होने वाली विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में भी इनकी भूमिका होती है।

(मुह्यन्तु, अन्ये, अभितः, जनासः, इह, अस्माकम्, मघवा, सूरिः, अस्तु) 'मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनाः सपत्नाः इहास्माकं मघवा सूरिस्तु प्रज्ञाता' अनुष्टुबादि छन्द रश्मियों के कारण चारों ओर विद्यमान ऐसे पदार्थों, जिनकी उस स्थान में हो रही विभिन्न क्रियाओं में आवश्यकता नहीं होती अथवा जो पदार्थ उस स्थान में हो रही क्रियाओं में भाग लेने वाले पदार्थों के शत्रुरूप होते हैं, को भ्रमित वा विचलित कर देती हैं। इस कारण वे बाधक पदार्थ संगमन आदि क्रियाओं में बाधा नहीं डाल पाते। उस क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में भाग लेने वाला इन्द्रतत्त्व ही सबका प्रेरक और उत्पादक होता है, वही सभी क्रियाओं को विज्ञानपूर्वक सम्पादित करने वाला होता है।

'विश्वकर्मा' पद के निर्वचन के पश्चात् 'तार्क्ष्य' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—'तार्क्ष्यः त्वष्ट्रा व्याख्यातः तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति तूर्णमर्थं रक्षति अश्नोतेर्वा'। इसका निर्वचन खण्ड ८.१३ में व्याख्यात त्वष्टा के समान समझना चाहिए। यह पदार्थ विस्तृत फैले हुए अन्तरिक्ष में निवास करता है और विभिन्न पदार्थों की तीव्र गति से रक्षा भी करता है। इसके साथ ही वह उन रक्षणीय पदार्थों में व्याप्त भी होता है। ऐसा पदार्थ वायु ही है, यह जानना चाहिए, किन्तु अनेकत्र इन्द्रतत्त्व को भी तार्क्ष्य कहा जाता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= अष्टाविंशः खण्डः =

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥

[ऋ.१०.१७८.१]

तं भृशमन्नवन्तम्। जूतिर्गतिः। प्रीतिर्वा। देवजूतं देवगतम्। देवप्रीतं वा। सहस्वन्तम्। तारयितारं रथानाम्। अरिष्टनेमिम्। पृतनाजितम्। आशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिह ह्वयेमेति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति॥ २८॥

इसका ऋषि अरिष्टनेमि तार्क्ष्य है। [तार्क्ष्य अरिष्टनेमिः = तस्य (यज्ञस्य) तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्याविति शारदौ तावृतू (श.ब्रा.८.६.१.१९)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति शरद् ऋतु रश्मियों से होती है। इसका देवता तार्क्ष्य और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वायु वा इन्द्रतत्त्व विविध प्रकार से तीव्र रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(त्यम्, उ, सु, वाजिनम्, देवजूतम्, सहावानम्, तरुतारम्, रथानाम्) 'तं भृशमन्नवन्तम् जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगतम् देवप्रीतं वा सहस्वन्तम् तारयितारं रथानाम्' वह वायु वा इन्द्रतत्त्व, जो प्रचुर मात्रा में अन्न रूप रश्मियों अथवा प्रचुर मात्रा में संयोज्य कणों से परिपूर्ण होता है, जो नाना प्रकार की छन्दादि रश्मियों से युक्त होता है, जो देव रूप विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियों से प्रेरित और गतिशील होता है अथवा जो विभिन्न देव कणों वा प्राण रश्मियों में व्याप्त होता है अथवा उनके द्वारा व्याप्त होता है अथवा उनके साथ ही संगत वा सम्पृक्त रहता है, वह इन्द्रतत्त्व अथवा वायु अत्यन्त बलवान् और विभिन्न रमणीय किरणों वा कणों को तारने वाला होता है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न कण अथवा विकिरण जब अन्तरिक्ष में गमन कर रहे होते हैं, उस समय वे वायु रश्मियों के द्वारा तैरते हुए से गमन करते हैं। विभिन्न वज्र रूप रश्मियाँ भी वायु वा इन्द्रतत्त्व के द्वारा ही प्रेरित होती हुई गमन करती हैं।

(अरिष्टनेमिम्, पृतनाजम्, आशुम्, स्वस्तये, तार्क्ष्यम्, इह, हुवेम) 'अरिष्टनेमिम् पृतनाजितम् आशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिह ह्वयेमेति कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्' ऐसा वह वायु वा इन्द्रतत्त्व समस्त हिंसक वा बाधक पदार्थों को नष्ट करने वाला वज्र रूप होता है। वह असुरादि पदार्थों के साथ होने वाले संग्रामों को जीतने वाला होता है। ऐसे उस इन्द्र अथवा वायु तत्त्व, जो तार्क्ष्य रूप होत है, को नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को सम्यक् रूप से एवं तीव्र गति से सम्पादित करने के लिए बुलाया जाता है। यहाँ बुलाने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि जब यजन क्रियाएँ होती हैं और उसमें बाधक वा हिंसक पदार्थ बाधा डालने लगते हैं, उस समय इन्द्रतत्त्व को समृद्ध वा प्रकट करने वाली विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होने लगती हैं, किसी अन्य मध्यमस्थानीय देव पदार्थ को प्रकट करने वाली छन्द रश्मियों की कोई आवश्यकता नहीं होती। इतने पर भी इस छन्द रश्मि की महत्ता असुरादि पदार्थों के साथ होने वाले संघर्ष की स्थिति में ही जाननी चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अन्य देवों को प्रकट करने वाली छन्द रश्मियों की उत्पत्ति यथासमय होती रहती है।

इसकी अन्य ऋचा को अन्य खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

एकोनत्रिंशः खण्डः

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम्॥

[ऋ.१०.१७८.३]

सद्योऽपि यः शवसा बलेन तनोत्यपः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि।
सहस्रसानिनी शतसानिन्यस्य सा गतिः।
न स्मैनां वारयन्ति प्रयुवतीमिव शरमयीमिषुम्।
मन्युः। मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः। क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा।

मन्यन्त्यस्मादिषवः। तस्यैषा भवति॥ २९॥

इसके ऋषि और देवता पूर्ववत् हैं और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसका दैवत और छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सद्यः, चित्, यः, शवसा, पञ्च, कृष्टीः, सूर्यः, इव, ज्योतिषा, अपः, ततान) 'सद्योऽपि यः शवसा बलेन तनोत्यपः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि' वह तारक संज्ञक इन्द्र वा वायुतत्त्व अति शीघ्रकारी होता है, जो तत्काल ही अपने बल से पञ्चजन नाम के पाँच प्रकार के पदार्थों के कर्मों को उसी प्रकार विस्तृत करता है, जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों के द्वारा प्रकाश को विस्तृत करता है। यहाँ 'इव' पद को अनर्थक मानकर यह अर्थ होता है कि वह इन्द्र वा वायुतत्त्व 'पञ्चजन' नामक पदार्थों के साथ-२ सूर्य की विकिरणों को भी अपने कर्म और प्रभाव की दृष्टि से दूर-२ तक फैलाता है। 'पञ्चजन' नामक पदार्थों के विषय में हम खण्ड ३.८ में लिख चुके हैं। पाठक उसका ध्यान से अवलोकन करें। वे पाँचों प्रकार के पदार्थ सभी सूर्यादि लोकों में विद्यमान होते हैं और सूर्य की किरणों के उत्पन्न एवं क्रियाशील होने में उन पदार्थों की भूमिका होती है।

(सहस्रसाः, शतसाः, अस्य, रंहिः, नः, स्म, वरन्ते, युवतिम्, न, शर्याम्) 'सहस्रसानिनी शतसानिन्यस्य सा गतिः न स्मैनां वारयन्ति प्रयुवतीमिव शरमयीमिषुम्' उस इन्द्र व वायुतत्त्व की गति सैकड़ों और सहस्रों कार्यों को करने वाली तथा बाधक व हिंसक पदार्थों के सैकड़ों और सहस्रों टुकड़े करने वाली होती है अर्थात् जहाँ इन्द्रतत्त्व देव पदार्थों के असंख्य कार्यों को सिद्ध करता है, वहीं वह बाधक व हिंसक पदार्थों को विदीर्ण करके छिन्न-भिन्न कर देता है। वह विदीर्ण हुआ असुरादि पदार्थ भी सृष्टि की अनेक प्रक्रियाओं में, यहाँ तक कि यजन प्रक्रियाओं में भी अपनी पृथक् भूमिका निभाता है। [शर्या = शर्या अङ्गुलयो भवन्ति सृजन्ति कर्माणि शर्या इषवः शरमय्यः (निरु.५.४)] इन्द्र की तीव्र गति को कोई अन्य पदार्थ नहीं रोक सकता है। इसका कारण यह है, क्योंकि इसकी रश्मियों में तीक्ष्ण भेदक शक्ति सम्पन्न और मिश्रण-अमिश्रण कर्मों को करने में सक्षम इषु संज्ञक रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। यहाँ 'इव' पद को भी अनर्थक मानना चाहिए।

'तार्क्ष्यः' पद के पश्चात् 'मन्युः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'मन्युः मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा मन्यन्त्यस्मादिषवः' अर्थात् जो पदार्थ दीप्ति-

युक्त होता है और अन्य पदार्थों को भी दीप्तियुक्त करता है। जो क्रोधकर्त्ता होता है अर्थात् जो पदार्थ अन्य पदार्थों को विक्षुब्ध करता है, उन्हें नष्ट करता है और जिसमें से उत्सर्जित होती हुई इषु संज्ञक रश्मियाँ तेजयुक्त होती हैं, उस पदार्थ को मन्यु कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= त्रिंशः खण्डः =

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः॥

[ऋ.१०.८४.१]

त्वया मन्यो सरथमारुह्य रुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वस्तिग्मेषव आयुधानि संशिश्यमाना अभिप्रयन्तु नराः। अग्निरूपा अग्निकर्माणः। सन्नद्धाः कवचिन इति वा। दधिक्राः। व्याख्याताः। तस्यैषा भवति॥ ३०॥

इसका ऋषि तापसो मन्यु है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सन्ताप गुणयुक्त तपः संज्ञक मास रश्मियों से उत्पन्न रश्मि-विशेष से होती है। इसका देवता मन्यु और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से मन्यु संज्ञक उपर्युक्त पूर्वोक्त पदार्थ रक्तवर्णीय तीव्र तेज को उत्पन्न करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(त्वया, मन्यो, सरथम्, आरुजन्तः, हर्षमाणासः, अधृषिताः, मरुत्वः) 'त्वया मन्यो सरथ-मारुह्य रुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः' अनेक प्रकार की मरुद् रश्मियों से युक्त इन्द्रतत्त्व मन्यु संज्ञक पदार्थ के साथ एक ही प्रकार की रथ संज्ञक रश्मियों पर आरूढ़ होकर गमन करता है। उस समय वह इन्द्रतत्त्व उत्तेजित होता हुआ किसी भी पदार्थ से न दबने वाला होता है। उल्लेखनीय है कि इन्द्रतत्त्व किसी से पराभूत न होने वाले पदार्थ का ही नाम है, परन्तु मन्यु संज्ञक पदार्थ के साथ वह और भी अधिक उत्तेजित और शक्तिशाली हो जाता है।

(तिग्म, इषवः, आयुधा, संशिशानाः, अभि, प्र, यन्तु, नरः, अग्निरूपाः) 'तिग्मेषव आयुधानि संशिश्यमाना अभिप्रयन्तु नराः अग्निरूपा अग्निकर्माणः सन्नद्धाः कवचिन इति वा' वह इन्द्र तत्त्व अति तीक्ष्ण इषुरूपी आयुधों को और भी अधिक तीक्ष्ण बनाते हुए असुरादि पदार्थों पर तीक्ष्ण प्रहार करता है। उस समय इन्द्र रूपी तीक्ष्ण पदार्थ से अग्नि रूपी नर अर्थात् आशुगामी रश्मियाँ वेगपूर्वक असुरादि पदार्थों की ओर बढ़ती हुई तीव्र प्रहार करती हैं। आयुध एवं इषु आदि की व्याख्या के लिए खण्ड १०.६ और ९.१८ देखें।

'मन्युः' पद के पश्चात् अगले पद 'दधिक्राः' के निर्वचन के लिए पूर्व में खण्ड २.२७ द्रष्टव्य है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

एकत्रिंशः खण्डः

आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि॥

[ऋ.४.३८.१०]

आतनोति दधिक्राः शवसा बलेनापः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि।
सहस्रसाः शतसाः। वाजी वेजनवान्। अर्वेरणवान्।
सम्पृणक्तु नो मधुनोदकेन वचनानीमानीति। मधु धमतेर्विपरीतस्य।
सविता सर्वस्य प्रसविता। तस्यैषा भवति॥ ३१ ॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है, जिसके विषय में पूर्ववत् समझें। इसका देवता दधिक्रा और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से दधिक्रा संज्ञक तरंगें तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न वा समृद्ध करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आ, दधिक्राः, शवसा, पञ्च, कृष्टीः, सूर्य्य, इव, ज्योतिषा, अपः, ततान) 'आतनोति दधिक्राः शवसा बलेनापः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि' दधिक्रा संज्ञक तरंगें अपने तीक्ष्ण बल के द्वारा खण्ड १०.२९ में वर्णित पञ्चजन नाम के पदार्थों को सब ओर फैलाती

हैं। पाठक इस पूर्वार्ध की व्याख्या पूर्व में व्याख्यात खण्ड के समान स्वयं कर सकते हैं। उस मन्त्र में विद्यमान तार्क्ष्य के स्थान पर यहाँ दधिक्रा नामक पदार्थ के कर्म को दर्शाया गया है। अन्य पद समान हैं और उनका अभिप्राय भी लगभग समान ही है।

(सहस्रसाः, शतसाः, वाजी, अर्वा, पृणक्तु, मध्वा, सम्, इमा, वचांसि) 'सहस्रसाः शतसाः वाजी वेजनवान् अर्वेरणवान् सम्पृणक्तु नो मधुनोदकेन वचनानीमानीति मधु धमतेर्विपरी-तस्य' वे दधिक्रा संज्ञक तरंगें विभिन्न पदार्थों को अपने तीव्र बलों से कँपाने वाली तथा उन्हें दूर प्रक्षिप्त करने वाली होती हैं। अपने इस बल के कारण विभिन्न पदार्थों को शत-सहस्रों भागों में खण्डित करने में समर्थ होती हैं। वे उन पदार्थों को नाना प्रकार की मधु अर्थात् प्राण वा 'मधु' संज्ञक मास रश्मियों से उस क्षेत्र में विद्यमान विभिन्न वचन अर्थात् छन्द रश्मियों को संसिक्त करती हैं। इस कारण वे छन्द रश्मियाँ अधिक संयोजक गुणों से युक्त होने लगती हैं। यहाँ 'मधु' पद को धमते अर्थात् 'धम' धातु से व्युत्पन्न माना है। यहाँ 'उ' प्रत्यय है। यह धातु पाणिनीय धातुपाठ में नहीं है। आचार्य भगीरथ शास्त्री ने इसे गत्यर्थक माना है।

इस ऋचा से यह प्रकट होता है कि दधिक्रा तरंगें विभिन्न छन्द रश्मियों पर मधु रश्मियों का सिञ्चन करके उन्हें अधिक संयोजी बनाती हैं। इससे सभी यजन क्रियाएँ तीव्रता से होने लगती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, उसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (आ) (दधिक्राः) यो दधिभिर्धर्तृभिः क्रम्यते गम्यते सः (शवसा) बलेन (पञ्च) (कृष्टीः) मनुष्यान् (सूर्य्य इव) सवितेव (ज्योतिषा) प्रकाशेन (अपः) जलानि (ततान) विस्तृणोति (सहस्रसाः) यः सहस्राणि सनति विभजति सः (शतसाः) यः शतानि सनति सम्भजति (वाजी) वेगवान् (अर्वा) यः सद्यो मार्गान् गच्छति (पृणक्तु) स बध्नातु (मध्वा) क्षौद्रेण (सम्) (इमा) इमानि (वचांसि) वचनानि।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। यः सूर्यप्रकाश इव न्यायेन पञ्चविधाः प्रजाः पाति सोऽस-ङ्ख्यमानन्दमाप्नोति।

पदार्थ— जो राजा (शवसा) बल से (सूर्य्य इव) सूर्य्य के सदृश (दधिक्राः) धारण करने

वालों से प्राप्त होने वाला (पञ्च) पांच (कृष्टीः) मनुष्यों को (ज्योतिषा) प्रकाश से सूर्य्य जैसे (अपः) जलों को वैसे (आ, ततान) विस्तृत करता है (सहस्रसाः) हजारों का विभाग करने वाला (शतसाः) और सैकड़ों का विभागकर्त्ता वर्त्तमान (अर्वा) शीघ्र मार्गों को जाने वाला (वाजी) वेगवान् (मध्वा) सहत के साथ (इमा) इन (वचांसि) वचनों का (सम्, पृणक्तु) सम्बन्ध करे, वही राज्य करने के योग्य होता है।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जो सूर्य्य के प्रकाश के सदृश न्याय से पांच प्रकार की प्रजाओं का पालन करता है, वह असंख्य आनन्द को प्राप्त होता है।''

इसके अनन्तर अगले पद 'सविता' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सविता सर्वस्य प्रसविता' अर्थात् जो सभी पदार्थों को उत्पन्न व प्रेरित करता है, उसे सविता कहते हैं। प्रसंगानुसार इसके अनेक अर्थ होते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= द्वात्रिंशः खण्डः =

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्।
अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्॥

[ऋ.१०.१४९.१]

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरमयत्। अनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्यामदृंहत्।
अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षे मेघम्। बद्धम् अतूर्ते। बद्धम् अतूर्णे इति वा।
अत्वरमाणे इति वा। सविता समुदितारमिति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्।
आदित्योऽपि सवितोच्यते। तथा च हैरण्यस्तूपे स्तुतः।
अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति॥ ३२॥

इस मन्त्र का ऋषि हैरण्यस्तूपोऽर्चन् है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति स्वर्णिम

आभा लिये कुछ विशेष विकिरणों से होती है। इसका देवता सविता और छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सविता संज्ञक पदार्थ अपने बाहु रूप बलों के द्वारा तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होता है। यहाँ सविता का अर्थ वायुतत्त्व है। इस विषय में ऋषियों का कथन है— वायुरेव सविता (गो.पू.१.३३), प्राणो वै सविता (ऐ.ब्रा. १.१९), पशवो वै सविता (श.ब्रा.३.२.३.११)। इन वचनों का अर्थ यह है कि वायुतत्त्व, जो विभिन्न छन्द एवं प्राण रश्मियों का मिश्रण रूप होता है, उसे सविता कहते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सविता, यन्त्रैः, पृथिवीम्, अरम्णात्, अस्कम्भने, सविता, द्याम्, अदृंहत्) 'सविता यन्त्रैः पृथिवीमरमयत् अनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्यामदृंहत्' सबको उत्पन्न व प्रेरित करने वाला वायुरूप सविता अपने नियन्त्रक बलों के द्वारा और इन बलों को उत्पन्न करने वाली एवं इन बलों के द्वारा उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की क्रियाओं के द्वारा पृथिव्यादि अप्रकाशित लोकों को थामता हुआ भिन्न-२ कक्षाओं में रमण कराता है। ये सारे लोक वायुतत्त्व के कारण क्रीड़ा करते हुए निरन्तर गमन करते रहते हैं। वही वायुतत्त्व आश्रयरहित आकाशतत्त्व में द्युलोक को सदृढ़ता से थामता है। यहाँ आकाशतत्त्व को आश्रयरहित कहा गया है। इसका आशय मात्र यही है कि आकाशतत्त्व विभिन्न लोकों के आकर्षण बल की अपेक्षा न करते हुए अवकाश रूप आकाश में फैला हुआ रहता है। यद्यपि आकाशतत्त्व विभिन्न बलों के द्वारा प्रभावित होता है, वह फैलता और सिकुड़ता भी है, परन्तु वह इन बलों के अभाव में भी विद्यमान रहता है। जहाँ लोक-लोकान्तरों की सृष्टि की सीमा समाप्त हो जाती है, वहाँ भी आकाशतत्त्व विद्यमान रहता है अर्थात् उसे किसी प्रकार के स्थूल बल की अपेक्षा नहीं होती। ऐसा आकाशतत्त्व न केवल लोकों, अपितु किसी तारे व आकाशगंगा के केन्द्र के चारों ओर विद्यमान द्युलोक नामक क्षेत्रों को भी सुदृढ़ता से थामे रखता है। स्मरण रहे कि कोई भी बल बिना आकाशतत्त्व की भूमिका के न तो उत्पन्न ही हो सकता है और न ही कोई कार्य कर सकता है।

(अश्वम्, इव, अधुक्षत्, धुनिम्, अन्तरिक्षम्, अतूर्ते, बद्धम्, सविता, समुद्रम्) 'अश्वमिवा-धुक्षद् धुनिमन्तरिक्षे मेघम् बद्धम् अतूर्ते बद्धम् अतूर्णे इति वा अत्वरमाणे इति वा सविता समुदितारमिति कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्' वह वायुतत्त्व जिस प्रकार से अन्तरिक्ष में गमन करती हुई आशुगामी किरणों को कँपाता हुआ गमन कराता है, उसी प्रकार अन्तरिक्षस्थ

कॉस्मिक मेघों को एवं पृथिव्यादि लोकों में विद्यमान बादलों को कँपाता है। इससे यह संकेत मिलता है कि आकाश में गमन करती हुई विभिन्न किरणें सरल रेखा में गमन करती हुई प्रतीत होती हुई भी कम्पन करते हुए ही गमन करती हैं। उन किरणों के अन्दर विद्यमान विभिन्न रश्मियों एवं आकाशतत्त्व में विद्यमान विभिन्न वायु रश्मियों की पारस्परिक क्रियाओं के कारण वे किरणें निरन्तर कम्पित होती रहती हैं। यहाँ 'इव' पद को अनर्थक मानने पर यह रहस्य उद्घाटित होता है कि जब कॉस्मिक मेघों में विभिन्न प्रकार की किरणें कम्पन करते हुए गमन करने लगती हैं, उस समय सम्पूर्ण कॉस्मिक मेघ भी कम्पन करने लगता है। वह मेघ जिस अन्तरिक्ष में स्थित होता है, उस अन्तरिक्ष के विषय में कहा गया है कि वह अन्तरिक्ष अतूर्ण अर्थात् गतिहीन होता है और उस गतिहीन आकाश में वह कॉस्मिक मेघ नाना प्रकार की रश्मियों के द्वारा बँधा हुआ समुद्ररूप होता है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार जलीय समुद्र में जल एक मर्यादा के अन्दर बँधा हुआ होता है, उसी प्रकार कॉस्मिक मेघों के अन्दर नाना प्रकार के पदार्थ सीमाबद्ध होकर रहते हैं। यहाँ 'समुद्रम्' का अर्थ 'समुदितारम्' किया है। सभी भाष्यकारों ने इसका भाष्य 'गीला करने वाला' किया है, क्योंकि ये कॉस्मिक मेघ अपनी किरणों व कणों की वृद्धि के द्वारा अन्तरिक्ष को निरन्तर सींचते रहते हैं। हमारी दृष्टि में 'समुदितारम्' का अर्थ यह भी है कि ये मेघ इस विशाल अन्तरिक्ष में सम्यक् रूप से ऊर्ध्वगति से युक्त होते हैं। इसका अर्थ यह है कि विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए ये कॉस्मिक मेघ अपने केन्द्रीय भाग की ओर सम्पीडित होते हुए चक्रण करते रहते हैं। यहाँ वायु रूप सविता की ही महिमा है। ऐसी महिमा अन्य किसी मध्यमस्थानी देवता की नहीं कही गई है।

अब 'सविता' पद से अन्य अर्थ को कहते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'आदित्यो-ऽपि सवितोच्यते तथा च हैरण्यस्तूपे स्तुतः अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच तदभिवादिन्येषर्ग्भवति' अर्थात् सूर्यलोक को भी सविता कहते हैं और इसकी ऋचा भी हिरण्यस्तूप ऋषि रश्मियों से ही उत्पन्न होती है। ऐसा उस समय होता है, जब ये ऋषि रश्मि विशेष रूप से प्रकाशित अवस्था में होती हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

इस खण्ड का पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने संक्षिप्त भाष्य किया है, परन्तु उसमें प्रमाणों की प्रचुरता होने से महत्त्वपूर्ण है। इस कारण हम उसे यहाँ उद्धृत कर रहे

हैं—

''भाष्य— सविता आदित्य से भिन्न है। इस खण्ड के अन्त में ही यास्क लिखता है— आदित्योऽपि सवितोच्यते। अन्यत्र भी मन्त्र में कहा है—

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यम्॥ ऋ.१.३५.९

सविता सूर्य नहीं है। संभवतः रश्मि-विशेष रखने वाले केवल प्रातः समय के अवस्था-विशेष वाले आदित्य को सविता कहते हैं। उस समय उसे सूर्य वा आदित्य पारिभाषिक अर्थ में नहीं कहते।

अरम्णात् = अरमयत् का अर्थ राजाराम ने किया है— रमण कराता है। यह ठीक नहीं। सविता ने कांपने वाली पृथिवी को वर्तमान अवस्था में स्थिर किया था। द्यौ का स्कम्भन अथवा दृंहण अनेक देवों द्वारा हुआ था। इस क्रिया का विशद वर्णन अनेक मन्त्रों में मिलता है। यथा—

१. वरुण ने—अस्तभ्नाद् द्याम् असुरो विश्ववेदाः। ऋ.८.४२.१

यही मन्त्र तैत्तिरीय संहिता में भी है—

अस्तभ्नाद् द्याम् ऋषभो अन्तरिक्षम्। तै.सं.१.२.८

२. इन्द्र ने—

यो द्याम् अस्तभ्नाद् स जनास इन्द्रः। ऋ.२.१२.२
अवंशे द्याम् अस्तभायद् बृहन्तम्। ऋ.२.१५.२
अयं द्यावापृथिवी विष्कभायत्। ऋ.६.४४.२४
तत् पृथिवीम् अप्रथयः तदस्तभ्ना उत द्याम्। ऋ.८.८९.५

३. सोम ने— अयं महान् महता स्कम्भनेन उद् द्याम् अस्तभ्नाद् वृषभो मरुत्वान्।
ऋ.६.४७.५

४. विष्णु ने— व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते। ऋ.७.९९.३

५. वैश्वानर ने— व्यस्तभ्नाद् रोदसी मित्रो अद्‌भुतः। ऋ.६.८.३

६. कः ने— येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा। ऋ.१०.१२१.५

७. इन्द्रासोमौ ने— उप द्यां स्कम्भथुः स्कम्भनेन। ऋ.६.७२.२

८. विश्वेदेवाः ने— द्यावाभूमी पृथिवीं स्कम्भुरोजसा। ऋ.१०.६५.४
९. सविता ने— यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में कहा ही है।

हमने यहाँ इस विद्या का संकेतमात्र किया है। द्यावापृथिवी के दृढ़ होने में जो-जो क्रियाएं हुई होंगी, उन का स्वयं बोलता चित्र वेद में ही है। उन अतीन्द्रिय घटनाओं का सत्य उल्लेख विज्ञान की एक अमूल्य निधि है। ऐसे वेद को इन ईसाई-यहूदी अज्ञानी लेखकों ने अस्पष्ट से अस्पष्ट कर देने का पूरा यत्न किया है।

धुनिम् = हिन्दी में धुनियां, (= रूई पींजने वाला) इसी से मिलता-जुलता अपभ्रंश है। हिरण्यपाणि कोई भौतिक सत्त्व भी था। हिरण्यस्तूप आदि के समान ही यह शब्द भी है।''

* * * * *

त्रयस्त्रिंशः खण्डः

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाऽऽङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्॥

[ऋ.१०.१४९.५]

हिरण्यस्तूपो हिरण्यमयः स्तूपः। हिरण्यमयः स्तूपोऽस्येति वा।
स्तूपः स्त्यायतेः। संघातः।
सवितः यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजेऽन्नेऽस्मिन्नेवं त्वार्चन्।
अवनाय वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रतिजागर्म्यहम्।
त्वष्टा, व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ ३३॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्वोक्त हैं तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(हिरण्यस्तूपः, सवितः, यथा, त्वा, आङ्गिरसः, जुह्वे, वाजे, अस्मिन्) 'हिरण्यस्तूपो हिरण्यमयः स्तूपः हिरण्यमयः स्तूपोऽस्येति वा स्तूपः स्त्यायतेः संघातः सवितः यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजेऽन्नेऽस्मिन्' सृष्टि के वे पदार्थ, जिनमें अग्नितत्त्व ऊष्मा के रूप में विद्यमान होता है, सूर्य की किरणों को नाना प्रकार के यजन कर्मों के प्रति आकृष्ट वा ग्रहण करते हैं। यह आकर्षण की प्रक्रिया उन पदार्थों में विद्यमान अङ्गिरस अर्थात् प्राण रश्मियों की मात्रा वा सक्रियता के अनुसार ही होती है। पृथ्वी आदि लोकों पर विद्यमान वनस्पति जगत् अन्नादि के उत्पादन की प्रक्रिया के लिए सूर्य किरणों को ग्रहण करता है। उनकी अनुपस्थिति वा अभाव में अन्न आदि का उत्पन्न होना सम्भव नहीं होता। पृथ्वी आदि लोकों के अधिकांश पदार्थों की ऊर्जा का स्रोत सूर्य की किरणें ही हैं।

(एव, त्वा, अर्चन्, अवसे, वन्दमानः, सोमस्य, एव, अंशुम्, प्रति, जागर, अहम्) 'एवं त्वार्चन् अवनाय वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रतिजागर्म्यहम्' इसी प्रकार [हिरण्यम् = प्राणो वै हिरण्यम् (श.ब्रा.७.५.२.८)] विभिन्न प्राण रश्मियों का संघात अर्थात् समूह आदित्य रश्मियों की रक्षा करने तथा उन्हें गतिशील बनाए रखने के लिए सोम तत्त्व की रश्मियों के प्रति सक्रिय रहता है। इसका अर्थ यह है कि प्रकाश की किरणों के स्वरूप और मार्गों की रक्षा के लिए प्राण रश्मियों एवं सोम रश्मियों का सतत संगम होता रहता है। इससे प्राण रश्मियों का संघात सदैव ही आदित्य किरणों को प्रकाशमान बनाए रखता है। यद्यपि आदित्य किरणें स्वयं प्राण और सोम वा मरुद् रश्मियों का संघात रूप ही होती हैं, परन्तु अन्तरिक्षस्थ कुछ प्राण व मरुद् रश्मियों का उन किरणों में निरन्तर आवागमन होता रहता है। यह आवागमन ही प्रकाशाणुओं के स्वरूप को लगभग संरक्षित बनाए रखता है।

'सविता' पद के पश्चात् 'त्वष्टा' पद की व्याख्या के लिए खण्ड ८.१३ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

चतुस्त्रिंशः खण्डः

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।

इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्। [ऋ.३.५५.१९]
देवस्त्वष्टा सविता सर्वरूपः पोषति प्रजा रसानुप्रदानेन।
बहुधा चेमा जनयति।
इमानि च सर्वाणि भूतान्युदकान्यस्य। महच्चास्मै देवानामसुरत्वमेकम्।
प्रजावत्त्वं वा। अनवत्त्वं वा। अपि वासुः, इति प्रज्ञानाम। अस्यत्यनर्थान्।
अस्ताश्चास्यामर्थाः। असुरत्वमादिलुप्तम्।
वातः। वातीति सतः। तस्यैषा भवति॥ ३४॥

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता त्वष्टा और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से त्वष्टा संज्ञक तीक्ष्ण पदार्थ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवः, त्वष्टाः, सविता, विश्वरूपः, पुपोष, प्रजाः, पुरुधा, जजान) 'देवस्त्वष्टा सविता सर्वरूपः पोषति प्रजा रसानुप्रदानेन बहुधा चेमा जनयति' सबको प्रकाशित करने वाला सविता देव स्वरूप सूर्यलोक सबका प्रेरक और उत्पादक है। वह सभी पदार्थों को रूप प्रदान करने वाला अथवा सभी पदार्थों में भिन्न-२ रूप में विद्यमान रहता है। ऐसा वह सूर्यलोक विभिन्न प्रकार के रस अर्थात् सूक्ष्म कणों व तरंगों का आदान-प्रदान करके सम्पूर्ण पदार्थ जगत्, जो उसके क्षेत्र में विद्यमान होता है, का पोषण करता है। पूर्व में खण्ड ७.११ में भी रसों का दान करना आदित्य का कर्म ही कहा गया है। विभिन्न प्राणियों और वनस्पतियों में जो भी क्रियाएँ होती हैं और जिनसे उन पदार्थों का पोषण होता है, वे सभी सूर्यलोक से प्राप्त तरंगों के प्रत्यक्ष वा परोक्ष सहयोग से ही हो पाती हैं। पृथ्वी आदि लोकों के अन्य जड़ पदार्थों में भी जो क्रियाएँ हो रही हैं, उनमें भी सूर्य की प्रत्यक्ष वा परोक्ष अनिवार्य भूमिका होती है। वह सूर्यलोक ही विविध प्रकार से नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करता है। पृथ्वी पर विद्यमान अनेक पदार्थ सूर्यादि तेजस्वी लोकों में ही उत्पन्न होते हैं। ये वे पदार्थ हैं, जिन्हें वर्तमान विज्ञान एलिमेन्ट (तत्त्व) कहता है।

(इमा, च, विश्वा, भुवनानि, अस्य, महत्, देवानाम्, असुरत्वम्, एकम्) 'इमानि च सर्वाणि भूतान्युदकान्यस्य महच्चास्मै देवानामसुरत्वमेकम् प्रजावत्त्वं वा अनवत्त्वं वा अपि वासुः इति

प्रज्ञानाम अस्यत्यनर्थान् अस्ताश्चास्यामर्थाः असुरत्वमादिलुप्तम्' ये सभी प्रत्यक्ष पदार्थ इस सूर्यलोक के उदक रूप हैं। इसका अर्थ यह है कि जैसे उदक अर्थात् जल पदार्थों को गीला व सिंचित करता है, वैसे ही सूर्यलोक से उत्पन्न विभिन्न सूक्ष्म पदार्थ सभी लोकों को सिंचित करते रहते हैं। ये पदार्थ सिंचित करने वाले विभिन्न प्रकार के कणों व तरंगों के रूप में ही होते हैं। सभी देव पदार्थों में महान् एक सूर्यलोक है और एकमात्र इसके लिए ही अथवा इसमें ही असुरत्व का भाव माना जाता है। यहाँ असुर शब्द का कई प्रकार से निर्वचन किया गया है। इन निर्वचनों से सूर्यलोक के अनेक गुणों का उद्घाटन होता है। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. प्रजावत्त्वम् — अर्थात् वह सूर्यलोक अनेक प्रकार की प्रजाओं वाला होता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक में अनेक प्रकार के कण और विकिरण रूपी प्रजाओं का भण्डार होता है। यहाँ चेतन जीवों की चर्चा करना आधिदैविक अर्थ में प्रासंगिक नहीं है।

२. अनवत्त्वम् — इसका अर्थ यह है कि वह सूर्यलोक अपने सौरमण्डल में प्राण रश्मियों का सबसे बड़ा भण्डार होता है और यह प्राण तत्त्व ही सबको बल व गति प्रदान करता है।

३. अपि वासुः, इति प्रज्ञानाम — यहाँ असु प्रज्ञा को कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक ही विभिन्न पदार्थों के ज्ञापक प्रकाश का सबसे बड़ा स्रोत है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि सूर्य का प्रकाश मानव मस्तिष्क के लिए विशेष हितकर है, विशेषकर उषाकाल का प्रकाश। उषाकाल की किरणों की विद्यमानता में ध्यान, प्राणायाम और यज्ञ आदि कर्म स्वास्थ्य के लिए और विशेषकर प्रज्ञा के लिए अत्यन्त लाभकारी होते हैं।

४. अस्यत्यनर्थान् — यह सूर्यलोक अनेक अनर्थकारी पदार्थों को दूर फेंकने वाला होता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक अनेक पदार्थों की विकृतियों को दूर करता है, रोगाणुओं को नष्ट करता है। इसके साथ ही अपने अन्दर विद्यमान असुरादि पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके दूर फेंक देता है।

५. अस्ताश्चास्यामर्थाः — सूर्यलोक के अन्दर अनेक प्रकार के अर्थ अर्थात् पदार्थ मानो प्रदीप्त किये गए होते हैं। जब सूर्य का निर्माण होता है, तब कॉस्मिक (हिरण्यगर्भ) मेघस्थ पदार्थ तेजी से केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई उस पदार्थ को केन्द्रीय भाग की ओर फेंक रहा हो।

६. असुरत्वमादिलुप्तम् — यहाँ असुरत्व में ग्रन्थकार आदि वर्ण वकार का लोप मानकर वसुरत्वम् को ही असुरत्वम् मानते हैं। यहाँ 'वसु' पद के अनेक अर्थ सम्भव हैं, तदनुसार सूर्यलोक विभिन्न प्रकार के कण व विकिरण आदि पदार्थों, विभिन्न प्राण रश्मियों एवं गायत्री छन्द रश्मियों का भण्डार होता है। इस कारण भी सूर्यलोक को असुर कहा गया है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (देवः) देदीप्यमानः (त्वष्टा) प्रकाशकः (सविता) प्रेरकः (विश्वरूपः) विश्वानि रूपाणि यस्मात् सः (पुपोष) पुष्यति (प्रजाः) प्रजाताः (पुरुधा) बहुधा (जजान) जनयति (इमा) इमानि (च) (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि) लोकजातानि (अस्य) परमेश्वरस्य (महत्) (देवानाम्) (असुरत्वम्) (एकम्)।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा सूर्य्यः सर्वं जगत्पालयति तथैव जगदीश्वरः सूर्य्यादिकं बहुविधं जगन्निर्माय रक्षति। इदमेव परमात्मनो महदाश्चर्य्यं कर्माऽस्तीति बोध्यम्।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जो (त्वष्टा) प्रकाश करने वाला परमेश्वर (देवः) प्रकाशमान (विश्वरूपः) जिससे सम्पूर्ण रूप हैं, ऐसे (सविता) प्रेरणा करने वाले सूर्यमण्डल के सदृश (प्रजाः) उत्पन्न हुए प्राणी अप्राणी को (पुपोष) पुष्ट करता है और (इमा) इन (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोकों को (च) भी (पुरुधा) बहुत प्रकार से (जजान) उत्पन्न करता है (अस्य) इस परमेश्वर का यही (देवानाम्) विद्वानों के बीच (महत्) बड़ा (एकम्) एक (असुरत्वम्) दोषों को दूर करने वाला गुण है, ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे सूर्य्य जगत् का पालन करता है, वैसे ही जगदीश्वर सूर्य्य आदि अनेक प्रकार संसार को बना करके रक्षा करता है। यही परमात्मा का बड़ा आश्चर्य्य कर्म है, ऐसा जानना चाहिए।''

'त्वष्टा' पद के पश्चात् 'वातः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वातः वातीति सतः' अर्थात् सतत बहने वाला पदार्थ वात कहलाता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= पञ्चत्रिंशः खण्डः =

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूँषि तारिषत्॥ [ऋ.१०.१८६.१]
वात आवातु भैषज्यानि। शम्भु मयोभु च नो हृदयाय। प्रवर्धयतु च न आयुः। अग्निः, व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ ३५॥

इसका ऋषि वातायन उल है। [वातायनः = वात से उत्पन्न। उलः = उरः = ऋच्छति प्राप्नोति येन तत् उरः (उ.को.४.१९६)] अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति वायुतत्त्व से उत्पन्न विशेष प्रकार की ऋषि रश्मियों, जिनकी ग्राह्य शक्ति विशेष होती है, से होती है। इसका देवता वायु और छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वायुतत्त्व श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वातः, आ, वातु, भेषजम्, शम्भु, मयोभु, नः, हृदे) 'वात आवातु भैषज्यानि शम्भु मयोभु च नो हृदयाय' [भेषजम् = शान्तिर्वै भेषजमापः (कौ.ब्रा.३.६)। शम्भुः = सुखभूः (निरु. ५.३)। मयः = यद्वै शिवं तन्मयः (तै.ब्रा.२.२.५.५)। हृदयम् = असौ वाऽआदित्यो हृदयम् (श.ब्रा.९.१.२.४०), हृदयं वै स्तोमभागाः (श.ब्रा.८.६.२.१५)] वायुतत्त्व की रश्मियाँ, विशेषकर विभिन्न प्राण वा गायत्र्यादि छन्द रश्मियाँ भेषजरूप सोम रश्मियों को चारों ओर से बहाते हुए निर्माणाधीन सूर्यलोक की ओर लाने लगती हैं। वे सोम रश्मियाँ सूर्यलोक की ओर अनेक प्रकार के हृद संज्ञक पदार्थों को भी अपने साथ लाती हैं। हृद संज्ञक पदार्थ के विषय में खण्ड १.९ पठनीय है। वे सोम रश्मियाँ सम्यक् रूप से सन्तुलित व नियन्त्रित रहती हुई सब ओर से प्रवाहित होने लगती हैं। उन पदार्थों के लिए वायु रश्मियाँ सन्तुलित एवं सुखकारी अवस्था उत्पन्न करती हैं। इसका अर्थ यह है कि वे सभी कण आकाश की रश्मियों में से सम्यक् मार्ग बनाते हुए सूर्यलोक की ओर प्रवाहित होने लगते हैं। इसके साथ ही इन सभी कणों या पदार्थों में पारस्परिक आकर्षण गुण भी समृद्ध होने लगता है। यह प्रक्रिया कॉस्मिक मेघ की प्रारम्भिक अवस्था में होती है, ऐसा जानना चाहिए। उस समय सूक्ष्म रश्मियाँ और कण आदि पदार्थ संघनित होना प्रारम्भ ही करते हैं।

(प्र, नः, आयूंषि, तारिषत्) 'प्रवर्धयतु च न आयुः' [आयुः = यज्ञो वा आयुः (तां.ब्रा.

६.४.४), अग्निर्वाऽआयुः (श.ब्रा.६.७.३.७)] वह वायुतत्त्व इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियों की आयु को बढ़ाकर विभिन्न पदार्थों के मध्य संगमन प्रक्रिया को समृद्ध करके धीरे-धीरे ऊष्मा में वृद्धि करने लगता है।

भावार्थ— किसी खगोलीय मेघ में जब किसी तारे का निर्माण हो रहा होता है, उस समय विभिन्न प्राण अथवा गायत्री छन्द रश्मियाँ सोम रश्मियों को और उनसे निर्मित कणों को निर्माणाधीन तारे की ओर लाने लगती हैं। उनके साथ अनेक प्रकार के कणों का प्रवाह भी उस तारे की ओर होने लगता है। विभिन्न वायु रश्मियाँ अन्तरिक्ष में बहने वाले उस पदार्थ के मार्ग को सहज बनाते हुए सम्पीडन की क्रिया को भी समृद्ध करने लगती हैं, जिससे उस सम्पूर्ण क्षेत्र की उष्णता बढ़ने लगती है।

'वातः' पद के पश्चात् 'अग्निः' पद के निर्वचन के लिए खण्ड ७.१४ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षट्त्रिंशः खण्डः =

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे।
मरुद्भिरग्न आ गहि॥ [ऋ.१.१९.१]
तं प्रति चारुमध्वरं सोमपानाय प्रहूयसे। सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति।
कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति॥ ३६॥

इस मन्त्र का ऋषि काण्व मेधातिथि है, जिसके विषय में पूर्ववत् समझें। इसका देवता अग्नि तथा मरुत् और छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न मरुत् रश्मियाँ श्वेतवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्रति, त्यम्, चारुम्, अध्वरम्, गोऽपीथाय, प्र, हूयसे) 'तं प्रति चारुमध्वरं सोमपानाय प्रहूयसे' उन विभिन्न प्रकार की यजन प्रक्रियाओं अथवा उन यजन प्रक्रियाओं के केन्द्रों की

ओर नाना प्रकार की सोम रश्मियों को अवशोषित करने के लिए अग्नितत्त्व को तीव्र बल के साथ आकृष्ट किया जाता है। इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि किन्हीं स्थानों पर सोम रश्मियों की प्रधानता हो जाती है और वे सोम रश्मियाँ अग्नि के परमाणुओं को अपनी ओर आकृष्ट करने लगती हैं।

(मरुद्भिः, अग्ने, आ, गहि) 'सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्' वे अग्नि के परमाणु मरुद् अर्थात् सोम रश्मियों के साथ मिलकर सब ओर व्याप्त होने लगते हैं। अग्नि के साथ किसी अन्य मध्यमस्थानी देव पदार्थ का इस प्रकार होना नहीं कहा गया है।

यहाँ हम ऋषि दयानन्द का भाष्य भी उद्धृत कर रहे हैं, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (प्रति) वीप्सायाम् (त्यम्) तम् (चारुम्) श्रेष्ठम् (अध्वरम्) यज्ञम् (गोपीथाय) पृथिवीन्द्रियादीनां रक्षणाय। निशीथगोपीथावगथाः। उ.को.२.९ अनेनायं निपातितः। (प्र) प्रकृष्टार्थे (हूयसे) अध्वरसिद्ध्यर्थं शब्द्यते। अत्र व्यत्ययः। (मरुद्भिः) वायुविशेषैः सह (अग्ने) भौतिकः (आ) समन्तात् (गहि) गच्छति। अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट्। बहुलं छन्दसि इति शपो लुक् च।

भावार्थः — यो भौतिकोऽग्निः प्रसिद्धविद्युद्रूपेण वायुभ्यः प्रदीप्यते सोऽयं विद्वद्भिः प्रशस्त-बुद्ध्या प्रतिक्रियासिद्धि सर्वस्य रक्षणाय तद्गुणज्ञानपुरःसरमुपदेष्टव्यः श्रोतव्यश्चेति।

पदार्थ— जो (अग्ने) भौतिक अग्नि (मरुद्भिः) विशेष पवनों के साथ (आगहि) सब प्रकार से प्राप्त होता है, वह विद्वानों की क्रियाओं से (त्यम्) उक्त (चारुम्, अध्वरम् प्रति) प्रत्येक उत्तम उत्तम यज्ञ में उनकी सिद्धि वा (गोपीथाय) अनेक प्रकार की रक्षा के लिये (प्रहूयसे) अच्छी प्रकार क्रिया में युक्त किया जाता है।

भावार्थ— जो यह भौतिक अग्नि प्रसिद्ध सूर्य्य और विद्युत्‌रूप करके पवनों के साथ प्रदीप्त होता है, वह विद्वानों को प्रशंसनीय बुद्धि से हर एक क्रिया की सिद्धि वा सबकी रक्षा के लिये गुणों के विज्ञानपूर्वक उपदेश करना वा सुनना चाहिये।"

* * * * *

= सप्तत्रिंश: खण्ड: =

अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु।
मरुद्भिरग्न आ गहि॥ [ऋ.१.१९.९]
अभिसृजामि त्वा पूर्वपीतये पूर्वपानाय सोम्यं मधु सोममयम्।
सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति॥ ३७॥

इसके ऋषि तथा देवता पूर्ववत् तथा छन्द पिपीलिकामध्यनिचृद् गायत्री है। इस कारण दैवत और छान्दस प्रभाव लगभग समान होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अभि, त्वा, पूर्वऽपीतये, सृजामि, सोम्यम्, मधु) 'अभिसृजामि त्वा पूर्वपीतये पूर्वपानाय सोम्यं मधु सोममयम्' इस छन्द रश्मि की कारणभूत सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सोम रश्मियों से युक्त विभिन्न प्राण रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। ये रश्मियाँ अग्नि के परमाणुओं द्वारा पुरातन काल से ही अवशोषित की जाती रही हैं। इसका अर्थ यह है कि इन्हें अवशोषित करना अग्नि का नैसर्गिक गुण है। यहाँ पूर्व का अर्थ पूर्ण भी है अर्थात् अग्नि के परमाणु इन रश्मियों का पूर्ण रूप से पान कर लेते हैं।

(मरुद्भिः, अग्ने, आ, गहि) 'सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति' वह अग्नि उन सोम्य मधु अर्थात् सोम व प्राण रश्मियों के साथ संगत होकर व्याप्त हो जाता है। इन दोनों ही प्रकार की रश्मियों की अनुपस्थिति में अग्नि के परमाणु न तो उत्पन्न ही हो सकते हैं और न उत्पन्न परमाणु अपने कार्यों को ही कर सकते हैं।

यहाँ हम ऋषि दयानन्द का भी भाष्य उद्धृत कर रहे हैं, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (अभि) आभिमुख्ये (त्वा) तत् (पूर्वपीतये) पूर्वं पीतिः पानं सुखभोगो यस्मिन् तस्मा आनन्दाय (सृजामि) रचयामि (सोम्यम्) सोमं प्रसवं सुखानां समूहो रसादानमर्हति तत्। अत्र सोममर्हति यः। अष्टा.४.४.१३७ अनेन यः प्रत्ययः। (मधु) मन्यन्ते प्राप्नुवन्ति सुखानि येन तत् मधुरसुखकारम् (मरुद्भिः) अनेकविधैर्निमित्तभूतैर्वायुभिः (अग्ने) अग्निर्व्यावहारिकः (आ) अभितः (गहि) साधको भवति।

भावार्थः — विद्वांसो येषां वाय्वग्न्यादिपदार्थानां सकाशात् सर्वं शिल्पक्रियामयं यज्ञं निर्मिमते तैरेव सर्वैर्मनुष्यैः सर्वाणि कार्य्याणि साधनीयानीति।

पदार्थ— जिन (मरुद्भिः) पवनों से (अग्ने) भौतिक अग्नि (आगहि) कार्य्यसाधक होता है, उनमें (पूर्वपीतये) पहिले जिसमें पीति अर्थात् सुख का भोग है, उस उत्तम आनन्द के लिये (सोम्यम्) जो कि सुखों के उत्पन्न करने योग्य है, (त्वा) उस (मधु) मधुर आनन्द देने वाले पदार्थों के रस को मैं (अभिसृजामि) सब प्रकार से उत्पन्न करता हूँ।

भावार्थ— विद्वान् लोग जिन वायु अग्नि आदि पदार्थों के अनुयोग से सब शिल्पक्रिया रूपी यज्ञ को सिद्ध करते हैं, उन्हीं पदार्थों से सब मनुष्यों को सब कार्य्य सिद्ध करने चाहियें।''

* * * * *

अष्टात्रिंशः खण्डः

वेनः वेनतेः कान्तिकर्मणः। तस्यैषा भवति॥ ३८॥

यह पद कान्तिकर्मा 'वेन' धातु से व्युत्पन्न होता है। प्रसंगानुसार इस पद के अनेक अर्थ होते हैं। इसके लिए ऋषियों ने कहा है—'इन्द्र उ वै वेनः' (कौ.ब्रा.८.५), 'असावादित्यो वेनो यद्वै प्रजिजनिषमाणोऽवेनत्तस्माद् वेनः' (श.ब्रा.७.४.१.१४), 'यज्ञनाम' (निघं.३.१७), 'आत्मा वै वेनः' (कौ.ब्रा.८.५), 'वेनः मेधाविनाम' (निघं.३.१५)।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

एकोनचत्वारिंशः खण्डः

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति॥

[ऋ.१०.१२३.१]

अयं वेनश्चोदयत्। पृश्निगर्भाः। प्राष्टवर्णगर्भाः आप इति वा।
ज्योतिर्जरायुः। ज्योतिरस्य जरायुस्थानीयं भवति।
जरायु जरया गर्भस्य। जरया यूयत इति वा।
इममपां च सङ्गमने सूर्यस्य च। शिशुमिव विप्रा मतिभी रिहन्ति। लिहन्ति।
स्तुवन्ति। वर्धयन्ति। पूजयन्तीति वा। शिशुः शंसनीयो भवति।
शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणः। चिरलब्धो गर्भो भवति।
असुनीतिः। असून्नयति। तस्यैषा भवति॥ ३९ ॥

इस मन्त्र का ऋषि भार्गव वेन है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूर्यलोक के अन्दर विद्यमान तप्त भृगु रश्मियों के अन्दर विद्यमान सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता वेन तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अयम्, वेनः, चोदयत्, पृश्निऽगर्भाः, ज्योतिः ऽजरायुः, रजसः, विऽमाने) 'अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भाः प्राष्टवर्णगर्भाः आप इति वा ज्योतिर्जरायुः ज्योतिरस्य जरायुस्थानीयं भवति जरायु जरया गर्भस्य जरया यूयत इति वा' [अष्ट = अश्नुते व्याप्नोतीति अष्टन् (उ.को.१.१५७)] यह इन्द्र रूपी वेन सभी पदार्थों को प्रेरित करता है। इस प्रसंग में यह इन्द्रतत्त्व उन आपः परमाणुओं को प्रेरित करता है, जिनके अन्दर अनेक वर्णों से युक्त गर्भ विद्यमान होते हैं। यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि सूर्यलोक में विद्यमान वे आपः परमाणु आठ प्रकार के रंगों से युक्त होते हैं। इन आठ रंगों में सूर्य के सात रंगों के साथ आठवाँ कृष्ण वर्ण माना जा सकता है। यद्यपि सूर्य के सात रंग भिन्न-२ अनुपात में मिश्रित होकर नाना प्रकार के रंगों का निर्माण करते हैं। इन सभी रंगों से युक्त कणों को इन्द्रतत्त्व ही सक्रिय व प्रेरित करता है। यहाँ कणों को पृश्निगर्भा कहा है। इसका अर्थ यह है कि पदार्थों का रंग मूल रूप से प्रकाश की किरणों में नहीं, बल्कि पार्थिव व आपः परमाणुओं के गर्भ में निहित होता है। तदनुसार ही कोई भी कण प्रकाश को परावर्तित व अवशोषित करता है। तेजयुक्त विद्युत् ही इन्द्रतत्त्व की जरायु रूप होती है, क्योंकि वह विद्युत् कुछ तीक्ष्ण छन्द

रश्मियों को अपने आवरण से ढके रहती है और उन छन्द रश्मियों के साथ मिश्रित भी रहती है। इस कारण विद्युत् मिश्रित वायु को ही इन्द्र कहते हैं। यह इन्द्रतत्त्व सम्पूर्ण रजस् अर्थात् अन्तरिक्ष में विशेष प्रकार से प्रतिष्ठित सभी लोकों में विद्यमान रहता है और सर्वत्र ही इन सभी क्रियाओं को सम्पादित करता है।

(इमम्, अपाम्, सङ्गमे, सूर्यस्य, शिशुम्, न, विप्राः, मतिभिः, रिहन्ति) 'इममपां च सङ्गमने सूर्यस्य च शिशुमिव विप्रा मतिभी रिहन्ति लिहन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणः चिरलब्धो गर्भो भवति' सूर्यलोक के अन्दर विभिन्न आपः परमाणुओं के संगमन की प्रक्रिया में विभिन्न विप्र [विप्रः = विविधान् पदार्थान् प्रान्ति सः किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.१.६२.४), विप्रा मेधाविनः (निरु.७.१८), एते वै विप्रा यद् ऋषयः (श.ब्रा.१.४.२.७)] अर्थात् अनेक प्रकार की किरणें, सूत्रात्मा वायु एवं कुछ ऋषि रश्मियाँ सभी मिलकर विज्ञानपूर्वक इन्द्ररूपी वेन को चमकाते हैं, बढ़ाते हैं और उसका उचित उपयोग करते हैं। इसका अर्थ यह है कि इन किरणों व रश्मियों द्वारा इन्द्रतत्त्व अधिक ऊर्जायुक्त होकर व्यापक क्षेत्र में नाना प्रकार की क्रियाओं को करने लगता है। यहाँ इन्द्रतत्त्व की उपमा शिशु से की गई है। [शिशुः = अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः (श.ब्रा. १४.५.२.२)। मध्यम् = त्रिष्टुप् छन्द इन्द्रो देवता मध्यम् (श.ब्रा.१०.३.२.५)] अर्थात् यहाँ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों और उनके साथ संगत कुछ प्राण रश्मियों के संयुक्त रूप को शिशु कहा गया है। ये शिशुरूप त्रिष्टुप् रश्मियाँ अति तीक्ष्ण होती हैं और वे अनेक छन्दादि रश्मियों को उत्पन्न अथवा उनका आदान-प्रदान करने वाली भी होती हैं। ये रश्मियाँ सूर्यलोक के गर्भ अर्थात् केन्द्रीय भाग में दीर्घकाल से और दीर्घकाल तक विद्यमान रहती हैं। इन्हीं रश्मियों के समान ही इन्द्रतत्त्व भी वैसा ही होता है। वस्तुतः त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों का इन्द्रतत्त्व से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। इन छन्द रश्मियों के समृद्ध होने पर इन्द्रतत्त्व भी प्रबल होता जाता है। यह इन्द्ररूपी वेन और शिशु संज्ञक त्रिष्टुप् रश्मियों का पारस्परिक सम्बन्ध है।

भावार्थ— इस सृष्टि में सभी कणों वा विकिरणों को विद्युत् ही सदैव प्रेरित करता रहता है। उन सभी कणों का वर्ण उसके अन्दर विद्यमान रश्मियों की संख्या और स्वरूप पर निर्भर करता है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी पदार्थ का रंग सूर्य की किरणों पर ही नहीं, अपितु उन कणों की संरचना पर भी निर्भर होता है। उन कणों की संरचना ही यह

निर्धारित करती है कि कौनसी किरण परावर्तित, अवशोषित अथवा अपवर्तित की जाये। तीक्ष्ण विद्युत् का त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से विशेष सम्बन्ध होता है। अन्य कुछ रश्मियाँ भी विद्युत् बलों की तीव्रता को बढ़ाने वाली होती हैं।

'वेन:' पद के पश्चात् 'असुनीति:' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'असुनीति: असून्नयति' अर्थात् जो पदार्थ असु अर्थात् प्राणों को वहन करता है, वह असुनीति कहलाता है और यह स्पष्ट है कि अन्तरिक्षस्थ वायु ही प्राणों का वहन करता है। इसलिए वायुतत्त्व को ही असुनीति कहना चाहिए। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

चत्वारिंश: खण्ड:

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः।
रारन्धि नः सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ [ऋ.१०.५९.५]
असुनीते मनोऽस्मासु धारय। चिरं जीवनाय प्रवर्धय च न आयुः।
रन्धय च नः सूर्यस्य सन्दर्शनाय। रध्यतिर्वशगमनेऽपि दृश्यते।
मा रधाम द्विषते सोम राजन्॥ [ऋ.१०.१२८.५] इत्यपि निगमो भवति।
घृतेन त्वमात्मानं तन्वं वर्धयस्व। ऋतः, व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ ४०॥

इसका ऋषि 'गौपायना: बन्धवादय:' है। [गोपा: = इन्द्रो वै गोपा: (ऐ.ब्रा.६.१०, गो.उ.२.२०), अग्निर्वै देवानां गोपा (ऐ.ब्रा.१.२८)] अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अग्नि एवं इन्द्रतत्त्व में विद्यमान अथवा उनसे उत्पन्न उन रश्मियों, जो बन्धन बलों से युक्त होती हैं, से होती है। इसका देवता असुनीति और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से वायुतत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(असुनीते, मन:, अस्मासु, धारय, जीवातवे, सु, प्र, तिर, न:, आयु:) 'असुनीते मनोऽस्मासु धारय चिरं जीवनाय प्रवर्धय च न आयु:' [आयु: = यज्ञो वा आयु: (तां.ब्रा.६.४.४)]

अग्नि और इन्द्रतत्त्व के अन्दर वायु रश्मियाँ मनस्तत्त्व को धारण कराती हैं। वस्तुतः मनस्तत्त्व में विद्यमान प्राण और छन्द रश्मियाँ व्यापक वायु द्वारा ही इन्द्र और अग्नितत्त्व को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इन्द्र और अग्नितत्त्व का अस्तित्व व पोषण वायु रश्मियों द्वारा ही होता है और यह प्रक्रिया सतत बनी भी रहती है। [प्रतिर = प्र+तॄ, यहाँ 'तॄ' धातु वृद्धि अर्थ में प्रयुक्त है।] यह वायुतत्त्व ही विभिन्न संयोज्य पदार्थों के मध्य यजन प्रक्रिया को निरन्तर जीवित भी रखता है और उसे अच्छी प्रकार बढ़ाता भी रहता है। वर्तमान विज्ञान द्वारा परिकल्पित मध्यस्थ कण (मीडियेटर पार्टिकल) वायुतत्त्व में और वायुतत्त्व के द्वारा ही उत्पन्न होते रहते हैं और उसी में विलीन भी होते रहते हैं।

(रारन्धि, नः, सूर्यस्य, सन्दृशि, घृतेन, त्वम्, तन्वम्, वर्धयस्व) 'रन्धय च नः सूर्यस्य सन्दर्शनाय रध्यतिर्वशगमनेऽपि दृश्यते घृतेन त्वमात्मानं तन्वं वर्धयस्व।' [रारन्धि = यह पद 'रद हिंसासंराध्योः' धातु से व्युत्पन्न होता है।] वायुतत्त्व ही सूर्यादि लोकों को दर्शनीय बनाने के लिए नाना पदार्थों को सिद्ध करता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक की उत्पत्ति और उसके द्वारा प्रकाश के उत्सर्जन की प्रक्रिया आदि कर्म वायुतत्त्व के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। यह वायुतत्त्व अन्तरिक्ष या आकाशतत्त्व रूपी घृत के द्वारा ही अपना विस्तार करता है। इसका अर्थ यह भी है कि वायुतत्त्व का आधार आकाशतत्त्व है। इस कारण आकाश के फैलने वा सिकुड़ने अथवा घनीभूत होने वा विरल होने के साथ-साथ वायुतत्त्व में भी ये क्रियाएँ अवश्य ही होती हैं।

यहाँ रध्यति धातु वशगमन अर्थ में भी बताई गई है। इसके लिए निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'मा रधाम द्विषते सोम राजन्' अर्थात् हे सोम राजन्! हम द्वेष करते हुए शत्रुओं के वश में न पड़ें। यह इस पाद का सामान्य अर्थ है और यह केवल इसलिए किया गया है कि रध्यति धातु का दूसरा अर्थ भी प्रकट हो सके। यहाँ आधिदैविक पक्ष में इसका आशय यह है कि देदीप्यमान सोम पदार्थ बाधक असुरादि रश्मियों को दूर करने में अपनी अनिवार्य भूमिका निभाता है।

'असुनीतिः' पद के पश्चात् 'ऋतः' पद के निर्वचन के विषय में खण्ड २.२५ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकचत्वारिंशः खण्डः =

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥

[ऋ.४.२३.८]

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः। ऋतस्य प्रज्ञा वर्जनीयानि हन्ति। ऋतस्य श्लोको बधिरस्यापि कर्णावातृणत्ति। बधिरो बद्धश्रोत्रः। कर्णौ बोधयन् दीप्यमानश्चायोरयनस्य। मनुष्यस्य। ज्योतिषो वा। उदकस्य वा। इन्दुः। इन्धेरुनत्तेर्वा। तस्यैषा भवति॥ ४१ ॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है, जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। इसका देवता ऋतदेवा इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इन्द्रतत्त्व एवं पदार्थ की नदी रूप धाराएँ तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ऋतस्य, हि, शुरुधः, सन्ति, पूर्वीः, ऋतस्य, धीतिः, वृजिनानि, हन्ति) 'ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः ऋतस्य प्रज्ञा वर्जनीयानि हन्ति' [शुरुधः = शुरूपपदे वा दधातेः क्विप् (निरु.६.१६), शुरुधः आपो भवन्ति शुचं संरुन्धन्ति (निरु.६.१६)] जलीय या आपः परमाणुओं की धाराएँ इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति से पूर्व ही निश्चित रूप से दीप्तियुक्त हो चुकी होती हैं अथवा आपः की वे धाराएँ पूर्ण रूप से दीप्तियुक्त होने लगती हैं। [पूर्वम् = पुरस्सरं पूर्णम् (म.द.य.भा.४०.४)] उन धाराओं के परमाणु नाना प्रकार के वारक बलों को प्राप्त करने लगते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब पदार्थ का तापमान बढ़ने लगता है, उस समय वे विभिन्न बाधक पदार्थों को नष्ट करके यजन प्रक्रियाओं को समृद्ध करते हैं।

(ऋतस्य, श्लोकः, बधिरा, ततर्द, कर्णा, बुधानः, शुचमानः, आयोः) 'ऋतस्य श्लोको बधिरस्यापि कर्णावातृणत्ति बधिरो बद्धश्रोत्रः कर्णौ बोधयन् दीप्यमानश्चायोरयनस्य मनुष्यस्य ज्योतिषो वा उदकस्य वा' उन धाराओं से उत्पन्न [श्लोकः = वाङ्नाम (निघं.१.११)] गम्भीर घोष बहरे व्यक्ति के कानों को भी खोल देने वाले होते हैं अर्थात् अत्यन्त तीव्र होते हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि इन धाराओं से उत्पन्न छन्द रश्मियाँ बँधे हुए आकाश रूपी श्रोत्र खोल देती हैं। इसका अर्थ यह है कि पदार्थ की ये धाराएँ किसी क्षेत्र विशेष में

संघनित पदार्थ की बाहरी सीमा का भेदन करती हुई उसमें प्रविष्ट होने में समर्थ होती हैं। वे धाराएँ उस क्षेत्र में नाना प्रकार की क्रियाओं को जगाती हुई अथवा उत्पन्न वा समृद्ध करती हुई पदार्थ को अधिक प्रकाशमान बनाने लगती हैं। यहाँ तीन प्रकार के पदार्थों की चर्चा की गई है—

१. मनुष्य
२. ज्योति
३. उदक

इस प्रकार उस क्षेत्र में मनुष्य नामक विभिन्न प्रकार के कणों अथवा सभी कणों की आवरण रूप सूत्रात्मा वायु एवं बृहती छन्द रश्मियों का मिश्रण रूप पदार्थ सक्रिय हो उठता है। विद्युत् बलों की वृद्धि होने लगती है। इसके साथ ही सम्पूर्ण क्षेत्र को सिंचित करने वाली छन्द एवं मास आदि रश्मियाँ सक्रिय होने लगती हैं। इस सबके कारण संघनन व संयोजन की प्रक्रिया तीव्र होने लगती है। निरुक्त ३.७ मनुष्य नामक कण के विषय में पठनीय है।

भावार्थ— खगोलीय मेघों के अन्दर बहने वाली पदार्थ की धाराएँ विभिन्न छन्दादि रश्मियों के प्रभाव से तीव्र से तीव्रतर सन्तप्त और प्रकाशित होने लगती हैं। इसके साथ ही उनकी यजन प्रक्रिया भी बढ़ती जाती है। ये बहती हुई धाराएँ तीव्र वेगवती होने के कारण भयंकर गर्जना करते हुए एक-दूसरे के साथ मिलने लगती हैं।

'ऋत:' पद के पश्चात् 'इन्दु:' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'इन्दुः इन्धेरुनत्तेर्वा' अर्थात् जो पदार्थ चमकता हुआ किन्हीं पदार्थों पर अपनी वृष्टि करता हुआ उन्हें सींचता व प्रदीप्त करता है, उसे इन्दु कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* ❋ ❋ ❋ *

द्विचत्वारिंशः खण्डः

प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति। स्वयं सो अस्मदा निदो वधैरजेत दुर्मतिम्।
अव स्रवेदघशंसोऽवतरमव क्षुद्रमिव स्रवेत्॥ [ऋ.१.१२९.६]
प्रब्रवीमि तद्भव्यायेन्दवे। हवनार्ह इव य इषवानन्नवान् कामवान्वा।
मननानि च नो रेजयति। रक्षोहा च बलेन रेजयति।
स्वयं सोऽस्मदभिनिन्दितारम्। वधैरजेत दुर्मतिम्। अवस्रवेदघशंसः।
ततश्चावतरं क्षुद्रमिवावस्रवेत्। अभ्यासे भूयाँसमर्थं मन्यन्ते।
यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति। तत्परुच्छेपस्य शीलम्। परुच्छेप ऋषिः।
पर्ववच्छेपः। परुषि परुषि शेपोऽस्येति वा।
इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि। सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि।
तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि वेनोऽसुनीतिर्ऋत इन्दुः।
प्रजापतिः। प्रजानां पाता वा पालयिता वा। तस्यैषा भवति॥ ४२॥

इस मन्त्र का ऋषि परुच्छेप है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति ऐसी रश्मियों, जो तीक्ष्ण उत्पादक बलों से युक्त होती हैं और किन्हीं अन्य रश्मियों को अपना तेज प्रदान करके शिथिल हो जाती हैं, से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द भुरिगष्टि होने से इन्द्रतत्त्व अपने बाहु रूप बलों के साथ अति व्यापक और शक्तिशाली होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्र, तत्, वोचेयम्, भव्याय, इन्दवे) 'प्रब्रवीमि तद्भव्यायेन्दवे' वे ऋषिरूप परुच्छेप रश्मियाँ [भव्यम् = परिमितं वै भूतम् अपरिमितं भव्यम् (ऐ.ब्रा.४.६)] अपरिमित क्षेत्र में विद्यमान सोम रश्मियों को प्रकाशित वा सक्रिय करने के लिए नाना प्रकार की छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। ये छन्द रश्मियाँ दीर्घकाल तक उत्पन्न होते रहकर आगामी उत्पन्न होने वाली सोम रश्मियों को भी प्रकाशित व सक्रिय करती हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि परुच्छेप ऋषि रश्मियों से उत्पन्न छन्द रश्मियाँ न केवल अति व्यापक क्षेत्र में उत्पन्न होती

हैं, अपितु दीर्घकाल तक प्रभावी भी रहती हैं।

(हव्यः, न, यः, इषवान्, मन्म, रेजति) 'हवनार्ह इव य इषवानन्नवान् कामवान्वा मननानि च नो रेजयति' जो परुच्छेप रश्मियाँ हव्य पदार्थों की भाँति अनेक प्रकार की वाक् रश्मियों, विभिन्न संयोज्य कण आदि पदार्थों एवं नाना प्रकार की दीप्तियों वा आकर्षण बलों से युक्त होकर सम्पूर्ण मनस्तत्त्व को कम्पित करती हैं। इसके साथ ही यहाँ 'मन्म' पद से यह संकेत भी मिलता है कि यह प्रक्रिया एक गम्भीर विज्ञानपूर्वक होती है। यद्यपि सृष्टि की सभी क्रियाएँ ईश्वरीय विज्ञानपूर्वक ही होती हैं, पुनरपि यहाँ 'मन्म' पद, जिसका अर्थ ग्रन्थकार ने 'मननानि' किया है, का प्रयोग यह दर्शाता है कि ये क्रियाएँ अधिक जटिल और विज्ञानयुक्त होती हैं। परुच्छेप छन्द रश्मियाँ स्वयं विशिष्ट एवं जटिल रश्मियाँ होती हैं। इनके विषय में हम इसी मन्त्र की व्याख्या में आगे चर्चा करेंगे। ये रश्मियाँ अनेक प्रकार से मनस्तत्त्व से विशेष सम्पन्न प्राण रश्मियों को विशेष रूप से उत्तेजित करती हैं। इससे पदार्थ के अन्दर प्रकाश की मात्रा विशेष रूप से बढ़ने लगती है।

(रक्षः, हा, मन्म, रेजति) 'रक्षोहा च बलेन रेजयति' वे परुच्छेप छन्द रश्मियाँ राक्षस संज्ञक हिंसक पदार्थों को नष्ट करने वाली होती हैं। ये रश्मियाँ अपने बल से उन हिंसक पदार्थों को कँपाती हुई नष्ट करती हैं। इन रश्मियों का प्रभाव मनस्तत्त्व तक होने के कारण ये हिंसक पदार्थों को नष्ट करने में अधिक सक्षम होती हैं। यद्यपि प्रत्येक क्रिया का प्रभाव मनस्तत्त्व तक अवश्य ही होता है, पुनरपि इन छन्द रश्मियों की विशेष और विविध प्रकार की शक्ति के कारण इनका प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक होता है। यह सर्वविदित है कि मनस्तत्त्व सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है। इस कारण मनस्तत्त्व को जो क्रियाएँ जितना अधिक प्रभावित करती हैं, वे उतनी ही अधिक शक्तिसम्पन्न होती हैं।

(स्वयम्, सः, अस्मत्, निदः, वधैः, अजेत, दुः, मतिम्) 'स्वयं सोऽस्मदभिनिन्दितारम् वधैरजेत दुर्मतिम्' इन्द्रतत्त्व स्वयं परुच्छेप छन्द रश्मियों के द्वारा यजन क्रियाओं को विकृत करने वाले [मतिः = वाग्वै मतिर्वाचा हीदं सर्वं मनुते (श.ब्रा.८.१.२.७)] असुरादि पदार्थों, जो असुरादि छन्द रश्मियों से निर्मित होते हैं, को अपने प्रहारों से जीतता है अर्थात् उन्हें नियन्त्रित करता है। यह प्रहार परुच्छेप छन्द रश्मियों द्वारा ही होता है। इन्द्रतत्त्व का परुच्छेप रश्मियों से निकट सम्बन्ध होता है, इसी कारण कहा गया है— 'इन्द्र उ वै परुच्छेपः' (कौ.ब्रा.२३.४)। यहाँ 'स्वयम्' पद का प्रयोग यह दर्शाता है कि इस प्रक्रिया में

असुरादि पदार्थों के ऊपर इन्द्रतत्त्व का साक्षात् प्रहार होता है, जबकि अन्यत्र इन्द्रतत्त्व अनेक प्रकार की रश्मियों की शृंखला के द्वारा बाधक पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करता है। यहाँ इन्द्रतत्त्व स्वयं बाधक पदार्थों के मध्य परुच्छेप छन्द रश्मियों का ही प्रहारक माध्यम होता है।

(अवः, स्रवेत्, अघशंसः, अवतरम्, अव, क्षुद्रम्, इव, स्रवेत्) 'अवस्रवेदघशंसः ततश्चावतरं क्षुद्रमिवावस्रवेत्' [अघशंसः = स्तेननाम (निघं.३.२४)] इस प्रक्रिया में ऐसे पदार्थ, जो यजनशील पदार्थों को उठाकर ले जाते हैं अर्थात् यजन प्रक्रिया में बाधा डालते हैं, इन्द्रतत्त्व उनको मार्गों से हटाकर सूक्ष्म खण्ड-२ करके आकाशतत्त्व में प्रवाहित कर देता है अर्थात् असुरादि हिंसक वा बाधक पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके आकाश में मिला देता है। इस प्रकार असुरादि पदार्थों के विशाल समूह छिन्न-भिन्न होकर आकाश में मिल जाते हैं।

ग्रन्थकार ने इस मन्त्र में 'मन्म रेजति' का दो बार प्रयोग किया है। इस पर ग्रन्थकार का कथन है— 'अभ्यासे भूयाँसमर्थं मन्यन्ते यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति' अर्थात् किसी भी वाक्य अथवा पद को दो बार कहने से तात्पर्य यह है कि इस पद वा वाक्य का प्रभाव अधिक होता है। उदाहरण के लिए लोक में जब कोई कहे 'अहो! यह कितना दर्शनीय है' और इस वाक्य को दो बार कहे, तो इसका अर्थ यह है कि वह पदार्थ अधिक दर्शनीय है। इस प्रकार का स्वभाव परुच्छेप ऋषि रश्मियों का भी होता है। इस कारण ग्रन्थकार लिखते हैं— 'तत्परुच्छेपस्य शीलम् परुच्छेप ऋषिः पर्ववच्छेपः परुषि परुषि शेपोऽस्येति वा'। इसका अर्थ यह है कि परुच्छेप ऋषि रश्मियों का प्रभाव बार-बार आवृत होता रहता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी पत्थर पर हथौड़े का बार-२ प्रहार करके उसे तोड़ता है, उसी प्रकार परुच्छेप रश्मियाँ बार-२ तीक्ष्ण प्रहार करके बाधक वा हिंसक पदार्थों को छिन्न-भिन्न करती हैं। इन छन्द रश्मियों में प्रत्येक पर्व पर शेप विद्यमान होता है। इसका अर्थ यह है कि इन छन्द रश्मियों के प्रत्येक पाद एवं पद से कुछ ऐसी रश्मियाँ प्रवाहित होती हैं, जो अपने तेज से किन्हीं अन्य रश्मियों को ऊर्जा प्रदान करके स्वयं शान्त होती रहती हैं। इस कारण इन छन्द रश्मियों का प्रहारक प्रभाव अत्यन्त तीक्ष्ण होता है।

भावार्थ— इस सृष्टि में कुछ छन्द रश्मियाँ ऐसी भी होती हैं, जिनके सन्धिभागों से अन्य अनेक बलवती छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। इसके कारण ये छन्द रश्मियाँ अति प्रबल हो जाती हैं। ये प्रबल छन्द रश्मियाँ दूर-दूर तक सोम रश्मियों को प्रकाशित व

सक्रिय करने में समर्थ होती हैं। इनके कारण सम्पूर्ण मनस्तत्त्व में तीव्र कम्पन होने लगते हैं। यद्यपि ये छन्द रश्मियाँ अति जटिल एवं विशिष्ट होती हैं, पुनरपि उनकी सभी क्रियाएँ विज्ञानपूर्वक ही होती हैं। ये हिंसक रश्मियों को तत्क्षण नष्ट करने वाली होती हैं। इनके कारण तीव्र विद्युत् असुर पदार्थ के अत्यन्त विशाल समूहों को भी छिन्न-भिन्न कर आकाश में मिला देती है। ये रश्मियाँ अपना प्रहार करके शान्त वा शिथिल हो जाती हैं।

तदनन्तर ग्रन्थकार लिखते हैं— 'इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि वेनोऽसुनीतिर्ऋत इन्दुः' अर्थात् वायु से लेकर इन्दु देवता तक कुल २७ देवतावाची पदों की क्रमानुसार व्याख्या की गई है। ये देवता सूक्तभागी और हविर्भागी दोनों ही प्रकार के हैं। इसका अर्थ यह है कि इन देवताओं के नाम से वेद संहिताओं में विभिन्न सूक्त उपलब्ध हैं और इनका विभिन्न यज्ञों में विनियोग भी होता है, परन्तु इन २७ देवताओं में से चार देवता— वेनः, असुनीतिः, ऋतः एवं इन्दुः ऐसे हैं, जो सूक्तभागी हैं, परन्तु हविर्भागी नहीं हैं। इसका अर्थ यह है कि इन देवताओं के नाम से सूक्त तो उपलब्ध होते हैं, परन्तु इनके मन्त्रों से आहुतियाँ नहीं दी जातीं।

'इन्दुः' पद के पश्चात् अगले पद 'प्रजापतिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'प्रजापतिः प्रजानां पाता वा पालयिता वा' अर्थात् जो पदार्थ अपने से उत्पन्न पदार्थों का रक्षक और पालक होता है, उसे प्रजापति कहते हैं। प्रसंग के अनुसार प्रजापति शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। इस पद की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

त्रिचत्वारिंशः खण्डः

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

[ऋ.१०.१२१.१०]

प्रजापते न हि त्वदेतान्यन्यः सर्वाणि जातानि तानि परिबभूव।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु। वयं स्याम पतयो रयीणाम्। इत्याशीः। अहिः, व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ ४३॥

इस मन्त्र का ऋषि प्राजापत्य हिरण्यगर्भ है। इसका देवता कः और छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इन सबका आशय खण्ड १०.२३ में उद्धृत मन्त्र के समान समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्रजापते, न, त्वत्, एतानि, अन्यः, विश्वा, जातानि, परि, ता, बभूव) 'प्रजापते न हि त्वदेतान्यन्यः सर्वाणि जातानि तानि परिबभूव' सभी उत्पन्न पदार्थों का पालक एवं रक्षक प्राण तत्त्व सभी उत्पन्न पदार्थों, जो भूत, वर्तमान व भविष्य में उत्पन्न होते हैं, उन सबके ऊपर प्रतिष्ठित रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा पदार्थ नहीं है। ध्यातव्य है कि यह कथन सापेक्ष है। जहाँ प्राण का अर्थ ईश्वर होता है, वहीं यह अर्थ निरपेक्ष हुआ करता है। यह भी स्मरणीय है कि वाक् तत्त्व एवं प्राण तत्त्व दोनों मूल रूप से एक ही हैं। इस कारण जड़ पदार्थों में परा 'ओम्' ही मूल प्राण तत्त्व का कार्य करता है और इसे ही काल तत्त्व भी कहा जाता है। यह पदार्थ सभी उत्पन्न पदार्थों का पालक और रक्षक होने से प्रजापति कहलाता है। यह पदार्थ सभी उत्पन्न पदार्थों के भीतर और बाहर सर्वत्र विद्यमान रहता है।

(यत्, कामाः, ते, जुहुमः, तत्, नः, अस्तु, वयम्, स्याम, पतयः, रयीणाम्) 'यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् इत्याशीः' इस सृष्टि में जितने प्रकार के बल और प्रकाश आदि गुण विद्यमान होते हैं और उनके द्वारा अथवा उनको उत्पन्न करने के लिए जो-जो भी यजन क्रियाएँ होती हैं, वे सब प्रजापति हिरण्यगर्भ अर्थात् विशाल कॉस्मिक मेघ के अन्दर विद्यमान होती हैं। उन सभी क्रियाओं में इस छन्द रश्मि की भी भूमिका होती है। वह हिरण्यगर्भ [रयिः = वीर्यं वै रयिः (श.ब्रा.१३.४.२.१३), धननाम (निघं.२.१०), पशवो वै रयिः (तै.ब्रा.१.४.४.९)] अनेक प्रकार की प्राण एवं छन्द रश्मियों, सूक्ष्म कणों और सभी प्रकार के बलों का भण्डार होता है। जब तक ऐसा नहीं होता है, तब तक वह कॉस्मिक मेघ का रूप ही धारण नहीं कर सकता और यदि कर भी लेता है, तो वह सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति में सक्षम नहीं होता।

हमने यहाँ आधिदैविक भाष्य किया है, जबकि ग्रन्थकार का भाष्य अध्यात्मपरक

है। इस कारण उन्होंने इस मन्त्र को प्रार्थना-परक कहा है। हमने ग्रन्थकार के भाष्य का ही ग्रहण करके आधिदैविक भाष्य किया है। स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**सं. अन्वयार्थः** — (प्रजापते) हे प्रजायमानानां पालयितः स्वामिन्! (त्वत्-अन्यः) त्वत्तो भिन्नः (ता-एतानि विश्वा जातानि न परि बभूव) सर्वाणि खलूत्पन्नानि तानि पूर्वाणि तथेमानि सम्प्रत्युत्पन्नानि वस्तूनि न परि भवति-नाधिकरोति (यत्कामाः-ते जुहुमः) यः कामो येषां ते तुभ्यं स्वात्मभावं समर्पयेम (तत्-नः-अस्तु) तदभीष्टमस्मभ्यं भवतु (वयं रयीणां पतयः स्याम) वयं सर्वविधधनानां स्वामिनो भवेम।

भा. अन्वयार्थ — (प्रजापते) हे उत्पन्न मात्र के पालक स्वामी! (त्वत्-अन्यः) तुझसे भिन्न (विश्वा जातानि) सब उत्पन्न हुईं (ता-एता) उन पूर्व की इन वर्तमान की वस्तुओं को (न परि बभूव) न परिभव करता है-अधिकृत करता है (यत्कामः) जिस कामना को रखते हुए हम (ते जुहुमः) तेरे लिये अपने भाव को समर्पित करते हैं (तत्-नः अस्तु) वह हमारे लिये होवे (वयम्) हम (रयीणाम्) विविध धनों के (पतयः स्याम) स्वामी होवें।

भावार्थ— जो वस्तुएँ पूर्व उत्पन्न हुई या वर्तमान में होती हैं, उन सबका परमात्मा अधिष्ठाता है, अन्य नहीं। जिस-जिस कामना को लेकर मनुष्य भावना प्रस्तुत करते हैं, वह पूरी होती है, मनुष्य आवश्यक धनों के स्वामी बन जाते हैं।"

यह मन्त्र यजुर्वेद २३.६५ में भी आया है और ऋषि दयानन्द ने भी इसका आध्यात्मिक भाष्य किया है।

'प्रजापतिः' के पश्चात् 'अहिः' पद की व्याख्या पूर्वखण्ड २.१७ में पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

चतुश्चत्वारिंशः खण्डः

अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन्॥ [ऋ.७.३४.१६]

अप्सुजमुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजस्सूदकेषु षीदन्। बुध्नमन्तरिक्षम्। बद्धा अस्मिन्धृता आप इति वा। इदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव। बद्धा अस्मिन्धृताः प्राणा इति।
योऽहिः स बुध्न्यः। बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्। तस्यैषा भवति॥ ४४॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है, जिसके विषय में पूर्ववत् समझें। इसका देवता अहि और छन्द भुरिगार्ची गायत्री है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अहि संज्ञक कॉस्मिक मेघ श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं और उनके अन्दर विभिन्न प्रकार के वारक बल समृद्ध होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अप्सुजम्, उक्थैः, अहिम्, गृणीषे, बुध्ने) 'अप्सुजमुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने' कॉस्मिक मेघ में विद्यमान वसिष्ठ संज्ञक अग्नितत्त्व अथवा प्राण रश्मियाँ तन्मात्राओं में विद्यमान उक्थ अर्थात् छन्द रश्मियों के द्वारा सम्पूर्ण कॉस्मिक मेघ को प्रदीप्त करने लगती हैं। ऐसा करने के लिए उस विशाल पिण्ड के अन्दर प्राण एवं छन्द रश्मियों के मध्य अन्योन्य क्रियाएँ तीव्र होने लगती हैं। यहाँ 'बुध्ने' पद केवल यही दर्शाता है कि वह कॉस्मिक मेघ आकाशतत्त्व में विद्यमान होता है।

(नदीनाम्, रजःसु, सीदन्) 'नदीनां रजस्सूदकेषु षीदन् बुध्नमन्तरिक्षम् बद्धा अस्मिन्धृता आप इति वा इदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव बद्धा अस्मिन्धृताः प्राणाः' वे कॉस्मिक मेघ आकाश में विद्यमान पदार्थ की धाराओं में प्रवाहित होते हुए आपः अर्थात् विविध आयन्स के अन्दर उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह है कि कॉस्मिक मेघों के निर्माण से पूर्व अन्तरिक्ष में विभिन्न रश्मियों व कणों की विशाल धाराएँ बहने लगती हैं और उन धाराओं में जो पदार्थ विद्यमान होता है, वही संघनित होकर कॉस्मिक मेघ का रूप धारण करता है।

यहाँ अन्तरिक्ष को बुध्न कहा है, क्योंकि इसी आकाशतत्त्व के द्वारा विभिन्न प्राणादि रश्मियाँ एवं सूक्ष्म कण धारण किए जाते हैं और इसी आकाशतत्त्व के द्वारा वे कण बँधे भी रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब कोई कण विभिन्न रश्मियों के संघनन से निर्मित होता है, उस समय उन रश्मियों को आकाशतत्त्व ही चारों ओर से आच्छादित करके बाँधे रखता है और इस बन्धन के फलस्वरूप ही उस कण का निर्माण होता है। बन्धन गुण के कारण ही शरीर को भी बुध्न कहते हैं, क्योंकि इस शरीर में भी प्राण बँधे रहते हैं। उधर हमारी

दृष्टि में आकाशतत्त्व को बुध्न इस कारण भी कहते हैं, क्योंकि इसमें विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियाँ धारण की हुई होती हैं, जो परस्पर बँधी हुई भी होती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (अब्जाम्) अप्सु जातम् (उक्थैः) ये तद्गुणप्रशंसकैर्वचोभिः (अहिम्) मेघमिव (गृणीषे) (बुध्ने) अन्तरिक्षे (नदीनाम्) सरिताम् (रजःसु) लोकेष्वैश्वर्येषु वा (सीदन्) तिष्ठन्।

भावार्थः — अत्र वाचकलु.। हे राजपुरुषा यथा सूर्यो वर्षाभिर्नदीः पूरयति तथा धनधान्यैः प्रजा यूयं पूरयत।

पदार्थ— हे राजा जैसे सूर्य (बुध्ने) अन्तरिक्ष में वर्त्तमान (नदीनाम्) नदियों के सम्बन्धी (रजःसु) लोकों में (सीदन्) स्थिर होता हुआ (अब्जाम्) जलों में उत्पन्न हुए (अहिम्) मेघ को उत्पन्न करता है, वैसे (उक्थैः) उसके गुणों के प्रशंसक वचनों से राज्य में जो ऐश्वर्य उनमें स्थिर होते हुए आप नदियों के प्रवाह के समान जिससे विद्या को (गृणीषे) कहते हो, इससे सत्कार करने योग्य हो।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। हे राजपुरुषो! जैसे सूर्य वर्षा से नदियों को पूर्ण करता है, वैसे धन-धान्यों से तुम प्रजाओं को पूर्ण करो।''

'अहिः' पद के पश्चात् 'अहिर्बुध्न्यः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'योऽहिः स बुध्न्यः बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्' अर्थात् जो अहि है, वही बुध्न्य कहलाता है, क्योंकि वह बुध्न अर्थात् अन्तरिक्ष में निवास करता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

पञ्चचत्वारिंशः खण्डः

मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्त्रिधदृतायोः॥

[ऋ.७.३४.१७]

मा च नोऽहिर्बुध्न्यो रेषणाय धात्। मा अस्य यज्ञोखा च स्रिधद् यज्ञकामस्य। सुपर्णः, व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ ४५॥

इस मन्त्र का ऋषि पूर्ववत् है। इसका देवता अहिर्बुध्न्य और छन्द आर्ची गायत्री है। इसका दैवत और छान्दस प्रभाव पूर्ववत् है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मा, नः, अहिः, बुध्न्यः, रिषे, धात्) 'मा च नोऽहिर्बुध्न्यो रेषणाय धात्' अन्तरिक्ष में विद्यमान विशाल कॉस्मिक मेघ हमें अर्थात् अग्नितत्त्व को हिंसा के लिये धारण नहीं करता है। इसके लिए उस मेघ में प्राण रश्मियों की स्थिति हिंसक नहीं होती है। इसका अर्थ यह है कि कॉस्मिक मेघ का तापमान इतना अधिक नहीं बढ़ने पाता है कि उस मेघ में विस्फोट हो जाए। वह पिण्ड प्राण एवं छन्द रश्मियों को उस व्यवस्था में धारण किए रहता है, जिससे वह मेघरूप पदार्थ सूर्यादि लोकों का उत्पादक बन सके। इसके लिए समुचित तापमान की आवश्यकता होती है।

(मा, यज्ञः, अस्य, स्रिधत्, ऋतायोः) 'मा अस्य यज्ञोखा च स्रिधद् यज्ञकामस्य' उस समय यज्ञ की कामना करने वाले अर्थात् नाना प्रकार की यजन प्रक्रियाओं को अपने अन्दर संजोये उस मेघ के अन्दर होने वाली [उखा = योनिर्वाऽउखा (श.ब्रा.७.५.२.२), इमे वै लोकाऽउखा (श.ब्रा.६.५.२.१७)] यजन क्रियाओं के उत्पत्ति व निवास स्थान रूप निर्माणाधीन लोक [स्रिधत् = हिंसितः स्यात् (ऋषि दयानन्द भाष्य)] नष्ट नहीं होते अर्थात् उस मेघ की संघनन प्रक्रिया इस प्रकार होती है कि वह मेघ और उसके अन्दर भिन्न-२ केन्द्रों में पल रहे भिन्न-२ लोकों के गर्भ नष्ट नहीं होते, बल्कि उनके निर्माण की प्रक्रिया निरन्तर समुचित रूप से चलती रहती है।

ऋषि दयानन्द ने इसी मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (मा) निषेधे (नः) अस्मान् (अहिः) मेघः (बुध्न्यः) बुध्नेऽन्तरिक्षे भवः (रिषे) हिंसनाय (धात्) दध्यात् (मा) निषेधे (यज्ञः) राजपालनीयो व्यवहारः (अस्य) राज्ञः (स्रिधत्) हिंसितः स्यात् (ऋतायोः) ऋतं सत्यं न्यायधर्मं कामयमानस्य।

भावार्थः — अत्र वाचकलु.। हे राजादयो मनुष्याः! यथाऽवृष्टिर्न स्यात् न्यायव्यवहारो न नश्येत्तथा तथा यूयं विधत्त।

पदार्थ— हे विद्वानो! जैसे (बुध्न्य:) अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुआ (अहि:) मेघ (न:) हम लोगों को (रिषे) हिंसा के लिये (मा) मत (धात्) धारण करे वा जैसे (अस्य) इस (ऋतायो:) सत्य न्याय धर्म की कामना करने वाले राजा का (यज्ञ:) प्रजा पालन करने योग्य व्यवहार (मा, स्रिधत्) मत नष्ट हो, वैसा अनुष्ठान करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। हे राजा आदि मनुष्यो! जैसे अवर्षण न हो, न्यायव्यवहार न नष्ट हो, वैसा तुम विधान करो।''

'अहिर्बुध्न्य:' पद के पश्चात् 'सुपर्ण:' पद के विषय में खण्ड ३.१२ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षट्चत्वारिंश: खण्ड: =

एक: सुपर्ण: स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम्॥

[ऋ.१०.११४.४]

एक: सुपर्ण:। स समुद्रमाविशति। स इमानि सर्वाणि भूतान्यभिविपश्यति।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तित:। इति।
ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। तं माता रेढि। वागेषा माध्यमिका।
स उ मातरं रेढि। पुरूरवा:। बहुधा रोरूयते। तस्यैषा भवति॥ ४६ ॥

इस मन्त्र का ऋषि वैरूप: सध्रि: तापसो धर्मो वा है। [सध्री: = समानस्थाना: (म.द.ऋ.भ.२.१३.२)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति समान स्थान में विद्यमान ऊष्मा व धारण गुण से युक्त विशेष प्रकार की ऋषि रश्मियों से होती है। इसका देवता विश्वेदेवा और छन्द जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ दूर-२ तक व्याप्त होने व फैलने लगते हैं। इसके साथ ही पदार्थ में गौर रंग भी उत्पन्न होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(एकः, सुपर्णः, सः, समुद्रम्, आ, विवेश) 'एकः सुपर्णः स समुद्रमाविशति' सुन्दर गमन क्रिया वाली आदित्य रश्मि समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में प्रवेश करती है अर्थात् सूर्यादि लोकों के केन्द्र में उत्पन्न होकर दीर्घकाल तक उस लोक में ही भ्रमण करती हुई आदित्य रश्मि सूर्य से बाहर निकलकर अन्तरिक्ष में प्रविष्ट होती है। (सः, इदम्, विश्वम्, भुवनम्, वि, चष्टे) 'स इमानि सर्वाणि भूतान्यभिविपश्यति' अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुई वह किरण इस सम्पूर्ण पदार्थ जगत् को प्रकाशित करती है अर्थात् वह किरण जिस पर गिरती है, उसे प्रकाशित करती है। इसके साथ ही यहाँ 'विचष्टे' पद यह भी संकेत करता है कि सूर्यादि लोकों की किरण अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें सभी उत्पन्न कणों के प्रति आकर्षण का भाव रखती हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो सृष्टि का कोई भी पदार्थ दिखाई ही नहीं देता। ये किरणें सभी अप्रकाशित लोकों को भी प्रकाशित करके उन्हें दर्शनीय बनाती हैं।

(तम्, पाकेन, मनसा, अपश्यम्, अन्तितः) 'तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितः इति ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' दर्शन की इस प्रक्रिया में इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करने वाली ऋषि रश्मियाँ विज्ञानयुक्त मन के द्वारा विभिन्न पदार्थों को देखती हैं अर्थात् दिखाने में समर्थ होती हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस समय द्रष्टा का मन एकाग्र होकर किसी पदार्थ को देखने का प्रयत्न करता है, उस समय ये ऋषि रश्मियाँ द्रष्टा के मन के साथ जुड़कर उस पदार्थ को दिखाने अथवा प्रकाशित कणों की अप्रकाशित कणों के साथ अन्योन्य क्रिया कराने में मनस्तत्त्व के साथ मिलकर अपनी भूमिका निभाती हैं। यहाँ मन का विशेषण पाक कहने का संकेत यह हो सकता है कि जिस समय ये अन्योन्य क्रियाएँ होती हैं, उस समय मनस्तत्त्व पूर्ण परिपक्व अर्थात् विभिन्न रश्मियों को उत्पन्न करने की स्थिति में होता है। यहाँ 'अन्तितः' पद इस बात को दर्शाता है कि ऋषि रश्मियाँ मनस्तत्त्व के निकटतम स्पन्दित होकर अन्योन्य क्रियाओं को सम्पादित करती हैं। जब कोई मन्त्रद्रष्टा ऋषि किसी छन्द रश्मि का साक्षात्कार करता है, तब किसी आख्यान के वर्णनानुसार किसी पदार्थ के प्रति प्रीति को प्राप्त होता है अर्थात् उस मन्त्रद्रष्टा ऋषि को साक्षात्कार के पश्चात् आख्यान में वर्णित सम्पूर्ण विज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

(तम्, माता, रेळिह, सः, उ, रेळिह, मातरम्) 'तं माता रेढि वागेषा माध्यमिका स उ मातरं रेढि' यहाँ 'रेढि' पद 'लिह आस्वादने' धातु से व्युत्पन्न होता है, जहाँ लत्व को रेफ हो जाता है। जब आदित्य की किरणें अन्तरिक्ष में गमन कर रही होती हैं, उस समय विभिन्न

पदार्थों का निर्माण करने वाली वायु रश्मियाँ उन किरणों को निकटता से स्पर्श करती हैं। यहाँ तक कि वे वायु रश्मियाँ ही उन किरणों को गति देने में भी सहायक होती हैं। उधर वे किरणें भी अन्तरिक्षस्थ वायु को निकटता से स्पर्श करते हुए गमन करती हैं। यहाँ आस्वादन अर्थ वाली धातु का प्रयोग यह दर्शाता है कि प्रकाशाणुओं से कुछ सूक्ष्म रश्मियों को अन्तरिक्षस्थ वायु ग्रहण करता रहता है और प्रकाशाणु भी अन्तरिक्षस्थ वायु से कुछ सूक्ष्म रश्मियों को निरन्तर ग्रहण करते रहते हैं।

भावार्थ— जब किसी तारे के केन्द्रीय भाग में उत्पन्न कोई किरण बाहर की ओर गमन करती है, उस समय वह बहुत लम्बे समय तक उस तारे के अन्दर ही यत्र-तत्र भटकती रहती है। वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार अपने सूर्य में केन्द्रीय भाग से किसी किरण को बाहरी तल पर आने में लगभग एक लाख वर्ष लगते हैं अर्थात् उस किरण को लगभग छह लाख किलोमीटर की यात्रा करने में एक लाख वर्ष व्यतीत हो जाते हैं, जबकि सूर्य के तल से पृथिवी के तल पर आने में पन्द्रह करोड़ कि.मी. की दूरी तय करने में मात्र लगभग ५०० सेकण्ड ही लगते हैं। इसका कारण यह है कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगें प्रत्येक कण के साथ आकर्षण का भाव दर्शाती हैं, उनके साथ अन्योन्य क्रियाएँ करती हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो संसार में कुछ भी दिखाई नहीं देता। जब कोई द्रष्टा मन को एकाग्र करके किसी वस्तु को देखने का प्रयत्न करता है, उस समय कुछ विशेष सूक्ष्म रश्मियाँ द्रष्टा के मन के साथ जुड़कर प्रकाश की किरण और दृश्य पदार्थ के कणों के मध्य अन्योन्य क्रिया कराने में अपनी भूमिका निभाती हैं। ये रश्मियाँ मनस्तत्त्व के कार्यारम्भ करते ही प्रकट हो जाती हैं। जब प्रकाश की किरणें अन्तरिक्ष में गमन करती हैं, तब वे अन्तरिक्षस्थ वायु से कुछ रश्मियों को ग्रहण करती हैं और कुछ रश्मियाँ वायुतत्त्व को प्रदान करती रहती हैं।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**सं. अन्वयार्थः** — (एकः सुपर्णः) पूर्वोक्तयोर्द्वयोः सुपर्णयोः-जीवात्मपरमात्मनोरेकः सुपर्णः परमात्मा (सः-समुद्रम्-आविवेश) समुद्रमिवापार संसारमाविशति प्राप्नोति (सः-इदं विश्वं भुवनं विचष्टे) स इदं सर्वप्राणिजातं विशेषेण पश्यति सर्वेषां जीवात्मनां कर्माणि जानाति (तं पाकेन मनसा-अन्तितः-अपश्यम्) तं परमात्मानं पक्तव्येन सुपक्वेन निरुद्धेन मनसाऽहं समीपं पश्यामि, (तं माता रेळ्हि सः-उ मातरं रेळ्हि) तं जीवात्मानं माता

मान्यकर्त्ता मातृ-स्नेहकर्त्ता परमात्मा स्निह्यति स खलु जीवात्मा स्नेहकर्त्तारं परमात्मानं स्निह्यति।

भा. अन्वयार्थ — (एकः सुपर्णः) इन दोनों जीवात्मा परमात्मा के बीच में एक सुपर्ण, संसार का सम्यक् पालन करने वाला परमात्मा (सः समुद्रम्) वह समुद्र के समान विशाल संसार को (आविवेश) व्याप्त हो रहा है (सः) वह (इदं विश्वं भुवनम्) इस सारे प्राणीवर्ग को (विचष्टे) विशेष रूप से देखता है-उनके कर्मों को जानता है (तम्) उस परमात्मा को (पाकेन मनसा) पकने सुसम्पन्न होने योग्य निरुद्ध मन से (अन्तितः) समीप करके (अपश्यम्) देखता हूँ-जानता हूँ (तं माता रेळ्हि) उस जीवात्मा को माता मान्यकर्त्ता माता के समान स्नेह करता है (स-उ) वह जीवात्मा (मातरं रेळ्हि) माता के समान परमात्मा को स्नेह करता है।

भावार्थ— परमात्मा विशाल संसार में व्याप्त है और प्राणीमात्र के कर्मों को जानता है, उसे सुपक्व निरुद्ध मन से जीवात्मा अपने अन्दर देखता है और ऐसे देखता है कि वे दोनों परस्पर माता पुत्र के समान स्नेह कर रहे हैं।''

'सुपर्णः' पद के पश्चात् 'पुरूरवाः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'पुरूरवाः बहुधा रोरूयते' अर्थात् जो पदार्थ बहुत अधिक तीव्र ध्वनि तरंगों को उत्पन्न करता है, उसको पुरूरवा कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

सप्तचत्वारिंशः खण्डः

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्य१ः स्वगूर्ताः।
महे यत्त्वा पुरूरवो रणायाऽवर्धयन्दस्युहत्याय देवाः॥ [ऋ.१०.९५.७]
समासत। अस्मिञ्जायमाने। ग्ना गमनादापः। देवपत्न्यो वा।
अपि चैनमवर्द्धयन्। नद्यः स्वगूर्ताः स्वयंगामिन्यः। महते च यत्वा पुरूरवः।
रणाय रमणीयाय संग्रामायावर्धयन्। दस्युहत्याय च देवाः देवाः॥ ४७॥

इस मन्त्र का ऋषि उर्वशी और देवता पुरूरवा ऐल तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इसके ऋषि और देवता के विषय में खण्ड ३.२१ में लिख चुके हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सम्, अस्मिन्, जायमाने, आसत, ग्नाः) 'समासत अस्मिञ्जायमाने ग्ना गमनादापः देवपत्न्यो वा' ऐसे कण जो अत्यन्त तीव्र ध्वनियाँ उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं, जब वे उत्पन्न होने वाले ही होते हैं, तब उन कणों की रक्षिकारूप विभिन्न छन्द रश्मियाँ उन कणों के चारों ओर स्थित हो जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि जो पदार्थ जितनी अधिक तीव्र ध्वनि उत्पन्न करते हैं, उनके चारों ओर उतनी ही अधिक छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। ग्ना पद को ग्रन्थकार ने वाक् अर्थ में पढ़ा है। इधर यहाँ ग्रन्थकार ने ग्ना का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'ग्ना गमनादापः' अर्थात् निरन्तर गमन करने से 'आपः' संज्ञक पदार्थ ग्ना कहलाते हैं, क्योंकि वाक् रश्मियाँ भी निरन्तर गमन करने वाली होती हैं और प्राण रश्मियाँ भी ऐसी ही होती हैं। इस कारण इन दोनों रश्मियों को भी ग्ना कह सकते हैं और ये दोनों ही प्रकार की रश्मियाँ विभिन्न देव पदार्थों की पालिका और रक्षिका होती हैं। ध्वनि तरंगों को उत्पन्न करने में इन दोनों ही प्रकार की रश्मियों की भूमिका होती है।

(उत, ईम्, अवर्धन्, नद्यः, स्वगूर्ताः) 'अपि चैनमवर्द्धयन् नद्यः स्वगूर्ताः स्वयंगामिन्यः' जब स्वयं गमन करने वाली सूक्ष्म कणों की विशाल धाराएँ तीव्र गति से बहती हैं, उस समय उनमें विद्यमान कण और अधिक तीव्र ध्वनियों को उत्पन्न करने लगते हैं। इसका अर्थ यह है कि कणों की गति के साथ-२ उनसे उत्पन्न होने वाली ध्वनि की तीव्रता भी बढ़ती जाती है।

(महे, यत्, त्वा, पुरूरवाः, रणाय, अवर्धयन्) 'महते च यत्वा पुरूरवः रणाय रमणीयाय संग्रामायावर्धयन्' उन पुरूरवा संज्ञक कणों को संग्राम के लिए अर्थात् असुरादि पदार्थों से संघर्ष हेतु एवं पारस्परिक संयोजन हेतु उर्वशी अर्थात् विद्युत् ही समृद्ध करती है। इसका अर्थ यह है कि विद्युत् आवेशयुक्त वे कण अन्य विद्युत् तरंगों की उपस्थिति में तीव्र गमन करने वाले होते हुए भी संगत होने लगते हैं और वे न केवल संगत होने लगते हैं, बल्कि सम्पूर्ण पदार्थ वेगपूर्वक संघनित भी होने लगते हैं। इन सम्पूर्ण क्रियाओं में विद्युत् बलों की ही भूमिका होती है।

(दस्युहत्याय, देवाः) 'दस्युहत्याय च देवाः देवाः' विद्युत् रूप उर्वशी न केवल पुरूरवा

संज्ञक तीव्र ऊर्जा सम्पन्न कणों को संगत करने में अपनी भूमिका निभाती है, अपितु बाधक एवं हिंसक असुरादि पदार्थों को नष्ट करने में भी अपनी भूमिका निभाती है और ऐसा करने के लिए देव अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियाँ ही विद्युत् को प्रेरित करती हैं।

यद्यपि इस मन्त्र में 'उर्वशी' पद नहीं है, पुनरपि इस मन्त्र का देवता उर्वशी होने के कारण हमने यहाँ उर्वशी' पद का ग्रहण किया है और विद्युत् भी प्राण रश्मियों का ही रूप है, इस कारण 'देवाः' पद से हमने प्राण रश्मियों का ग्रहण किया है। यहाँ 'देवाः' पद का ग्रन्थकार ने दो बार प्रयोग किया है। यह केवल इस बात का संकेत है कि यह पद इस अध्याय का अन्तिम पद है।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)
दशमोऽध्यायः समाप्यते।

अथ एकादशोऽध्यायः

= प्रथमः खण्डः =

श्येनो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ १॥

इस पद का निर्वचन पूर्व में खण्ड ४.२४ में पठनीय है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इसका भाष्य करते हुए कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत किया है, जो इस प्रकार हैं—

१. स यदाह श्येनोऽसीति सोमं वा एतदाहैष ह वा अग्निर्भूत्वाऽस्मिंल्लोके संश्याययति। तद्यत् संश्याययति तस्माच्छ्येनः (गो.पू.५.१२)

२. तृतीयस्यां वै दिवि सोम आसीत्। तं गायत्र्याहरत् (काठ.सं.३०.१०)

३. यद्गायत्री श्यनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्। तेन सा श्येनः (श.ब्रा.३.४.१.१२)

इन वचनों से भी श्येन उस पदार्थ का सूचक सिद्ध होता है, जो तीव्रगामी और तीक्ष्ण बलयुक्त होता है। इस पद की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= द्वितीयः खण्डः =

आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्त्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः॥ [ऋ.४.२६.७]
आदाय श्येनोऽहरत्सोमम्। सहस्त्रं सवानयुतं च सह।
सहस्त्रं सहस्त्रसाव्यमभिप्रेत्य। तत्रायुतं सोमभक्षाः।
तत्सम्बन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा। तत्र पुरन्धिरजहादमित्रान्। अदानानिति वा।
मदे सोमस्य मूरा अमूरः इति। ऐन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतः।
तस्मादिन्द्रं मन्यन्ते।
ओषधिः सोमः। सुनोतेः। यदेनमभिषुण्वन्ति। बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तम्।

आश्चर्यमिव प्राधान्येन। तस्य पावमानीषु निदर्शनायोदाहरिष्यामः ॥ २ ॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है, जिसके विषय में पूर्ववत् समझें। इसका देवता इन्द्र और छन्द स्वराट् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विस्तृत क्षेत्र में फैलता हुआ नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को करता हुआ नीलवर्ण की दीप्ति को उत्पन्न करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आदाय, श्येनः, अभरत्, सोमम्, सहस्रम्, सवान्, अयुतम्, च, साकम्) 'आदाय श्येनोऽहरत्सोमम् सहस्रं सवानयुतं च सह सहस्रं सहस्रसाव्यमभिप्रेत्य तत्रायुतं सोमभक्षाः तत्सम्बन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा' इन्द्रतत्त्व श्येन का रूप धारण करके अर्थात् अत्यन्त बल और गति से युक्त होकर निकटवर्ती सोम रश्मियों को सब ओर से ग्रहण करके अपने अन्दर धारण कर लेता है। यद्यपि इन्द्रतत्त्व (अत्यधिक तीक्ष्ण विद्युत्) तीव्र बलों को धारण करने वाला होता है, उस पर भी यहाँ उसके विशेषण के रूप में 'श्येनः' का प्रयोग यह दर्शाता है कि यहाँ इन्द्रतत्त्व अपेक्षाकृत अधिक तीव्र गति और बल से युक्त होता है। [सहस्रम् = पशवः सहस्रम् (तां.ब्रा.१६.१०.१२)] वह इन्द्रतत्त्व असंख्य प्रकार की रश्मियों और उनकी यजन क्रियाओं को भी सोमतत्त्व के साथ-साथ धारण करता है। जब इन्द्रतत्त्व रूपी तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें इस सृष्टि में वज्र प्रहार आदि कार्य करती हैं, उस समय असंख्य प्रकार की छन्द एवं मरुदादि रश्मियों की भी सक्रिय भूमिका होती है। इस भूमिका के बिना इन्द्रतत्त्व के कार्य सफल नहीं हो सकते। इस प्रक्रिया से अर्थात् विभिन्न रश्मियों के पारस्परिक संयोग से असंख्य प्रकार के बल उत्पन्न होते हैं।

(अत्र, पुरन्धिः, अजहात्, अरातीः, मदे, सोमस्य, मूराः, अमूरः) 'तत्र पुरन्धिरजहादमित्रान् अदानानिति वा मदे सोमस्य मूरा अमूरः इति ऐन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतः तस्मादिन्द्रं मन्यन्ते' विभिन्न प्रकार के पदार्थों एवं कर्मों वा बलों को धारण करने वाला इन्द्रतत्त्व पुरन्धि कहलाता है और वही श्येन भी है। ऐसा इन्द्रतत्त्व प्रतिकर्षण बलों के द्वारा यजन कर्मों में बाधा डालने वाले असुरादि पदार्थों अथवा अयाजी कण आदि पदार्थों को दूर हटा देता है। इसके कारण ऐसे पदार्थ सृष्टि प्रक्रिया में बाधा नहीं डाल पाते। [मूराः = मूढाः (निरु.६.८)] वह इन्द्रतत्त्व संयोगादि प्रक्रियाओं में आने वाली शिथिलता को भी दूर करता रहता है। वह कभी भी अपनी क्रियाओं से शिथिल अथवा भ्रान्त नहीं होता, बल्कि उसकी सभी क्रियाएँ अतितीव्रता एवं विज्ञानपूर्वक ही होती हैं। 'मदे सोमस्य मूरा अमूरः', इस पाद

से समाप्त होने वाला सूक्त इन्द्र देवताक है और यह सोम रश्मियों के पान से प्रकाशित होता है तथा इस मन्त्र में 'इन्द्र' नहीं, बल्कि 'श्येन' पद आया है। इस कारण यहाँ श्येन को ही इन्द्र माना जाता है, क्योंकि इसी के वे सभी गुण दर्शाये हैं, जो इन्द्र के लिए प्रयुक्त होते हैं।

'श्येनः' पद के पश्चात् 'ओषधिः सोमः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ओषधिः सोमः सुनोतेः यदेनमभिषुण्वन्ति बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तम् आश्चर्यमिव प्राधान्येन' अर्थात् सोम उस पदार्थ को कहते हैं, जिसे सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थों पर सिंचित किया जाता है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् इस सोमतत्त्व से ही सिंचित है। इसके साथ ही यह भी सम्भव है कि पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया के दौरान सोम रश्मियाँ संघनित पदार्थ से बाहर निकलती हों। सोम देवता का वेद में गौण रूप प्रयोग अधिक मिलता है, जबकि मुख्य रूप से इसका प्रयोग बहुत कम अर्थात् आश्चर्य के साथ मिलता है। वेद में सोम के स्थान पर 'पवमानः सोमः' देवता वाली ऋचाएँ ही बहुलता से मिलती हैं। उस सोम देवता का पावमानी ऋचाओं में प्रधान प्रयोग उदाहरण द्वारा अगले खण्ड में दर्शायेंगे।

* * * * *

तृतीयः खण्डः

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः॥ [ऋ.९.१.१] इति सा निगदव्याख्याता।
अथैषाऽपरा भवति। चन्द्रमसो वा। एतस्य वा॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता पवमान सोम तथा छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सोम पदार्थ श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है अथवा श्वेतवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(स्वादिष्ठया, मदिष्ठया, पवस्य, सोम, धारया) [स्वादु = मिथुनं वै स्वादु (ऐ.आ.१.३.

४)] सोम तत्त्व युग्म बनाने की तीव्र प्रवृत्ति और अतिशय सक्रियता के साथ धाराओं में निरन्तर बहता रहता है। यद्यपि रश्मियाँ मन्दगामिनी होती हैं, परन्तु इस ऋचा का देवता पवमान सोम होने के कारण ये रश्मियाँ बहुत अधिक सक्रिय होती हैं। ऐसा किस परिस्थिति में होता है, यह भी इस ऋचा में अगले पाद में बतलाया गया है।

(इन्द्राय, पातवे, सुतः) सोमतत्त्व का यह स्वरूप उस समय होता है, जब वह इन्द्रतत्त्व के द्वारा अवशोषित होने के लिए उत्पन्न होता है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि जब बड़ी छन्द रश्मियों में से कुछ पद अन्तरिक्ष में रिस जाते हैं, तब वे ही लघु छन्द रश्मि अर्थात् मरुद् रश्मि रूपी सोम का व्यवहार करते हैं। जब तक ये अन्तरिक्ष में स्वतन्त्र विचरण कर रहे होते हैं, तब तक उनकी गति मन्द होती है। इसलिए मरुद् रश्मियों को मन्दगामिनी कहा जाता है, किन्तु जब इन्द्रतत्त्व इन रश्मियों का अवशोषण कर रहा होता है, उस समय इनकी गति बहुत तीव्र हो जाती है और ये इन्द्रतत्त्व की छन्द वा प्राण रश्मियों के साथ युग्म बनाने के लिए वेगपूर्वक प्रवृत्त होते हैं।

सोम देवता वाली दूसरी ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत किया गया है, जहाँ सोम का एक अर्थ चन्द्रमा भी है।

* * * * *

= चतुर्थः खण्डः =

सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिंषन्त्योषधिम्॥
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥ [ऋ.१०.८५.३]
सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिंषन्त्योषधिमिति। वृथासुतमसोममाह।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुरिति न तस्याश्नाति कश्चनायज्वा। इत्यधियज्ञम्।
अथाधिदैवतम्- सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिंषन्त्योषधिमिति यजुःसुतमसोम-माह। सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसं न तस्याश्नाति कश्चन अदेव इति। अथैषापरा भवति। चन्द्रमसो वा। एतस्य वा॥ ४॥

इसका ऋषि सावित्री सूर्या है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति [सूर्या = सूर्या वाङ्नाम (निघं.१.११)] सूर्यलोक में विद्यमान गायत्री छन्द रश्मियों से होती है। इसका देवता सोम और छन्द निचृदनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सोम रश्मियाँ तीक्ष्णतापूर्वक नाना प्रकार के रंगों के प्रकाश को उत्पन्न करने लगती हैं तथा उस समय सूर्य में विद्यमान विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियाँ अधिक सक्रिय होने लगती हैं। इसका ग्रन्थकार ने दो प्रकार का भाष्य किया है, जिसमें से प्रथम भाष्य यज्ञपरक है। हम आचार्य भगीरथ शास्त्री (हिन्दी टीका) के भाष्य को ही यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''**मन्त्रार्थ**— यत् ओषधिम् संपिंषन्ति कुछ रासायनिक लोग जो सोम ओषधि को पीसते हैं सोमं पपिवान् मन्यते और पीस कर तथा उसे पीकर ऐसा समझते हैं कि हमने सोमपान कर लिया, वह वृथासुत सोम तथा वृथापीत सोम है— वह वास्तविक सोमपान नहीं है। किन्तु यं सोमम् जिस सोम को ब्रह्माण: विदु: ब्राह्मण लोग समझते हैं अर्थात् जो वस्तुत: सोम है तम् उस सोम को न कश्चन अश्नाति कोई नहीं खाता। इसका तात्पर्य यह है कि सोमरस निचोड़ कर पीना अवैधानिक है, उससे लाभ नहीं है, किन्तु विधि से सोमरस निकाल कर उससे इन्द्र को आहुति देकर पश्चात् यज्ञ-शेष के रूप में जो पान किया जाता है, वही वास्तविक सोमपान है और उसी से स्वर्ग-प्राप्ति तथा श्रेय:प्राप्ति है।

भाष्यार्थ— ओषधिं सोमं यत् सम्पिंषन्ति ओषधि रूप सोम को जो पीसते हैं पपिवान् मन्यते और उसे ही पीकर हमने पी लिया सोम ऐसा समझते हैं, वृथासुतम् असोमम् आह उसे तो अवैदिक, विधि-रहित और इसीलिए व्यर्थ-सुत और वृथा-पीत असोम ही कहते हैं, यं ब्रह्माण: सोमं विदु: जिसे ब्राह्मण लोग सोम कहते हैं, तस्य उस सोम का कश्चन कोई भी अयज्वा जो यज्ञ नहीं करता— वह न अश्नाति नहीं खा सकता अर्थात् यज्ञ करके ही सोमपान विधिविहित है और जो विधिविहित सोमपान है, वही सोमपान माना गया है, दूसरा नहीं। इति यह अधियज्ञम् अधियज्ञ पक्ष का अर्थ है।''

यह अर्थ सोम को ओषधि विशेष अर्थ में ग्रहण करके किया गया है। अब अगला अर्थ चन्द्रमा के अर्थ में किया जाएगा। इसका आधिदैविक भाष्य ग्रन्थकार ने सामान्य ही किया है, इस कारण हम इस भाष्य को भी आचार्य भगीरथ शास्त्री के अनुसार ही उद्धृत कर रहे हैं—

''अथ अधिदैवतम्— अब अधिदैवत पक्ष में कहते हैं— यत् जो ओषधिं सोमम्

सोम ओषधि को विद्वान् या तज्ज्ञ लोग याज्ञिक विधि के अनुसार सम्पिंषन्ति पीसते हैं और पपिवान् मन्यते उसे पीकर हमने सोमपान किया ऐसा समझते हैं, यजु:सुतम् असोमम् आह उसे यजु:सुत और यजु:पीत ऐसा समझना चाहिए, वह असोमम् सोमपान नहीं है। सोमं यं ब्रह्माणः चन्द्रमसं विदुः जिस सोम अर्थात् चन्द्रमा को ज्ञानी ब्राह्मण सोम समझते हैं तस्य उसका कश्चन अदेवः कोई भी देवभिन्न मनुष्यादि न अश्नाति भक्षण नहीं कर सकता अर्थात् चन्द्रमा-सोम की कला का पान तो देव ही— कृष्णपक्ष में सूर्य ही कर सकता है। कृष्णपक्ष में सूर्य चन्द्रमा की चन्द्रिका को हर लेता है।''

अब हम इसका आधिदैविक भाष्य करते हैं—

(सोमम्, मन्यते, पपिवान्, यत्, सम्, पिंषन्ति, ओषधिम्) सोम रश्मियों का अवशोषण करने वाला इन्द्रतत्त्व जिस सम्पीडित हुए और सम्पीडन के कारण उष्णता को प्राप्त हुए सोमतत्त्व को दीप्तिमान करता है।

(सोमम्, यम्, ब्रह्माणः, विदुः, न, तस्य, अश्नाति, कः, चन) [ब्रह्मा = बलं वै ब्रह्मा (तै.ब्रा.३.८.५.२)] जिस सोमतत्त्व को विभिन्न प्रकार के बल उत्पन्न करते हैं अथवा उसे नाना रूपों में सक्रिय करते हैं, उस सोम को कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं कर सकता। यहाँ ब्रह्मा का अर्थ ब्रह्म ग्रहण करने पर उसके विषय में ऋषियों के निम्न वचन विचारणीय हैं— 'प्राणापानौ ब्रह्म' (गो.पू.२.११), 'तद् (ब्रह्म) इदमन्तरिक्षम्' (जै.उ.२.९.६)। इसका अर्थ यह है कि जो सोम पदार्थ आकाशतत्त्व एवं प्राणापान रश्मियों के द्वारा आकृष्ट वा संयुक्त हो चुका होता है, वह सोमतत्त्व किसी अदेव पदार्थ अर्थात् जो देव अर्थात् प्रकाशित नहीं है, के द्वारा नष्ट नहीं हो सकता। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सोमतत्त्व को इन्द्रतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ अप्रकाशित पदार्थ भी अवशोषित कर सकते हैं, अन्यथा यहाँ विशेष स्वरूप को प्राप्त सोमतत्त्व के किसी अप्रकाशित पदार्थ द्वारा अवशोषित न हो सकने की चर्चा नहीं होती।

अब एक और ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत किया है, जिसमें सोम का अर्थ सोम रश्मियाँ भी है और चन्द्रमा भी।

* * * * *

= पञ्चमः खण्डः =

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥ [ऋ.१०.८५.५]
यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनरिति नाराशंसानभिप्रेत्य।
पूर्वपक्षापरपक्षाविति वा। वायुः सोमस्य रक्षिता। वायुमस्य रक्षितारमाह।
साहचर्याद्रसहरणाद्वा।
समानां संवत्सराणां मास आकृतिः सोमो रूपविशेषैरोषधिः। चन्द्रमा वा।
चन्द्रमाः। चायन् द्रमति। चन्द्रो माता। चान्द्रं मानमस्येति वा।
चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः। चन्दनमित्यप्यस्य भवति। चारु द्रमति।
चिरं द्रमति। चमेर्वा पूर्वम्। चारु रुचेर्विपरीतस्य। तस्यैषा भवति॥ ५॥

इसके ऋषि और देवता पूर्ववत् और छन्द अनुष्टुप् होने से इसका दैवत और छान्दस प्रभाव पूर्ववत् होता है। पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने इस मन्त्र का जो भाष्य किया, वह हमें अच्छा प्रतीत हुआ, इसलिए हम उसे ही यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"अब, 'यत्त्वा देव प्रपिबन्ति' आदि दूसरी ऋचा और दी गई है, जिसमें 'सोम' चन्द्रमा तथा ओषधि, दोनों का वाचक है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

(देव! यत् त्वा प्रपिबन्ति) हे दिव्यगुणों वाले सोम! जब तुझे चन्द्र की कलायें पी लेती हैं, (ततः पुनः आप्यायसे) तदनन्तर पुनः तू बढ़ता है। (वायुः सोमस्य रक्षिता) वायु सोम ओषधि की रक्षा करने वाली है। (मासः समानां आकृतिः) और यह कालमान का कर्ता सोम वर्षों का कर्ता है— यह अर्थ ओषधि के पक्ष में है। चन्द्र-पक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

हे प्रसन्नता को देने वाले चन्द्र! कृष्णपक्ष में जब तुझे सूर्यरश्मियाँ पी लेती हैं, तदनन्तर शुक्लपक्ष में पुनः तू बढ़ता है। त्रित वायु चन्द्रमा की रक्षा करने वाली है और यह कालमान का कर्ता चन्द्रमा वर्षों का कर्ता है।

एवं, 'यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः' यह वचन ओषधिपक्ष में

(नाराशंसान् नरैः प्रशस्यान् छदान्) सोमपत्रों के अभिप्राय से है और चन्द्रपक्ष में शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष के अभिप्राय से कहा गया है।

श्येन वायु सदा सोम के साथ रहती है और उसके लिये निरन्तर रस का आहरण करती है, अतः साहचर्य या रसहरण से वायु सोम की रक्षक है और इसी प्रकार त्रित वायु चन्द्र के साथ रहती हुई उसे गति देने वाली है और उसके लिये सूर्य के प्रकाश-रस को लाती है, अतः साहचर्य या रसहरण से वायु चन्द्रमा का भी रक्षक है।

समा = संवत्सर । मास = सोम = सोम ओषधि, चन्द्रमा। ये दोनों अपने भिन्न-२ रूपों से वर्ष को बनाने वाले हैं। सोम अपने पत्रों से और चन्द्रमा अपनी कलाओं से पूर्वपक्ष और अपरपक्ष का निर्माण करता हुआ संवत्सरकाल का निर्माता है। सोम के पत्ते चन्द्र-कला के अनुसार घटते और बढ़ते रहते हैं। जिस दिन चन्द्र की जितनी कलायें होंगी, उतने ही उस दिन सोम के पत्ते होंगे। पूर्णिमा को सोम के १५ पत्ते होते हैं और अमावस्या को उसका कोई पत्ता नहीं रहता। आकृति = आकर्ता।

सोम ओषधि के बारे में ऋषिप्रणीत वैद्यक ग्रन्थों की सम्मति का जानना अत्यावश्यक है। उससे सोमविषयक वेदमन्त्रों के अनेक रहस्य खुलते हैं। इसके परिज्ञान के लिये सुश्रुत के चिकित्सित स्थान का २९वां अध्याय विशेष द्रष्टव्य है। उसमें लिखा है कि सोम ओषधि स्थान, नाम, आकृति और वीर्य के भेद से २४ प्रकार की है, जिसके नाम ये हैं—

अंशुमान्, मुञ्जवान्, चन्द्रमा, रजतप्रभ, दूर्वासोम, कनीयान्, श्वेताक्ष, कनकप्रभ, प्रतानवान्, तालवृन्त, करवीर, अंशवान्, स्वयंप्रभ, महासोम, गरुडाहृत, (श्येनाहृत-देखिए ६५६ पृ.) गायत्र्य, त्रैष्टुभ, पाङ्क्त, जागत, शाङ्कर, अग्निष्टोम, रैवत, सोम और उडुपति (नक्षत्रराट्)।

आठवें श्लोक में लिखा है— 'एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तै र्नामभिं शुभैः'। इससे विदित होता है कि ये सब नाम वेद-प्रतिपादित हैं।

दीर्घायुष्य के लिये सोम के सेवन करने की विधि बड़ी अद्भुत दर्शायी गई है। 'अध्वरकल्पेन हृतमभिषुतम्' से पता लगता है कि यज्ञ-विधि के अनुसार इसका निष्पादन करना चाहिये और 'यमनियमाभ्यामात्मानं संयोज्य' से बतलाया गया है कि यम नियमों का

पालन करते हुए ही इसका सेवन करना चाहिये। एवं इसमें तीन मास तक विशेष नियमों का पालन करना होता है और तब यह सोम-सेवन-विधि समाप्त होती है। इस विधि से सोम के सेवन करने पर अणिमा, लघिमा आदि आठ सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

आगे इन सोमों की पहिचान के लिये लिखा है—

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च॥ २०॥

एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा।
शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत्पञ्चदशच्छदः॥ २१॥

शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः।
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला॥ २२॥

आगे लिखा है कि अंशुमान् सोम की गंध घी के समान होती है, 'रजतप्रभ' में कन्द होता है, 'मुञ्जवान्' में कदली के आकार का कन्द और लशुन जैसे पत्ते होते हैं, 'चन्द्रमा' सुवर्ण के समान चमकीला है और जल में उत्पन्न होता है, गरुड़ाहृत और श्वेताक्ष पाण्डुवर्ण के होते हैं तथा सांप की कांचली के समान वृक्ष के आग्रभाग पर लटके रहते हैं। सब प्रकार के सोम १५ पत्तों वाले होते हैं और इनमें दूध, कन्द तथा लता होती है, परन्तु पत्ते भिन्न-२ आकार के होते हैं।

इसके आगे फिर यह बतलाया गया है कि ये सोम कहाँ से प्राप्त होते हैं— उसमें लिखा है कि हिमालय, आबू (अर्बुद) सह्य, महेन्द्र, मलय, श्रीपर्वत, देव-गिरि, देवसह, पारिपात्र और विन्ध्याचल, इन पर्वतों में, देवसुन्द तालाब में, व्यास नदी के उत्तरवर्त्ती पहाड़ों में और जहाँ पंजाब की पाँचों नदियाँ सिन्धुनद में मिलती हैं, उस स्थान में, 'चन्द्रमा' सोम पाया जाता है और उन्हीं के आसपास अंशुमान् तथा मुञ्जवान् सोम भी हैं। काश्मीर के उत्तर में क्षुद्रकमानस (मानसरोवर) झील है, वहाँ गायत्र्य, त्रैष्टुभ, पाङ्क्त, जागत और शाङ्कर सोम पाये जाते हैं।

लगभग २५ वर्ष हुए भारतीय राज्य की ओर से नियुक्त डॉ. रौक्सबरो ने हिमालय प्रदेश में इस सोम का पता लगाया था। उसने कहा है कि यह सोम नशीला बिल्कुल नहीं और इसका स्वाद शिकंजवी जैसा बड़ा स्वादु है।''

अब हम इसका अन्य प्रकार से आधिदैविक भाष्य करते हैं—

(यत्, त्वा, देव, प्रपिबन्ति, ततः, आ, प्यायसे, पुनः) जब सोम रश्मियों का इन्द्रतत्त्व अथवा प्राण रश्मियाँ अवशोषण करती हैं, उस समय दूसरी सोम रश्मियाँ निरन्तर अन्तरिक्ष में प्रकट होती रहती हैं। ये रश्मियाँ बड़ी छन्द रश्मियों में से रिसकर भी उत्पन्न हो सकती हैं अथवा मनस्तत्त्व से स्वयं भी नए रूप में उत्पन्न हो सकती हैं। इन्द्रतत्त्व सोम रश्मियों का अवशोषण करके शक्तिशाली होता रहता है। उधर प्राण रश्मियाँ सोम रश्मियों का अवशोषण करके नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करती हैं।

(वायुः, सोमस्य, रक्षिता, समानाम्, मासः, आकृतिः) वायुतत्त्व सोमतत्त्व का रक्षक है। इससे दो अर्थ प्रकट होते हैं, प्रथम यह कि वायुतत्त्व में विद्यमान बड़ी छन्द रश्मियों में से रिसती हुई कुछ पद रश्मियाँ सोम रश्मियों के रूप में प्रकट होती रहती हैं और दूसरा अर्थ यह है कि वायुतत्त्व सोम अर्थात् सृष्टि के सभी उत्पन्न पदार्थों (पृथ्वी, आपः एवं अग्नि) का रक्षक होता है। वायुतत्त्व के बिना इनमें से किसी भी पदार्थ की न तो उत्पत्ति सम्भव है और न ही उनकी रक्षा। इसके साथ वे कोई भी व्यवहार वायुतत्त्व के बिना नहीं कर सकते। यह वायु तत्त्व, विशेषकर प्राण रश्मियाँ ही मास रश्मियों का निर्माण करती हैं। यहाँ सभी भाष्यकारों ने 'समा' पद का अर्थ संवत्सर ही किया है। ये मास रश्मियाँ संवत्सर रूपी सूर्यादि लोकों में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, क्योंकि विभिन्न कणों के यजन कार्य में इनकी भूमिका विशेष होती है।

'सोमः' पद के पश्चात् 'चन्द्रमाः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'चन्द्रमाः चायन् द्रमति चन्द्रो माता चान्द्रं मानमस्येति वा चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः चन्दनमित्यप्यस्य भवति चारु द्रमति चिरं द्रमति चमेर्वा पूर्वम् चारु रुचेर्विपरीतस्य'। इन निर्वचनों से चन्द्रमा अर्थात् किसी भी उपग्रह के स्वरूप का बोध होता है। प्रथम निर्वचन में कहा गया है— 'चायन् द्रमति'। इसका भाष्य करते हुए सभी भाष्यकारों ने 'चन्द्रमा देखता हुआ चलता है' लिखा है। यदि हम देखने की क्रिया पर विचार करें, तो उसमें मुख्य क्रिया यह होती है कि किसी भी दृश्य पदार्थ का प्रतिबिम्ब हमारी आँखों में निर्मित होता है। इसके बिना दर्शन की क्रिया सम्भव ही नहीं है। उधर चन्द्रमा स्वयं प्रकाशित रहते हुए दर्पण के समान सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है। जिस प्रकार दर्पण में सूर्य का प्रतिबिम्ब बनकर वह दूसरों को सूर्य के समान चमकता हुआ प्रतीत होता है, जबकि वास्तव में दर्पण का कोई प्रकाश

नहीं होता। उसी प्रकार चन्द्रमा का चमकता हुआ भाग सूर्य के प्रतिबिम्ब की भाँति ही व्यवहार करता है। इसलिए चन्द्रमा को देखते हुए चलने वाला बताया गया है।

यहाँ चन्द्रमा की गति के लिए 'द्रम' धातु का प्रयोग हुआ है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि चन्द्रमा इधर-उधर दौड़ता हुआ अपनी कक्षा में गमन करता है। इसका अर्थ यह है कि उसकी कक्षा सर्वथा सरल नहीं होती अथवा दीर्घवृत्ताकार पथ पर गमन करते हुए भी उसका परिक्रमण पथ एक रेखा के समान नहीं होता, बल्कि वह कभी पृथ्वी की ओर तो कभी विपरीत दिशा में उछलते हुए गमन करता है। यह उसका निश्चित स्वभाव होता है। यद्यपि अन्य लोकों की गति भी सर्वथा एकरेखीय पथ वाली नहीं होती, बल्कि वे लोक भी इधर-उधर कम्पन करते हुए ही परिक्रमण करते हैं, पुनरपि उनकी और चन्द्रमा की गति अर्थात् ग्रहों और उपग्रहों की गति सर्वथा समान नहीं होती। कोई भी उपग्रह केवल अपने ग्रह की गति और द्रव्यमान से बँधा हुआ रहता है, जबकि कोई भी ग्रह अपने उपग्रह और तारे दोनों के ही द्रव्यमान और तारे की गति से भी बँधा रहता है। इस कारण ग्रहों और उपग्रहों की गति में कुछ भेद होता है। यद्यपि ग्रह भी सूर्य के प्रकाश के कारण चमकते हुए दिखाई देते हैं, पुनरपि चन्द्रमा को देखने वाला कहा गया है। इसका कारण यही हो सकता है कि चन्द्रमा ग्रहों की अपेक्षा प्रकाश को अधिक मात्रा में परावर्तित करता है। ऋषि दयानन्द ने ऋ.७.१८.८ का भाष्य करते हुए 'चायमानः' पद का अर्थ 'वर्धमानः' किया है। इससे 'चायन्' पद यह भी दर्शाता है कि चन्द्रमा कलाओं की दृष्टि से बढ़ता वा घटता हुआ अपने पथ पर गमन करता है, इस कारण इसे चन्द्रमा कहते हैं।

अगले निर्वचन में लिखते हैं— 'चन्द्रो माता' अर्थात् चन्द्रमा निर्माता होता है। यह महीनों (माह) का निर्माण करता है। इसके साथ ही यह वनस्पतियों में अनेक औषधीय गुणों का भी निर्माण करता है। यह प्राणियों के शरीरों के पोषण में भी माता के समान भूमिका निभाता है। इस विषय में उपर्युक्त ऋचा पर पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार का भाष्य पठनीय है। इसके अतिरिक्त भी प्रज्ञावान् आयुर्विज्ञानियों को प्राणियों और वनस्पतियों पर चन्द्रमा द्वारा होने वाले प्रभावों पर अनुसन्धान करना चाहिए।

अब अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'चान्द्रं मानमस्येति वा' अर्थात् चन्द्रमा अपने ग्रह का परिक्रमण करते हुए चान्द्र मास और चान्द्र वर्ष के द्वारा इस काल को मापता हुआ चलता है। इस कारण भी चन्द्रमा कहलाता है।

अब अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः चन्दनमित्यप्यस्य भवति' अर्थात् चन्द्रमा सुन्दर कान्ति वाला होता है और इसकी कान्ति मन को शीतलता और आनन्द प्रदान करने वाली होती है, इसलिए भी इसे चन्द्रमा कहते हैं। इसी 'चदि' धातु से चन्दन शब्द भी व्युत्पन्न होता है और चन्दन भी मन को शीतलता और शान्ति प्रदान करने वाला होता है।

अब अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'चारु द्रमति चिरं द्रमति' अर्थात् चन्द्रमा की गति और स्वरूप दोनों ही सुन्दर होते हैं तथा यह अपने ग्रह वा तारे के सापेक्ष मन्द गति से चलता है और इसी गति से वह दीर्घकाल से चलता आ रहा है और चलता रहेगा। यद्यपि सभी ग्रहों और तारे आदि के लिए भी यह बात लागू होती है, परन्तु चन्द्रमा के विषय में ही ऐसा क्यों लिखा, यह अवश्य विचारणीय है। इस विषय में यह सम्भव है कि चन्द्रमा का निर्माण अर्थात् विशाल पिण्ड से पृथक्करण की प्रक्रिया पृथ्वी के सूर्य से पृथक्करण की प्रक्रिया से पूर्व हो चुकी हो और पृथ्वी के पृथक् होने पर वह पृथ्वी की परिक्रमा करने लग गया हो। इसके साथ ही ऐसा भी सम्भव है कि चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा उस समय करने लग गया हो, जब पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करने न लगी हो। इस कारण यहाँ 'चिरम्' पद का प्रयोग हुआ है।

अन्तिम निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'चारु रुचेर्विपरीतस्य' अर्थात् यह 'रुचि' का उल्टा होकर 'चारु' और चारु गति और स्वरूप होने के कारण चन्द्रमा कहलाता है। इसका अर्थ यह है कि सुन्दर और रुचिकर होने के कारण भी चन्द्रमा कहलाता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्। भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥ [ऋ.१०.८५.१९]

'नवो नवो भवति जायमानः'। इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्य।
'अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्'। इति अपरपक्षान्तमभिप्रेत्य।
आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके।
'भागं देवेभ्यो विदधात्यायन्'। इति अर्धमासेज्यामभिप्रेत्य।
प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः। मृत्युः। मारयतीति सतः।
मृतं च्यावयतीति वा शतबलाक्षो मौद्गल्यः। तस्यैषा भवति॥ ६॥

इसका ऋषि पूर्ववत् है। इसका देवता चन्द्रमा और छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से चन्द्रमा में रक्तवर्णीय तेज की वृद्धि होती है। यद्यपि हमारे नेत्र चन्द्रमा में ऐसे किसी तेज को अनुभव नहीं करते, पुनरपि इसकी उत्पत्ति प्रक्रिया में इस प्रकार की स्थिति आने की पूर्ण सम्भावना है। इस समय भी चन्द्रमा में रक्तवर्णीय किरणों का अभाव नहीं होता। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नवः, नवः, भवति, जायमानः, अह्नाम्, केतुः, उषसाम्, एति, अग्रम्) 'नवो नवो भवति जायमानः इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्य अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् इति अपरपक्षान्तमभिप्रेत्य आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके' चन्द्रमा के प्रथम पक्ष में चन्द्रमा नित्य नया-नया उत्पन्न होता रहता है अर्थात् शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन बढ़ता हुआ दिखाई देता है और दूसरे पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष में दिन का ज्ञापक चन्द्रमा उषा के आगे-२ चलता है। इसको दिन का ज्ञापक इस कारण कहा है, क्योंकि चन्द्रमा दिन होते ही बहुत धुंधला दिखाई देता है और कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा सूर्योदय के पश्चात् भी दिखाई देता है। यहाँ धुंधला दिखाई देने का तात्पर्य इतना ही है कि चन्द्रमा बड़े आकार में दिखाई देने पर दिन के प्रकाश में भी दिखाई देता है और छोटी कलाओं में यह दिखाई भी नहीं देता है। इस कारण यह दिन का ज्ञापक भी कहलाता है।

यहाँ यह बात स्पष्ट है कि महर्षि यास्क की दृष्टि में मास का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष से होता है, न कि कृष्ण पक्ष से, किन्तु उत्तर भारत में चान्द्रमास का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष से करते हैं, जबकि दक्षिण भारत में मास का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष से करते हैं। उत्तर भारत में मास का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष से करते हुए भी पूर्णिमा के लिए १५ संख्या का निर्देश किया जाता है और अमावस्या के लिए ३० संख्या का। इस कारण उत्तर भारतीय कालदर्शक भी परोक्ष

रूप से शुक्ल पक्ष से ही चान्द्रमास का प्रारम्भ मानते हैं, भले ही उसे व्यवहार में न लाते हों। यह एक गम्भीर विसंगति है। इधर उत्तर भारतीय ज्योतिष शास्त्री वर्ष का प्रारम्भ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से ही मानते हैं, तब ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि वर्ष प्रारम्भ होने से १५ दिन पूर्व चैत्र मास कैसे प्रारम्भ हो जाता है? सृष्टि संवत् भी चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से ही प्रारम्भ हुआ माना जाता है, तब सृष्टि संवत् से पूर्व ही आधा चैत्र मास व्यतीत हो जाना कदापि युक्तिसंगत नहीं है। इस कारण हमें दक्षिण भारतीय काल गणना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है। अब ग्रन्थकार लिखते हैं कि कुछ आचार्य इस ऋचा के द्वितीय पाद 'अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्' का देवता आदित्य मानते हैं। इससे इस पाद का यह अर्थ निकलता है कि सूर्यलोक दिन होने का ज्ञापक है और यह उषाकाल को आगे करके अर्थात् पश्चात् उदय होता है।

(भागम्, देवेभ्यः, वि, दधाति, आयन्, प्र, चन्द्रमाः, तिरते, दीर्घम्, आयुः) 'भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् इति अर्धमासेज्यामभिप्रेत्य प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः' यहाँ ग्रन्थकार इस ऋचा के तृतीय पाद 'भागं देवेभ्यो विधात्यायन्' को अर्द्धमास अर्थात् पूर्णिमा और अमावस्या के यज्ञ को अभिप्राय करके कहा गया मानते हैं। चन्द्रमा का प्रकाश हमारी आयु को बढ़ाने वाला होता है। खुले बदन पर चन्द्रमा का प्रकाश दीर्घायु प्रदान करने वाला होता है।

यहाँ ग्रन्थकार ने साधारण अर्थ ही दर्शाए हैं। इनमें से तृतीय पाद का अर्थ यज्ञपरक है। अब हम अपनी शैली से इसका आधिदैविक भाष्य करते हैं—

(नवः, नवः, भवति, जायमानः, अह्नाम्, केतुः, उषसाम्, एति, अग्रम्) [अहन् = यच्छुक्लं तदह्नो रूपं यत्कृष्णं तद्रात्रेः (मै.सं.३.६.६)] शुक्ल वर्ण से जाना जाने वाला चन्द्रमा पूर्व में लालिमायुक्त अवस्था को प्राप्त होता है। तदुपरान्त वह नए-नए रूपों में उत्पन्न होता हुआ अर्थात् नए-२ रूप बदलता हुआ श्वेत वर्ण को प्राप्त होता है।

(भागम्, देवेभ्यः, वि, दधाति, आयन्, प्र, चन्द्रमाः, तिरते, दीर्घम्, आयुः) अपने इन रूपों को प्राप्त करता हुआ चन्द्रमा एवं भिन्न-२ रंगों को प्राप्त करते हुए वा करने के लिए वह निर्माणाधीन चन्द्रलोक विभिन्न देव पदार्थों के नाना प्रकार के विभागों को धारण करता हुआ उत्पन्न होता है। इस प्रकार चरणबद्ध प्रक्रिया के द्वारा चन्द्रमा दीर्घायु को प्राप्त करता हुआ श्वेतवर्णयुक्त होता है। इस विषय में वैज्ञानिकों को अनुसन्धान करना चाहिए।

'चन्द्रमाः' पद के निर्वचन के पश्चात् अगले पद 'मृत्युः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'मृत्युः मारयतीति सतः मृतं च्यावयतीति वा शतबलाक्षो मौद्गल्यः' अर्थात् जो मारता है अथवा मरे हुए को ले जाता है, उसे मृत्यु कहते हैं। ऐसा मौद्गल्य शतवलाक्ष ऋषि का कथन है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= सप्तमः खण्डः =

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥

[ऋ.१०.१८.१]

परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो ध्रुवं परेहि मृत्यो। कथितं तेन मृत्यो। मृतं च्यावयते। भवति मृत्यो। मदेर्वा मुदेर्वा। तेषामेषा भवति॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि यामायन सङ्कुसुक है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति नियन्त्रण और प्रकाशन गुणों से युक्त एक ऋषि रश्मि विशेष से होती है। इसका देवता मृत्यु तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इसका अर्थ यह है कि इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से मृत्यु संज्ञक पदार्थ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। [मृत्युः = एष वै मृत्युर्यत्संवत्सरः (श.ब्रा.१०.४.३.१), मृत्युरग्निः (काठ.सं.२१.७), एष एव मृत्युः। य एष (सूर्यः) तपति (श.ब्रा.२.३.३.७)] इसका अर्थ यह है कि इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक का अग्नि अथवा किसी भी लोक का अग्नि तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(परम्, मृत्यो, अनु, परा, इहि, पन्थाम्, यः, ते, स्वः, इतरः, देवयानात्) 'परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो ध्रुवं परेहि मृत्यो कथितं तेन मृत्यो मृतं च्यावयते भवति मृत्यो मदेर्वा मुदेर्वा' [मृत्युः = भ्रातृव्यो वै पाप्मा (जै.ब्रा.१.२६१), मृत्युर्वै वरुणो मृत्युनैवैनं ग्राहयत्येतद् वै पाप्मनो रूपम् (काठ.सं. १३.२)] सृष्टि प्रक्रिया में विभिन्न असुरादि रश्मियाँ यजन प्रक्रियाओं को

भिन्न-२ प्रकार से बाधित करने का प्रयास करती हैं, इस कारण उन असुरादि रश्मियों के भिन्न-२ रूप भी होते हैं। उनमें से ही एक रूप मृत्यु भी है। पाप एवं भ्रातृव्य रूप भी मृत्यु नाम से जाने जाते हैं। ये रश्मियाँ यजनशील कणों वा रश्मियों को अपने मार्ग से गिरा सकती हैं एवं उन्हें नष्ट भी कर सकती हैं और ऐसा करने के कारण ही उन्हें मृत्यु कहते हैं और इसी मृत्यु की चर्चा यहाँ की गई है। वह मृत्युरूपी रश्मि आदि पदार्थ इन्द्रतत्त्व के प्रहार से दूर चला जाता है। उस प्रहार से वह पदार्थ पर रूप अर्थात् सूक्ष्म रूप हो जाता है। इसके साथ ही वह विखण्डित हुआ मृत्यु पदार्थ ध्रुव रूप अर्थात् निष्कम्प हो जाता है और निष्कम्प होकर वह पदार्थ निष्कम्प आकाशतत्त्व में व्याप्त हो जाता है। यद्यपि इस सृष्टि में ईश्वर एवं इस प्रकृति के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ पूर्ण निष्कम्प नहीं है।

ऐसी स्थिति में यहाँ मृत्यु रूप पदार्थ को निष्कम्प कहने का तात्पर्य यही है कि उसकी गति वा कम्पन संयोजी कणों वा रश्मियों की अपेक्षा अतिमन्द हो जाते हैं। यहाँ देवयान उस मार्ग को कहा गया है, जिस पर यजनशील कण वा रश्मि आदि पदार्थ गमन कर रहे होते हैं। वह निष्कम्प मृत्यु नामक पदार्थ देवकणों के मार्ग को त्यागकर अपने पृथक् मार्ग पर जाता हुआ धीरे-२ आकाश में विलीन होकर निष्कम्प हो जाता है। जिस पदार्थ को मृत्यु कहा जाता है, वह मृत पदार्थों को भी अपने साथ ले जाता है। इसका अर्थ यह है कि जो देव पदार्थ मृत्यु पदार्थ के प्रहार से यजन प्रक्रिया से पृथक् हो जाते हैं, उन्हें भी मृत्यु संज्ञक रश्मियाँ अपने साथ ले जाती हैं और उन्हें निष्कम्प भी बना देती हैं। इसके कारण वे यजन प्रक्रियाओं में भाग नहीं ले पाते। इस कारण भी इस पदार्थ को मृत्यु कहते हैं। यद्यपि यह पद 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से व्युत्पन्न होता है, परन्तु ग्रन्थकार ने इसे 'मद्' एवं 'मुद्' धातुओं से व्युत्पन्न माना है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ देव पदार्थों के यजन कार्य में बाधा डालते समय अत्यन्त उग्र हो जाता है।

(चक्षुष्मते, शृण्वते, ते, ब्रवीमि, मा, नः, प्रजाम्, रीरिषः, मा, उत, वीरान्) यह मृत्यु संज्ञक पदार्थ चक्षु और श्रोत्र से युक्त होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ देव पदार्थों को देखता भी है और उनसे उत्पन्न होने वाली ध्वनियों को ग्रहण भी करता है। वस्तुतः देखने का भी आशय यह है कि जब कोई देव पदार्थ यजन क्रिया कर रहे होते हैं, उस समय असुर पदार्थ, जिसे यहाँ मृत्यु कहा गया है, उन देव कणों की गतिविधि को अनुभव कर लेता है और यह अनुभव देव पदार्थों से निकलने वाली सूक्ष्म रश्मियों के साथ सम्पर्क से

होता है। इसी कारण मृत्यु रूप पदार्थ को आँख और कान वाला कहा गया है। इस पदार्थ को अर्थात् मृत्युरूप रश्मियों को इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियाँ अनुभव कर लेती हैं और वे उन्हें देव पदार्थों की यजन क्रिया में बाधा डालने से रोकती हैं। ऐसा करने के लिए वे ऋषि रश्मियाँ स्वयं भी अपेक्षाकृत अधिक प्रकाशवती अर्थात् तेजयुक्त हो उठती हैं। इससे वे मृत्यु रूप रश्मियाँ विभिन्न प्रजारूप कणादि पदार्थों को हिंसित नहीं कर पाती और उन पदार्थों के यजन कार्य में संलग्न [वीरः = प्राणा वै दश वीराः (श.ब्रा.१२.८.१.२२)] प्राण रश्मियों से वियुक्त नहीं कर पाती और यजन क्रिया निर्बाध चलती रहती है।

यहाँ 'तेषामेषा भवति' पाठ प्रमादवश आ गया है, क्योंकि आगामी खण्ड में मृत्युदेवताक मन्त्र ही नहीं है।

* * * * *

= अष्टमः खण्डः =

त्वेषमित्था समरणं शिमीवतोरिन्द्राविष्णू सुतपा वामुरुष्यति। या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्कृशानोरस्तुरसनामुरुष्यथः॥ [ऋ.१.१५५.२] इति सा निगदव्याख्याता। विश्वानरः, व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ ८॥

इस खण्ड के विषय में प्रायः सभी भाष्यकार इस बात पर एकमत हैं कि यह खण्ड प्रक्षिप्त है, जिसकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। पूर्व खण्ड में 'तेषामेषा भवति' वाक्य भी असंगत है। यह उपर्युक्त मन्त्र मृत्यु देवता से सम्बद्ध भी नहीं है। इस कारण किसी भी भाष्यकार ने इस खण्ड का भाष्य नहीं किया है। हाँ, इस मन्त्र का भाष्य अवश्य किया है, परन्तु उसकी पूर्व खण्ड के साथ कोई संगति नहीं है। इस मन्त्र का देवता विष्णु है, न कि मृत्यु। यह मन्त्र किसी अन्य निरुक्त से यहाँ किसी प्रमादवश आ गया है और वही भूल निरन्तर चलती आ रही है, यही मत प्रायः सभी भाष्यकारों का है। हमें भी यह उचित प्रतीत होता है। यह मन्त्र जिस निरुक्त से आया है, उस निरुक्तकार ने भी इसे स्पष्ट

व्याख्यात कहकर इसका भाष्य नहीं किया है। पुनरपि हम इसका अपनी शैली से भाष्य कर रहे हैं।

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता विष्णु और छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक में बाहुरूप बलों में वृद्धि के साथ तीव्र रक्तवर्णीय तेज में वृद्धि होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(त्वेषम्, इत्था, सम्, अरणम्, शिमीवतोः, इन्द्राविष्णू इति, सुतपाः, वाम्, उरुष्यति) सूर्यादि तेजस्वी लोकों में इन्द्रतत्त्व के साथ सम्पूर्ण लोक में व्याप्त विद्युत् निरन्तर क्रियाशील रहती है। [शिमीवतः = शिमीति कर्मनाम (निरु.५.१२), शिमी कर्मनाम (निघं.२.१)] इन लोकों में पदार्थ की तीव्र धाराएँ निरन्तर बहती रहती हैं। इन धाराओं एवं सूर्य के अन्य भागों में इन्द्रतत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें निरन्तर बहती रहती हैं। उधर सम्पूर्ण लोक में एक अन्य प्रकार की विद्युत् भी निरन्तर व्याप्त रहती है। ये दोनों ही प्रकार की विद्युत् इन लोकों में सभी प्रकार की क्रियाओं को सम्पन्न करती हैं। ये विद्युत् अपने तेज से अच्छी प्रकार से व्याप्त होकर और अच्छी प्रकार तपकर सूर्यलोक को प्रकाशित करती हुई अन्य लोकों को भी प्रकाशित करती हैं। इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियाँ इन उपर्युक्त दोनों प्रकार की विद्युत् को अच्छी प्रकार समृद्ध करती हैं। इसी प्रकार (या, मर्त्याय, प्रतिधीयमानम्, इत्, कृशानोः, अस्तुः, असनाम्, उरुष्यथः) [कृशानोः = सम्राडसि कृशानुः (तै.सं.१.३.३.१; मै.सं.१.२.१२)] जो इन्द्र और विष्णु संज्ञक विद्युत् हैं, वे मर्त्यसंज्ञक मनुष्य नामक कणों को अच्छी प्रकार से धारण करते हुए बढ़ाती हैं। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य नामक ये कण विद्युत् के कारण अधिक ऊर्जा वाले होकर कृशानु संज्ञक अग्नि, जो तीव्र तेज से युक्त होता है और जो इन लोकों में पदार्थ को अच्छी प्रकार इधर से उधर प्रक्षिप्त करने में समर्थ होता है, उस ऐसे अग्नि को इन्द्र और विष्णु नामक विद्युत् सर्वत्र संचरित करने में समर्थ होती हैं और ऐसा करते भी हैं। इनके कारण सूर्य में अत्यन्त तीव्र ऊर्जायुक्त पदार्थ की धाराएँ प्रवाहित होने में सहयोग मिलता है।

भावार्थ— सूर्यादि तेजस्वी लोकों में विद्युत् सर्वत्र व्याप्त व क्रियाशील रहती है। इन लोकों में बहने वाले पदार्थ की विभिन्न धाराओं में जो भी क्रियाएँ हो रही होती हैं, उनका कारण विद्युत् ही होती है। इस ब्रह्माण्ड में जहाँ-२ प्रकाश है, वहाँ-२ विद्युत् है। विभिन्न प्रकार

की सूक्ष्म रश्मियाँ विद्युत् को उत्पन्न व समृद्ध करती रहती हैं। जब दो कण संयोग हेतु परस्पर निकट आते हैं, तब दोनों ही कणों से निकलने वाली सूक्ष्म रश्मियाँ परस्पर एक-दूसरे का अनुभव करने लगती हैं। उन्हें यह ज्ञान वा अनुभव परा 'ओम्' रश्मियों के माध्यम से ही होता है। वर्तमान भौतिकी के द्वारा जाने गये सभी बल विद्युत् बल के ही रूप हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (त्वेषम्) प्रकाशम् (इत्था) अनेन प्रकारेण (समरणम्) सम्यक् प्रापकम् (शिमीवतोः) प्रशस्तकर्मयुक्तयोः (इन्द्राविष्णू) विद्युत्सूर्याविव (सुतपाः) सुतं पाति रक्षति सः (वाम्) युवाम् (उरुष्यति) वर्द्धयति (या) यौ (मर्त्याय) मनुष्याय (प्रतिधीयमानम्) सम्यक् ध्रियमाणम् (इत्) (कृशानोः) विद्युतः (अस्तुः) प्रक्षेप्तुः (असनाम्) प्रक्षेपणां क्रियाम् (उरुष्यथः) सेवेथाम्।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। ये तपस्विनो जितेन्द्रियाः सन्तो विद्यामभ्यस्यन्ति ते सूर्यविद्युत्वत्प्रकाशितात्मानो भवन्ति।

पदार्थ— जो (शिमीवतो) प्रशस्त कर्मयुक्त अध्यापक और उपदेशक की उत्तेजना से (समरणम्) अच्छे प्रकार प्राप्ति कराने वाले (त्वेषम्) प्रकाश को प्राप्त होकर (मर्त्याय) मनुष्य के लिये (प्रतिधीयमानम्) अच्छे प्रकार धारण किये हुए व्यवहार को (उरुष्यति) बढ़ाता है वह (सुतपाः) सुन्दर तपस्या वाला सज्जन पुरुष (या) जो (इन्द्राविष्णू) बिजुली और सूर्य के समान पढ़ाने और उपदेश करने वाले तुम दोनों (अस्तुः) एक देश से दूसरे देश को पदार्थ पहुँचा देने वाले (कृशानोः) बिजुली रूप आग की (असनाम्) पहुँचाने की क्रिया को जैसे (इत्) ही (उरुष्यथः) सेवते हो (इत्था) इसी प्रकार से (वाम्) तुम दोनों को सेवें।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो तपस्वी जितेन्द्रिय होते हुए विद्या का अभ्यास करते हैं, वे सूर्य और बिजुली के समान प्रकाशितात्मा होते हैं।''

अब अगले पद 'विश्वानरः' के निर्वचन के लिए पूर्व खण्ड ७.२१ पठनीय है। उसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= नवमः खण्डः =

प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः॥

[ऋ.१०.५०.१]

प्रार्चत यूयं स्तुतिं महते। अन्धसोऽन्नस्य दात्रे। मन्दमानाय मोदमानाय। स्तूयमानाय शब्दायमानायेति वा। विश्वानराय सर्वं विभूताय। इन्द्रस्य यस्य प्रीतौ सुमहद् बलम्। महच्च श्रवणीयं यशः। नृम्णं च बलम्। नृन् नतम्। द्यावापृथिव्यौ वः परिचरत इति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि वैकुण्ठ इन्द्र है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विशेष रूप से मन्द विद्युत् से होती है। इसका देवता भी वैकुण्ठ इन्द्र एवं छन्द निचृत् जगती है, इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विशेष रूप से मन्द विद्युत् विस्तृत क्षेत्र में फैलने लगती है एवं गौर वर्ण को उत्पन्न करती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्र, वः, महे, मन्दमानाय, अन्धसः, अर्च, विश्वानराय, विश्वऽभुवे) 'प्रार्चत यूयं स्तुतिं महते अन्धसोऽन्नस्य दात्रे मन्दमानाय मोदमानाय स्तूयमानाय शब्दायमानायेति वा विश्वानराय सर्वं विभूताय' ब्रह्माण्ड में विद्यमान मन्द विद्युत् को महान् बनाने के लिए, सम्पूर्ण पदार्थों को वहन करने योग्य बनाने के लिए और सम्पूर्ण शक्तियों और क्रियाओं से सम्पन्न बनाने के लिए [अन्धसः = अहर्व्या अन्धः (तां.ब्रा.१२.३.३), अन्नं वा अन्धः (जै.ब्रा.१.३०३)] एवं उसे विभिन्न प्रकार के अन्न रूप पदार्थों अर्थात् संयोजी कण आदि पदार्थों को उत्पन्न करने वाला बनाने के लिए उसे अनेक प्रकार की सूक्ष्म रश्मियों से प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होने वाली मन्द विद्युत् को तीव्र विद्युत् में

परिवर्तित करने के लिए अनेक प्रकार की छन्दादि रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। इस कारण उस मन्द विद्युत् में ये सभी गुण उत्पन्न होने लगते हैं। विभिन्न रश्मियों के उत्पन्न होने से ब्रह्माण्ड में नाना प्रकार की ध्वनियाँ और दीप्तियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। वर्तमान भौतिकशास्त्री अनन्त ऊर्जा से सृष्टि उत्पत्ति का प्रारम्भ मानते हैं, जबकि यहाँ निम्न ऊर्जा से उच्च ऊर्जा के उत्पन्न होने की बात कही गई है। ऊर्जा में यह वृद्धि मूलतः ईश्वरीय चेतना द्वारा उत्पन्न परा 'ओम्' रश्मियों के कारण होती रहती है।

(इन्द्रस्य, यस्य, सुमखम्, सहः, महि, श्रवः, नृम्णम्, च, रोदसी इति, सपर्यतः) 'इन्द्रस्य यस्य प्रीतौ सुमहद् बलम् महच्च श्रवणीयं यशः नृम्णं च बलम् नॄन् नतम् द्यावापृथिव्यौ वः परिचरत इति कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्' [मखः = यज्ञनाम (निघं.३.१७)] उस तीव्र विद्युत् को ही यहाँ इन्द्र कहा गया है और इस इन्द्र के कारण विभिन्न संयोज्य पदार्थों में उचित और व्यापक संयोज्य बल उत्पन्न होता है। बिना इन्द्रतत्त्व के इस सृष्टि में बल का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। उस इन्द्रतत्त्व के कारण व्यापक तेज भी उत्पन्न होता है। इसके कारण विभिन्न संयोज्य कण आदि पदार्थ अन्य संयोज्य कणों के प्रति आकर्षण का भाव अनुभव करते हैं। इसी इन्द्रतत्त्व के कारण संयोज्य पदार्थों में एक ऐसा बल उत्पन्न होता है, जो उन्हें सूक्ष्म मरुद् व प्राण रश्मियों के प्रति आकृष्ट करता है। वे कण अन्य कणों से उत्सर्जित होने वाली मरुद् रश्मियों के प्रति आकर्षण अनुभव करने लगते हैं। ब्रह्माण्ड में विद्यमान द्युलोक और पृथ्वीलोक अर्थात् प्रकाशित और अप्रकाशित लोक इन्द्र के बल का सेवन करते हैं। यद्यपि ये लोक गुरुत्व बल के कारण ब्रह्माण्ड में ठहरे हुए अर्थात् अपनी-२ स्थिर कक्षाओं में गमन करते हैं, किन्तु वैदिक विज्ञान की दृष्टि से गुरुत्व बल भी विद्युत् बल का ही एक विशिष्ट रूप है और वैसे भी किसी भी लोक का अस्तित्व विद्युत् के बिना सम्भव नहीं है। विद्युत् के कारण ही ये सभी लोक अपनी कक्षाओं और अक्षों पर निरन्तर गमन करते रहते हैं। इस प्रकार यहाँ सूक्ष्म से लेकर विराट् इन्द्रतत्त्व की महिमा का वर्णन किया गया है। ऐसा वर्णन किसी अन्य माध्यमिक देव का कहाँ कहा जाता है अर्थात् कहीं नहीं। इस इन्द्रतत्त्व को यहाँ विश्वानर कहा गया है।

इसकी अन्य ऋचा को अगले खण्ड में भी प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= दशमः खण्डः =

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्॥

[ऋ.७.७६.१]

उदशिश्रियत्। ज्योतिरमृतं सर्वजन्यं विश्वानरः सविता देव इति। धाता। सर्वस्य विधाता। तस्यैषा भवति॥ १०॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता उषा और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से ब्रह्माण्ड में तीव्र रक्तवर्णीय तेज की वृद्धि होने लगती है। यहाँ ग्रन्थकार ने आधा मन्त्र ही उद्धृत किया है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उत्, उ, ज्योतिः, अमृतम्, विश्वजन्यम्, विश्वानरः, सविता, देवः, अश्रेत्) 'उदशिश्रियत् ज्योतिरमृतं सर्वजन्यं विश्वानरः सविता देवः' सब लोकों के उत्पादक एवं पृथ्वी आदि लोकों में विद्यमान विभिन्न प्राणियों और वनस्पतियों के अन्दर अनेक प्रकार की क्रियाओं को जन्म देने वाले अमृत ज्योतिरूप सूर्यलोक को उनका उत्पादक, प्रेरक और सूर्यादि लोकों सहित सभी पदार्थों को ले जाने वाला सवितारूप वायु ही सब लोकों को ऊपर उठाता है अर्थात् वायुतत्त्व के कारण ही सभी लोक दूर-२ होकर अपनी-२ कक्षाओं में निरन्तर गमन करते हैं। यहाँ ऊपर उठाने का तात्पर्य यह है कि पहले सभी लोक एक विशाल खगोलीय (कॉस्मिक) मेघ के ही अंग होते हैं, जो धीरे-२ उस विशाल पिण्ड से पृथक् होकर दूर-२ होते चले जाते हैं।

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इस खण्ड का जो भाष्य किया है, उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत किये गए हैं। इस कारण हम यहाँ उस भाष्य को उद्धृत कर रहे हैं। उनका भाष्य इस प्रकार है—

''भाष्य— पृथिवी से उठे हुए आपः परमाणु मध्यम स्थान में पहुँचते हैं। वहाँ वायु के षष्ठ परिवह में वे आपः दिव्य होकर सूर्य में पहुँचते और आश्चर्यकरी लीला उत्पन्न करते हैं। यह विद्या मुझे कभी ज्ञात न होती, यदि महाभारत, शान्तिपर्व के निम्नलिखित श्लोक मेरे सामने न आते—

यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या भवन्ति-आपो विहायसा।
पुण्यं चाकाशगङ्गायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति॥ ६९॥

दूरात् प्रतिहतो यस्मिन् एकरश्मिदिवाकरः।
योनिरंशुसहस्रस्य येन भाति वसुंधरा॥ ७०॥

यस्मादाप्यायते सोमो योनिर्दिव्योऽमृतस्य यः।
षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जयतां वरः॥ ७१॥ अ.३३६॥

अर्थात्— जिस [परिवह नामक वायु के षष्ठ स्तर] में चञ्चल = चक्र काटने वाले दिव्य=वैद्युत् गुण युक्त हो जाते हैं आपः, विहायसा=फटने अथवा फैलने की क्रिया से, अथवा आकाश के द्वारा, [और जो स्तर] आकाशगङ्गा के तोय=जल का स्तम्भन करके ठहरता है॥ [वहाँ] दूर से प्रतिहतः = मूर्छित = reflected जिसमें एक रश्मि सूर्य कारण [बनता है] सहस्र किरण का, जिसके द्वारा प्रकाशित होती है पृथिवी॥ जिस [षष्ठ स्तर] से वृद्धि को प्राप्त होता है सोम् कारण है दिव्य=वैद्युत्-प्रभावयुक्त अमृत का जो, वही षष्ठ परिवह नाम वाला है।

इन तीन श्लोकों में इतना महान् ज्ञान है, जितना आज के संसार में अन्यत्र नहीं है। आपः अंश जो पृथिवी से रश्मियों द्वारा ऊपर उठते जाते हैं, वे वायु के षष्ठ स्तर में जाकर पारिप्लव=चञ्चल हो जाते हैं। वे पहले चञ्चल नहीं होते। वे वहीं वैद्युत् गुण धारण कर लेते हैं। विहायसा=वे वहाँ विहायस क्रिया द्वारा आकाश में फैलते वा फटते हैं। इत्यादि।

अन्तरिक्ष के विभिन्न स्तरों में अनेक नदियाँ चलती हैं। वैसी ही एक नदी आकाशगङ्गा है। इन नदियों का जल नीचे नहीं गिरता। हाँ कभी-कभी कोई बूँद निर्मल आकाश के समय भी पृथिवी पर आ जाती है। इसका मुझे स्वयं अनुभव हुआ है। वरुण की ये नदियाँ—

न श्राम्यन्ति न वि मुचन्त्येते। ऋ.२.२८.४॥ न थकती हैं, न उपरता होती हैं।

दिव्य आपः। ये दिव्य आपः वेद में बहुधा स्तुत हैं। ऋग्वेद में—

आपो देवीः प्रथमजा ऋतेन।

अर्थात्—दिव्य आपः पूर्व उत्पन्न ऋत द्वारा। आधिदैविक अर्थ में ऋत भी एक पदार्थ है।

उसका पूरा पूरा आधिभौतिक अर्थ अन्वेषणीय है।

यही आपः आदित्य के मण्डल में दीप्ति करते हैं। बृहद् योगियाज्ञवल्क्य में निम्नलिखित श्लोक देखें—

भौमान्तरिक्षं दिव्यं च आप आहुरबिन्धनम्।
एता गभस्तिभिः पीता दीप्यन्ते रविमण्डले॥ ९.४८, ४९॥

प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह में भी—

दिव्यम् अबिन्धनं सौरविद्युदादि। पृ.सं.२४७।

पुराण में भी अत्यन्त स्पष्ट रूप में यह प्राचीन सिद्धान्त कहा गया है—

वैद्युत् जाठरः सौरो ह्यपांगर्भस्त्रयोऽग्नयः।
तस्मादपः पिबन् सूर्यो गोभिर्दीप्यत्यसौ दिवि॥ १२॥

अर्थात्— वैद्युत् = अन्तरिक्षस्थ, जाठर = मानव शरीर के अन्तर्गत और सूर्यस्थ, ये तीनों अग्नियाँ अपांगर्भ हैं, आपः के अन्दर वास करने वाली हैं।

इसी अभिप्राय से ऋग्वेद कहता है— गर्भो यो अपाम्। १.७०.२

सूर्यो अपो विगाहते रश्मिभिर्वाजसातमः। मै.सं.४.१२.५

इसके साथ निरुक्त ७.२३ में उदकेन्धनः शरीरोपशमनः की तुलना करनी चाहिए और भी—आविष्कुरुते भासमादित्यः। गूहते बुसम्। बुसम् इति उदकनाम। ब्रवीतेः शब्दकर्मणः। भ्रंशतेर्वा। यद् वर्षन् पातयत्युदकं रश्मिभिस्तत् प्रत्यादत्ते। निरुक्त ५.१९ यहाँ उदक का बुसम् नाम इसलिए है कि जिस बुसम् को आदित्य अपने अन्दर छिपा लेता है, उसमें शब्द उत्पन्न होता है और वह उदक भ्रंश अर्थात् परमाणुओं में टूट जाता है। इसी प्रकार— बृबूकम् इत्युदकनाम। ब्रवीतेः शब्दकर्मणः। भ्रंशतेर्वा। निरुक्त २.२२ अमृत, बुस, बृबूक वैज्ञानिक अर्थों में विशेष संज्ञाएँ हैं। यास्क के निर्वचनों की महिमा पदे-पदे दृष्टिगोचर होती है। राजवाड़े और सिद्धेश्वर वर्मा बच्चे हैं। वे इसे नहीं समझ पाए। सूर्य आपः का विस्तार करता है। यथा- सूर्य इव ज्योतिषाऽपस्ततान (ऋ.४.३८.१०) वस्तुतः वेदज्ञान की तुलना नहीं हो सकती।

ज्योति अमृत। यहाँ अमृत भी उदक का एक प्रकार है। वह दिव्य होकर अमृत हो जाता है। तभी निरुक्त ३.१२ में कहा है— अमृतस्य भागम् उदकस्य।

सूर्य की माया आपः के ज्ञान के बिना असम्भव है। इन्ही आपः के भाग हीलियम आदि हैं, जिनके आविष्कार पर वर्तमान वैज्ञानिक गर्व करते हैं। वर्तमान वैज्ञानिकों को यह पता नहीं कि यह हीलियम कैसे बन रहा है। उन्हें पूर्वोद्धृत व्यास के अद्वितीय लेख से लाभ उठाना चाहिए— यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या भवन्ति आपो विहायसा। यदि वेदाभ्यासी भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रयास करें, तो वे आश्चर्यजनक विद्या-चमत्कार उत्पन्न कर लेंगे। मैंने तो इस दिशा में संकेतमात्र किया है।

विश्वानर सविता देव ने इस प्रकार के ज्योति अमृत को ऊपर उठाया। कैसे उठाया। यह भी वेद से ही जाना जा सकता है। निरुक्त ७.२२ में दोनों उत्तर ज्योतियों को विश्वानर कहा है। उसका सम्बन्ध क्रमशः खण्ड ९, १० के मन्त्रों से समझना चाहिए।''

'विश्वानरः' पद के पश्चात् 'धाता' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'धाता सर्वस्य विधाता' अर्थात् जो सबका रचने वाला है, उसे धाता कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकादशः खण्डः =

धाता ददातु दाशुषे [नो रयिं] प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं सत्यधर्मणः॥

[तुलना— अथर्व.७.१७.२, मै.सं.४.१२.६]

धाता ददातु दत्तवते प्रवृद्धां जीविकामनुपक्षीणाम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं कल्याणीं मतिं सत्यधर्मणः।
विधाता। धात्रा व्याख्यातः। तस्यैष निपातो भवति बहुदेवतायामृचि॥ ११॥

अथर्ववेद में यह मन्त्र कुछ पाठ-भेद से उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है—

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः॥

इस मन्त्र का ऋषि भृगु है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति तेजस्वी अग्नि में विद्यमान किन्हीं विशेष रश्मियों से होती है। इसका देवता सविता और छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक में होने वाली विभिन्न क्रियाएँ समुचित रूप से होने में सहयोग मिलता है एवं नाना प्रकार के रंगों से युक्त प्रकाश की उत्पत्ति व समृद्धि होती है। मैत्रायणी संहिता में इस मन्त्र का अन्तिम पद 'सत्यधर्मणः' है, जबकि अथर्ववेद संहिता में अन्तिम पद 'विश्वराधसः' है। इससे मन्त्र के देवता और छन्द में कोई अन्तर नहीं आता, पुनरपि हम यहाँ ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मन्त्र का ही भाष्य कर रहे हैं। यह आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(धाता, ददातु, दाशुषे, प्राचीम्, जीवातुम्, अक्षिताम्) 'धाता ददातु दत्तवते प्रवृद्धां जीविका-मनुपक्षीणाम्' अन्तरिक्षस्थ वायुतत्त्व ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला है। यह सबका धाता वायु सबको प्रकाश और जीवन देने वाले सूर्यलोक को विशाल मात्रा में जीवनदायिनी प्राण व छन्दादि रश्मियाँ प्रदान करता रहता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक निरन्तर ही व्यापक वायुतत्त्व से छन्द व प्राण रश्मियों को ग्रहण करता रहता है। यह प्रक्रिया और रश्मियाँ कभी भी क्षीण नहीं होती। इसी कारण सूर्यलोकों का अस्तित्व दीर्घकाल तक बना रहता है।

(वयम्, देवस्य, धीमहि, सुमतिम्, सत्यधर्मणः) 'वयं देवस्य धीमहि सुमतिं कल्याणीं मतिं सत्यधर्मणः' यहाँ 'वयम्' पद इस छन्द रश्मि की कारणरूप भृगु ऋषि रश्मियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। ये ऋषि रश्मियाँ उस धाता वायुतत्त्व रूपी देव को धारण करती हैं, क्योंकि वायुतत्त्व के बिना अग्नितत्त्व का अस्तित्व सम्भव नहीं है। उस वायुतत्त्व को ही यहाँ सत्यधर्मा कहा गया है, क्योंकि वायुतत्त्व ही सत्य अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियों को धारण करने वाला है। महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— 'प्राणा वै सत्यम्' (श.ब्रा.१४.५.१.२३)। अग्नितत्त्व इन्हीं प्राणों, जिनमें प्राण और छन्द रश्मियाँ दोनों ही सम्मिलित हैं, से ही सुमति अर्थात् सुन्दर दीप्ति को धारण करता है अर्थात् अग्नितत्त्व में जो भी दीप्ति है, वह इन्हीं रश्मियों के कारण है अर्थात् वायु के कारण है।

'धाता' पद के पश्चात् 'विधाता' पद के विषय में पूर्व में खण्ड ११.१० पठनीय है। इसके विषय में बहुदेवता वाली ऋचा, जो अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है, पठनीय है। उन देवताओं में 'विधाता' देवता का भी निपात किया गया है।

* * * * *

= द्वादशः खण्डः =

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम्॥

[ऋ.१०.१६७.३]

इत्येताभिर्देवताभिरभिप्रसूतः सोमकलशानभक्षयमिति। कलशः कस्मात्। कला अस्मिञ्छेरते मात्राः। कलिश्च कलाश्च किरतेः। विकीर्णमात्राः॥ १२॥

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्रजमदग्नी है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति तारों के केन्द्र में विद्यमान कुछ विशिष्ट पंक्ति छन्द रश्मियों, कुछ विशेष उष्णिक् एवं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के मिश्रण से होती है। इसके लिए वेदविज्ञान-आलोकः ७.१६.१ पठनीय है। इसका देवता इन्द्र और छन्द जगती होने से इन्द्रतत्त्व दूर-२ तक फैलता हुआ गौर वर्ण को उत्पन्न करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सोमस्य, राज्ञः, वरुणस्य, धर्मणि, बृहस्पतेः, अनुमत्या, ऊँ इति, शर्मणि) [अनुमतिः = गायत्री अनुमतिः (मै.सं.४.३.५, काठ.सं.१२.८), या द्यौः साऽनुमतिः सो एव गायत्री (ऐ.ब्रा.३.४८)] संदीप्त सोम एवं वरुण अर्थात् प्राण, अपान एवं व्यान रश्मियों के धारण और बृहस्पति अर्थात् सूत्रात्मा वायु एवं गायत्री छन्द रश्मियों के आश्रय में (तव, अहम्, अद्य, मघवन्, उपस्तुतौ, धातः, विधातः, कलशान्, अभक्षयम्) 'इत्येताभिर्देवताभिरभि-प्रसूतः सोमकलशानभक्षयमिति कलशः [कस्मात्] कला अस्मिञ्छेरते मात्राः कलिश्च कलाश्च किरतेः विकीर्णमात्राः' इस छन्द रश्मि की उत्पादिका पंक्ति, उष्णिक् एवं त्रिष्टुप् छन्द रश्मि विशेष उस लोक में इन्द्रतत्त्व को निकटता से प्रकाशित करती हैं। इसके साथ वे

तीनों प्रकार की छन्द रश्मियाँ सोम कलशों का भक्षण करती हैं। यहाँ इन्द्र को धाता एवं विधाता दोनों ही विशेषणों से सम्बोधित किया है। ये पंक्ति आदि छन्द रश्मियाँ इन्द्रतत्त्व की ही प्रेरणा से सोम कलशों का भक्षण करती हैं।

यहाँ ग्रन्थकार ने 'कलश:' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'कला अस्मिञ्छेरते मात्रा: कलिश्च कलाश्च किरते: विकीर्णमात्रा:' कलश उस पदार्थ को कहते हैं, जिसमें किसी अन्य पदार्थ की नाना प्रकार की कलाएँ अर्थात् मात्राएँ रहती हैं। 'कलि' एवं 'कला' दोनों ही पद 'कॄ विक्षेपे' धातु से व्युत्पन्न होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिसमें किसी पदार्थ की बिखरी हुई मात्रा नियन्त्रित वा सीमाबद्ध होकर भरी रहती है। लोकप्रचलित कलश को भी कलश इस कारण कहते हैं, क्योंकि उसमें बिखरे हुए जल की मात्रा भरी रहती है, जो कलश से बाहर आने पर बिखर जाती है। इस प्रकार उस इन्द्रतत्त्व के प्रकाशित होने पर इस छन्द रश्मि की कारणभूत रश्मियाँ उस सोम तत्त्व को अवशोषित करती रहती हैं, जो सोम सम्पीडित होकर कणों का रूप ले चुका होता है। ध्यातव्य है कि कोई भी कण विभिन्न रश्मियों के उचित सम्पीडन से ही बनता है।

भावार्थ— सूर्यादि लोकों में, विशेषकर उनके केन्द्रीय भागों में इन्द्रतत्त्व देदीप्यमान सोम रश्मियों एवं प्रबल बन्धक बलों से युक्त प्राण-अपान-व्यान रश्मियों के त्रिक को धारण करता है तथा यह इन्द्रतत्त्व सूत्रात्मा वायु और विभिन्न प्रकार की गायत्री रश्मियों के आश्रय में रहता है। ऐसा इन्द्रतत्त्व जब उस क्षेत्र में विद्यमान पंक्ति, उष्णिक् एवं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के द्वारा और अधिक प्रकाशित होने लगता है, तब वे तीनों प्रकार की छन्द रश्मियाँ सोम प्रधान कणों को अवशोषित करने लगती हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्यादि लोकों के केन्द्रीय भागों में होने वाली नाभिकीय संलयन क्रिया के फलस्वरूप जब धनावेशित कणों का अथवा नाभिकों का संलयन होने लगता है, तब पंक्ति आदि तीनों छन्द रश्मियाँ ऋणावेशित कणों को अवशोषित करके उस संलयन क्रिया से पृथक् करती हैं, जिससे संलयन क्रिया में कोई बाधा नहीं आती।

* * * * *

= त्रयोदशः खण्डः =

अथातो मध्यस्थाना देवगणाः। तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति। मरुतः। मितराविणो वा। मितरोचिनो वा। महद् द्रवन्तीति वा। तेषामेषा भवति॥ १३॥

अब तक मध्यमस्थानी देवताओं की एक-२ करके चर्चा की गई। वे देवता नामक पदार्थ ऐसे हैं, जो पृथक्-२ रहकर कार्य करते हैं। इनके पश्चात् ऐसे देवताओं की चर्चा यहाँ प्रारम्भ की जा रही है, जो सदैव समुदाय के रूप में गमन करते हैं। ऐसे पदार्थों में सर्वप्रथम मरुत् देवताओं की चर्चा करते हैं। यहाँ 'मरुतः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—

१. 'मितराविणो वा' अर्थात् मरुद् रश्मियाँ अति मन्द परन्तु व्यापक ध्वनियों को उत्पन्न करती रहती हैं। इनकी ध्वनियाँ कुछ इस प्रकार की हो सकती हैं, जैसी मधुमक्खियों के भिनभिनाने से होती हैं। इन ध्वनियों को इन्द्रियों से नहीं सुना जा सकता, क्योंकि लघु छन्द रश्मियों को ही मरुद् रश्मियाँ कहते हैं और ये अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ हैं।

२. 'मितरोचिनो वा' अर्थात् मरुद् रश्मियों में अतिमन्द दीप्ति विद्यमान रहती है। इस दीप्ति को इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता। इसके साथ ही ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों के साथ, विशेषकर प्राण रश्मियों के साथ सदैव ही आकर्षण का भाव रखती हैं।

३. 'महद् द्रवन्तीति वा' इसका अर्थ यह है कि मरुद् रश्मियाँ दूर-दूर तक व्यापक रूप से निरन्तर गमन करती रहती हैं। वे कभी स्थिर नहीं रहती।

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इस खण्ड का जो भाष्य किया है, वह अनेक प्रमाणों से युक्त होने के कारण पठनीय है। उसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''भाष्य—

मध्य स्थान के एक-एक देव को पृथक्-पृथक् कह दिया। अब इस मध्य स्थान में देवों के जो गण विराजते हैं, उनका कथन है। देवों के गण कैसे बने। एक ही प्रकार का परमाणु-संघात एकत्र होकर साथ-साथ विचरने लगा। उसका फल ही ये गण हैं। मरुतों के वैज्ञानिक तत्त्व का ज्ञान मुझे भगवद्गीता के एक कथन से सूझा। मरीचिः मरुताम् अस्मि।

गीता, १०.२१ अर्थात् भ्राजमान् मरुतों में से मैं मरीचि हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि मरुतों का सर्वश्रेष्ठ रूप मरीचियों में बना है। यदि इन मरीचियों को समझ लिया जाए, तो मरुतों का स्पष्ट चित्र भी सामने आ जाता है। शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन है— एता वा आपः स्वराजो यन्मरीचयः। ता यत् स्यन्दन्त ऽइवान्योऽन्यस्या...उत्तराधरा इव भवन्त्यो यन्ति (श.ब्रा.५.३.४.२१) अर्थात्— ये ही [पार्थिव यज्ञ में रखे] आपः हैं, जो स्वयं दीप्तिमान् हैं, जो मरीचियां [मरीचियों के प्रतिनिधि] हैं। वे अन्तरिक्ष में बहते हैं...। ये ऊपर-नीचे होकर चलते हैं। इसीलिए शतपथ का प्रवचन है— सप्त-सप्त हि मारुतो गणः (श.ब्रा.२.५.१.१३) मरुत रश्मि भी प्रसिद्ध हैं— मारुता रश्मयः (श.ब्रा.९.३.१.२५) ये ही वातरश्मि के नाम से पुराणों में कहे गए हैं। सूर्यरश्मि इनसे सर्वथा भिन्न हैं। ये मरीचियाँ ही अन्तरिक्ष की अप्सराएं हैं। यजुर्वेद १८.३८ के व्याख्यान में शतपथ का प्रवचन है— सूर्यो गन्धर्वः। तस्य मरीचयोऽप्सरस ... आयुवो नाम ... आयुवाना ऽइव हि मरीचयः प्लवन्ते (९.४.१.८)॥ ये अप्सराएं अन्तरिक्ष में तैरती हैं। (उबट-आयुवः = त्रसरेण्वः)

मरुत आपः से जन्मे थे। माधव ऋग्भाष्य १.८०.४ में लिखता है— अद्भ्यो मरुतः प्रादुर्भवन्ति, इति। जै.ब्रा.१.३४ में मरुत ४० कहे हैं— चत्वारिंशन् मरुतो देवाः। संभवतः शेष ९ मरीचि आदि देवियां हैं। मरुतों को रिशादसः (यजु.३.४४), हिंसकाद् भ्राजदृष्टयः (ऋ.१.३१.१), विद्युद्रथाः (ऋ.३.५४.१३), रुक्मवक्षसः (ऋ.२.३४.२), हिरण्यशिप्रः (ऋ.२.३४.३), ऋष्टिविद्युत् (ऋ.१.१६८.५), विद्युद्हस्ताः (ऋ.८.७.२५) आदि कहा है।

मरुतों का अधिक व्याख्यान वेदविद्यानिदर्शन, अन्तरिक्ष अध्याय में देखना चाहिए। यास्क ने मितरोचिनः निर्वचन से यह दिखाया है कि ये मरुत थोड़ी-थोड़ी दीप्ति वाले हैं। यह गुण विद्युत्-प्रभाव से रहता है। मितराविणः निर्वचन दिखाता है कि मरुतों में धीमा सा शब्द भी पैदा होता रहता है। मध्यस्थान वाक् का भी स्थान है। उस वाक् और इस शब्द में क्या भेद है, यह अध्ययन योग्य है। इन्द्र की कल्याणी जाया और सुरण भी अन्तरिक्ष में हैं। मरुतः महान् दौड़ते भी हैं।''

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= चतुर्दशः खण्डः =

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः ।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥ [ऋ.१.८८.१]
विद्युन्मद्भिर्मरुतः । स्वर्कैः स्वञ्चनैरिति वा । स्वर्चनैरिति वा ।
स्वर्चिभिरिति वा । रथैरायात । ऋष्टिमद्भिः । अश्वपर्णैः अश्वपतनैः ।
वर्षिष्ठेन च नोऽन्नेन वय इवापतत । सुमायाः कल्याणकर्माणो वा ।
कल्याणप्रज्ञा वा । रुद्राः, व्याख्याताः । तेषामेषा भवति ॥ १४ ॥

इसका ऋषि राहूगणपुत्र गोतम है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति धनञ्जय रश्मि से होती है। इसका देवता मरुतः और छन्द पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से मरुद् रश्मियाँ दूर-दूर तक फैलती हुई तथा संयोजक बलों से विशेष युक्त होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आ, विद्युन्मद्भिः, मरुतः, स्वर्कैः, रथेभिः, यात, ऋष्टिमद्भिः, अश्वपर्णैः) 'विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः स्वञ्चनैरिति वा स्वर्चनैरिति वा स्वर्चिभिरिति वा रथैरायात ऋष्टिमद्भिः अश्वपर्णैः अश्वपतनैः' [अर्कः = अर्कैरर्चनीयैः स्तोमैः (निरु.६.२३), अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति अर्कमन्नं भवति अर्चति भूतानि अर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना (निरु.५.४), प्राणो वाऽअर्कः (श.ब्रा.१०.४.१.२३)] मरुद् रश्मियाँ विद्युत् प्रभाव से युक्त होती हैं। जब विभिन्न पदार्थों के मध्य आकर्षण और प्रतिकर्षण का गुण उत्पन्न होने लगे, तब उसे विद्युत् का प्रभाव ही मानना चाहिए। मरुद् एवं प्राण रश्मियों के इस प्रकार के प्रभाव से युक्त होने के कारण ही मरुद् रश्मियों को विद्युत् प्रभावयुक्त माना गया है। आकाशतत्त्व भी मरुद् एवं प्राण रश्मियों से निर्मित होता है, इसके कारण आकाशतत्त्व विद्युत् आवेश द्वारा प्रभावित होता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो संसार में विद्युत् सम्बन्धी कोई भी बल कार्य नहीं कर सकता था। इस कारण यहाँ मरुद् रश्मियों को विद्युत् युक्त कहा है। ये मरुद् रश्मियाँ संयोज्य बलों से युक्त अन्य रथरूप रश्मियों पर आरूढ़ होकर आशुगमन करती हैं। इन मरुद् रश्मियों के साथ नाना प्रकार की ऋष्टि अर्थात् बाधक प्रभावों को नष्ट करने वाली शक्तियाँ भी होती हैं। इसके कारण मरुद्

रश्मियों पर असुरादि हिंसक वा बाधक पदार्थों का कोई दुष्प्रभाव नहीं होता। ये रश्मियाँ सदैव समूह में गमन करती हैं। रथरूप रश्मियों की चर्चा हम पूर्व खण्ड ९.११ में कर चुके हैं।

(आ, वर्षिष्ठया, नः, इषा, वयः, न, पप्तत, सुमायाः) 'वर्षिष्ठेन च नोऽन्नेन वय इवापतत सुमायाः कल्याणकर्माणो वा कल्याणप्रज्ञा वा' [वयः = प्राणो वै वयः (ऐ.ब्रा.१.२८)] ये मरुद् रश्मियाँ विभिन्न प्रकार के संयोज्य पदार्थों (कण वा विकिरण) के साथ प्रभूत वा व्यापक मात्रा में पक्षी के समान उड़ती हुई गमन करती हैं एवं ये प्राण रश्मियों के साथ निरन्तर इन कणों वा विकिरणों के साथ गमन करती रहती हैं। ये मरुद् रश्मियाँ कमनीय क्रियाओं और प्रकाश से युक्त होती हैं। ये सदैव किसी ना किसी के साथ आकर्षण का व्यवहार भी करती रहती हैं। इस सृष्टि में सर्वत्र ही मरुद् रश्मियाँ भरी हुई हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (आ) अभितः (विद्युन्मद्भिः) तारयन्त्रादिसंबद्धा विद्युतो विद्यन्ते येषु तैः (मरुतः) सभाध्यक्षप्रजा मनुष्याः (स्वर्कैः) शोभना अर्का मन्त्रा विचारा वा देवा विद्वांसो येषु तैः (रथेभिः) विमानादिभिर्यानैः (यात) गच्छत (ऋष्टिमद्भिः) कलाभ्रामणार्थयष्टिशस्त्रास्त्रादियुक्तैः (अश्वपर्णैः) अग्न्यादीनामश्वानां पतनैः सह वर्त्तमानैः (आ) समन्तात् (वर्षिष्ठया) अतिशयेन वृद्धया (नः) अस्माकम् (इषा) उत्तमान्नादिसमूहेन (वयः) पक्षिणः (न) इव (पप्तत) उत्पतत (सुमायाः) शोभना माया प्रज्ञा येषान्ते।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। मनुष्यैर्यथा पक्षिण उपर्यधः संगत्याऽभीष्टं देशान्तरं सुखेन गच्छन्त्यागच्छन्ति तथैव सुसाधितैस्तडित्तारयन्त्रैर्विमानादिभिर्यानैरुपर्यधः समागमनेनाभीष्टान् समाचरान्वा देशान्सुखेन गत्वागत्य स्वकार्य्याणि संसाध्य सततं सुखयितव्यम्।

पदार्थ— हे (सुमायाः) उत्तम बुद्धि वाले (मरुतः) सभाध्यक्ष वा प्रजा पुरुषो! तुम (नः) हमारे (वर्षिष्ठया) अत्यन्त बुढ़ापे से (इषा) उत्तम अन्न आदि पदार्थों (स्वर्कैः) श्रेष्ठ विचार वाले विद्वानों (ऋष्टिमद्भिः) तारविद्या में चलाने अर्थ दण्डे और शस्त्रास्त्र (अश्वपर्णैः) अग्नि आदि पदार्थरूपी घोड़ों के गमन के साथ वर्तमान (विद्युन्मद्भिः) जिनमें कि तार बिजली हैं उन (रथेभिः) विमान आदि रथों से (वयः) पक्षियों के (न) समान (पप्तत) उड़ जाओ (आ) उड़ आओ (यात) जाओ (आ) आओ।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। मनुष्यों को चाहिये कि जैसे पखेरु ऊपर नीचे आके चाहे हुए एक स्थान से दूसरे स्थान को सुख से जाते हैं, वैसे अच्छे प्रकार सिद्ध किये हुए तारविद्यायुक्त प्रयोग से चलाये हुए विमान आदि यानों से आकाश और भूमि वा जल में अच्छे प्रकार जा-आके अभीष्ट देशों को सुख से जा-आके अपने कार्य्यों को सिद्ध करके निरन्तर सुख को प्राप्त हों।''

'मरुतः' पद के पश्चात् 'रुद्राः' पद के लिए पूर्व में खण्ड १०.५ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= पञ्चदशः खण्डः =

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन।
इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे॥

[ऋ.५.५७.१]

आगच्छत रुद्रा इन्द्रेण। सहजोषणाः। सुविताय कर्मणे।
इयं वोऽस्मदपि प्रतिकामयते मतिः। तृष्णज इव दिव उत्सा उदन्यवे।
तृष्णक् तृष्यतेः। उदन्युरुदन्यतेः। ऋभवः। उरु भान्तीति वा।
ऋतेन भान्तीति वा। ऋतेन भवन्तीति वा। तेषामेषा भवति॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि श्यावाश्व आत्रेय है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों से उत्पन्न आशुगामी रश्मिविशेष से होती है। इसका देवता मरुतः और छन्द जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से मरुद् रश्मियाँ दूर-२ तक फैलती हुई गौर वर्ण को उत्पन्न करती हैं। यह ऋचा रुद्र देवता का उदाहरण है और मन्त्र में भी रुद्र पद ही आया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस ऋचा का देवता रुद्र है और यह मरुद् रश्मियों का तीक्ष्ण रूप है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आ, रुद्रासः, इन्द्रवन्तः, सजोषसः, हिरण्यरथाः, सुविताय, गन्तन) 'आगच्छत रुद्रा इन्द्रेण

सहजोषणाः सुविताय कर्मणे' तीक्ष्ण शक्ति सम्पन्न मरुत् अर्थात् रुद्र रश्मियाँ इन्द्रतत्त्व के साथ समान प्रीति रखते हुए अर्थात् इन्द्रतत्त्व की अवयवभूत छन्द रश्मियों के साथ पूर्ण संगत होकर तेजस्वी रथरूप रश्मियों पर आरूढ़ होकर नाना प्रकार के कर्मों को सम्पादित करने के लिए सब ओर से आती हैं। जब इन्द्रतत्त्व का किन्हीं असुरादि पदार्थों के ऊपर प्रहार होता है, उस समय ये रुद्र रश्मियाँ सब ओर से इन्द्रतत्त्व के साथ संगत होने लगती हैं। ये इन्द्रतत्त्व के साथ मिलकर असुरादि संहार आदि अनेक ऐश्वर्ययुक्त कर्मों को सम्पन्न करती हैं। इसका अर्थ यह है कि रुद्र रश्मियों के अभाव में इन्द्रतत्त्व इन कर्मों को करने में सफल नहीं हो सकता। रुद्र रश्मियों के इन्द्रतत्त्व के साथ संगत होने का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि इन्द्रतत्त्व के सम्पर्क से विभिन्न प्रकार की मरुत् रश्मियाँ रुद्र रश्मियों का रूप धारण कर लेती हैं और फिर वे इन्द्रतत्त्व के साथ संगत हो जाती हैं।

(इयम्, वः, अस्मत्, प्रति, हर्य्यते, मतिः, तृष्णजे, न, दिवः, उत्साः, उदन्यवे) 'इयं वोऽस्मदपि प्रतिकामयते मतिः तृष्णज इव दिव उत्सा उदन्यवे तृष्णक् तृष्यतेः उदन्युरुदन्यतेः' इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों की मतिरूप सूक्ष्म रश्मियाँ रुद्र रश्मियों के प्रति आकर्षण का भाव रखती हैं। इसको उपमा द्वारा समझाया गया कि आकर्षण का यह भाव वैसा ही होता है, जैसे कोई प्यासा व्यक्ति जल पीने की इच्छा से जलस्रोत के प्रति आकृष्ट होता है। यहाँ आधिदैविक पक्ष में उपमा अलंकार की उपेक्षा करके यह विज्ञान प्रकट होता है कि जब ऋषि रश्मियाँ रुद्र रश्मियों के प्रति आकृष्ट होती हैं, तब सूर्यादि लोकों में विभिन्न प्रकार की धाराएँ सौर कूपों की ओर आकृष्ट होती हुई तीव्र वेग से प्रवाहित होती हैं। इससे यह स्पष्ट होता कि यह छन्द रश्मि सूर्यलोक में इन उपर्युक्त सभी क्रियाओं को सम्पादित करती है। इन्द्रतत्त्व के सारे उपर्युक्त कर्म सूर्यलोक में ही होते हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (आ) समन्तात् (रुद्रासः) दुष्टानां रोदयितारः (इन्द्रवन्तः) बह्विन्द्र ऐश्वर्य्यं विद्यन्ते येषान्ते (सजोषसः) समानप्रीतिसेविनः (हिरण्यरथाः) हिरण्यं सुवर्णं रथेषु येषान्ते यद्वा हिरण्यं तेज इव रथा येषान्ते (सुविताय) ऐश्वर्य्याय (गन्तन) गच्छथ (इयम्) (वः) युष्मान (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (प्रति)(हर्यते) कामयते (मतिः) प्रज्ञा (तृष्णजे) यः तृष्णाति तस्मै (न) इव (दिवः) दिवः कामनाः (उत्साः) कूपाः (उदन्यवे) उदकानीच्छवे।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। यथा तृषातुराय जलं शान्तिकरं भवति तथा विद्वांसो जिज्ञासुभ्यः शान्तिप्रदा भवन्ति।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जैसे (हिरण्यरथाः) सुवर्ण रथों में जिनके अथवा तेज के सदृश रथ जिनके वे (सजोषसः) समान प्रीति सेवने और (इन्द्रवन्तः) बहुत ऐश्वर्य्य रखने और (रुद्रासः) दुष्टों को रुलाने वाले (सुविताय) ऐश्वर्य्य के लिए (आ) सब ओर (गन्तन) प्राप्त होवें और जो (इयम्) यह (अस्मत्) हम लोगों के समीप से (मतिः) बुद्धि है, वह (वः) आप लोगों की (प्रति, हर्यते) कामना करती है और (तृष्णजे) तृष्णायुक्त (उदन्यवे) जल की इच्छा करने वाले के लिए (उत्साः) कूप (न) जैसे वैसे जो (दिवः) कामनाओं की कामना करते हैं, वे हम लोगों से निरन्तर सत्कार करने योग्य हैं।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे पिपासा से व्याकुल के लिये जल शान्तिकारक होता है, वैसे विद्वान् जन जानने की इच्छा करने वालों के लिए शान्ति के देने वाले होते हैं।''

'रुद्राः' पद के पश्चात् 'ऋभवः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ऋभवः उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वा' अर्थात् जो पदार्थ व्यापक रूप से चमकते हैं एवं ऋत [ऋतम् = अग्निर्वा ऋतम् (तै.ब्रा.२.१.११.१)] अर्थात् जो अग्नि के कारण प्रकाशित होते हैं एवं अग्नि के कारण ही जिनका अस्तित्व सम्भव होता है, उन्हें ऋभु कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षोडशः खण्डः =

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः॥

[ऋ.१.११०.४]

कृत्वा कर्माणि क्षिप्रत्वेन। वोढारो मेधाविनो वा।

मर्तासः सन्तोऽमृतत्त्वमानशिरे। सौधन्वना ऋभवः सूरख्याना वा। सूरप्रज्ञा वा। संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः कर्मभिः।
ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः।
तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमा भवन्ति। न मध्यमेन। तदेतदृभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति।
आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते।

अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानु गच्छथ॥

[ऋ.१.१६१.११]

अगोह्य आदित्योऽगूहनीयः। तस्य यदस्वपथ गृहे।
यावत्तत्र भवथ न तावदिह भवथेति।
अङ्गिरसो व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥ १६॥

इस मन्त्र का ऋषि आङ्गिरस कुत्स है। इसका अर्थ है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति तीक्ष्ण वज्ररूप प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता ऋभवः एवं छन्द जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से ऋभु संज्ञक पूर्वोक्त पदार्थ दूर-दूर तक फैलते हुए गौर वर्ण को उत्पन्न करते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(विष्ट्वी, शमी, तरणित्वेन, वाघतः, मर्त्तासः, सन्तः, अमृतत्वम्, आनशुः) 'कृत्वा कर्माणि क्षिप्रत्वेन वोढारो मेधाविनो वा मर्तासः सन्तोऽमृतत्त्वमानशिरे' [विष्ट्वी = कर्मनाम (निघं. २.१), शमी = कर्मनाम (निघं.२.१), आनशे = व्याप्तिकर्मा (निघं.२.१८)] वे ऋभु संज्ञक पदार्थ सूक्ष्म कणों को वहन करने में समर्थ होते हैं और वे मनस्तत्त्व से विशेष समृद्ध होते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि सूर्य की किरणों में मनस्तत्त्व की मात्रा अधिक होती है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वैदिक रश्मि सिद्धान्त के अनुसार किसी भी मूलकण में रश्मियों की संख्या प्रकाशाणु की अपेक्षा अधिक होती है और उनका द्रव्यमान भी प्रकाशाणु की अपेक्षा अधिक होता है। इधर यहाँ प्रकाशाणु में मनस्तत्त्व वा महत्तत्त्व की मात्रा अधिक बताई गई है और छन्द वा प्राण रश्मियाँ मनस्तत्त्व में होने वाले स्पन्दन मात्र हैं। ऐसी स्थिति में मनस्तत्त्व की मात्रा अधिक होने पर भी प्रकाशाणु का द्रव्यमान कम क्यों होता है? यदि यहाँ ऋभु का अर्थ प्रकाशाणु न मानकर सोम्य कण (इलेक्ट्रॉन) मानें, तब

इनका द्रव्यमान भी अन्य कणों की अपेक्षा न्यून होता है। न्यूट्रिनो का द्रव्यमान और भी कम होता है। तब मनस्तत्त्व की मात्रा अधिक होने के उपरान्त भी द्रव्यमान न्यून क्यों? इस विषय में हमारा मत यह है कि द्रव्यमान किसी भी द्रव्य का एक गुण है, जैसे कि विद्युत् आवेशित कणों में विद्युत् आवेश एक गुण होता है। इन द्रव्यमान अथवा विद्युत् आवेश दोनों ही गुणों का न्यून वा अधिक होना मनस्तत्त्व की मात्रा पर नहीं, बल्कि उसमें होने वाले स्पन्दनों की संख्या और स्वरूप पर निर्भर करता है। इसी कारण इन सूर्य रश्मियों को यहाँ मेधावी अर्थात् मनस्तत्त्व से विशेष युक्त कहा गया है। इस बात को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि जैसे प्रकृति, जो पूर्णतया स्पन्दनरहित होती है, उसमें कोई भी द्रव्यमान नहीं होता, भले ही उसका आयतन अनन्त होवे। इस कारण द्रव्यमान आदि कणों की मात्रा पदार्थ की मात्रा पर नहीं, बल्कि उसमें विद्यमान स्पन्दनों की संख्या और स्वरूप पर निर्भर करती है।

ऐसे प्रकाशाणु (फोटोन) नाना प्रकार के और व्यापक कर्मों को अत्यन्त तीव्र गति से करते हैं। ये नश्वर होते हुए भी अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। यह वाक्य बहुत विचित्र प्रतीत होता है। नश्वर का अविनाशी होना विरोधाभासी प्रतीत होता है। यहाँ हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जिस पदार्थ में मनस्तत्त्व की मात्रा रश्मियों के अनुपात में अधिक होती है, उस पदार्थ की आयु भी उतनी ही अधिक होती है। इसी कारण प्रकाशाणु रश्मियों से मिलकर बना हुआ होने के उपरान्त भी अमरत्व को प्राप्त हो जाता है। यहाँ अमरत्व से तात्पर्य सृष्टिकाल तक विद्यमान रहने वाला ही मानना चाहिए, क्योंकि महाप्रलय की अवस्था में इनमें से किसी भी पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता। यहाँ 'ऋभु' शब्द का अर्थ इलेक्ट्रॉन आदि, ऐसे सूक्ष्म कण जो प्रकाशयुक्त होते हैं, भी होता है। इस स्थिति में भी इन कणों की आयु प्रकाशाणु आदि की आयु से न्यून होते हुए भी बहुत अधिक होती है। इस कारण इन्हें भी अमृतरूप कह सकते हैं।

(सौधन्वनाः, ऋभवः, सूरचक्षसः, संवत्सरे, सम्, अपृच्यन्त, धीतिभिः) 'सौधन्वना ऋभवः सूरख्याना वा सूरप्रज्ञा वा संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः कर्मभिः' ऋभु नामक कण वा विकिरण सुन्दर धनु अर्थात् वज्र रश्मियों से उत्पन्न होते हैं। इस बात का संकेत इन आर्ष वचनों में भी छुपा हुआ प्रतीत होता है— वज्रो वै सामिधेन्यः (कौ.ब्रा.३.२, ७.२), संवत्सरो हि वज्रः (श.ब्रा.३.४.४.१५)। ये कण वा विकिरण सूर्य के समान प्रकाशयुक्त

होते हैं। इसके साथ ही ये सूर्य के समान तीक्ष्ण तेज से भी युक्त होते हैं। ये कण वा विकिरण संवत्सर अर्थात् सूर्यलोक अथवा किसी तेजस्वी विशाल खगोलीय पिण्ड में नाना प्रकार के कर्मों के साथ संयुक्त रहते हैं अर्थात् नाना प्रकार के कर्मों में रत रहते हैं। इस मन्त्र में ऋभु शब्द से जो कण और विकिरण अर्थ ग्रहण किया गया है, उस पर गम्भीरता से विचार करने पर हमें तेजस्वी कण अर्थ ग्रहण करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि आदित्य किरणों को ऋभु कहने के उदाहरण रूप में अगले मन्त्र को प्रस्तुत किया गया है। स्मरणीय है कि इलेक्ट्रॉन आदि मूल कणों की आयु भी लगभग सृष्टिकाल के बराबर ही होती है और ऐसे जो भी कण हैं, यदि उनमें दीप्ति भी विद्यमान हो, तो उन्हें भी अविनाशी के रूप में माना जा सकता है। इस कारण इन्हें भी ऋभु कहते हैं।

भावार्थ— सूर्य से आने वाले फोटॉन्स में वर्तमान में माने जाने वाले मूल कणों की अपेक्षा रश्मियों की संख्या कम परन्तु मनस्तत्त्व की मात्रा अधिक होती है। किसी भी पदार्थ का द्रव्यमान उसमें विद्यमान मनस्तत्त्व की मात्रा पर नहीं, बल्कि उसमें विद्यमान रश्मियों की संख्या पर निर्भर होता है। इसी प्रकार विद्युत् आवेश की मात्रा के विषय में भी समझें। प्रकृति रूपी पदार्थ मात्रा की दृष्टि से अनन्त होता है, परन्तु उसमें कोई भी स्पन्दन नहीं होने से उस पदार्थ में न तो कोई द्रव्यमान होता है और न कोई विद्युत् आवेश। जिस पदार्थ में मनस्तत्त्व की मात्रा जितनी अधिक होती है, वह उतना ही अधिक आयु वाला होता है। सूक्ष्म कण जिनमें प्रकाश की मात्रा जितनी अधिक होती है, उनकी आयु भी उतनी ही अधिक होती है। इसी कारण फोटॉन की आयु किसी भी कण की अपेक्षा अधिक होती है।

मन्त्र की व्याख्या के पश्चात् ग्रन्थकार इसी प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं— 'ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमा भवन्ति न मध्यमेन तदेतदृभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति' अर्थात् अंगिरा संज्ञक प्राण रश्मियों से उत्पन्न सुधन्वा संज्ञक उपर्युक्त वज्र रश्मियों से तीन प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं—

१. ऋभु — इनकी चर्चा हम उपर्युक्त मन्त्र के भाष्य में तथा पूर्व खण्ड में कर चुके हैं।

२. विभ्वा — एक ऐसा पदार्थ, जो व्यापक होने के साथ-साथ विभिन्न पदार्थों को नियन्त्रित करने में समर्थ भी होता है, उसे विभ्वा कहते हैं। हमारी दृष्टि में आकाशतत्त्व

को यहाँ विभ्वा कहा जा सकता है, क्योंकि आकाशतत्त्व व्यापक भी होता है और सूक्ष्म पदार्थों को विभिन्न प्रकार के बलों की क्रिया के दौरान नियन्त्रित करने में भी समर्थ होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आकाशतत्त्व की उत्पत्ति से पूर्व ये सूक्ष्म वज्र रश्मियाँ उत्पन्न हो चुकी होती हैं। आकाशतत्त्व की इकाईयों के निर्माण और उनके मिलने से व्यापक आकाशतत्त्व के निर्माण की प्रक्रिया में उन धनु संज्ञक वज्र रश्मियों की भूमिका होती है।

३. वाजः — विभिन्न प्रकार के संयोज्य कण एवं बड़ी छन्द रश्मियों को वाज कहते हैं। इनकी उत्पत्ति में भी इन सूक्ष्म रश्मियों की भूमिका होती है।

इसलिए इन तीनों ही प्रकार के पदार्थों को अङ्गिरा के पुत्र सुधन्वा का पुत्र माना गया है। इनमें से प्रथम और तृतीय पदार्थवाची पदों को बहुवचन में प्रयुक्त किया जाता है अर्थात् मन्त्रों में इनका प्रयोग बहुवचन में मिलता है और विभ्वा एकवचन में, जिसका मूल पद विभुवन् है। यह जो ऋभुः पद है, उसके बहुवचनान्त पद का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में मिलता है। उन सूक्तों में यह प्रयोग चमस् पद के साथ मिलता है।

अब ग्रन्थकार ऋभु शब्द से आदित्य रश्मियों का ग्रहण करते हुए एक ऋचा का उत्तरार्द्ध प्रस्तुत करते हैं— 'अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानु गच्छथ'। इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में हम अनेकत्र लिख चुके हैं। इसका देवता ऋभवः और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से आदित्य रश्मियाँ तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अगोह्यस्य, यत्, असस्तन, गृहे, तत्, अद्य, इदम्, ऋभवः, न, अनु, गच्छथ) 'अगोह्य आदित्योऽगूहनीयः तस्य यदस्वपथ गृहे यावत्तत्र भवथ न तावदिह भवथेति' यहाँ सूर्य को अगोह्य कहा गया है, क्योंकि यह कभी छिपता नहीं है और न छिप सकता है। इस ऐसे सूर्यलोक में जब ऋभु अर्थात् आदित्य रश्मियाँ सोई रहती हैं, यहाँ सोने का तात्पर्य यह है कि सूर्य के केन्द्र में उत्पन्न विकिरण जब तक उसके अन्दर ही गमन करते हैं, तब तक वे यहाँ पृथ्वी आदि लोकों पर नहीं होते हैं। विज्ञान के विद्यार्थी यह जानते हैं कि अपने सूर्यलोक के केन्द्र में उत्पन्न कोई भी विकिरण लगभग एक लाख वर्ष तक सूर्य में ही विचरण करने के पश्चात् अन्तरिक्ष में उत्सर्जित हो पाते हैं। इस प्रकार वे एक लाख वर्ष तक अस्तित्व में होते हुए भी हमारे लिए अस्तित्व में नहीं होते हैं या अविद्यमान होते हैं

और इस कारण उन विकिरणों की दृष्टि में सूर्यलोक हमसे छिपा हुआ ही रहता है और जो दिखाई भी देता है, वह अन्य विकिरणों के कारण ही दिखाई देता है, न कि सूर्य में भ्रमण करते हुए विकिरणों के कारण।

'ऋभवः' पद की व्याख्या के पश्चात् 'अङ्गिरसः' पद के निर्वचन के लिए पूर्व खण्ड ३.१७ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= सप्तदशः खण्डः =

विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे॥ [ऋ.१०.६२.५]
बहुरूपा ऋषयस्ते गम्भीरकर्माणो वा। गम्भीरप्रज्ञा वा। तेऽङ्गिरसः पुत्राः। तेऽग्नेरधिजज्ञिरे। इत्यग्निजन्म। पितरः, व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥ १७॥

इस मन्त्र का ऋषि नाभानेदिष्ठ है। [नाभिः = नाभिर्वै हिङ्कारः (जै.ब्रा.१.३०६), अथ त्रिष्टुप् नाभिरेव सा (जै.ब्रा.१.२५४)। मनुः = मनुर्यज्ञनीः (तै.सं.३.३.२.१), आयुर्वै मनुः (कौ.ब्रा.२६.१७), मनोर्यज्ञऽइत्यु वाऽआहुः (श.ब्रा.१.५.१.७)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति यजनशील 'हिम्' रश्मियों से उत्पन्न एक विशेष प्रकार की प्राण रश्मि, जो त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के निकटतम स्थित होती है, से होती है। यहाँ आयुः पद में वकार का लोप हुआ है। यह पद मूल में 'वायुः' है। इसका देवता विश्वदेवा आङ्गिरस तथा छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न छन्द रश्मियाँ अनुकूल ऊर्जा वाली होकर खाकी रंग की दीप्ति को उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(विरूपासः, इत्, ऋषयः, ते, इत्, गम्भीरवेपसः) 'बहुरूपा ऋषयस्ते गम्भीरकर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा' विविध रूपों वाली ये ऋषि रश्मियाँ गहन कर्मों और दीप्तियों से युक्त होती हैं। यद्यपि इस छन्द का ऋषि नाभानेदिष्ठ ही है, पुनरपि हमें यहाँ इन्हीं ऋषि रश्मियों के

स्वरूप का वर्णन किया गया प्रतीत होता है। [गम्भीरः = गम्भीर वाङ्नाम (निघं.१.११), गम्भीरे द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)] ये ऋषि रश्मियाँ ऐसी वाक् रश्मियों का रूप होती हैं, जो विभिन्न द्यौ और पृथ्वी के निर्माण में विशेष क्रियाशील होती हैं। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ के २२वें अध्याय में नाभानेदिष्ठ आदि ऋषि रश्मियों से उत्पन्न सूक्त रूप रश्मिसमूहों का वर्णन है, जिसमें यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि इन छन्द रश्मियों की भूमिका विभिन्न प्रकाशित और अप्रकाशित लोकों के निर्माण में होती है और इस समय विविध रूप-रंग का प्राकट्य होने लगता है।

(ते, अङ्गिरसः, सूनवः, ते, अग्नेः, परि, जज्ञिरे) 'तेऽङ्गिरसः पुत्राः तेऽग्नेरधिजज्ञिरे इत्यग्निजन्म' वे द्यौ एवं पृथ्वी लोक अङ्गिरस से उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह है कि इन दोनों ही पदार्थों की उत्पत्ति सूक्ष्म कणों वा विकिरणों के रूप में प्राणरूपी अग्नि से होती है और स्थूल रूप में इन दोनों ही प्रकार के लोकों की उत्पत्ति अंगारों से होती है। सूर्य में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने से पूर्व तथा पृथ्वी आदि लोकों के वर्तमान स्वरूप को प्राप्त करने से पूर्व ये दोनों ही लोक विशाल अग्निपिण्ड के रूप में होते हैं। इस कारण इन दोनों ही लोकों का जन्म अग्नि से हुआ है, ऐसा कहा जाता है।

'अङ्गिरसः' पद के पश्चात् अग्रिम पद 'पितरः' के निर्वचन के लिए पूर्व खण्ड ४.२१ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

अष्टादशः खण्डः

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ [ऋ.१०.१५.१, यजु.१९.४९]

उदीरतामवरे, उदीरतां परे, उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्याः सोमसम्पादिनः ते। असुं ये प्राणमन्वीयुरवृका अनमित्राः। सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा। ते न आगच्छन्तु पितरो ह्वानेषु। माध्यमिको यम इत्याहुः।

तन्माध्यमिकान्पितॄन्मन्यन्ते।
अङ्गिरसो व्याख्याताः। पितरो व्याख्याताः। भृगवो व्याख्याताः।
अथर्वाणः। अथनवन्तः। थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः।
तेषामेषा साधारणा भवति॥ १८॥

इस मन्त्र का ऋषि शंख है। इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द उणादि-कोष १.१०२ की व्याख्या में लिखते हैं— 'शाम्यतीति शङ्खः' अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति ऐसी ऋषि रश्मियों से होती है, जो विभिन्न विक्षुब्ध क्रियाओं को शान्त वा सन्तुलित करने में समर्थ होती हैं। इसका देवता पितरः और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पितर संज्ञक पदार्थ विविध रूपों वाले तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उत्, ईरताम्, अवरे, उत्, परासः, उत्, मध्यमाः, पितरः, सोम्यासः) 'उदीरतामवरे, उदीरतां परे उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्याः सोमसम्पादिनः ते' [सोमः = द्यावापृथिव्योर्वा एष गर्भो यत्सोमो राजा (ऐ.ब्रा.१.२६), एष वै यजमानः यत्सोमः (तै.ब्रा.१.३.३.५), एतद्वै देवानां परममन्नं यत्सोमः (तै.ब्रा.१.३.३.२), हविर्वै देवानां सोमः (श.ब्रा.३.५.३.२)। पितरः = अनपहतपाप्मानः पितरः (श.ब्रा.२.१.३.४)] विशाल खगोलीय मेघों के अन्दर जो कण असुरादि पदार्थों के प्रभाव से मुक्त नहीं हुए होते हैं और जिनकी गति व मार्ग अपेक्षित ऊर्जा की कमी से सुनिश्चित नहीं हो पाए हैं, उन्हें पितर कहते हैं। ऐसे कण, जो उस मेघ के मध्य में, बाहरी क्षेत्र में और अन्यत्र जहाँ भी होते हैं, वे इस छन्द रश्मि के प्रभाव से उत्कृष्ट वा अपेक्षित गति को प्राप्त करते हैं। यहाँ ऐसे पदार्थों के तीन क्षेत्र बताए हैं— अवर, मध्यम और पर। यहाँ अवर का तात्पर्य उन विशाल मेघों के बाहरी क्षेत्रों में विद्यमान पदार्थों से है। मध्यम क्षेत्र में विद्यमान पदार्थ मध्यम और केन्द्रीय भाग में विद्यमान पदार्थ पर कहलाते हैं।

इन तीनों ही क्षेत्रों में विद्यमान पदार्थों के असुरादि पदार्थों से मुक्त होने अर्थात् समुचित क्रियाशीलता प्राप्त करने के लिए भिन्न-२ स्तर की ऊर्जा की आवश्यकता होती है, जो उस स्थान के ताप और दाब पर निर्भर करती है। निश्चित ही सम्पूर्ण मेघ में ताप और दाब समान नहीं होता है और न ही हो सकता है। इसी कारण इन सभी कण आदि पदार्थों

को पृथक्-२ रूप से उत्कृष्ट कम्पन करने की आवश्यकता होती है और उसी की चर्चा यहाँ की गई है। इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करने वाली शंख नामक ऋषि रश्मियाँ इस कार्य में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन पितर संज्ञक कणों को सोम सम्पादक इसलिए कहा गया है, क्योंकि अपेक्षित गति वा मार्ग प्राप्त करने के पश्चात् ये पदार्थ हवि रूप धारण करने में समर्थ होते हैं, क्योंकि इनमें संयोजक बलों की उत्पत्ति हो जाती है।

(असुम्, यः, ईयुः, अवृका, ऋतज्ञाः, ते, नः, अवन्तु, पितरः, हवेषु) 'असुं ये प्राणमन्वी-युरवृका अनमित्राः सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा ते न आगच्छन्तु पितरो ह्वानेषु माध्यमिको यम इत्याहुः तन्माध्यमिकान्पितॄन्मन्यन्ते' इस प्रकार की स्थिति को प्राप्त करके वे पितर संज्ञक पदार्थ शत्रुरहित हो जाते हैं अर्थात् वे बाधक असुरादि पदार्थों के द्वारा हिंसित नहीं होते। इसके साथ ही वे ऋतज्ञ अर्थात् विभिन्न यजन क्रियाओं को जानने वाले हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे उस खगोलीय मेघ के अन्दर निर्माणाधीन सूर्यादि लोकों एवं पृथ्वी आदि लोकों के गर्भरूप केन्द्रों के निर्माण की विज्ञानपूर्वक प्रक्रिया को सम्पादित करने में समर्थ होने लगते हैं। इसके लिए वे कण नाना प्रकार की प्राण रश्मियों में व्याप्त होकर शंख संज्ञक ऋषि रश्मियों के संरक्षण वा नियन्त्रण को प्राप्त करके यजन क्रियाओं को सम्पादित करने लगते हैं। इन क्रियाओं में शंख संज्ञक ऋषि रश्मियाँ उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करती हुई संतुलित करने लगती हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १५वें सूक्त में भी यह मन्त्र आया है, जिसका ऋषि शङ्ख यामायन बतलाया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि शंख संज्ञक रश्मियाँ यम नामक एक प्रकार की वायु रश्मियों से उत्पन्न होती हैं। ये वायु रश्मियाँ मध्यम अर्थात् अन्तरिक्षस्थानी होती हैं, इस कारण पितर संज्ञक पदार्थों को भी मध्यमस्थानीय माना गया है।

इस प्रकार अब तक ३.१७ में 'अङ्गिरसः' ४.२१ में 'पितरः' और ३.१७ में 'भृगवः' का निर्वचन किया जा चुका है। अब अगले पद 'अथर्वाणः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अथर्वाणः अथनवन्तः थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः' अर्थात् स्थिर रहने वाले पदार्थ अथर्वा कहलाते हैं। यहाँ 'थर्वति' धातु चलने के अर्थ में है और 'अथर्वाणः' पद में चलने का निषेध है। इनकी सामान्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकोनविंशः खण्डः =

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥

[ऋ.१०.१४.६, यजु.१९.५०]

अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वा। अथर्वाणो भृगवः।
सोम्याः सोमसम्पादिनः। तेषां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतौ यज्ञियानाम्।
अपि चैषां भद्रे भन्दनीये भाजनवति वा कल्याणे मनसि स्यामेति।
माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः। पितर इत्याख्यानम्।
अथाप्यृषयः स्तूयन्ते॥ १९॥

इस मन्त्र का ऋषि पूर्ववत् है। देवता और छन्द भी पूर्ववत् हैं, ऐसा ऋषि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में निर्दिष्ट है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अङ्गिरसः, नः, पितरः, नवग्वाः, अथर्वाणः, भृगवः, सोम्यासः) 'अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वा अथर्वाणो भृगवः सोम्याः सोमसम्पादिनः' पूर्वोक्त शंख ऋषि के क्षेत्र में ही अनेक प्रकार के पदार्थ उत्पन्न वा विद्यमान होते हैं—

१. **अङ्गिरसः** — जलता हुआ अग्नि अङ्गिरस कहलाता है अथवा अंगारों से युक्त अग्नि अङ्गिरस कहलाता है। सूक्ष्म स्तर पर प्राण रश्मियों को अंगिरा कहते हैं।

२. **पितरः** — इसके विषय में हम पूर्व मन्त्र में लिख चुके हैं।

३. **नवग्वाः** — [नव = न वननीया नावाप्ता वा (निरु.३.१०)] ऐसे पदार्थ जो नए-नए उत्पन्न हुए ही होते हैं और सम्पूर्ण क्षेत्र में विद्यमान भी नहीं होते हैं, नवग्वा कहलाते हैं। इन रश्मियों की गति को जानना कठिन होता है अर्थात् इनकी गति विचित्र और रहस्यमयी होती है।

४. **अथर्वाणः** — ये ऐसी रश्मियाँ होती हैं, जो निश्चल तो नहीं, परन्तु अत्यन्त मन्द गति वाली होती हैं। हमारी दृष्टि में नाग प्राण को अथर्वाण कहा जा सकता है। नाग प्राण के प्रभाव क्षेत्र में सम्पादित होने वाली क्रियाओं को जानने के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' का

२०वाँ अध्याय पठनीय है।

५. भृगुः — इनके विषय में पूर्व में खण्ड ४.२३ पठनीय है।

६. सोम्यासः — इसके विषय में पूर्व खण्ड पठनीय है।

ये सभी छः पदार्थ शंख ऋषि रश्मि के प्रभाव क्षेत्र में होते हैं।

(तेषाम्, वयम्, सुमतौ, यज्ञियानाम्, अपि, भद्रे, सौमनसे, स्याम) 'तेषां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतौ यज्ञियानाम् अपि चैषां भद्रे भन्दनीये भाजनवति वा कल्याणे मनसि स्यामेति' इसके साथ ही ये पदार्थ कमनीय यजन कार्यों को सम्पादित करने वाले भी होते हैं। ऐसे याजक पदार्थों में विद्यमान अनेक कमनीय वाक् रश्मियाँ और उनकी दीप्ति में शंख रश्मियाँ व्याप्त होती हैं। इन सभी पदार्थों का जो कमनीय आधार मनस्तत्त्व होता है, उसी में शंख संज्ञक रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। इसी कारण ये रश्मियाँ उपर्युक्त सभी पदार्थों के साथ अन्योन्य क्रियाएँ करती हैं।

मन्त्र के भाष्य के उपरान्त ग्रन्थकार लिखते हैं— 'माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः पितर इत्याख्यानम् अथाप्यृषयः स्तूयन्ते' अर्थात् ये उपर्युक्त अङ्गिरस आदि सभी छः पदार्थ मध्यमस्थानी देवता हैं, ऐसा विभिन्न निरुक्तकारों का कथन है, परन्तु आख्यानवित् इन्हें पितर मानते हैं और कुछ आचार्यों के मत में इनकी ऋषियों के रूप में स्तुति की जाती है। इस विषय में पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार का कथन उचित प्रतीत होता है—

"जिस प्रकार ऋ.७.३३ सूक्त में पितर शब्द के होने पर (७.३३.४) भी वसिष्ठ नाम से ऋषियों की ही स्तुति की जाती है, पितर की नहीं, उसी प्रकार यहाँ भी 'अङ्गिरसः' आदि भिन्न-२ देवता ही समझने चाहिए, पितरों के विशेषण नहीं।"

* * * * *

= विंशः खण्डः =

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः।

वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः ॥ [ऋ.७.३३.८]
इति यथा। आप्त्याः, आप्नोतेः। तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि॥ २०॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठपुत्र है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राण से उत्पन्न एक रश्मि विशेष से होती है। इसका देवता वसिष्ठ और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व में विविध प्रकार के रक्तवर्णीय तेज की उत्पत्ति वा समृद्धि होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सूर्यस्य, इव, वक्षथः, ज्योतिः, एषाम्, समुद्रस्य, इव, महिमा, गभीरः) [वक्षथः = रोषः (ऋषि दयानन्द भाष्य)] सबको बसाने वाले वसिष्ठ संज्ञक अग्नितत्त्व का तेज सूर्य के समान उग्र ज्योति वाला, समुद्र के समान व्यापक और गम्भीर होता है। [समुद्रः = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), गम्भीरः = गम्भीरा वाङ्नाम (निघं.१.११)] इसका अर्थ यह है कि अग्नि के परमाणु सूर्य के समान तेजयुक्त और विद्युत् शक्ति से पूर्ण होते हैं। यद्यपि अग्नि के परमाणुओं में कोई भी विद्युत् आवेश नहीं होता, परन्तु उनमें विद्युत् उदासीन रूप में अवश्य रहती है। यदि ऐसा नहीं होता, तो उनकी विद्युतावेशित कणों के साथ कोई अन्योन्य क्रिया नहीं होती। ये अग्नि के परमाणु समुद्र अर्थात् आकाशतत्त्व के समान व्यापक ब्रह्माण्ड में फैले हुए और वाक् तत्त्व से परिपूर्ण होते हैं अथवा वाक् तत्त्व से ही निर्मित होते हैं।

(वातस्य, इव, प्रजवः, न, अन्येन, स्तोमः, वसिष्ठाः, अनु, एतवे, वः) ये आग्नेय कण वायुतत्त्व के समान तीव्र वेग वाले होते हैं। इस अग्नि के अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ इस प्रकार तेजयुक्त नहीं होता। वसिष्ठपुत्र अर्थात् अग्नि से उत्पन्न आपः आदि पदार्थ अग्नितत्त्व का ही अनुकरण करते हुए उसी में व्याप्त रहते हैं। इस सृष्टि के सभी प्रकाशित और अप्रकाशित पदार्थ अग्नि का ही अनुकरण करते हैं और अग्नि के ही कारण विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न भी करते हैं।

अब ग्रन्थकार 'आप्त्याः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं— 'आप्त्याः आप्नोतेः' अर्थात् यह पद 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह इन्द्र देवता वाली ऋचा में निपात के रूप में विद्यमान होता है। इसकी ऋचा को अगले में प्रस्तुत किया गया

है।

* * * * *

= एकविंशः खण्डः =

स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम्।
आ दर्षते शवसा सप्त दानून्प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि॥

[ऋ.१०.१२०.६]

स्तोतव्यं बहुरूपमुरुभूतमीश्वरतममाप्तव्यानाम्।
आदृणाति यः शवसा बलेन सप्त दातॄनिति वा। सप्त दानवानिति वा।
प्रसाक्षते प्रतिमानानि बहूनि। साक्षतिराप्नोतिकर्मा॥ २१ ॥

इस मन्त्र का ऋषि आथर्वण बृहद्दिव है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण रश्मियों से उत्पन्न विशेष दीप्ति और आकर्षण गुण से युक्त विशेष प्रकार की ऋषि रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द पादनिचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(स्तुषेय्यम्, पुरुवर्पसम्, ऋभ्वम्, इनतमम्, आप्त्यम्, आप्त्यानाम्) 'स्तोतव्यं बहुरूपमुरुभूतमीश्वरतममाप्तव्यानाम्' [स्तुषेय्यं = स्तूयतेऽसौ स्तुषेय्यः, पुरन्दरो वा। 'क्सेय्यः' इति पाठान्तरं, तदा स्तुषेय्यः (उ.को.३.९९), वर्पः = रूपनाम (निघं.३.७)] जो व्यापक से भी व्यापक, प्रकाशित होने योग्य विविध प्रकार के रूपों वाला, विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ और समर्थों में समर्थ इन्द्रतत्त्व है।

(आ, दर्षते, शवसा, सप्त, दानून्, प्र, साक्षते, प्रतिमानानि, भूरि) 'आदृणाति यः शवसा बलेन सप्त दातॄनिति वा सप्त दानवानिति वा प्रसाक्षते प्रतिमानानि बहूनि साक्षतिराप्नोतिकर्मा' वह अपने महान् बल से सात प्रकार के वृष्टिप्रदाता मेघों को विदीर्ण करता है। यहाँ वृष्टि का अर्थ जल की वृष्टि ही नहीं मानना चाहिए, बल्कि किसी भी प्रकार के कण

वा विकिरण आदि पदार्थों को उत्सर्जित करने वाले मेघ भी यहाँ ग्रहण किये जाने चाहिए। इस सृष्टि में सभी तारे और उनके परिवार के सदस्य लोक खगोलीय मेघों से ही उत्पन्न होते हैं। ब्रह्माण्ड में तारों की सात श्रेणियाँ हैं अर्थात् तारे स्वरूप की दृष्टि से सात प्रकार के हैं और ये सातों प्रकार के तारे सात प्रकार के मेघों से उत्पन्न होते हैं। उन मेघों को विखण्डित करके लोकों का निर्माण करने में शक्तिशाली इन्द्रतत्त्व की ही विशेष भूमिका होती है। वह इन्द्रतत्त्व अपने बल से उन मेघों को अनेक रूपों में परिवर्तित करता है और वे रूप सात प्रकार के तारों और उनके ग्रह-उपग्रह आदि लोकों के रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार वह इन्द्रतत्त्व ही इन क्रियाओं के द्वारा अनेक रूपों में प्रकट होता है। यह इन्द्रतत्त्व प्रकाशयुक्त एवं अनेक रूपों वाला होता है। जहाँ जिस रूप वा स्तर के इन्द्रतत्त्व की आवश्यकता होती है, वहाँ वही इन्द्रतत्त्व प्रकट होता है। इस सृष्टि में इन्द्रतत्त्व का बल सबसे अधिक माना जाता है। जैसे इस सृष्टि का विस्तार बहुत अधिक है, वैसे ही इन्द्रतत्त्व भी अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में विद्यमान होता है।

* * * * *

= द्वाविंशः खण्डः =

अथातो मध्यस्थानाः स्त्रियः। तासामदितिः प्रथमागामिनी भवति। अदितिः व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ २२॥

इसके अनन्तर मध्यमस्थानी स्त्रीरूप देवताओं की चर्चा प्रारम्भ करते हैं, उनमें से सर्वप्रथम अदिति देवता की चर्चा करेंगे। इस पद की व्याख्या पूर्व में खण्ड ४.२२-२३ में की गई है। इसकी ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= त्रयोविंशः खण्डः =

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु॥

[ऋ.१०.६४.५]

दक्षस्य वाऽदिते जन्मनि। व्रते कर्मणि। राजानौ मित्रावरुणौ। परिचरसि।
विवासतिः परिचर्यायाम्।
हविष्माँ आविवासति॥ [ऋ.१.१२.९] इति।
आशास्तेर्वा। अतूर्तपन्था अत्वरमाणपन्थाः। बहुरथोऽर्यमादित्यः।
अरीन्नियच्छति। सप्तहोता। सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति।
सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा। विषमरूपेषु जन्मसु। कर्मसूदयेषु।
आदित्यो दक्ष इत्याहुः। आदित्यमध्ये च स्तुतः। अदितिर्दाक्षायणी।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥ [ऋ.१०.७२.४]
इति च। तत्कथमुपपद्येत। समानजन्मानौ स्यातामिति।
अपि वा देवधर्मेणेतरेतरजन्मानौ स्याताम्। इतरेतरप्रकृती।
अग्निरप्यदितिरुच्यते। तस्यैषा भवति॥ २३॥

इस मन्त्र का ऋषि गयप्लात है। [गयाः = स यदाह गयोऽसीति सोमं वैतदाहैष ह वै चन्द्रमाः भूत्वा सर्वांल्लोकान् गच्छति तद् यद् गच्छति तस्माद् गयस्तद् गयस्य गयतत्वम् (गो.पू.५.१४), प्राणा वै गयाः (श.ब्रा.१४.८.१५.७)] यहाँ 'प्रातः' के स्थान पर 'प्लातः' का प्रयोग है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अतितीव्रगामी प्राण रश्मियों से होती है। धनञ्जय रश्मि एवं प्राण रश्मि के मिश्रित रूप को भी गयप्लात कह सकते हैं। इसका देवता अदिति और छन्द निचृज्जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अदिति संज्ञक पदार्थ तीव्रतापूर्वक दूर-२ तक फैलते हुए गौरवर्ण से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(दक्षस्य, वा, अदिते, जन्मनि, व्रते, राजाना, मित्रावरुणा, आ, विवाससि) 'दक्षस्य वाऽदिते

जन्मनि व्रते कर्मणि राजानौ मित्रावरुणौ परिचरसि विवासतिः परिचर्यायाम् आदित्यो दक्ष इत्याहुः आदित्यमध्ये च स्तुतः अदितिर्दाक्षायणी' यह ऋचा आदित्यलोक के निर्माण की प्रक्रिया के मध्य उत्पन्न होती है। आदित्य लोक कभी क्षीण न होने वाले पदार्थ अर्थात् प्राण रश्मियों अथवा वायुतत्त्व रूपी अदिति से उत्पन्न होता है। आदित्य लोक की उत्पत्ति प्रक्रिया में प्राण एवं वाक् रूप अदिति रश्मियाँ देदीप्यमान अवस्था को प्राप्त हुए प्रकाशित और अप्रकाशित कणों अर्थात् प्रकाशाणुओं एवं मूल कणों की सेवा करती हैं। इसका अर्थ यह है कि ये दोनों प्रकार की रश्मियाँ इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न भी करती हैं और उन्हें क्रियाशील भी रखती हैं। इन दोनों ही प्रकार की रश्मियों के बिना किसी भी कण अथवा विकिरण की न तो उत्पत्ति हो सकती है और न ही उसकी कोई क्रिया ही हो सकती है। इस कारण ही यहाँ इन रश्मियों को विभिन्न कणों और विकिरणों की सेवा करने वाला कहा गया है। यहाँ मित्र और वरुण को राजा कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि जब ये कण और विकिरण दोनों ही तेजस्वी अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, तभी आदित्य लोक का निर्माण हो पाता है। यह ध्यातव्य है कि प्राण एवं वाक् रश्मियाँ न केवल कणों और विकिरणों की तेजस्वी अवस्था के समय ही इन्हें क्रियाशील करती हैं, अपितु इन कणों की उत्पत्ति प्रक्रिया में भी इन्हीं की भूमिका होती है। यहाँ आदित्य लोक के जन्म की चर्चा की गई है, इस कारण ही यहाँ 'जन्मनि' पद का प्रयोग हुआ है।

(अतूर्तऽपन्थाः, पुरुऽरथः, अर्यमा, सप्तहोता, विषुरूपेषु, जन्मसु) 'अतूर्तपन्था अत्वरमाणपन्थाः बहुरथोऽर्यमादित्यः अरीन्नियच्छति सप्तहोता सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा विषमरूपेषु जन्मसु कर्मसूदयेषु' यह आदित्य लोक सदैव समान गति से गमन करता है। इसकी घूर्णन और परिक्रमण दोनों ही प्रकार की गतियाँ सदैव अपरिवर्तित रहती हैं और इसका मार्ग भी अविचलित रहता है। अपने परिवार के विभिन्न लोकों को नियन्त्रित करने वाला आदित्य लोक अनेक प्रकार की रमणीय रश्मियों के रथ पर आरूढ़ होकर गमन करता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक के परिक्रमण और घूर्णन कर्मों को सम्पादित करने के लिए अनेक तीक्ष्ण छन्दादि रश्मियाँ सदैव इसके साथ गमन करती रहती हैं। इस लोक को अर्यमा इस कारण भी कहते हैं, क्योंकि यह अपने अरि अर्थात् शत्रुओं को सदैव नियन्त्रित किए रहता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक की गतियों एवं स्वरूप में कोई भी असुरादि पदार्थ बाधक नहीं बन पाते। इस आदित्य लोक

को सप्तहोता भी कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य के प्रकाश में विद्यमान सात प्रकार की किरणें विभिन्न सूक्ष्म कणों के साथ अन्योन्य क्रियाएँ करती हैं। इनके द्वारा वे कण उनकी ओर आकृष्ट होते हैं और ये रश्मियाँ भी उन कणों की ओर आकृष्ट होती हैं। इस आदित्य लोक को सात ऋषि रश्मियाँ अर्थात् गायत्री आदि सात छन्द रश्मियाँ एवं प्राणादि सात मुख्य प्राण रश्मियाँ निरन्तर प्रकाशित करती हैं। ऐसा प्रकाशन कार्य कब होता है? इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि विषमरूप जन्म और कर्मों के उदयकाल में ये सात ऋषि रश्मियाँ ऐसा करती हैं। यहाँ आदित्य लोक के विषमजन्म का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिए कि इसकी निर्माण प्रक्रिया में अनेक रूप-रंगों का आविर्भाव होता है और उन सभी रूपों में रश्मियों की पृथक्-पृथक् मात्रा विद्यमान होती है। उन सभी में होने वाली विभिन्न क्रियाओं में भी रश्मिभेद रहता है।

भावार्थ— कोई भी तारा विभिन्न प्रकार की प्राण और छन्द रश्मियों से उत्पन्न होता है। ये रश्मियाँ सृष्टिकाल पर्यन्त बनी रहती हैं। इन रश्मियों के योग से ही विभिन्न मूल कणों और फोटॉन्स की उत्पत्ति होती है। ये ही उन्हें निरन्तर सक्रिय भी करती हैं। जब कण और विकिरण विशेष तेजस्वी अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, तभी तारों की उत्पत्ति हो पाती है। सभी लोक निश्चित घूर्णन और परिक्रमण गति से निरन्तर गमन करते रहते हैं। उनके मार्ग भी सदैव अपरिवर्तित ही रहते हैं। इन मार्गों के बनाने और उन्हें संरक्षित करने के लिए कुछ रश्मियाँ ही उत्तरदायिनी होती हैं। इन लोकों की गमनागमन क्रियाओं में कोई भी असुरादि पदार्थ बाधक नहीं बन सकता। तारों की निर्माण प्रक्रिया में भिन्न-२ समय पर भिन्न-२ रंग के प्रकाश की उत्पत्ति होती है।

यहाँ 'विवासति' क्रिया से 'आशास्ते:' का भी ग्रहण किया गया है, जिसका अर्थ है— इच्छा अथवा आकर्षण करना। इसके लिए एक निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'हविष्माँ आविवासति'। यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति। तस्मै पावक मृळय॥

इस मन्त्र का ऋषि काण्व मेधातिथि है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक

भाष्य इस प्रकार है—

(यः, हविष्मान्, देववीतये, अग्निम्, आविवासति) [हविः = मासा हवींषि (श.ब्रा.११.२.७.३)] जो पदार्थ नाना प्रकार की मास रश्मियों से युक्त होते हैं, वे नाना प्रकार के दिव्यकर्मों की व्याप्ति के लिए अग्नितत्त्व की कामना करते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब किसी पदार्थ में विभिन्न मास आदि रश्मियों की बहुलता होती है, तब वे पदार्थ एक-दूसरे को आकर्षित करते हुए नाना प्रकार के कर्मों में व्याप्त होने लगते हैं और इसके लिए वे पदार्थ अग्नि के परमाणुओं से भी संयुक्त होने लगते हैं।

(तस्मै, पावक, मृळय) उन हविष्मान् पदार्थों को वह पावक अग्नि सहजतापूर्वक कार्य करने में सक्षम बनाता है। अग्नि को पावक इस कारण कहते हैं, क्योंकि यह विभिन्न पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके शुद्ध रूप प्रदान करता है और अनिष्ट पदार्थों को उनसे पृथक् कर देता है। इसके कारण विशुद्ध हुए पदार्थ अपनी यजन क्रियाओं को सहजता से सम्पादित करने लगते हैं।

अब ग्रन्थकार ने अदिति और दक्ष दोनों का एक निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है— 'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि'। इसका भाष्य करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'इति च तत्कथमुपपद्येत समानजन्मानौ स्यातामिति अपि वा देवधर्मेणेतरेतरजन्मानौ स्याताम् इतरेतरप्रकृती'। यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि यह कैसे हो सकता है कि अदिति का जन्म आदित्य से होवे और आदित्य का जन्म अदिति से होवे, यह तो विरुद्ध कथन है। ग्रन्थकार ने इसका दो प्रकार से समाधान किया है—

१. दोनों का समान जन्म होवे। इसका अर्थ यह है कि आदित्य एवं अदिति रूप प्राण एवं छन्द आदि रश्मियाँ अथवा आदित्य एवं विभिन्न प्रकाशित वा अप्रकाशित कण, ये दोनों ही पदार्थ समान उपादान कारण मनस्तत्त्व से ही उत्पन्न होते हैं और मनस्तत्त्व में ही इनका जन्म एवं निवास होता है। इस कारण दक्ष एवं अदिति दोनों को ही समान जन्म वाला कहते हैं।

२. देवधर्म से ये दोनों एक-दूसरे से उत्पन्न हुए माने जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति प्राण व छन्दादि रश्मियों से होती है और आदित्य लोक से प्राण व छन्दादि रश्मियाँ निरन्तर उत्पन्न वा उत्सर्जित होती रहती हैं। इसलिए ये दोनों एक-दूसरे

के कारणरूप होते हैं। यहाँ 'देवधर्म' शब्द का प्रयोग इस बात का संकेत है कि इन दोनों ही पदार्थों में प्रकाशादि विभिन्न गुण एक-दूसरे से उत्पन्न होते हैं अथवा एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। जिन रश्मियों से अथवा जिन कणों से आदित्य लोक का निर्माण होता है, उन कणों वा रश्मियों का तेज आदित्य लोक पर भी निर्भर होता है, जिससे कि वे उत्सर्जित हो रही हैं। न्यून ताप वाले आदित्य लोक से उत्सर्जित होने वाले विकिरण न्यून ऊर्जायुक्त ही होते हैं। उधर न्यून ऊर्जा वाले कणों या रश्मियों से न्यून ताप वाला आदित्य लोक ही उत्पन्न होता है। इस कारण ये दोनों एक-दूसरे के कारण होते हैं।

अग्नि को भी अदिति कहा जाता है। उसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

चतुर्विंशः खण्डः

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता।
यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम॥

[ऋ.१.९४.१५]

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददासि। अनागास्त्वम्। अनपराधत्वम्।
अदिते सर्वासु कर्मततिषु। आग आङ्पूर्वाद् गमेः। एन एतेः।
किल्विषं किल्भिदम्। सुकृतकर्मणो भयम्। कीर्तिमस्य भिनत्तीति वा।
यं भद्रेण। शवसा बलेन। चोदयसि। प्रजावता च राधसा धनेन।
ते वयमिह स्यामेति। सरमा, सरणात्। तस्यैषा भवति॥ २४॥

इस मन्त्र का ऋषि आङ्गिरस कुत्स है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति कुछ तीक्ष्ण वज्र रश्मियों से होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व नीलवर्ण को उत्पन्न करता हुआ अपने बाहुरूप बलों के द्वारा परिपक्व और विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यस्मै, त्वम्, सुद्रविण:, ददाश:, अनागास्त्वम्, अदिते, सर्वताता) 'यस्मै त्वं सुद्रविणो ददासि अनागास्त्वम् अनपराधत्वम् अदिते सर्वासु कर्मततिषु आग आङ्पूर्वाद् गमेः एन एतेः किल्विषं किल्भिदम् सुकृतकर्मणो भयम् कीर्तिमस्य भिनत्तीति वा' [द्रविणम् = धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति (निरु.८.१)] अग्नितत्त्व रूपी अदिति अर्थात् अविनाशी अग्नितत्त्व जिन कणों को अच्छी प्रकार से बलसम्पन्न करता है, उन्हें और उनकी क्रियाओं को निर्बाध बनाता है। अग्नि के कारण विभिन्न कणों के मध्य लगने वाले बल बाधक असुरादि प्रभावों से प्रभावित नहीं होते हैं। इस कारण अग्नि उन कणों की सभी क्रियाओं को विस्तार देता रहता है। यहाँ 'अनाग:' पद अपराध के लिए आया है। इसे पाप भी कहते हैं। यह पदार्थ विभिन्न यजनशील कणों पर प्रहार करके बार-२ उनके मार्ग को विचलित कर देता है। इसकी व्युत्पत्ति आङ्पूर्वक गम् धातु से मानी गई है। इसका कारण यह है कि यह पदार्थ यजनशील पदार्थों पर सब ओर से आक्रमण करता है। इस पदार्थ को 'एन:' भी कहा गया है, क्योंकि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में किसी न किसी रूप में व्याप्त हो रहा है। अग्नितत्त्व इस पर प्रहार करके इसे दुर्बल बना देता है, जिससे यजन क्रियाएँ यथावत् होने लगती हैं। इस पाप संज्ञक पदार्थ को किल्विष भी कहते हैं, क्योंकि यह किल अर्थात् विभिन्न पदार्थों की गतियों को विदीर्ण करने में सक्षम होता है। यह अच्छी प्रकार यजन क्रिया कर रहे पदार्थों को कँपाकर उनके मार्गों को भ्रष्ट कर देता है, इससे उन पदार्थों की कीर्ति अर्थात् तेजस्विता भी छिन्न-भिन्न हो जाती है अर्थात् वे कण अपेक्षाकृत तेजहीन व निष्क्रिय हो जाते हैं। इन सभी अप-क्रियाओं को दूर करने में अग्नितत्त्व समर्थ होता है। इसका अर्थ यह है कि जिन कणों की ऊर्जा अधिक होती है, उनमें संयोगादि कर्म सहज भाव से होते रहते हैं।

(यम्, भद्रेण, शवसा, चोदयासि, प्रजावता, राधसा, ते, स्याम) 'यं भद्रेण शवसा बलेन चोदयसि प्रजावता च राधसा धनेन ते वयमिह स्याम' वह अग्नितत्त्व जिस पदार्थ को अपने अनुकूल उचित बल से प्रेरित करता है [प्रजा = प्रजा वै तन्तु: (ऐ.ब्रा.३.११), प्रजा वै बर्हि: (कौ.ब्रा.५.७), आदित्या वा इमा: प्रजा: (तां.ब्रा.१८.८.१२)] और वह जिन पदार्थों को आदित्य रश्मियों से युक्त करके आकाश के तन्तुओं से भी युक्त करता है, वे पदार्थ अग्निमय हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब किसी कण पर आदित्य रश्मियों अथवा अन्यत्र से प्राप्त किसी अन्य ऊर्जा को प्रदान किया जाता है, तब वह कण आकाश की

रश्मियों से इस प्रकार संयुक्त होता है कि उसके बल के कारण आकाश में विद्यमान बाधक सूक्ष्म रश्मियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और वह कण अग्नि के परमाणुओं के समान तीव्र एवं निरापद गमन करने लगता है। इससे वह अपनी यजन क्रियाओं को अनुकूलतापूर्वक करने में समर्थ हो जाता है।

भावार्थ— विद्युदग्नि ही सभी कणों को बल एवं क्रियाओं से युक्त करता है। विद्युत् के कारण ही विभिन्न पदार्थ असुरादि बाधक पदार्थों से प्रभावित नहीं होते हैं। इस सृष्टि में कुछ ऐसे पदार्थ भी होते हैं, जो संयोज्य पदार्थों को कँपाकर उनके तेज और मार्गों को भ्रष्ट कर देते हैं। ऐसी अपक्रियाओं को विद्युदग्नि के द्वारा ही दूर किया जाता है। जिन कणों की ऊर्जा अधिक होती है, वे संयोग क्रियाओं में सहजभाव से सफल होते हैं। जब किसी कण को ऊर्जा प्रदान की जाती है, तब वह कण आकाश की रश्मियों से इस प्रकार युक्त हो जाता है कि आकाश में छुपे हुए असुरादि पदार्थों को छिन्न-भिन्न कर देता है।

'अदितिः' पद के पश्चात् अब अगले पद 'सरमा' का निवर्चन करते हुए लिखते हैं— 'सरमा सरणात्' सरकने से कोई पदार्थ सरमा कहलाता है। सभी वाक् रश्मियाँ सरकती हुई ही गमन करती हैं अथवा सर्पिलाकार गमन करने से भी सरमा कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

पञ्चविंशः खण्डः

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः।
कास्मे हितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि॥

[ऋ.१०.१०८.१]

किमिच्छन्ती सरमेदं प्रानट्। दूरे ह्यध्वा। जगुरिः जङ्गम्यतेः।
पराञ्चनैः अचितः। का तेऽस्मास्वर्थहितिरासीत्। किं परितकनम्।
परितक्म्या रात्रिः। परित एनां तक्म। तक्मेत्युष्णनाम। तकत इति सतः।

कथं रसाया अतरः पयांसीति। रसा नदी। रसतेः शब्दकर्मणः।
कथं रसानि तान्युदकानीति वा।
देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूदे। इत्याख्यानम्।
सरस्वती व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ २५॥

इस मन्त्र का ऋषि 'असुर-पाणि' है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति असुर रश्मि आदि पदार्थों के विभिन्न कार्य व्यवहारों के चलते होती है। हमारी दृष्टि में असुरपाणि उन रश्मियों को भी कह सकते हैं, जो असुर पदार्थ के हस्त के समान उसी प्रकार साधनरूप होती हैं, जिस प्रकार इन्द्रतत्त्व का साधन वज्ररूप सूक्ष्म रश्मियाँ होती हैं। उन ऐसी असुरपाणि सूक्ष्म रश्मियों, जो सूक्ष्म आसुर रूप ही होती हैं, से ही इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता सरमा और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वाक् तत्त्व विविध रूपों वाले रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(किम्, इच्छन्ती, सरमा, प्र, इदम्, आनट्, दूरे, हि, अध्वा, जगुरिः, पराचैः) 'किमिच्छन्ती सरमेदं प्रानट् दूरे ह्यध्वा जगुरिः जङ्गम्यतेः पराञ्चनैः अचितः' [आनट् = 'आनट्' आङ् पूर्वान्नशधातोर्व्याप्त्यर्थात् 'नशतेर्व्याप्तिकर्मा' (निघं.२.१८), लुङि रूपं च्लेर्लुक् च, आट् चागमोऽनजादावपि 'छन्दस्यापि दृश्यते' (अष्टा.६.४.७३), सरमा = वाग् वै सरमा (मै.सं. ४.६.४)] इस जगत् में विभिन्न वाक् रश्मियाँ प्राण रश्मियों को आकृष्ट करती हुई अथवा उनके द्वारा आकृष्ट होती हुई सर्वत्र गमन करती रहती हैं। यहाँ 'इदम्' पद से इस सम्पूर्ण प्रत्यक्ष जगत् का ग्रहण करना चाहिए अर्थात् जो भी यह चराचर जगत् है, उस सबमें वाक् तत्त्व व्याप्त हो रहा है। इस वाक् तत्त्व का प्राण तत्त्व के साथ नित्य एवं स्वाभाविक आकर्षण रहता है। [अध्वा = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)] ये दोनों प्रकार की रश्मियाँ व्यापक अन्तरिक्ष में दूर-दूर तक फैले हुए मार्गों पर गमन करती हैं। इन मार्गों पर अतिशीघ्रगामी पदार्थ ही गमन कर सकता है अर्थात् ये रश्मियाँ अति शीघ्रगामिनी होती हैं। वस्तुतः इनकी गति इस कारण और भी अधिक कही जाती है, क्योंकि ये सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में सदैव व्याप्त रहती हैं अथवा कहीं से भी कभी भी आवश्यकता होने पर प्रकट हो जाती हैं। इन मार्गों पर सबसे अधिक व्यापक गति परा रश्मियों की होती है, परन्तु यह गति नितान्त गुप्त या अव्यक्त ही होती है। ध्यातव्य है कि यहाँ 'किम्' पद को प्रश्नवाचक के

रूप में नहीं, बल्कि प्राणवाची 'कः' पद के 'कम्' रूप में ग्रहण करना चाहिए। आधिदैविक पक्ष में यही विकल्प है।

(का, अस्मे, हितिः, का, परितक्म्या, आसीत्, कथम्, रसायाः, अतरः, पयांसि) 'का तेऽस्मास्वर्थहितिरासीत् किं परितकनम् परितक्म्या रात्रिः परित एनां तक्म तक्मेत्युष्णनाम तकत इति सतः कथं रसाया अतरः पयांसीति रसा नदी रसतेः शब्दकर्मणः कथं रसानि तान्युदकानीति वा' 'हितिः' पद 'हि गतौ वृद्धौ परितापे च' धातु से व्युत्पन्न होता है। इन प्राण एवं छन्द रश्मियों की असुर रश्मियों में कैसे सत्ता बनी रहती है? उनका क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? वे कैसे गमन करती हैं? ये कुछ प्रश्नवाचक वाक्य हैं। वैदिक रश्मि सिद्धान्त के अनुसार इस सृष्टि पर किसी छन्द रश्मि का वही प्रभाव होता है, जो उस ऋचा का आधिदैविक भाष्य होता है। इस कारण इसका दूसरा अर्थ यह है कि असुर रश्मियों में वाक् रश्मियों का अस्तित्व और गति प्राण रश्मियों के कारण होती है। स्मरणीय है कि असुर रश्मियों का एक रूप उन प्राण रश्मियों के रूप में भी होता है, जिनका संयोग छन्द रश्मियों से नहीं हुआ हो। इसके लिए 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' का सातवाँ अध्याय पठनीय है।

इन प्राण रश्मियों की छन्द रश्मियों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण की प्रवृत्ति एवं असुर व देव पदार्थ दोनों के ही उपादान कारण मनस्तत्त्व के होने के कारण छन्द रश्मियाँ असुर पदार्थ के क्षेत्र में भी विद्यमान होती हैं। उस क्षेत्र में उनका सब ओर गमनागमन भी होता रहता है। असुर-क्षेत्र देव-क्षेत्र की अपेक्षा रात्रिरूप होता है और रात्रि सदैव दिन की अपेक्षा शीतल और अन्धकारमय होती है। असुर-क्षेत्र के बाहर जो देव-क्षेत्र होता है, वह अपेक्षाकृत उष्ण और प्रकाशयुक्त होता है। इस कारण ये छन्द रश्मियाँ उष्णता से शीतलता की ओर प्रवाहित होती हैं। यहाँ उष्णता को 'तक्म' इस कारण कहा है, क्योंकि [तकति = गतिकर्मा (निघं.२.१४)] उष्णता एवं प्रकाश जैसे गुण रश्मियों के साथ गमन करते हैं। जहाँ भी ये छन्द रश्मियाँ गमन करती हैं, उष्णता एवं प्रकाश जैसे गुणों को साथ ले जाती हैं। ये रश्मियाँ नदी के पयस् में कैसे तैरती हैं? [पयः = ज्वलतो नाम (निघं.१.१७), अन्ननाम (निघं.२.७), ऐन्द्रं पयः (गो.उ.१.२२), प्राणः पयः (श.ब्रा.६.५.४.१५)] यहाँ नदी पदार्थ की उन धाराओं का नाम है, जो ध्वनि उत्पन्न करता हुआ सम्पूर्ण देव पदार्थ में प्रवाहित होता रहता है। वह पदार्थ उदकरूप में सबको सिंचित करता हुआ अनेक रूपों में

बहता रहता है।

यहाँ यह प्रश्न किया गया है कि वे उदक किस-२ प्रकार के होते हैं? यहाँ 'कथम्' पद प्रश्नवाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु इस पद के प्रभाव के बारे में हम 'क्+अ+थ्+अ+म्' के प्रभाव पर विचार करते हैं। 'क्' अक्षर बलपूर्वक बाँधने वाला, 'थ्' अक्षर थामने वाला और 'म्' अक्षर मापने वाला और 'अ' अक्षर व्यापक प्रभाव को दर्शाते हैं। इसके लिए 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' का छठा अध्याय पठनीय है। इस कारण 'कथम्' पद के प्रभाव से यह छन्द रश्मि व्यापक क्षेत्र में नाना प्रकार की छन्द रश्मियों को बाँधती, थामती और मापती हुई गमन करती है।

भावार्थ— इस सृष्टि में सर्वत्र ही मरुत् रश्मियाँ व्याप्त हैं। इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है। इनकी गति अति तीव्र होती है। ये रश्मियाँ सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में कहीं भी प्रकट हो सकती हैं। इस कारण भी इनको अति तीव्रगामी कहा गया है। इस सृष्टि पर किसी छन्द रश्मि का वही प्रभाव होता है, जो उस ऋचा का आधिदैविक भाष्य होता है। प्राण रश्मियों के योग से वाक् रश्मियों की गति तीव्रतर हो जाती है। देव और असुर दोनों ही प्रकार के पदार्थ मनस्तत्त्व से उत्पन्न होते हैं। देव पदार्थ अपेक्षाकृत अधिक उष्ण एवं प्रकाशित होता है और असुर पदार्थ अन्धकारमय एवं शीतल होता है।

इस सम्पूर्ण सूक्त को देवशुनी [शुनः = शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे (निरु.९.४०)] अर्थात् देव वायु रश्मियाँ, जो इन्द्रतत्त्व के द्वारा असुर रश्मियों की ओर प्रक्षिप्त की जाती हैं, उन वायु रश्मियों और असुर रश्मियों के संवाद रूपी आख्यान के रूप में देखते हैं। आख्यानों में प्रश्नोत्तर का होना स्वाभाविक है, इस कारण प्रश्नवाची शब्दों का प्रयोग भी स्वाभाविक है, परन्तु सृष्टि प्रक्रिया में प्रभाव को दर्शाने में प्रश्नवाची शब्दों की कोई महत्ता नहीं है।

'सरमा' पद के पश्चात् 'सरस्वती' पद के निर्वचन के लिए पूर्व खण्ड ९.२६ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षड्विंशः खण्डः =

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः॥ [ऋ.१.३.१०]
पावका नः सरस्वत्यन्नैरन्नवती। यज्ञं वष्टु। धियावसुः कर्मवसुः।
तस्यैषाऽपरा भवति॥ २६॥

इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है, जिसके विषय में पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता सरस्वती और छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सरस्वती संज्ञक पूर्वोक्त धाराएँ श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पावका, नः, सरस्वती, वाजेभिः, वाजिनीवती) 'पावका नः सरस्वत्यन्नैरन्नवती' [सरस्वती = वाक् सरस्वती (श.ब्रा.७.५.१.३१), वाग्वै सरस्वती (कौ.ब्रा.५.२), वागेव सरस्वती (ऐ.ब्रा.२.२४), अथ यत्स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य (अग्नेः) सारस्वतं रूपम् (ऐ.ब्रा.३.४), वाङ्नाम (निघं.१.११)] इस ब्रह्माण्ड में सरस्वती रूप धाराएँ, जिनमें नाना प्रकार के संयोज्य कण आदि पदार्थ नाना प्रकार की क्रियाओं से युक्त होकर बहते रहते हैं, वे धाराएँ अत्यन्त उष्ण होती हैं। वे नाना प्रकार की छन्दादि रश्मियों व विभिन्न प्रकार के बलों से युक्त होकर मधुच्छन्दा ऋषि रश्मियों के (यज्ञं, वष्टु, धियावसुः) 'यज्ञं वष्टु धियावसुः कर्मवसुः' नाना प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करती हैं अथवा उन कर्मों के प्रति आकृष्ट होती हैं। वे धाराएँ नाना प्रकार की क्रियाओं से निरन्तर युक्त रहती हैं।

इसकी एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= सप्तविंशः खण्डः =

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति॥ [ऋ.१.३.१२]
महदर्णः सरस्वती प्रचेतयति प्रज्ञापयति। केतुना कर्मणा प्रज्ञया वा।
इमानि च सर्वाणि प्रज्ञानान्यभिविराजति। वागर्थेषु विधीयते।
तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते। वाक्। व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ २७॥

इसके ऋषि, देवता एवं छन्द पूर्ववत् हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(महः, अर्णः, सरस्वती, प्र, चेतयति, केतुना) 'महदर्णः सरस्वती प्रचेतयति प्रज्ञापयति केतुना कर्मणा प्रज्ञया वा' [अर्णः = उदकनाम (निघं.१.१२)] वे सरस्वती संज्ञक वाक् रश्मियाँ विज्ञानपूर्वक नाना प्रकार की क्रियाओं के द्वारा जलों के विशाल समुद्र को प्रकाशित वा सक्रिय करती हैं। इसका अर्थ यह है कि वे वाक् रश्मियाँ 'ओम्' रश्मियों की विज्ञानयुक्त प्रेरणा के द्वारा ब्रह्माण्ड में स्थित नाना प्रकार की तन्मात्राओं के विशाल सागर को सक्रिय करती हैं। इससे तन्मात्राओं का वह विशाल सागर प्रकाशित भी होने लगता है और उसका तापमान भी बढ़ने लगता है।

(धियः, विश्वः, वि, राजति) 'इमानि च सर्वाणि प्रज्ञानान्यभिविराजति वागर्थेषु विधीयते तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते' वे वाक् रश्मियाँ तन्मात्राओं के समुद्र रूप विशाल क्षेत्र में होने वाली सभी क्रियाओं को प्रकाशित करती हैं अर्थात् उन वाक् रश्मियों के कारण वह विशाल क्षेत्र क्रियाशील हो उठता है और तन्मात्राओं की ऊर्जा में वृद्धि होने लगती है।

ये सभी वाक् रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों में स्थित होती हैं। इसलिए अन्तरिक्ष में विद्यमान वाक् रश्मियों को सरस्वती कहते हैं, क्योंकि 'सरः' को उदक नामों में पढ़ा गया है। इस कारण तन्मात्राओं के विशाल सागर में विद्यमान रहने वाली अथवा उसमें प्रविष्ट होकर पदार्थमात्र को क्रियाशील करने वाली वाक् रश्मियों को सरस्वती कहते हैं।

'सरस्वती' के पश्चात् 'वाक्' के विषय में निरुक्त २.२३ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= अष्टाविंशः खण्डः =

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्त्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥

[ऋ.८.१००.१०]

यद्वाग्वदन्ति। अविचेतनानि, अविज्ञातानि। राष्ट्रीं देवानां निषसाद मन्द्रा। मदना। चतस्त्रोऽनुदिश ऊर्जं दुदुहे पयांसि। क्व स्विदस्याः परमं जगामेति। यत्पृथिवीं गच्छतीति वा। यदादित्यरश्मयो हरन्तीति वा। तस्यैषाऽपरा भवति॥ २८॥

इस मन्त्र का ऋषि नृमेध है [नरः = नरो ह वै देवविशः (जै.ब्रा.१.९०)] इसका अर्थ यह है कि जो ऋषि रश्मियाँ सभी देव प्रजाओं अर्थात् प्रकाशित कणों का संगम करने वाली होती हैं, उन्हें नृमेध कहते हैं। हमारी दृष्टि में प्राण नामक प्राण रश्मियों से मिश्रित सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ नृमेध कहलाती हैं। इसका देवता इन्द्र और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विविध रूपों से युक्त रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यत्, वाक्, वदन्ति, अविचेतनानि, राष्ट्री, देवानाम्, निषसाद, मन्द्रा) 'यद्वाग्वदन्ति अविचेतनानि अविज्ञातानि राष्ट्रीं देवानां निषसाद मन्द्रा मदना' अन्तरिक्ष में विद्यमान जो छन्द रश्मियाँ हैं, वे जिस स्तर की ध्वनि तरंगों को उत्पन्न करती हैं, उन तरंगों को सुनना और उनके अर्थों को जानना साधारणतः अज्ञात वा अज्ञेय होता है। ये ध्वनि तरंगें परा और पश्यन्ती अवस्था में विद्यमान होने के कारण साधारणतः अविज्ञेय होती हैं। इनकी दीप्ति भी साधारणतः अदर्शनीय ही होती है, पुनरपि इनको यहाँ राष्ट्री कहा गया है, क्योंकि भले ही उनकी दीप्ति अज्ञेय है, पुनरपि वे विभिन्न देव पदार्थों में विराजमान होकर उन्हें सक्रिय करती रहती हैं। इस सृष्टि में सूक्ष्म से लेकर विशालतम लोक-लोकान्तरों तक जो भी

क्रियाएँ दिखाई देती हैं, वे इन वाक् रश्मियों के कारण ही होती हैं। हर पदार्थ के अन्दर ये वाक् रश्मियाँ सदैव विद्यमान होती हैं अथवा वाक् रश्मियों के संघनन से ही सभी पदार्थ निर्मित हैं। ध्यातव्य है कि उच्च कोटि के सिद्ध योगी इन ध्वनियों को ग्रहण कर सकते हैं। हाँ, यह भी सत्य है कि इस ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार की ऐसी ध्वनियाँ होती हैं, जो सर्वथा अस्पष्ट होती हैं, उनका कारण अनेक छन्द रश्मियों का परस्पर विकृत होकर उलझ जाना ही है।

(चतस्रः, ऊर्जम्, दुदुहे, पयांसि, क्व, स्वित्, अस्याः, परमम्, जगाम) 'चतस्रोऽनुदिश ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगामेति यत्पृथिवीं गच्छतीति वा यदादित्यरश्मयो हरन्तीति वा' [पयः = ज्वलतो नाम (निघं.१.१७), अन्ननाम (निघं.२.७), ऐन्द्रं पयः (गो.उ.१.२२), प्राणः पयः (श.ब्रा.६.५.४.१५)] वे वाक् रश्मियाँ चारों वेद वाणियों अथवा परा आदि चार प्रकार के रूप में चारों दिशाओं में विभिन्न प्रकार के संयोज्य कण आदि पदार्थों में विद्युत् प्रकाश व ऊष्मा आदि भरती रहती हैं। इस वाक् तत्त्व का यह श्रेष्ठ रूप कहाँ अन्त को प्राप्त करता है अर्थात् इस रूप का कहीं भी अन्त नहीं होता है, क्योंकि वाक् तत्त्व सर्वत्र व्यापक है। इसके साथ ही यह वाक् तत्त्व अपने श्रेष्ठ रूप में प्राण तत्त्व को व्याप्त किए हुए है। जो वाक् तत्त्व संघनित होकर पृथ्वी रूप प्राप्त करता है और जिन वाक् रश्मियों को सूर्य की किरणें निरन्तर ग्रहण करती हैं, वे वाक् रश्मियाँ अन्तरिक्षस्थ छन्द रश्मियाँ ही हैं।

इसकी एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया है।

* * * * *

एकोनत्रिंशः खण्डः

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥ [ऋ.८.१००.११]
देवीं वाचमजनयन्त देवाः। तां सर्वरूपाः पशवो वदन्ति।

व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च।
सा नो मदनाऽन्नं च रसं च दुहाना धेनुर्वागस्मानुपैतु सुष्टुता।
अनुमति राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः। पौर्णमास्याविति याज्ञिकाः।
या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिः।
या उत्तरा सा राका। [मै.सं.४.३.५, ऐ.ब्रा.७.११] इति विज्ञायते।
अनुमतिः। अनुमननात्। तस्यैषा भवति॥ २९॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्व खण्डवत् और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसका दैवत और छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवीम्, वाचम्, अजनयन्त, देवाः, ताम्, विश्वरूपाः, पशवः, वदन्ति) 'देवीं वाचमजनयन्त देवाः तां सर्वरूपाः पशवो वदन्ति व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च' सृष्टि में विभिन्न देव पदार्थ अथवा प्राण रश्मियाँ दैवी अर्थात् दीप्तियुक्त छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। सृष्टि के सभी दृश्य पदार्थ इन छन्द रश्मियों से ही उत्पन्न होते हैं और इनको ही निरन्तर उत्सर्जित भी करते रहते हैं। प्राण रश्मियों से छन्द रश्मियों का उत्पन्न होना पाठकों को कुछ विचित्र प्रतीत हो सकता है, परन्तु यह सत्य है, क्योंकि अन्ततः वाक् रश्मियाँ और प्राण रश्मियाँ एक ही होती हैं। इसलिए कहा है— प्राणो वै वाक् (मै.सं.३.२.८), तस्या (वाचः) उ प्राण एव रसः (जै.उ.१.१.७), सा ह वागुवाच (हे प्राण) यद्वाऽअहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति (श.ब्रा.१४.९.२.१४)। इस कारण जहाँ लघु छन्द रश्मियाँ प्राण रश्मियों को उत्पन्न करती हैं, वहीं प्राण रश्मियाँ बड़ी छन्द रश्मियों को उत्पन्न कर सकती हैं। इस कारण प्राण रश्मियों रूपी देवों द्वारा वाक् रश्मियों को उत्पन्न करने की बात कही गई है। उस ऐसी वाक् को सभी प्रकार के पशु [पशुः = पशवः प्रजननम् (जै.ब्रा.२.१०८), पशव स्वर्गो लोकः (जै.ब्रा.२.१०९), पशवो यशः/यज्ञः (गो.उ.५.६/श.ब्रा.५.४.३.२)] बोलते हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी प्रकार के पदार्थ पारस्परिक संयोग करते समय वाक् रश्मियों को उत्पन्न व उत्सर्जित करते हैं। इसके साथ ही सृष्टि में विद्यमान सभी तारों के केन्द्रीय भाग निरन्तर अनेक प्रकार की वाक् रश्मियों को उत्पन्न करते रहते हैं।

यहाँ 'सर्वरूपाः' पद 'पशवः' पद का विशेषण है। इस कारण यह प्रकट होता है

कि यजनशील कणों और तारों की अनेक श्रेणियाँ होती हैं, उन सभी श्रेणियों के विषय में यह बात कही गई है। इसके पश्चात् ग्रन्थकार वाक् रश्मियों के भी दो भेद कर रहे हैं, उनमें से वाक् का एक रूप व्यक्त है और दूसरा अव्यक्त। इससे अर्थ निकलता है कि इस सृष्टि में वाक् रश्मियाँ मुख्यतः परा एवं पश्यन्ती रूप में विद्यमान हैं, जिनमें परा को अव्यक्त और पश्यन्ती को व्यक्त कहा जा सकता है। इसका दूसरा आशय यह भी है कि ब्रह्माण्ड में कुछ रश्मियाँ स्पष्ट और पृथक्-२ रूपों में अथवा व्यवस्थित मिश्रण के रूप में उत्पन्न होती हैं, जिन्हें व्यक्त कह सकते हैं। हाँ, इनको भी स्पष्ट रूप में सुनने वा देखने के योग्य मानना उचित नहीं होगा, विशेषकर इन्द्रियों के द्वारा। दूसरे प्रकार की वाक् रश्मियाँ वे होती हैं, जो परस्पर जटिल और अस्पष्ट रूप से मिश्रित हो चुकी होती हैं, जिन्हें पृथक्-२ जान पाना सम्भव नहीं। ऐसी वाक् रश्मियों को भी अव्यक्त कहते हैं। पूर्वोक्त पदार्थों से ये दोनों ही प्रकार की रश्मियाँ निरन्तर उत्पन्न वा उत्सर्जित होती रहती हैं।

(सा, नः, मन्द्रा, इषम्, ऊर्जम्, दुहाना, धेनुः, वाक्, अस्मान्, उप, सुष्टुता, एतु) 'सा नो मदनाऽन्नं च रसं च दुहाना धेनुर्वागस्मानुपैतु सुष्टुता' वह वाक् तत्त्व इस छन्द रश्मि की कारणरूप नृमेध ऋषि रश्मियों [नरः = अश्वनाम (निघं.१.१४), नरो वै देवानां ग्रामः (तां.ब्रा.६.९.२), प्रजा वै नरः (ऐ.ब्रा.२.४)] अथवा विभिन्न उत्पन्न आशुगामी संयोज्य कणों की संगमन प्रक्रिया को हर्षित अर्थात् उत्तेजित करते हुए उन्हें अन्न अर्थात् विभिन्न संयोज्य रश्मियों एवं बलों को उत्पन्न करने वाली बीज रूप रश्मियों से परिपूर्ण करता हैं। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न प्रकार के संयोगों की प्रक्रिया के समय संयोज्य पदार्थों के क्षेत्र में जो भी छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, वे संयोग प्रक्रिया के लिए समुचित बल उत्पन्न करने हेतु आवश्यक अन्य बल रश्मियों को भी तत्काल उत्पन्न करने लगती हैं। ऐसी वाक् रश्मियाँ धेनुरूप होकर उन संयोज्य कणों की ओर अच्छी प्रकार प्रकाशित होती हुई अर्थात् पूर्ण सक्रिय अवस्था में प्रवाहित होने लगती हैं।

भावार्थ— सृष्टि के विभिन्न पदार्थ वाक् रश्मियों से उत्पन्न होते हैं और उनको निरन्तर उत्सर्जित व अवशोषित भी करते रहते हैं। लघु छन्द रश्मियों से प्राण रश्मियों की उत्पत्ति होती है और प्राण रश्मियों से बड़ी छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। विभिन्न कणों के संयोग के समय विभिन्न प्रकार की वाक् एवं प्राण रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त वाक् छन्द रश्मियाँ परा एवं पश्यन्ती दो रूपों में होती हैं। इसके साथ ही कुछ वाक् रश्मियाँ

स्पष्ट रूप में होने से व्यक्त कहलाती हैं और कहीं-२ जो ध्वनि अस्पष्ट रूप में विद्यमान होती है (उदाहरण के रूप में पदार्थों की टक्कर वा विस्फोट से उत्पन्न ध्वनि तरंगें), वह ध्वनि विभिन्न छन्द रश्मियों के जटिल व अव्यवस्थित मिश्रण के रूप में होती है।

इसके पश्चात् निरुक्तकार लिखते हैं— 'अनुमति राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिकाः' अर्थात् नैरुक्तों के मत में अनुमति और राका ये दो पदार्थ देव पत्नियों के रूप में जाने जाते हैं, जबकि याज्ञिक परम्परा वाले आचार्य इनको पौर्णमासी के रूप में मानते हैं। नैरुक्तों के मत पर अगले दो खण्डों के अन्त में विचार किया जाएगा। इसी प्रकार याज्ञिकों के मत पर विचार भी खण्ड ११.३१ में किया जाएगा।

अब 'अनुमतिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अनुमतिः अनुमननात्' अर्थात् जो पदार्थ अनुकूल दीप्ति से युक्त होते हैं, उन्हें अनुमति कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न क्रियाओं में विभिन्न पदार्थों को समुचित मात्रा में ऊर्जा प्रदान करने वाले पदार्थों को अनुमति कहते हैं और यह ऊर्जा भी विज्ञानपूर्वक ही होती है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

त्रिंशः खण्डः

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूꣳषि तारिषः ॥ [यजु.३४.८]
अनुमन्यस्वानुमते त्वम्। सुखं च नः कुरु। अन्नं च नोऽपत्याय धेहि।
प्रवर्धय च न आयुः। राका। रातेर्दानकर्मणः। तस्यैषा भवति॥ ३०॥

इस मन्त्र का ऋषि अगस्त्य है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति असुरादि बाधक पदार्थों से रहित और इन पदार्थों को दूर करने में सक्षम होकर विभिन्न रश्मियों को शुद्ध रूप प्रदान करने वाली रश्मियों से होती है। इसका देवता अनुमति और छन्द निचृदनुष्टुप् होने से अनुमति संज्ञक पदार्थ खाकी वर्ण को उत्पन्न करने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य

इस प्रकार है—

(अनु, इत्, अनुमते, त्वम्, मन्यासै, शम्, च, नः, कृधि) 'अनुमन्यस्वानुमते त्वम् सुखं च नः कुरु अन्नं च नोऽपत्याय धेहि' [अनुमतिः = गायत्री अनुमतिः (मै.सं.४.३.५, काठ.सं.१२.८); या द्यौः साऽनुमतिः सो एव गायत्री (ऐ.ब्रा.३.४८)। मन्यासै = मन्यस्व] विभिन्न प्रकार की गायत्री छन्द रश्मियाँ और विद्युत् इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों के प्रभाव क्षेत्र में विद्यमान विभिन्न कणादि पदार्थों को अनुकूलतापूर्वक एवं विज्ञानपूर्वक प्रकाशित व सक्रिय करने लगती हैं। वे गायत्री वा विद्युत् उन कणों एवं आकाशतत्त्व के मध्य अन्योन्य क्रियाओं को अनुकूलतापूर्वक सम्पादित कराने में सहायक होती हैं। ध्यातव्य है कि जब भी दो कणों का संयोग होता है, उस समय उन कणों एवं आकाशतत्त्व के मध्य होने वाली क्रियाओं की अहम भूमिका होती है। आकाशतत्त्व की वक्रता वा संकुचन संयोग क्रियाओं को सम्पन्न करने में महती भूमिका निभाते हैं और इस कार्य में गायत्री एवं विद्युत् दोनों की भूमिका अनिवार्य होती है। ये गायत्री रश्मियाँ और विद्युत् उन कणों के संयोग से उत्पन्न होने वाले पदार्थों को भी अन्नरूप विभिन्न रश्मियाँ प्रदान करते हैं, जिससे वह संयोग सम्पन्न हो पाता है।

(क्रत्वे, दक्षाय, नः, हिनु, प्र, नः, आयूꣳषि, तारिषः) 'प्रवर्धय च न आयुः' [क्रतुः = प्रज्ञानाम (निघं.३.९), कर्मनाम (निघं.२.१)। दक्षः = बलनाम (निघं.२.९), आदित्यो दक्ष इत्याहुः (निरु.११.२३)] वे गायत्री रश्मियाँ और विद्युत् नाना प्रकार के बल और तेज उत्पन्न करके नाना प्रकार से संयोज्य पदार्थों की क्रियाशीलता को बढ़ाती हैं और ये गायत्री और विद्युत् उन कणों से उत्पन्न नाना प्रकार के पदार्थों की आयु को भी प्रकृष्ट रूप से बढ़ाती हैं। ये सब क्रियाएँ जब सूर्यलोक में होती हैं, तो सूर्यलोक के प्रकाश और आयु में वृद्धि करती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है—

''**पदार्थः** — (अनु) (इत्) एव (अनुमते) अनुकूला मतिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ (त्वम्) (मन्यासै) मन्यस्व (शम्) सुखम् (च) (नः) अस्मान् (कृधि) कुरु (क्रत्वे) प्रज्ञायै (दक्षाय) बलाय चतुरत्वाय वा (नः) अस्मान् (हिनु) वर्द्धय (प्र) (नः) अस्माकम् (आयूंषि) जीवनादीनि (तारिषः) सन्तारयसि।

भावार्थः — मनुष्यैर्यथा स्वार्थसिद्धये प्रयत्यते तथैवान्यार्थेऽपि प्रयत्नो विधेयो यथा स्वस्य कल्याणवृद्धी अन्वेष्टव्ये तथाऽन्येषामपि। एवं सर्वेषां पूर्णमायुः सम्पादनीयम्।

पदार्थ— हे (अनुमते) अनुकूल बुद्धि वाले सभापति विद्वन्! (त्वम्) आप जिसको (शम्) सुखकारी (अनु, मन्यासै) अनुकूल मानो उससे युक्त (नः) हमको (कृधि) करो (क्रत्वे) बुद्धि (दक्षाय) बल वा चतुराई के लिये (नः) हमको (हिनु) बढ़ाओ (च) और (नः) हमारी (आयूंषि) अवस्थाओं को (इत्) निश्चय कर (प्र, तारिषः) अच्छे प्रकार पूर्ण कीजिये।

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिये कि जैसे स्वार्थसिद्धि के अर्थ प्रयत्न किया जाता है वैसे अन्यार्थ में भी प्रयत्न करें, जैसे आप अपने कल्याण और वृद्धि चाहते हैं वैसे औरों की भी चाहें, इस प्रकार सबकी पूर्ण अवस्था सिद्ध करें।''

'अनुमतिः' पद के पश्चात् अगले पद 'राका' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'रातेर्दानकर्मणः' अर्थात् जो पदार्थ बल आदि को देने वाला है, उसे राका कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

एकत्रिंशः खण्डः

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥

[ऋ.२.३२.४]

राकामहं सुह्वानां सुष्टुत्याह्वये। शृणोतु नः सुभगा। बोधत्वात्मना।
सीव्यत्वपः। प्रजननकर्म। सूच्याऽच्छिद्यमानया। सूची सीव्यतेः।
ददातु वीरं शतप्रदम्। उक्थ्यं वक्तव्यप्रशंसम्।
सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः। अमावास्ये इति याज्ञिकाः।

या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूः।

[मै.सं.४.३.५, ऐ.ब्रा.७.११]

इति विज्ञायते। सिनीवाली। सिनमन्नं भवति। सिनाति भूतानि। वालं पर्वम्। वृणोतेः। तस्मिन्नन्नवती। वालिनी वा।
वालेनेवास्यामणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा। तस्यैषा भवति॥ ३१॥

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता राका और छन्द विराट् जगती होने से राका संज्ञक पदार्थ विविध रूप वाले होकर दूर-२ तक फैलते हुए गौर वर्ण को उत्पन्न करने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(राकाम्, अहम्, सुहवाम्, सुस्तुती, हुवे, शृणोतु, नः, सुभगा, बोधतु, त्मना) 'राकामहं सुह्वानां सुष्टुत्याह्वये शृणोतु नः सुभगा बोधत्वात्मना' [राका = त्रिष्टुब् राका (मै.सं.४.३.५), या राका सा त्रिष्टुप् (ऐ.ब्रा.३.४७)] प्राण एवं अपान रश्मियाँ, जिन्हें गृत्समद ऋषि भी कहते हैं, विभिन्न बल देने वाली त्रिष्टुप् रश्मियों, जो तीव्र आकर्षण बलयुक्त होती हैं, को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। प्राणापान रश्मियाँ सभी प्रकार के विद्युत् का सूक्ष्म रूप हैं, जो सूक्ष्म दीप्ति और आकर्षण युक्त होता है। इसी सूक्ष्म आकर्षण से वे तीव्र आकर्षण बल वाली त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को आकर्षित करती हैं। वे त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ भी तीक्ष्ण बलों से युक्त होकर प्राणापान रश्मियों के आकर्षण को सूत्रात्मा वायु रश्मियों के माध्यम से अनुभव करती हैं। यहाँ राका अर्थात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को सुभगा कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ये छन्द रश्मियाँ यजन कार्यों में श्रेष्ठ भूमिका निभाने वाली होती हैं।

(सीव्यतु, अपः, सूच्या, अच्छिद्यमानया, ददातु, वीरम्, शतदायम्, उक्थ्यम्) 'सीव्यत्वपः प्रजननकर्म सूच्याऽच्छिद्यमानया सूची सीव्यतेः ददातु वीरं शतप्रदम् उक्थ्यं वक्तव्यप्रशंसम्' वे त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा नाना प्रकार के यजन व उत्पादन कर्मों को सम्पन्न करती हैं। वे अच्छेद्य सूई की भाँति विभिन्न पदार्थों को सूत्रात्मा वायु रश्मियों रूपी धागे से सिलती रहती हैं। यहाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियों को अच्छेद्य सूई कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न पदार्थों को संयुक्त करने की प्रक्रिया में सूत्रात्मा वायु रश्मियों में कोई भी छिद्र अर्थात् अवकाश नहीं होता, बल्कि वे सतत स्पन्दन के रूप

में पदार्थों को जोड़ती रहती हैं। सूई को सूची इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वे पदार्थों को सिलने व क्रमबद्ध जोड़ने वाली होती हैं। वे त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ सूचीरूप सूत्रात्मा वायु रश्मियों द्वारा वीर अर्थात् प्राण रश्मियों को सैकड़ों प्रकार की [उक्थ्यम् = उक्थ्यम् प्रशस्यनाम (निघं.३.८), पशव उक्थ्यानि (कौ.ब्रा.२१.५), उक्थ्या वाजिनः (गो.उ.१.२२), अन्नं वा उक्थ्यम् (गो.पू.४.२०)] मरुद् रश्मियाँ प्रदान करके नानाविध बलों को उत्पन्न करती हैं। इससे नाना प्रकार की संयोग क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। ध्यातव्य है कि इस सृष्टि में असंख्य प्रकार की संयोग और वियोग प्रक्रियाएँ निरन्तर होती रहती हैं। उन सभी क्रियाओं में प्राणापान रश्मियों का विभिन्न मरुद् रश्मियों के साथ भिन्न-२ प्रकार से संयोग होकर भिन्न-२ स्तर के बलों की उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति में राका संज्ञक त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ और यह जगती छन्द रश्मि अपनी भूमिका निभाती है।

अब हम २९वें खण्ड में वर्णित अनुमति और राका के विषय में विचार करते हैं। वहाँ अनुमति और राका को नैरुक्तों के मतानुसार देवपत्नी कहा गया था। इस विषय में ज्ञातव्य है कि अनुमति गायत्री छन्द रश्मियों को कहते हैं और राका त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को कहते हैं। इनके विषय में ऋषियों का कथन है— एते वाव छन्दसां वीर्य्यवत्तमे यद् गायत्री च त्रिष्टुप् च (तां.ब्रा.२०.१६.८), गायत्री वाव सर्वाणि छन्दांऽसि (तां.ब्रा.८.४.४), गायत्री वै छन्दसामग्रं ज्यैष्ठ्यम् (जै.ब्रा.२.२२७), गायत्र्या वै देवा इमान् लोकान् व्याप्नुवन् (तां.ब्रा. १६.१४.४), त्रिष्टुभं वै छन्दसां जयति रुद्रान् देवान् देवानाम् (जै.ब्रा.१.३५), बलं वै वीर्य्यं त्रिष्टुप् (गो.उ.५.५), ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप् (श.ब्रा.१.३.५.५), यऽएवायं प्रजननः प्राणऽएष त्रिष्टुप् (श.ब्रा.१०.३.१.१)। इन सभी आप्त वचनों से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि में जितने भी देव अर्थात् प्रकाशित पदार्थ हैं, वे चाहे सूक्ष्मकण हों अथवा विशाल लोक, उन सबके अस्तित्व के लिए गायत्री और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ रक्षिका का कार्य करती हैं। इन दोनों अनुमति एवं राका संज्ञक पदार्थों के अभाव में किसी भी पदार्थ का निर्माण सम्भव नहीं है। इसलिए इन दोनों को नैरुक्तों ने देवपत्नी कहा है।

अब याज्ञिकों के मत पर विचार करते हैं, जिसमें अनुमति और राका को पौर्णमासी कहा है और इसके लिए उन्होंने यह प्रमाण दिया है— 'या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिः या उत्तरा सा राका' [पौर्णमासी = तस्य (संवत्सरस्य) एते प्राण यत् पौर्णमास्यः (जै.ब्रा. २.३९३), वार्त्रघ्नी (ऋचौ) पूर्णमासेऽनूच्येते (तै.सं.२.५.२.५)] इस सृष्टि में उत्पन्न होने

वाली विभिन्न प्राण रश्मियाँ और वृत्र नामक आसुर मेघ को छिन्न-भिन्न करने वाली ऋचाओं के युग्म को भी पौर्णमासी कहते हैं। इनमें से जो प्राण रश्मि अथवा ऋक् रश्मि पहले उत्पन्न होती हैं, उन्हें अनुमति कहते हैं और जो प्राण अथवा ऋक् रश्मि बाद में उत्पन्न होती हैं, उन्हें राका कहते हैं।

अब ग्रन्थकार लिखते हैं— 'सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः अमावास्ये इति याज्ञिकाः या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूः इति विज्ञायते'। इस अंश की व्याख्या हम ३३वें खण्ड में करेंगे।

'राका' के पश्चात् 'सिनीवाली' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सिनीवाली सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्वम् वृणोतेः तस्मिन्नन्नवती वालिनी वा वालेनेवा-स्यामणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा' [वालाः = वनस्पतयो वालाः (तै.सं.७.५.२५.१)। वनस्पतिः = अग्निर्वै वनस्पतिः (कौ.ब्रा.१०.६), प्राणो वै वनस्पतिः (ऐ.ब्रा.२.४)। चन्द्रमाः = सोमो राजा चन्द्रमाः (श.ब्रा.१०.४.२.१), चन्द्रमा उदानः (जै.उ.४.२२.९)। सिनीवाली = या गौः सा सिनीवाली सा एव जगती (ऐ.ब्रा.३.४७)। जगती = जगती सर्वाणि छन्दांसि (श.ब्रा.६.२.१.३०), प्रजननं जगती (जै.ब्रा.१.९३)] जगती छन्द रश्मियों को सिनीवाली कहते हैं। जगती छन्द रश्मियाँ दूर-२ तक व्यापक होने के कारण सभी छन्द रश्मियों से युक्त होती हैं और इस कारण ही वे नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। 'सिनम्' अन्न को कहा गया है अर्थात् विभिन्न संयोज्य कण आदि पदार्थ और संयोजक बल अन्न कहलाते हैं। ये पदार्थ ही सभी उत्पन्न पदार्थों को धारण करने वाले होते हैं। 'वालम्' पर्व को कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि अग्नि एवं अग्नि में विद्यमान प्राण रश्मियाँ सृष्टि के सभी पदार्थों को परिपूर्ण कर रहे हैं और ये दोनों ही पदार्थ अन्य पदार्थों का वरण करके नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

इस प्रकार ऐसे संयोज्य पदार्थों, अन्य अग्नितत्त्व एवं प्राणादि रश्मियों से युक्त होने के कारण जगती छन्द रश्मियों को सिनीवाली कहा है और ये जगती छन्द रश्मियाँ सूर्यलोक की रक्षिका एवं पालिका कही गई हैं। इसका संकेत करते हुए ऋषियों ने लिखा है— आदित्या जगतीं समभरन् (जै.उ.१.१८.६), जागतो वा एष य एष (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.२५.४), त्रैष्टुब्जागतो वा आदित्यः (तां.ब्रा.४.६.२३)। यह सर्वविदित है कि सूर्यलोक के अन्दर अग्नि, नाना प्रकार के संयोज्य कण एवं प्राण रश्मियों का विशाल

भण्डार होता है। इस कारण ग्रन्थकार का निर्वचन ब्राह्मण ग्रन्थों के उपर्युक्त वचनों की ही पुष्टि करता है। इस सिनीवाली अर्थात् जगती छन्द रश्मियों में अग्नितत्त्व एवं प्राण रश्मियों के साथ ही सूक्ष्मरूप में चन्द्रमा भी सेवनीय होता है अर्थात् सूर्यलोक में विद्यमान अग्नि व प्राण रश्मियाँ सूक्ष्म रूप में चन्द्रमा में भी विद्यमान होती हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि अग्नि एवं प्राण रश्मियों के साथ ही सूर्यलोक के अन्दर सोम रश्मियाँ एवं उदान रश्मियाँ भी सूक्ष्म अर्थात् अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में विद्यमान होती हैं।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= द्वात्रिंशः खण्डः =

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥ [ऋ.२.३२.६]
सिनीवालि। पृथुजघने। स्तुकः स्त्यायतेः। सङ्घातः। पृथुकेशस्तुके।
पृथुष्टुते वा। या त्वं देवानामसि स्वसा। स्वसा सु असा। स्वेषु सीदतीति वा।
जुषस्व हव्यमदनम्। प्रजां च देवि दिश नः।
कुहूः। गूहतेः। क्वाभूदिति वा। क्व सती हूयत इति वा।
क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। तस्यैषा भवति॥ ३२॥

इस छन्द रश्मि का ऋषि पूर्वखण्डवत्, देवता सिनीवाली तथा छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से जगती छन्द रश्मियाँ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से संयुक्त होकर विशेष समर्थ होने लगती हैं और सूर्य में पिशंग अर्थात् खाकी रंग की दीप्ति को उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सिनीवालि, पृथुस्तुके, या, देवानाम्, असि, स्वसा) 'सिनीवालि पृथुजघने स्तुकः स्त्यायतेः सङ्घातः पृथुकेशस्तुके पृथुष्टुते वा या त्वं देवानामसि स्वसा स्वसा सु असा स्वेषु सीदतीति वा' [जगती = जगती छन्द आदित्यो देवता श्रोणी (श.ब्रा.१०.३.२.६)। श्रोणी = श्रोणिः

श्रोणतेर्गतिचलाकर्मण: श्रोणिश्चलतीव गच्छत: (निरु.४.३)। जघनम् = जघनं जङ्घन्यते: (निरु.९.२०)] जगती छन्द रश्मियाँ सूर्यादि लोकों में श्रोणी वा जंघा के रूप में कार्य करती हैं। यह सूर्य का वह क्षेत्र है, जो सूर्य के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों की और फैला हुआ सूर्य के केन्द्रीय भाग के ऊपर स्थित होता है। इस क्षेत्र में विद्यमान छन्द रश्मियाँ अत्यन्त तीव्र बलयुक्त होती हैं, जो सम्पूर्ण सूर्य को थामे रखती हैं। यद्यपि इसमें ऋ.१०.८६ के १६वें और १७वें मन्त्र, जिनका छन्द पंक्ति है और उस सम्पूर्ण सूक्त का ही छन्द पंक्ति है। उस १०.८६ सम्पूर्ण सूक्त की ही इसमें भूमिका रहती है, परन्तु इसके साथ यहाँ सिनीवाली के रूप में जगती छन्द रश्मियों की भूमिका को दर्शाया गया है। ये जगती छन्द रश्मियाँ उन पंक्ति छन्द रश्मियों के क्षेत्र में ही उत्पन्न होकर उस जंघा अथवा श्रोणी क्षेत्र को व्यापक बनाती हैं। इसलिए इन जगती छन्द रश्मियों को पृथुष्टुका कहा गया है। इस क्षेत्र में नाना प्रकार के पदार्थों का निरन्तर संघात होता रहता है। [केश: = केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा केशीदं ज्योतिरुच्यते (निरु.१२.२५-२६), रश्मय: केशा: (तै.सं. ७.५.२५.१)] इस क्षेत्र में नाना प्रकार की रश्मियों का भी व्यापक संघात होता है अर्थात् इस क्षेत्र में भारी मात्रा में विकिरणों की विद्यमानता और उनकी भारी उथल-पुथल होती रहती है। इसलिए जगती छन्द रश्मियों के इस क्षेत्र को ग्रन्थकार ने 'पृथुकेशस्तुका' कहा है, क्योंकि इस क्षेत्र में ऊष्मा की मात्रा भी अत्यधिक होती है। इसलिए ग्रन्थकार ने इस क्षेत्र को अर्थात् सिनीवाली जगती छन्द रश्मियों के क्षेत्र को 'पृथुष्टुता' कहा है।

ध्यातव्य है कि ग्रन्थकार ने 'पृथुष्टुका' पद का निर्वचन करते हुए इसी के तीन अर्थ किए हैं— 'पृथुजघना', 'पृथुकेशस्तुका' और 'पृथुष्टुता'। इन तीनों की ही व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। हाँ, पृथुजघना पद से यह भी संकेत मिलता है कि इस क्षेत्र में विद्यमान विभिन्न कणों और विकिरणों में पारस्परिक तीव्र संघर्षण होता रहता है। भारी मात्रा में पदार्थ का केन्द्रीय भाग की ओर जाना और भारी मात्रा में विकिरणों का केन्द्रीय भाग से बाहर की ओर आना, यह प्रक्रिया अत्यन्त विक्षोभकारी होती है। इस क्षेत्र में विद्यमान कण अत्यन्त उत्तेजित अवस्था में और विकिरण तीव्र ऊर्जा से युक्त होते हैं। ये छन्द रश्मियाँ देवों की स्वसा रूप होती हैं। इसका अर्थ यह है कि ये जगती रश्मियाँ विभिन्न देव कणों और लोकों में अच्छी प्रकार से दूर-२ तक विद्यमान रहती हैं। विभिन्न

विकिरणों के उत्सर्जन और अवशोषण की प्रक्रिया में इनकी महती भूमिका होती है। इनके विषय में ऋषियों का कथन है— आदित्यानां जगती (पत्नी) (तै.आ.३.९.१)। इस कारण ही इन्हें देवपदार्थों में स्थित बताया गया है। उत्सर्जन और अवशोषण के समय ये रश्मियाँ कणों के निकट अवश्य ही प्रकट होती हैं। इन रश्मियों को स्व में स्थित भी कहा है। इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ आदित्य किरणों में भी विद्यमान होती हैं, इस कारण भी इन्हें स्वसा कहते हैं।

(जुषस्व, हव्यम्, आहुतम्, प्रजाम्, देवि, दिदिड्ढि, नः) 'जुषस्व हव्यमदनम् प्रजां च देवि दिश नः' ये जगती रश्मियाँ अवशोषणीय विकिरणों को अपने साथ संयुक्त करती हैं। तदुपरान्त वे अवशोषणीय विकिरण कणों के द्वारा अवशोषित कर लिए जाते हैं। पाठक इसके लिए अग्नियश वेदार्थी (विशाल आर्य) द्वारा लिखित 'परिचय वैदिक भौतिकी' पुस्तक के १६वें अध्याय में तरंगाणु एवं इलेक्ट्रॉन के संयोग-वियोग का क्रियाविज्ञान पढ़ सकते हैं। इसमें अथर्ववेद की ७.७३.४ इस विराट् जगती ऋचा को सोम्य कण अर्थात् इलेक्ट्रॉन के द्वारा प्रकाशाणुओं को अवशोषित कराने वाली बताया है। यहाँ हव्यम् और आहुतम् दोनों का एक साथ प्रयोग यह संकेत करता है कि विकिरणों का कणों के द्वारा अवशोषण एक मर्यादित प्रक्रिया के अन्तर्गत होता है। प्रत्येक कण द्वारा प्रत्येक प्रकार के विकिरणों को अवशोषित नहीं किया जा सकता। [दिदिड्ढि = दिश अतिसर्जने' (तुदादि.) 'बहुलं छन्दसि' (अष्टा. २.४.७६) इति श्लुर्जातः (वै.को.)] ये ज्योतिर्मयी जगती छन्द रश्मियाँ इस छन्द रश्मि की कारणभूत प्राणापान रश्मियों को प्रजा अर्थात् उन विकिरणों एवं कणों से संयुक्त करने में सहायक होती हैं। उसके पश्चात् ही कणों और विकिरणों का पारस्परिक संयोग होता है। इसका दूसरा आशय यह भी है कि इन क्रियाओं से नाना प्रकार के पदार्थों की भी उत्पत्ति होती है।

भावार्थ— सूर्यादि लोकों के दोनों ध्रुवों को जोड़ने वाला क्षेत्र सूर्य की जंघा कहलाता है, जो दोनों ही ध्रुवों को थामे रखता है। इस क्षेत्र में दो विशेष जगती छन्द रश्मियाँ विशेष मात्रा में विद्यमान होती हैं। ये रश्मियाँ उस क्षेत्र की अन्य रश्मियों को व्यापकता और प्रखरता प्रदान करती हैं। इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक उथल-पुथल और ऊष्मा की विद्यमानता होती है। इस क्षेत्र में विद्यमान कण और विकिरण अत्यधिक उत्तेजित अवस्था में होते हैं तथा विभिन्न कणों के अवशोषण व उत्सर्जन की प्रक्रिया भी भारी मात्रा में होती

है। विकिरणों का कणों के द्वारा अवशोषण एक निश्चित और मर्यादित प्रक्रिया के अन्तर्गत ही होता है।

'सिनीवाली' पद के पश्चात् अगले पद 'कुहूः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'कुहूः गूहतेः क्वाभूदिति वा क्व सती हूयत इति वा क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा' [कुहूः = अनुष्टुप् कुहूः (तै.सं.३.४.९.६), या कुहूः सानुष्टुप् (ऐ.ब्रा.३.४७, ४८)] अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को कुहू कहते हैं। उनके विषय में कहा गया है— अन्तो वा अनुष्टुप् छन्दसाम् (तां.ब्रा.१९.१२.८), अनुष्टुब्भि छन्दसां योनिः (तां.ब्रा.११.५.१७), अनुष्टुबनुस्तोभनात् (दे.ब्रा.३.७)। इसका अर्थ यह है कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों की कारणरूप होती हैं और इनमें ही सभी छन्द रश्मियों का अन्त भी हो जाता है। इस कारण ये अति सूक्ष्म होती हैं, जो गुप्तरूप से अन्य छन्द रश्मियों को थामे रखती हैं। इसलिए यहाँ ग्रन्थकार ने इनके लिए कहा है कि कुहू अर्थात् अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ छिपाती हैं। किसको छिपाती हैं? इसका उत्तर उपर्युक्त आर्ष वचनों में मिलता है कि ये अन्य छन्द रश्मियों को अपने अन्दर छिपा लेती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ८.२८.१ में कहा गया है— 'विद्युद्वै विद्युत्य वृष्टिमनुप्रविशति, साऽन्तर्धीयते' अर्थात् विद्युत् वृष्टि में छिप जाती है और वृष्टि के लिए कहा गया है— आनुष्टुभी वै वृष्टिः (तां.ब्रा.१२.८.८)। इसका अर्थ यह है कि विद्युत् धनावेश एवं ऋणावेश जब दोनों संयुक्त होते हैं, उस समय वे दोनों आवेश अर्थात् विद्युत् अनुष्टुप् छन्द रश्मियों में प्रविष्ट होकर के छिप जाती है और दोनों ही आवेशित कण उदासीन हो जाते हैं। इसी कारण यहाँ कुहू को छिपाने वाली कहा गया है। यह विभिन्न छन्द रश्मियों के अतिरिक्त विद्युत् को भी अपने में छिपा लेती है।

कुहू का अगला निर्वचन करते हुए लिखा है— 'क्वाभूदिति वा' अर्थात् वे अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ इन पदार्थों को इस प्रकार छिपा लेती हैं कि यह ज्ञात नहीं होता कि वे पदार्थ छिपने से पूर्व कहाँ थे अर्थात् छिपने के बाद अनुष्टुप् छन्द रश्मियों में उनको ढूँढ पाना दुष्कर है अथवा यह भी ज्ञात नहीं होता कि उन रश्मियों में अन्य छन्द रश्मियाँ और विद्युत् कहाँ है।

पुनः निर्वचन करते हुए लिखा— 'क्व सती हूयत इति वा' अर्थात् वे कुहू संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होने से पूर्व कहाँ थीं, जहाँ से प्रकट होकर वे अपने संवरण (छुपाना) कर्म को करती हैं। ग्रन्थकार के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि अनुष्टुप्

छन्द रश्मियों की उत्पत्ति की प्रक्रिया कुछ भिन्न और रहस्यमयी होती है। इसी कारण यहाँ कहा गया है कि उनको कहाँ से बुलाया जाता है अर्थात् वे कहाँ से उत्पन्न होती हैं, यह रहस्यमयी प्रक्रिया है।

अब अन्त में निर्वचन करते हुए लिखा है— 'क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा' अर्थात् कुहू संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ विद्युत् अथवा अन्य छन्द रश्मियों को ग्रहण करके छुपाती हैं अथवा उन छन्द रश्मियों को थामती हुई उनके सामर्थ्य को बढ़ाती हैं, तब यह स्पष्ट नहीं होता कि ऐसा करते हुए वे स्वयं कहाँ होती हैं। इसका अर्थ यह है कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ अति मन्द स्तर के स्पन्दनों के रूप में ही उत्पन्न होती हैं। इसलिए इनको अन्य छन्द रश्मियों का आधार बताते हुए लिखा है— अनुष्टुप् छन्दसां प्रतिष्ठा (तै.सं. २.५.१०.३)।

हम जानते हैं कि आधार आधेय की अपेक्षा स्थिर होता है और यदि यह पदार्थ सूक्ष्म और अति मन्द कम्पनों वाला हो, तो उसका अनुभव भी नहीं होता। जिस प्रकार से छन्द रश्मियों की अपेक्षा मनस्तत्त्व गुप्त वा अज्ञेय होता है, क्योंकि यह सभी छन्द रश्मियों का आधार होता है। इसी प्रकार सभी छन्द रश्मियों की अपेक्षा अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ गुप्त वा अज्ञेय होती हैं। इसलिए ही यहाँ कहा गया है कि वे कहाँ से इन पदार्थों को छिपाती हैं, यह जानना कठिन होता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= त्रयस्त्रिंशः खण्डः =

कुहूमहꣳ सुकृतꣳ विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवां जोहवीमि।
सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां तस्यै ते देवि हविषा विधेम॥

[मै.सं.४.१२.६]

कुहूमहं सुकृतं विदितकर्माणमस्मिन्यज्ञे सुह्वानामाह्वये।
सा नो ददातु श्रवणं पितृणाम्। पित्र्यं धनमिति वा। पित्र्यं यश इति वा।

तस्यै ते देवि हविषा विधेमेति व्याख्यातम्।
यमी व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ ३३॥

इसका देवता कुहू तथा छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से कुहू संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ, जो स्वयं खाकी रंग की दीप्ति को उत्पन्न करती हैं, रक्तवर्णीय तेज से भी युक्त होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(कुहूम्, अहम्, सुकृतम्, विद्मना, अपसम्, अस्मिन्, यज्ञे, सुहवाम्, जोहवीमि) 'कुहूमहं सुकृतं विदितकर्माणमस्मिन्यज्ञे सुह्वानामाह्वये' मैत्रायणी संहिता में इन ऋचाओं का कोई ऋषि नहीं दिया गया है। इस कारण हम पिंगल छन्दशास्त्र ३.६६ सूत्र 'आग्निवेश्यकाश्यप-गौतमाङ्गिरसभार्गवकौशिकवासिष्ठानि गोत्राणि' के अनुसार इस छन्द रश्मि का ऋषि कौशिक मान सकते हैं [आपो हि कुशः (श.ब्रा.१.३.१.३)] अर्थात् सूर्यलोक में विद्यमान विभिन्न प्राण रश्मियों से इसकी उत्पत्ति होती है। ये प्राण रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मियों की क्रियाओं को सुन्दर ढंग से सम्पादित करने वाली, अपने गुणों और कर्मों से प्रसिद्ध अन्य रश्मियों को अच्छी और अनुकूल प्रकार से आकर्षित करने वाली कुहू संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को सब ओर से आकर्षित करती हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि जिन क्रियाओं में प्राण रश्मियाँ भाग लेती हैं, वे अपने चारों ओर विद्यमान विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को अपनी ओर विज्ञानपूर्वक आकृष्ट करके उन क्रियाओं को तीव्रता प्रदान करती हैं। 'यज्ञे' पद यह बताता है कि यहाँ ये क्रियाएँ यजन क्रियाएँ होती हैं। जब प्राण रश्मियाँ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगती हैं, तब इन यजन क्रियाओं की गति बढ़ने लगती है।

(सा, नः, ददातु, श्रवणम्, पितॄणाम्, तस्यै, ते, देवि, हविषा, विधेम) 'सा नो ददातु श्रवणं पितॄणाम् पित्र्यं धनमिति वा पित्र्यं यश इति वा तस्यै ते देवि हविषा विधेम' [श्रवः = धूमो वाऽअस्य (अग्नेः) श्रवो वयः स ह्येनममुष्मिंल्लोक स्त्रावयति (श.ब्रा.७.३.१.२९)। पितरः = एष वै पिता य एष (सूर्यः) तपति (श.ब्रा.१४.१.४.१५)] वे कुहू संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ सूर्यादि प्रकाशित लोकों को असंख्य प्रकार के कण और बल प्रदान करती हैं। इनके कारण सम्पूर्ण लोक कम्पन करने लगता है। यहाँ 'यशः' पद का तात्पर्य तेज भी है, इसलिए महर्षि ऐतरेय महीदास ने लिखा है— यशो वै हिरण्यम् (ऐ.ब्रा.७.१८), आदित्यो यशः (श.ब्रा.१२.३.४.८) अर्थात् ये रश्मियाँ सूर्यलोक को तेज प्रदान करती हैं और

विकिरणों को उत्पन्न करने में अर्थात् नाभिकीय संलयन की क्रिया में सहयोगी बनती हैं। इसके लिए वे सूर्य के केन्द्रीय भाग के लिए प्रचुर मात्रा में संयोज्य कणों को ले जाती हैं। इसी कारण ग्रन्थकार ने यशः पद को अन्ननामों में पढ़ा है— अन्ननाम (निघं.२.७)।

इस प्रकार सूर्य के विशाल भाग से पदार्थ का जो प्रवहण केन्द्रीय भाग की ओर होता है, उसमें इन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की भूमिका होती है। ऐसी उस देवी अर्थात् प्रकाशिका और आकर्षण बल उत्पन्न करने वाली कुहू संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को हवि रूप में धनञ्जय रश्मियाँ धारण करती रहती हैं, जिससे सम्पूर्ण प्रक्रिया निरन्तर तथा तीव्र गति से होती रहती है।

भावार्थ— सूर्यलोक में विद्यमान विभिन्न प्राण रश्मियाँ विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों को अपनी ओर आकर्षित व सक्रिय करने वाली अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को आकर्षित करती हैं। इससे वे अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ प्रचुर मात्रा में कणों व बलों को उत्पन्न करती हैं, जिससे नाभिकीय संलयन की क्रिया तीव्र होती है। विभिन्न संयोज्य कणों को केन्द्रीय भाग की ओर ले जाने में इन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का भी योगदान होता है।

'कुहू' पद के पश्चात् 'यमी' पद की व्याख्या के लिए खण्ड १०.१९ पठनीय है।

* * * * *

चतुस्त्रिंशः खण्डः

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्। तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्॥ [ऋ.१०.१०.१४]

अन्यमेव हि त्वं यमि। अन्यस्त्वां परिष्वङ्क्ष्यते। लिबुजेव वृक्षम्।
तस्य वा त्वं मन इच्छ। स वा तव। अध अनेन कुरुष्व संविदम्।
सुभद्रां कल्याणभद्राम्।
यमी यमं चकमे। तां प्रत्याचचक्षे। इत्याख्यानम्॥ ३४॥

इसका ऋषि वैवस्वत यम है। [यमः = अग्निर्वाव यमः (गो.उ.४.८), अग्निर्वाव यम इयम् यमी (तै.सं.३.३.८.३)] इसका आशय यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सौर अग्नि में विद्यमान अग्नितत्त्व को नियन्त्रित करने वाली सूत्रात्मा वायु एवं व्याहृति अथवा त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से होती है। इसका देवता यमी वैवस्वत तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक में विद्यमान विभिन्न कणों को नियन्त्रित करने वाली अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से मिलकर उन्हें और प्रखर बनाने में सहयोग करती हैं। इन दोनों ही प्रकार की रश्मियों के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास ने लिखा है— वृषा वै त्रिष्टुब् योषानुष्टुप् (ऐ.आ.१.३.५) अर्थात् त्रिष्टुप् और अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ क्रमानुसार परस्पर पुरुष और स्त्री रूप व्यवहार करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अन्यम्, ऊँ इति, सु, त्वम्, यमि, अन्यः, ऊँ इति, त्वाम्, परि, स्वजाते, लिबुजा, इव, वृक्षम्) 'अन्यमेव हि त्वं यमि अन्यस्त्वां परिष्वङ्क्ष्यते लिबुजेव वृक्षम्' [अन्यः = नानेयः (निरु.१.६)] सूर्यलोक के अन्दर विद्यमान विभिन्न कणों के साथ संयुक्त अथवा उनकी अवयवरूप अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ अन्य अर्थात् सहजता से ग्रहण न करने योग्य निकटस्थ वा दूरस्थ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त होने लगती हैं एवं वे दूरस्थ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ उन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ आलिंगन करती हैं अर्थात् परस्पर संयुक्त हो जाती हैं। [लिबुजा = बेल (सभी भाष्यकार)] इसको उपमा देते हुए लिखा है कि जिस प्रकार कोई लता (बेल) वृक्ष का आलिंगन करती है, उसी प्रकार अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को अपनी ओर आकर्षित करती हुई उनसे मिल जाती हैं। यदि यहाँ आधिदैविक पक्ष में उपमा अलंकार की उपेक्षा की जाए, तो इसी प्रकरण का अर्थ इस प्रकार होगा—

जब अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ दूरस्थ वा निकटस्थ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ मिलती हैं, उस समय सूर्यलोक में विद्यमान विभिन्न ऐसी धाराएँ, जो केन्द्रीय भाग से बाहरी भाग की ओर उसी प्रकार आगे बढ़ती हैं, जिस प्रकार कोई लता वृक्ष पर ऊपर की ओर आगे बढ़ती है। यहाँ सूर्यलोक ही वृक्ष है और ये धाराएँ ही लता हैं। इस प्रकार अनुष्टुप् छन्द रश्मियों और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के मेल से सूर्य के केन्द्रीय भाग से उठने वाली धाराएँ बाहरी भाग की ओर गमन करती हैं।

(तस्य, वा, त्वम्, मनः, इच्छ, सः, वा, तव, अध, कृणुष्व, सम्, विदम्, सुभद्राम्) 'तस्य वा त्वं मन इच्छ स वा तव अध अनेन कुरुष्व संविदम् सुभद्रां कल्याणभद्राम्' सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ उन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ मेल कराने के लिए मनस्तत्त्व को आकर्षित करती हैं और इस आकर्षण से अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियों की ओर आकृष्ट होती हैं। इसी प्रकार वे सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को भी मनस्तत्त्व के माध्यम से आकृष्ट करती हैं। इस प्रक्रिया से वे दोनों छन्द रश्मियाँ एक-दूसरे को निकटता से धारण करने लगती हैं। वे दोनों ही छन्द रश्मियाँ एक-दूसरे के प्रति कमनीय और हितकारिणी होती हैं। इससे सम्पूर्ण सूर्यलोक की भिन्न-२ क्रियाएँ समुचित रूप से हो पाती हैं।

तदनन्तर ग्रन्थकार लिखते हैं— 'यमी यमं चकमे तां प्रत्याचचक्षे इत्याख्यानम्' अर्थात् यहाँ यमीरूप विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ अपने निकटस्थ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों, जो यमरूप होती हैं, परन्तु किसी कारण से वे दुर्बल हो चुकी होती हैं, को आकृष्ट करने का प्रयास करती हैं, परन्तु वे दुर्बल त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ उन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से संयुक्त न होकर उन्हें अपने से दूर ही हटा देती हैं और वे अन्य समुचित बलयुक्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से संयुक्त होने के लिए प्रेरित करती हैं और इसी विषय को इस सूक्त में यम-यमी के आख्यान के रूप में समझाया गया है।

* * * * *

पञ्चत्रिंशः खण्डः

उर्वशी व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ ३५॥

उर्वशी पद के निर्वचन के लिए खण्ड ५.१३ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षट्त्रिंशः खण्डः =

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः॥

[ऋ.१०.९५.१०]

विद्युदिव या। पतन्त्यद्योतत। हरन्ती मे अप्या काम्यानि।
उदकान्यन्तरिक्षलोकस्य। यदा नूनमयं जायेताद्भ्योऽध्यप इति।
नर्यो मनुष्यो नृभ्यो हितः। नरापत्यमिति वा। सुजातः सुजाततरः।
अथोर्वशी प्रवर्धयते दीर्घमायुः। पृथिवी व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ ३६॥

इस मन्त्र का ऋषि पुरूरवा ऐल है और देवता उर्वशी है। इनके विषय में खण्ड ३.२१ पठनीय है। इसका छन्द आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप् है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव को उसी खण्ड में देखें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(विद्युत्, न, या, पतन्ती, दविद्योत्, भरन्ती, मे, अप्या, काम्यानि) 'विद्युदिव या पतन्त्यद्योतत हरन्ती मे अप्या काम्यानि उदकान्यन्तरिक्षलोकस्य' यहाँ 'या' सर्वनाम उर्वशी अप्सरा के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसके लिए पाठक पूर्व खण्ड ५.१३ पढ़ें। ये उर्वशी संज्ञक तरंगें विद्युत् के समान चमकती हुई गमन करती हैं। वे तरंगें अन्तरिक्ष लोक में विद्यमान विभिन्न उदकरूप कमनीय गुणों से युक्त नाना प्रकार के कणों को सब ओर से आकर्षित करती हुई गमन करती हैं। वे कण इन तरंगों के द्वारा वहन भी किये जाते हैं। ये रश्मियाँ इन कणों की वृष्टि करके नाना प्रकार की क्रियाओं को जन्म देती हैं। स्कन्दस्वामी ने 'अप्या' का अर्थ अप्संघात भी किया है। ये उर्वशी संज्ञक तरंगें नाना प्रकार के कणों का संघात उत्पन्न करने वाली होती हैं।

(जनिष्टः, अपः, नर्यः, सुजातः, प्र, उर्वशी, तिरत, दीर्घम्, आयुः) 'यदा नूनमयं जायेताद्भ्योऽध्यप इति नर्यो मनुष्यो नृभ्यो हितः नरापत्यमिति वा सुजातः सुजाततरः अथोर्वशी प्रवर्धयते दीर्घमायुः' कणों का यह संघात विभिन्न मरुत् अर्थात् विनाशी कणों को उत्पन्न करने वाला होता है। यह संघात आकाशतत्त्व में अति सुव्यवस्थित विज्ञानपूर्वक नाना प्रकार की क्रियाओं को उत्पन्न करता है। उर्वशी नामक तरंगें उन क्रियाओं को बढ़ाती हुई दीर्घायु

प्रदान करती हैं अर्थात् दीर्घकाल तक ये क्रियाएँ होती रहती हैं। उर्वशी नामक तरंगें मनुष्य नामक कणों को धारण करने वाली भी होती हैं अथवा मनुष्य नामक कणों से उत्पन्न कणों को भी धारण करने वाली होती हैं।

'उर्वशी' पद के पश्चात् 'पृथिवी' पद के निर्वचन के लिए खण्ड १.१३ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

सप्तत्रिंशः खण्डः

बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि।
प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि॥ [ऋ.५.८४.१]
सत्यं त्वं पर्वतानां मेघानां खेदनम्-छेदनं-भेदनं बलममुत्र धारयसि पृथिवि। प्रजिन्वसि या भूमिम्। प्रवणवति महत्त्वेन। महतीति। उदकवतीति वा। इन्द्राणी। इन्द्रस्य पत्नी। तस्यैषा भवति॥ ३७॥

इस मन्त्र का ऋषि अत्रि है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मि से होती है। इसका देवता पृथिवी और छन्द निचृदनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न पार्थिव कण (मोलिक्यूल्स) विविध रंगों से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(बट्, इत्था, पर्वतानाम्, खिद्रम्, बिभर्षि, पृथिवी) 'सत्यं त्वं पर्वतानां मेघानां खेदनम्-छेदनं-भेदनं बलममुत्र धारयसि पृथिवि' [बट् = सत्यनाम (निघं.३.१०)। इत्था = इत्था सत्यनाम (निघं.३.१०), अमुत्र (निरु.४.२५)। सत्यम् = सत्यं ब्रह्म (श.ब्रा.१४.८.५.१), असावादित्यः सत्यम् (तै.ब्रा.२.१.११.१), उदकनाम (निघं.१.१२), प्राणा वै सत्यम् (श.ब्रा.१४.५.१.२३)] अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न प्रकार के पार्थिव कण विभिन्न प्राण रश्मियों एवं आदित्य रश्मियों के द्वारा ही धारण करते हैं। वे किसे धारण करते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है कि वे पर्वत अर्थात् विशाल मेघों के छेदन-भेदन के स्थान को अपने

बल से धारण करते हैं। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न पार्थिव कण विशाल मेघों के और इसके साथ ही पृथिवीलोकों पर स्थित पर्वतों के सन्धिभागों को अपने बल से धारण किए रहते हैं अर्थात् उन्हें जोड़े रखते हैं। इस प्रकरण से यह संकेत मिलता है कि पर्वतों एवं मेघों के निर्माण में सूर्य की किरणों की भी विशेष भूमिका होती है। इसके साथ ही अन्तरिक्ष में विद्यमान पार्थिव कणों की भी बादलों के बनने में भूमिका होती है। उधर कॉस्मिक या खगोलीय विशाल मेघों के निर्माण में भी विभिन्न प्रकाशाणुओं (फोटोन्स) की भूमिका होती है।

(प्र, या, भूमिम्, प्रवत्वति, मह्ना, जिनोषि, महिनि) 'प्रजिन्वसि या भूमिम् प्रवणवति महत्त्वेन महतीति उदकवतीति वा' वे पार्थिव कण पृथिवी आदि लोकों को अच्छी प्रकार तृप्त करते रहते हैं। [जिन्वति = गतिकर्मा (निघं.२.१४), प्रीतिकर्मा (निरु.६.२२)] ये अन्तरिक्षस्थ पार्थिव कण पृथ्वी आदि लोकों के द्वारा निरन्तर आकृष्ट होते हुए उसकी गति को भी प्रभावित करते हैं। ये पार्थिव कण अन्तरिक्ष में विशाल मात्रा में भरे रहते हैं। ये अपनी व्यापकता से पृथिवी आदि लोकों के परिक्रमण मार्ग को प्रभावित करते हुए इन लोकों को निरन्तर झुकाते रहते हैं अर्थात् इन लोकों को कक्षीय वेग और मार्ग प्रदान करने में इनकी भी भूमिका होती है। ये पार्थिव कण उदकरूप नाना प्रकार के जलीय कणों (आयन्स) वा सूक्ष्म रश्मियों से युक्त होते हैं। हमारे मत में यहाँ पृथिवी शब्द से अप्रकाशित पदार्थ वा असुर तत्त्व, जो सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में भरा हुआ है, का भी ग्रहण करना चाहिए। यह सम्पूर्ण पार्थिव तत्त्व लोकों को धारण करने वाला होता है और इसके साथ ही उनकी कक्षाओं एवं गतियों को निर्धारित करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (बट्) सत्यम्। बडिति सत्यनाम। निघं.३.१०। (इत्था) अनेन प्रकारेण (पर्वतानाम्) मेघानाम् (खिद्रम्) दैन्यम् (बिभर्षि) (पृथिवि) भूमिवद्वर्त्तमाने (प्र) (या) (भूमिम्) (प्रवत्वति) प्रवणदेशयुक्ते (मह्ना) महत्त्वेन (जिनोषि) (महिनि) पूज्ये।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा भूमौ शैलाः स्थिरा वर्त्तन्ते तथा येषां हृदि धर्म्मादयः सद्व्यवहारा वर्त्तन्ते ते पूज्या जायन्ते।

पदार्थ— हे (प्रवत्वति) अत्यन्त नीचे स्थान से युक्त (महिनि) आदर करने योग्य

(पृथिवी) भूमि के सदृश वर्त्तमान (या) जो तुम (पर्वतानाम्) मेघों के (मह्ना) महत्त्व से (भूमिम्) भूमि को धारण करती (इत्था) इस प्रकार से (बट्) सत्य को जिस कारण (बिभर्षि) धारण करती हो तथा (खिद्रम्) दीनता को (प्र, जिनोषि) विशेष करके नष्ट करती हो, इससे सत्कार करने योग्य हो।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे भूमि पर पर्वत स्थिर होकर वर्त्तमान हैं, वैसे जिनके हृदय में धर्म आदि श्रेष्ठ व्यवहार हैं, वे आदर करने योग्य होते हैं।''

'पृथिवी' पद के पश्चात् 'इन्द्राणी' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी' अर्थात् इन्द्र की रक्षिका शक्तियों वा पदार्थ को इन्द्राणी कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

अष्टात्रिंशः खण्डः

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्। नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ [ऋ.१०.८६.११]

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमशृणवम्।
न ह्यस्या अपरामपि समां जरया म्रियते पतिः। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरः।
तमेतद् ब्रूमः। तस्यैषापरा भवति॥ ३८॥

इस मन्त्र का ऋषि वृषाकपि इन्द्र और इन्द्राणी है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अत्यन्त बलवान् और असुरादि पदार्थों को कँपाने वाले इन्द्रतत्त्व एवं उसकी रक्षिका रश्मियों से होती है। ये रश्मियाँ सूर्यलोक के केन्द्रीय भाग में स्थित होती हैं। इसका देवता इन्द्र और छन्द पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक में इन्द्रतत्त्व प्रबल होकर नीलवर्ण की उत्पत्ति करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्राणीम्, आसु, नारिषु, सुभगाम्, अहम्, अश्रवम्) 'इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहम-

शृणवम्' [नारी = यज्ञनाम (निघं.३.१७)] विभिन्न संयोग क्रियाओं में इन्द्रतत्त्व की रक्षिका रूप छन्द रश्मियों को ही सबसे अधिक संयोजक सुना जाता है। इसका अर्थ यह है कि ये संयोजक छन्द रश्मियाँ ही इन्द्र अर्थात् सूर्यलोक के अन्दर विस्तृत क्षेत्र में तीव्रतापूर्वक गमन करती हुई गम्भीर घोष उत्पन्न करती रहती हैं। इसका अर्थ यह भी है कि इस छन्द रश्मि की ऋषि रश्मियाँ इन्द्रतत्त्व की रक्षिका रूप छन्द रश्मियों को नाना यजन क्रियाओं में विशेष सक्रिय करने वाली होती हैं।

(नहि, अस्याः, अपरम्, चन, जरसा, मरते, पतिः, विश्वस्मात्, इन्द्रः, उत्तरः) 'न ह्यस्या अपरामपि समां जरया म्रियते पतिः सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरः तमेतद् ब्रूमः' इन इन्द्राणी संज्ञक छन्द रश्मियों का पालक इन्द्रतत्त्व अन्य देवों के समान जीर्ण होकर निष्प्राण नहीं होता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक में तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें सदैव विद्यमान रहती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य तरंगें उत्पन्न वा नष्ट होती रहती हैं। इस कारण इन्द्रतत्त्व ही सबसे अधिक उत्कृष्ट बल वाला होता है। इसलिए इन्द्र विभिन्न कणों को अनेक संयोगादि क्रियाओं में सुखपूर्वक तारने वाला होता है। इस सृष्टि में असंख्य क्रियाओं के चलते अनेक कणों की ऊर्जा में कभी-कभी कमी आ जाती है। ऐसी स्थिति में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ उन दुर्बल कणों को ऊर्जा प्रदान करके पुनः उन्हें संयोग प्रक्रिया में सक्रिय कर देती हैं।

इसी 'इन्द्राणी' पद की एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

एकोनचत्वारिंशः खण्डः

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते। यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ [ऋ.१०.८६.१२]

नाहमिन्द्राणि रमे। सख्युर्वृषाकपेर्ऋते। यस्येदमप्यं हविः। अप्सु शृतम्। अद्भिः संस्कृतमिति वा। प्रियं देवेषु निगच्छति। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरः। तमेतद् ब्रूमः। गौरी रोचतेः। ज्वलतिकर्मणः।

अयमपीतरो गौरो वर्ण एतस्मादेव। प्रशस्यो भवति। तस्यैषा भवति॥ ३९॥

इसके ऋषि और देवता पूर्ववत् और छन्द निचृत् पंक्ति होने से इसका दैवत और छान्दस प्रभाव पूर्ववत् परन्तु कुछ अधिक तीक्ष्ण होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(न, अहम्, इन्द्राणि, रारण, सख्युः, वृषाकपेः, ऋते) 'नाहमिन्द्राणि रमे सख्युर्वृषाकपेर्ऋते' इस छन्द रश्मि की ऋषि रूप इन्द्राणी संज्ञक छन्द रश्मियाँ अपने साथ अपने प्रभाव से प्रकाशित होने वाले बलवान् व तीक्ष्ण इन्द्रतत्त्व के बिना कहीं भी रमण नहीं करती। इसका अर्थ यह है कि कुछ छन्द रश्मियाँ जो अत्यन्त तीक्ष्ण ऊर्जायुक्त होती हैं, वे सदैव इन्द्र के रूप में अथवा उसके साथ ही गमन करती रहती हैं। ऐसी वे बलवती छन्द रश्मियाँ असुरादि पदार्थों को कँपाती हुई निरन्तर गमन करती हैं। वे ऐसी छन्द रश्मियाँ इन्द्रतत्त्व के अतिरिक्त कहीं भी प्रभाव उत्पन्न नहीं करती हैं अथवा उनका कहीं भी अस्तित्व नहीं होता है।

(यस्य, इदम्, अप्यम्, हविः, प्रियम्, देवेषु, गच्छति, विश्वस्मात्, इन्द्रः, उत्तरः) 'यस्येदमप्यं हविः अप्सु श्रृतम् अद्भिः संस्कृतमिति वा प्रियं देवेषु निगच्छति सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरः तमेतद् ब्रूमः' जिस इन्द्रतत्त्व में होमी जाने वाली हवियाँ नाना प्राणादि रश्मियों की संघातरूप होती हैं अथवा वे रश्मियाँ प्राणादि रश्मियों से परिपक्व होकर नाना प्रकार के कर्मों को अच्छी प्रकार क्रियान्वित वा धारण करती हैं। यह धारण कर्म प्राथमिक प्राण के सहयोग से किया जाता है। इन क्रियाओं के द्वारा नाना प्रकार के संघात होने लगते हैं और उन संघात रूप पदार्थों की हवियाँ उन आदित्य लोकों में पहुँचती हैं। इसलिए आदित्य लोक ही इन्द्र है और इन्द्र ही सर्वश्रेष्ठ देव माना गया है। यह ऋचा उसी सूर्य से सम्बन्धित है, ऐसा ग्रन्थकार का कथन है।

इस खण्ड का पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने जो भाष्य किया है, उसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"बृहद्देवता अ.२.६२ से आदित्य के नामों के निर्वचन बताए गए हैं। उनमें श्लोक ६७ का निम्नलिखित पाठ है—

वृषैष कपिलो भूत्वा यन्नाकम् अधिरोहति।

वृषाकपिरसौ तेन विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः।
रश्मिभिः कम्पयन्नेति वृषा वर्षिष्ठ एव सः॥ ६७॥

अर्थात्— वृषाकपि आदित्य की उस अवस्था का नाम है, जब वह कपिल वर्ण होकर नाक की ओर चढ़ता है। यह माया अब भी घटती है और सृष्टि उत्पत्ति के समय भी आदित्य के आरोहण में घटी थी। इन्द्र ने उस अवस्था के आदित्य से सख्य प्रकट किया है। यह सूक्ष्मता अध्ययन योग्य है।''

'इन्द्राणी' के पश्चात् 'गौरीः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'गौरी रोचतेः ज्वलतिकर्मणः अयमपीतरो गौरो वर्ण एतस्मादेव प्रशस्यो भवति' अर्थात् 'गौरीः' पद ज्वलतिकर्मा 'रुच' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार गौरी संज्ञक पदार्थ चमकने वाला होता है और गोरा रंग भी इसी कारण गौर वर्ण कहलाता है और वह प्रशंसनीय तेजस्वी होता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

चत्वारिंशः खण्डः

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्त्राक्षरा परमे व्योमन्॥ [ऋ.१.१६४.४१]

गौरीर्निर्मिमाय। सलिलानि तक्षती कुर्वती। एकपदी मध्यमेन।
द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च। चतुष्पदी दिग्भिः।
अष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च।
नवपदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्चादित्येन च। सहस्त्राक्षरा बहूदका।
परमे व्यवने। तस्यैषाऽपरा भवति॥ ४०॥

इसका ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता गौरी और छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से रक्तवर्णीय तेज की उत्पत्ति होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(गौरीः, मिमाय, सलिलानि, तक्षती, एकपदी, द्विपदी, सा, चतुःपदी, अष्टापदी, नवपदी) 'गौरीर्निर्मिमाय सलिलानि तक्षति कुर्वती एकपदी मध्यमेन द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च चतुष्पदी दिग्भिः अष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च नवपदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्चादित्येन च' पिंगल छन्दशास्त्र के अनुसार जगती छन्द रश्मियाँ गौर वर्ण को उत्पन्न करती हैं। इस कारण यहाँ 'गौरीः' पद का अर्थ ब्रह्माण्ड में विद्यमान जगती छन्द रश्मियाँ ग्रहण करना चाहिए। ये जगती छन्द रश्मियाँ दूर-दूर तक फैली हुई होती हैं। ये रश्मियाँ अन्तरिक्ष में विद्यमान होने से एकपदी कहलाती हैं। अन्तरिक्ष एवं आदित्यलोक दोनों में विद्यमान रहने से द्विपदी कहलाती हैं और चारों दिशाओं में विद्यमान रहने से चतुष्पदी कहलाती हैं। चार दिशाओं और चार अवान्तर दिशाओं में विद्यमान रहने से अष्टापदी और इसके साथ ही आदित्य में भी रहने से यही जगती छन्द रश्मियाँ नवपदी भी कहलाती हैं।

यहाँ एकपदी जगती छन्द रश्मियाँ उन्हें कहते हैं, जो सम्पूर्ण आकाश में विद्यमान हैं और वहाँ विद्यमान रहकर वे अपने कर्मों को सम्पादित करती रहती हैं। द्विपदी जगती छन्द रश्मियाँ वे हैं, जो सूर्यलोक से प्रकाशाणुओं के साथ संयुक्त रहकर आकाश में दूर-दूर तक गमन करती हैं। इन दोनों ही प्रकार की जगती रश्मियों की गति में सूक्ष्म भेद अवश्य होता है। जो जगती छन्द रश्मियाँ चतुष्पदी कहलाती हैं, वे किसी भी लोक की परिधि के चारों ओर चारों दिशाओं में विद्यमान होती हैं। ये जगती छन्द रश्मियाँ लोकों के चारों ओर संघनित आकाश में ही स्पन्दन करते हुए लोकों के घूर्णन में अन्य रश्मियों के साथ भूमिका निभाती हैं। इनकी गति व स्वरूप में उपर्युक्त दोनों प्रकार की जगती रश्मियों से कुछ भेद होता है। अष्टापदी जगती छन्द रश्मियाँ उन लोकों की सम्पूर्ण परिधि में विद्यमान रहकर चतुष्पदी की भाँति अपने कार्य करती हैं। इनके अन्दर चतुष्पदी छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, उनमें चार प्रकार की अवान्तर दिशाओं में विद्यमान जगती छन्द रश्मियाँ और जुड़ जाती हैं। जब इसी प्रकार की स्थिति सूर्यलोक में होती है, तब सूर्यलोक के अन्दर से आने वाली जगती छन्द रश्मियाँ मिलकर नवपदी हो जाती हैं। यद्यपि सभी के गुण, कर्म, स्वभाव समान अक्षर रहने पर समान ही होते हैं, परन्तु भिन्न-२ परिस्थितियों में भिन्न-२ छन्द रश्मियों के प्रभाव से उनकी गति और स्वरूप में भेद अवश्य आ जाता है। इसीलिए यहाँ 'गौरी' के कई रूप बताए गए हैं। ये जगती छन्द रश्मियाँ सलिल को छीलती हैं। इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ विभिन्न आपः (जलीय आयन्स) परमाणुओं

को आवश्यक होने पर विखण्डित करने में भी सहयोग करती हैं। इसके साथ ही वे कणों के साथ प्रकाशाणुओं के उत्सर्जन और अवशोषण के द्वारा उनकी ऊर्जा में कमी वा वृद्धि भी करती रहती हैं।

(बभूवुषी, सहस्राक्षरा, परमे, व्योमन्) 'सहस्राक्षरा बहूदका परमे व्यवने' इस प्रकार जगती छन्द रश्मियाँ अनेक रूपों को प्राप्त करती हुई असंख्य उदक अर्थात् असंख्य सूक्ष्म कणों (आपः परमाणुओं) को धारण करती हुई विशाल आकाशतत्त्व में व्याप्त होती हैं। आकाश तत्त्व को व्योम इस कारण कहा जाता है, क्योंकि आकाशतत्त्व सूक्ष्म कणों से लेकर विशाल लोकों तक सभी को परिधि रूप में बाँधता हुआ उनके आकार की रक्षा करता है।

ऋषि दयानन्द ने इसका आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (गौरीः) गौरवर्णाः (मिमाय) शब्दायते (सलिलानि) जलानीव निर्मलानि वचनानि (तक्षती) (एकपदी) एकवेदाभ्यासिनी (द्विपदी) अभ्यस्तद्विवेदा (सा) (चतुष्पदी) चतुर्वेदाध्यापिका (अष्टापदी) वेदोपवेदविद्यायुक्ता (नवपदी) चतुर्वेदोपवेद-व्याकरणादिशिक्षायुक्ता (बभूवुषी) अतिशयेन विद्यासु भवन्ती (सहस्राक्षरा) सहस्राणि असंख्यातान्यक्षराणि यस्याः सा (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) व्योमवद्व्याप्तेऽक्षुब्धे। अयं निरुक्ते व्याख्यातः निरु.११.४०।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। या स्त्रियः सर्वान् साङ्गोपाङ्गान् वेदानधीत्याध्या-पयन्ति ताः सर्वान् मनुष्यानुन्नयन्ति।

पदार्थ— हे स्त्री-पुरुषो! जो (एकपदी) एक वेद का अभ्यास करने वाली वा (द्विपदी) दो वेद जिसने अभ्यास किये वा (चतुष्पदी) चार वेदों की पढ़ाने वाली वा (अष्टापदी) चार वेद और चार उपवेदों की विद्या से युक्त वा (नवपदी) चार वेद, चार उपवेद और व्याकरणादि शिक्षायुक्त (बभूवुषी) अतिशय करके विद्याओं में प्रसिद्ध होती और (सहस्राक्षरा) असंख्यात अक्षरों वाली होती हुई (परमे) सबसे उत्तम (व्योमन्) आकाश के समान व्याप्त निश्चल परमात्मा के निमित्त प्रयत्न करती है और (गौरीः) गौरवर्णयुक्त विदुषी स्त्रियों को (मिमाय) शब्द कराती अर्थात् (सलिलानि) जल के समान निर्मल वचनों को (तक्षती) छांटती अर्थात् अविद्यादि दोषों से अलग करती हुई (सा) वह संसार के लिये अत्यन्त सुख करने वाली होती है।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो स्त्री समस्त साङ्गोपाङ्ग वेदों को पढ़ के पढ़ाती हैं, वे सब मनुष्यों की उन्नति करती हैं।''

इसकी एक और ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकचत्वारिंशः खण्डः =

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति॥ [ऋ.१.१६४.४२]
तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति। वर्षन्ति मेघाः।
तेन जीवन्ति दिगाश्रयाणि भूतानि। ततः क्षरत्यक्षरमुदकम्।
तत्सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति। गौर्व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ ४१ ॥

इसके ऋषि और देवता पूर्ववत् और छन्द भुरिक् बृहती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न वाक् रश्मियाँ मिलकर पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया को तीव्र करती हैं और कृष्णवर्ण की उत्पत्ति भी होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तस्याः, समुद्राः, अधि, वि, क्षरन्ति, तेन, जीवन्ति, प्रदिशः, चतस्रः) 'तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति वर्षन्ति मेघाः तेन जीवन्ति दिगाश्रयाणि भूतानि' ध्यातव्य है कि गौरी पद को ग्रन्थकार ने वाङ्नाम में भी पढ़ा है, इस कारण यहाँ जगती छन्द रश्मियों की भाँति अन्य छन्द रश्मियों के भी इतने ही प्रकार मानकर उनके भी इसी प्रकार के कर्म समझने चाहिए। पूर्ववत् गौरी संज्ञक विविध वाक् रश्मियों से इस ब्रह्माण्ड में विशाल सागर उत्पन्न होते हैं अर्थात् समूचा ब्रह्माण्ड वाक् रश्मियों के विशाल सागर के रूप में प्रकट होता है। इसे यहाँ समुद्र इस कारण कहा गया है, क्योंकि वाक् रश्मियों के इस फैलाव की एक मर्यादा-सीमा होती है, भले ही यह सीमा वर्तमान ब्रह्माण्ड की सीमा से बहुत अधिक होती है, परन्तु प्रकृति रूपी मूल पदार्थ की अपेक्षा ही नहीं, बल्कि मनस्तत्त्व की अपेक्षा भी इसकी एक

सीमा होती है। ग्रन्थकार ने 'समुद्रः' पद को निघण्टु १.३ में अन्तरिक्षनाम में भी पढ़ा है, इस कारण यहाँ वाक् रश्मियों का विशाल समुद्र आकाशरूप ही होता है। इस आकाश में नाना प्रकार के छन्द उत्पन्न होकर मेघरूप में बरसने लगते हैं अर्थात् आकाश में विभिन्न छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होकर सूक्ष्म पदार्थ से युक्त खगोलीय मेघों का निर्माण करने लगती हैं। उन छन्द रश्मियों का निर्माण इस प्रकार होता है, मानो इन छन्द रश्मियों की वर्षा हो रही हो और फिर वे छन्द रश्मियाँ संघनित होती हुई अनेक प्रकार के सूक्ष्म कणों वा विकिरणों को उत्पन्न करने लगती हैं। तदुपरान्त उनके संघनन से ही खगोलीय मेघ उत्पन्न होते हैं। उन मेघों से सभी दिशाओं में आश्रय लेने वाले उत्पन्न पदार्थ जीवित रहते हैं। इसका आशय यह है कि जो ब्रह्माण्ड निर्मित होने वाला होता है, वह इन्हीं मेघों से उत्पन्न होता है। इसके साथ ही इन मेघों में विद्यमान सभी पदार्थ इन वाक् रश्मियों से ही जीवन पाते हैं। इन विभिन्न कणों वा विकिरणों में प्रतिक्षण विभिन्न रश्मियों का आवागमन होता रहता है और इसके कारण ही उन कणों का अस्तित्व भी बना रहता है।

(ततः, क्षरति, अक्षरम्, तत्, विश्वम्, उप, जीवति) 'ततः क्षरत्यक्षरमुदकम् तत्सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति' उन छन्द रश्मियों से अनेक प्रकार के अक्षर भी निरन्तर जल (पानी) की भाँति समूचे विश्व को सिंचित करते रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस ब्रह्माण्ड में अत्यन्त सूक्ष्म स्तर पर नाना प्रकार के अक्षर आवश्यकतानुसार प्रकट होते रहते हैं। विभिन्न पदरूप सूक्ष्म रश्मियों के निर्माण में आगम, प्रत्यय, उपसर्ग आदि इसी प्रकार प्रकट होते हैं। इस प्रक्रिया से ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ जीवित रहते हैं, क्योंकि उनके जीवित रहने के लिए अनेक प्रकार की छन्द वा प्राण रश्मियों का निर्माण इसी प्रकार होता है। ग्रन्थकार ने खण्ड १४.१६ में आदित्य को भी समुद्र कहा है। इससे यह भी स्पष्ट है कि इस प्रकार की क्रियाएँ न केवल सूक्ष्म स्तर पर ब्रह्माण्ड की प्राथमिक अवस्था में आकाश में होती हैं, अपितु सूर्यलोक में भी ऐसी क्रियाएँ होती रहती हैं और इन्हीं से सूर्य का अस्तित्व बना रहता है।

'गौरीः' पद के पश्चात् 'गौः' पद के निर्वचन के विषय में खण्ड २.५ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= द्विचत्वारिंशः खण्डः =

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्द्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥

[ऋ.१.१६४.२८, अथर्व.९.१०.६]

गौरन्वमीमेद्वत्सं निमिषन्तम्। अनिमिषन्तमादित्यमिति वा।
मूर्धानमस्याभिहिङ्ङकरोन्मननाय। सृक्वाणं सरणम्। घर्मं हरणम्।
अभिवावशाना मिमाति मायुम्। प्रप्यायते पयोभिः। मायुमिवादित्यमिति वा।
वागेषा माध्यमिका। घर्मधुगिति याज्ञिकाः।
धेनुः। धयतेर्वा। धिनोतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ ४२॥

इस मन्त्र का ऋषि पूर्ववत् है। इसका देवता गौ और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से गौ संज्ञक विभिन्न पदार्थ, जिनका वर्णन पूर्व में खण्ड २.५ से लेकर खण्ड २.७ तक किया गया है, तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(गौः, अमीमेत्, अनु, वत्सम्, मिषन्तम्, मूर्द्धानम्, हिङ्, अकृणोत्, मातवै, ऊं इति) 'गौरन्वमीमेद्वत्सं निमिषन्तम् अनिमिषन्तमादित्यमिति वा मूर्धानमस्याभिहिङ्ङकरोन्मननाय' [वत्सः = स्वव्याप्त्या सर्वाऽऽच्छादकः (म.द.ऋ.भा.१.९५.४); अयमेव वत्सो योऽयं (वायुः) पवते (श.ब्रा.१२.४.१.११), अग्निमर्ह वै ब्राह्मणो वत्सः (जै.उ.२.१३.१)] गौ संज्ञक वे वाक् रश्मियाँ, जो सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त रहती हैं, सूर्यलोक को उत्पन्न करती हैं। इस कारण सूर्यलोक को वाक् रश्मियों अर्थात् वायुतत्त्व का पुत्र कहा गया है। इस विषय में ऋषियों का कथन है— सा या सा वागसौ स आदित्यः (श.ब्रा.१०.५.१.४), यदादित्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति (जै.ब्रा.२.४९), तदसावादित्य इमाँल्लोकान्त्सूत्रे समावयते तद्यत्तत्सूत्रं वायुः सः (श.ब्रा.८.७.३.१०), तदसौ वा आदित्यः प्राणः (जै.उ.४.२२.९)। इस प्रकार अन्तरिक्ष में विद्यमान वाक् एवं प्राण रश्मियों के संघनन से सूर्यलोक की उत्पत्ति होती है। जब यह सूर्य खगोलीय मेघ के अन्दर ढका हुआ होता है अर्थात् उसके ऊपर पदार्थ का एक विशाल आवरण, जो अपेक्षाकृत कम उष्ण होता है, तब उसी अवस्था के

लिए यहाँ ग्रन्थकार ने अनिमिषन्त वत्स कहा है अर्थात् सूर्य उस समय ऐसा प्रतीत होता है, जैसे पलकों से ढके हुए नेत्र। ऐसी अवस्था वाले उस सूर्यलोक अथवा खगोलीय विशाल मेघ, जो तीव्र गति से अक्ष पर घूर्णन भी कर रहा होता है, का अनुगमन करती हुई गौ अर्थात् वाक् रश्मियाँ तीव्र ध्वनियाँ उत्पन्न करती हैं। इसका आशय यह भी है कि इस अवस्था में ये वाक् रश्मियाँ तीव्र घोष के साथ उस खगोलीय विशाल मेघ पर प्रहार करती हैं।

ऋषि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में 'अमीमेत्' पद का अर्थ 'मिनाति' ही किया है, जो 'मीञ् हिंसायाम्' धातु का ही रूप है। जब इसे गति और शब्द के अर्थ में ग्रहण करते हैं, उस समय यह पद 'मीमृ गतौ शब्दे च' धातु से व्युत्पन्न मानना चाहिए। यहाँ दोनों ही अर्थों को ग्रहण करना उपयुक्त है। वे वाक् अथवा वायु रश्मियाँ उस ढके हुए सूर्य पर कैसे प्रहार करती हैं? यह स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वे इस लोक को तेजस्वी बनाने के लिए इसके मूर्धाभाग में 'हिम्' रश्मियों को तीव्रता से प्रकट करती हैं। मूर्धा के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— एष वै मूर्धा य एष (सूर्यः) तपति (श.ब्रा.१३.४.१.१३) अर्थात् उस विशाल खगोलीय मेघ का वह भाग जो सूर्य के रूप में अन्दर विद्यमान होता है, उसे ही उस विशाल मेघ की मूर्धा कहा जाता है। ये 'हिम्' रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मियों को परस्पर संयुक्त करने में सहायक होती हैं, जिसके कारण यजन क्रियाएँ तीव्र होने लगती हैं। इस विषय में ऋषियों का कथन है— हिंकारेण वै ज्योतिषा देवास्त्रिवृते ब्रह्मवर्चसाय ज्योतिरदधुः (जै.ब्रा.१.६६), तदेतद्यज्ञस्याग्रे गेयं यद्धिङ्कारः (गो.उ.३.९), एष वै स्तोमस्य योगो यद्धिङ्कारः (तां.ब्रा.६.८.६)। इसके कारण उस भीतरी भाग का ताप बढ़ने लगता है।

(सृक्वाणम्, घर्मम्, अभि, वावशाना, मिमाति, मायुम्, पयते, पयोभिः) 'सृक्वाणं सरणम् घर्मं हरणम् अभिवावशाना मिमाति मायुम् प्रप्यायते पयोभिः मायुमिवादित्यमिति वा' यहाँ सूर्यलोक को सृक्वाण और घर्म कहा है। ग्रन्थकार ने इसका आशय सरकने वाला और हरने वाला किया है। इससे दो तथ्य प्राप्त होते हैं, प्रथम यह कि उस विशाल खगोलीय मेघ के अन्दर विद्यमान निर्माणाधीन आदित्य लोक उस मेघ की घूर्णन गति के सापेक्ष भी धीरे-२ गति करता रहता है। इसके साथ ही वह बाहरी भाग से विभिन्न प्रकार के रसों अर्थात् रश्मियों अथवा आयन्स को भी ग्रहण करता रहता है। दूसरा अर्थ यह है कि सम्पूर्ण

मेघ अपने अक्ष पर घूर्णन करता हुआ भी आकाश में गति करता रहता है, भले ही उसकी कक्षा स्थिर नहीं हुई हो। इसके अतिरिक्त वह विशाल आकाश से, विशेषकर निकटवर्ती क्षेत्र से विभिन्न रश्मियों एवं आयन्स को ग्रहण करता रहता है। [मायुः = वाङ्नाम (निघं.१.११)] ये वायु रश्मियाँ उस मेघ की ओर अत्यधिक आकर्षित होती हुई उस मेघ वा सूर्यलोक पर बार-२ प्रहार करती हैं। इसके कारण वह मेघ तेजी से फैलने लगता है और इस फैलने का कारण यहाँ पयस् को बताया है। [पयः = ऐन्द्रं पयः (गो.उ.१.२२)] इसका अर्थ यह है कि यह विस्तार, जो आगे चलकर उस विशाल मेघ के विखण्डन में परिवर्तित हो जाता है, इन्द्रतत्त्व के प्रहार से होता है। इन्द्रतत्त्व तीव्र विद्युत् युक्त वायु ही है। ध्यातव्य है कि इस विखण्डन के कारण ही सूर्य एवं अन्य ग्रहादि लोक पृथक् होते हैं। इसलिए यह विखण्डन ऊपरी आवरण मात्र का ही होता है।

भावार्थ— विभिन्न वाक् और प्राण रश्मियों के संघनन से सूर्यलोक की उत्पत्ति होती हैं। जब खगोलीय मेघ के अन्दर सूर्य छिपा रहता है, तब उसकी स्थिति पलकों से ढके हुए नेत्र के समान होती है। उस समय वह विशाल खगोलीय मेघ अन्तरिक्ष में गमन करता हुआ अपने अक्ष पर भी घूर्णन करता रहता है। उसके अन्दर छिपा हुआ अविकसित सूर्यलोक पृथक् से अपने अक्ष पर घूर्णन करता है। उस अविकसित सूर्यलोक के अन्दर 'हिम्' रश्मियाँ तीव्रता से प्रकट होती हैं। वे रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों को परस्पर संयुक्त करके यजन प्रक्रिया को बढ़ाती हैं, जिससे उस क्षेत्र का तापमान बढ़ने लगता है। उस अविकसित सूर्यलोक की घूर्णन गति उस खगोलीय मेघ की घूर्णन गति की अपेक्षा कम होती है। वह उस मेघ से भी विभिन्न प्रकार के कणों को ग्रहण करता रहता है। इसी प्रकार वह मेघ भी अन्तरिक्ष से सूक्ष्म कणों व रश्मियों को ग्रहण करता रहता है। कालान्तर में असुर पदार्थ एवं अन्य कुछ रश्मियों के प्रबल प्रहार से वह मेघ फैलने लगता है और कुछ समय बाद विस्फोट होकर विभिन्न लोकों का जन्म भी होता है।

यहाँ 'गौः' का अर्थ अन्तरिक्षस्थ वायु माना गया है। यह मान्यता नैरुक्तों की है। उधर याज्ञिक परम्परा के आचार्य गौ का अर्थ घर्मधुक् मानते हैं। यहाँ सभी भाष्यकारों ने घर्मधुक् का अर्थ 'यज्ञकर्म के लिए दुही जाने वाली गाय' किया है। कर्मकाण्ड की परम्परा में यह भले ही उचित है, परन्तु अन्ततः सभी यज्ञ सृष्टि प्रक्रिया को ही दर्शाते हैं, इसलिए नैरुक्तों का ही कथन महत्त्वपूर्ण है।

'गौः' पद के पश्चात् 'धेनुः' पद का निर्वचन करते हुआ लिखा है— 'धेनुः धयतेर्वा धिनोतेर्वा' अर्थात् जो पदार्थ नाना प्रकार के रसों का पान कराता है और इससे विभिन्न पदार्थों को तृप्त करता है, उस पदार्थ को धेनु कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

त्रिचत्वारिंशः खण्डः

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम्॥

[ऋ.१.१६४.२६]

उपह्वये सुदोहनां धेनुमेताम्। कल्याणहस्तो गोधुगपि च दोग्ध्येनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता सुनोतु नः-इत्येष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकम्।
यद्वा पयो यजुष्मत्। अभीद्धो घर्मः। तं सु प्रब्रवीमि। वागेषा माध्यमिका।
घर्मधुगिति याज्ञिकाः।
अघ्न्या। अहन्तव्या भवति। अघघ्नीति वा। तस्यैषा भवति॥ ४३॥

इस मन्त्र का ऋषि पूर्ववत् और देवता धेनु तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से धेनु संज्ञक पदार्थ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उप, ह्वये, सुदुघाम्, धेनुम्, एताम्, सुहस्तः, गोधुक्, उत, दोहत्, एनाम्) 'उपह्वये सुदोहनां धेनुमेताम् कल्याणहस्तो गोधुगपि च दोग्ध्येनाम्' [धेनुः = वाङ्नाम (निघं.१.११), वाग्वै धेनुः (तां.ब्रा.१८.९.२१), वाचमेव तद्देवा धेनुमकुर्वत (श.ब्रा.९.१.२.१७)] इस छन्द रश्मि की कारणरूप दीर्घतमा ऋषि रश्मियाँ इस ब्रह्माण्ड में नाना प्रकार की प्राण रश्मियों को आकृष्ट करके भरने वाली वाक् रश्मियों को निकटता से आकर्षित करती रहती हैं। इसका अर्थ यह है कि जिन वाक् रश्मियों का प्राण रश्मियों के प्रति अत्यधिक आकर्षण का भाव

रहता है, उन वाक् रश्मियों को दीर्घतमा ऋषि रश्मियाँ निकटतापूर्वक आकृष्ट करती रहती हैं। सुन्दर कमनीय बलों से युक्त प्राण रश्मियाँ विभिन्न लोकों वा कणों से इन वाक् रश्मियों को दुहती रहती हैं अर्थात् अन्तरिक्ष में व्याप्त प्राण रश्मियाँ इन वाक् रश्मियों को विभिन्न लोकों वा कणों से बाहर खींचती रहती हैं। इसके कारण ही विभिन्न पदार्थों के मध्य नाना प्रकार के बलों की उत्पत्ति होती रहती है। प्राणतत्त्व के अभाव में वाक् तत्त्व अपनी क्रियाओं को करने में समर्थ नहीं होता। यहाँ कल्याण पद आकर्षण बल के साथ-साथ यह भी संकेत करता है कि प्राण रश्मियों द्वारा वाक् रश्मियों का आकर्षण प्रयोजनानुसार सबके कल्याणकर्त्ता चेतन तत्त्व ईश्वर के सानिध्य में ही होता है।

(श्रेष्ठम्, सवम्, सविता, साविषत्, नः, अभि, इद्धः, घर्मः, तत्, ॐ इति, सु, प्र, वोचम्) 'श्रेष्ठं सवं सविता सुनोतु नः-इत्येष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकम् यद्वा पयो यजुष्मत् अभीद्धो घर्मः तं सु प्रब्रवीमि' [साविषत् = उत्पादयेत् (ऋ.द.भा.)] सविता अर्थात् सबका उत्पादक सूर्यलोक श्रेष्ठ यज्ञों को उत्पन्न करता है। इस सृष्टि में जो भी यजन क्रियाएँ हो रही हैं, उनमें से सर्वाधिक मात्रा में सूर्यादि लोकों में ही होती हैं। विभिन्न लोकों की प्रेरण क्रियाएँ भी इन्हीं लोकों के द्वारा ही सर्वाधिक होती हैं। सृष्टि की सभी यजन क्रियाओं में जिन पदार्थों की यजन क्रियाएँ होती हैं, उनमें उदक संज्ञक सूक्ष्म रश्मियों की यजन क्रियाएँ ही सर्वाधिक मात्रा एवं सर्वश्रेष्ठ रूप से होती हैं अथवा याजुषी रश्मियों के मध्य होने वाली यजन क्रियाएँ श्रेष्ठतर होती हैं। स्मरण रहे कि आकाशतत्त्व याजुषी रश्मियों से ही निर्मित है, इस कारण आकाश रश्मियों की यजन क्रियाएँ श्रेष्ठतम यज्ञरूप कहलाती हैं। इन्हीं सभी क्रियाओं से सूर्यलोक रूपी घर्म सब ओर से प्रदीप्त होता है और ऐसा करने के लिए दीर्घतमा ऋषि रश्मियाँ निरन्तर नाना प्रकार की छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती रहती हैं। शेष भाग का अर्थ— पूर्ववत्।

'धेनुः' पद के पश्चात् 'अघ्न्या' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अघ्न्या अहन्तव्या भवति अघघ्नीति वा' अर्थात् जो पदार्थ नष्ट न होने योग्य तथा हिंसक एवं घातक पदार्थों को नष्ट करते हैं, उन्हें अघ्न्या कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= चतुश्चत्वारिंशः खण्डः =

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥

[ऋ.१.१६४.४०]

सुयवसादिनी भगवती हि भव। अथेदानीं वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये सर्वदा। पिब च शुद्धमुदकमाचरन्ती।
तस्यैषाऽपरा भवति॥ ४४॥

इसका ऋषि पूर्ववत्, देवता धेनु और छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न वाक् रश्मियाँ विविध रूपों वाले रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सूयवसऽअत्, भगवती, हि, भूयाः, अथो इति, वयम्, भगवन्तः, स्याम) 'सुयवसादिनी भगवती हि भव अथेदानीं वयं भगवन्तः स्याम' पूर्वोक्त धेनु संज्ञक रश्मियाँ नाना प्रकार के संयोज्य पदार्थों का भक्षण करके यजनवती होती हैं अर्थात् इन पदार्थों के भक्षण से यजन क्रियाएँ तीव्र होने लगती हैं। हमारे मत में धेनु संज्ञक वाक् रश्मियाँ प्राण रश्मियों का ही भक्षण करती हैं। इन सबसे दीर्घतमा ऋषि रश्मियों का क्षेत्र यजन क्रियाओं से समृद्ध होने लगता है।

(अद्धि, तृणम्, अघ्न्ये, विश्वदानीम्, पिब, शुद्धम्, उदकम्, आचरन्ती) 'अद्धि तृणमघ्न्ये सर्वदा पिब च शुद्धमुदकमाचरन्ती' [तृणम् = तृह्यते हन्यते तत् तृणम् (उ.को.५.८)] वे धेनु रश्मियाँ अघ्न्या कहलाती हैं, क्योंकि कोई भी बाधक पदार्थ उन्हें नष्ट नहीं कर सकता। इसके साथ ही वे वाक् रश्मियाँ उन हिंसक पदार्थों को नष्ट अवश्य कर देती हैं। ऐसी वाक् रश्मियाँ सदैव ही छिन्न-भिन्न करने योग्य हिंसक वा बाधक पदार्थों को नष्ट कर देती हैं अर्थात् उन्हें छिन्न-भिन्न करके आकाश में मिला देती हैं। इसके साथ ही वे रश्मियाँ विशाल खगोलीय मेघों को अथवा विशाल आसुर मेघों को भी विखण्डित करने में समर्थ होती हैं। इस प्रकार वे धेनु रश्मियाँ सब ओर से इन पदार्थों को खाती हुई शुद्ध प्राणादि रश्मियों को अवशोषित करती रहती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (सुयवसात्) या शोभनानि यवसानि सुखानि अत्ति सा (भगवती) बह्वैश्वर्ययुक्ता विदुषी (हि) किल (भूयाः) (अथो) (वयम्) (भगवन्तः) बह्वैश्वर्ययुक्ताः (स्याम) भवेम (अद्धि) अशान (तृणम्) (अघ्न्ये) गौरिव वर्त्तमाने (विश्वदानीम्) विश्वं समग्रं दानं यस्यास्ताम् (पिब) (शुद्धम्) पवित्रम् (उदकम्) जलम् (आचरन्ती) सत्याचरणं कुर्वती। अयं निरुक्ते व्याख्यातः। निरु.११.४४।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यावन्मातरो वेदविदो न स्युस्तावत्तदपत्यान्यपि विद्यावन्ति न भवन्ति। या विदुष्यो भूत्वा स्वयंवरं विवाहं कृत्वा सन्तानानुत्पाद्य सुशिक्ष्य विदुषः कुर्वन्ति ता गाव इव सर्वं जगदाह्लादयन्ति।

पदार्थ— हे (अघ्न्ये) न हनने योग्य गौ के समान वर्त्तमान विदुषी! ते (सुयवसात्) सुन्दर सुखों को भोगने वाली (भगवती) बहुत ऐश्वर्यवती (भूयाः) हो कि (हि) जिस कारण (वयम्) हम लोग (भगवन्तः) बहुत ऐश्वर्ययुक्त (स्याम) हों। जैसे गौ (तृणम्) तृण को खा (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) जल को पी और दूध देकर बछड़े आदि को सुखी करती है वैसे (विश्वदानीम्) समस्त जिसमें दान उस क्रिया का (आचरन्ती) सत्य आचरण करती हुई (अथो) इसके अनन्तर सुख को (अद्धि) भोग और विद्यारस को (पिब) पी।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जब तक माताजन वेदवित् न हों, तब तक उनमें सन्तान भी विद्यावान् नहीं होते हैं। जो विदुषी हो स्वयंवर विवाह कर सन्तानों को उत्पन्न कर उनको अच्छी शिक्षा देकर उन्हें विद्वान् करती हैं, वे गौओं के समान समस्त जगत् को आनन्दित करती हैं।"

इसकी एक और ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= पञ्चचत्वारिंशः खण्डः =

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥

[ऋ.१.१६४.२७]

इति सा निगदव्याख्याता। पथ्या। स्वस्तिः। पन्था अन्तरिक्षम्।
तन्निवासात्। तस्यैषा भवति॥ ४५॥

इसके ऋषि, देवता व छन्द पूर्ववत् हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(हिङ्कृण्वती, वसुपत्नी, वसूनाम्, वत्सम्, इच्छन्ती, मनसा, अभि, आ, अगात्) वे धेनु संज्ञक वाक् रश्मियाँ अग्नि, वायु, जल एवं पृथिवी आदि वसुओं की पत्नी अर्थात् पालिका व रक्षिका होती हैं एवं उन वसुओं से उत्पन्न सूर्यलोक को चाहती हुई अर्थात् सूर्यलोक की ओर आकृष्ट होती हुई मनस्तत्त्व द्वारा उसे प्राप्त करती हैं अर्थात् मनस्तत्त्व में स्पन्दित होती हुई सूर्यलोक की ओर गमन करती हैं। अघ्न्या संज्ञक वाक् रश्मियाँ अपने साथ 'हिम्' रश्मियों को सदैव धारण किये रहती हैं अथवा वे 'हिम्' रश्मियों का निर्माण करती रहती हैं।

(दुहाम्, अश्विभ्याम्, पयः, अघ्न्या, इयम्, सा, वर्धताम्, महते, सौभगाय) ये अघ्न्या संज्ञक वाक् रश्मियाँ प्रकाशित व अप्रकाशित कणों से नाना प्रकार की रश्मियों को दुहती हुई अर्थात् आकर्षित करती हुई महान् और सुन्दर यजन प्रक्रियाओं के लिए निरन्तर बढ़ती हैं। ये महान् यजन क्रियाएँ सूर्यादि लोकों के अन्दर ही होती हैं।

भावार्थ— सभी वाक् रश्मियों में सर्वप्रथम उत्पन्न एवं सर्वाधिक व्यापक 'ओम्' रश्मियाँ सभी पदार्थों को अपने मनन सामर्थ्य के साथ प्राप्त करती हैं अर्थात् वे ज्ञान और प्रयोजनपूर्वक सभी सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम रश्मियों, कणों, विकिरणों और लोकों में व्याप्त होकर नाना प्रकार के कर्मों को सम्पादित करती हैं। वे परा ओम् रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मियों को 'हिम्' रश्मियों के द्वारा परस्पर जोड़े रखती हैं। पश्यन्ती ओम् रश्मियाँ मनस्तत्त्व के साथ सभी लोकों में निरन्तर स्पन्दित होती रहती हैं। इन ओम् रश्मियों को कोई भी रश्मि आदि पदार्थ न तो नष्ट कर सकता है और न उनके मार्ग में कोई बाधा वा

विचलन ही उत्पन्न कर सकता है। इसके साथ ही कोई भी पदार्थ उनसे अधिक व्यापक भी नहीं हो सकता है। जब दो कणों में परस्पर संयोग प्रक्रिया प्रारम्भ होनी होती है, तब दोनों ही कणों से सूक्ष्म रश्मियों को बाहर खींचने के कार्य में लगी हुई रश्मियों के बल और दिशा का मूल कारण ये ओम् रश्मियाँ ही होती हैं। इन्हीं के कारण इस सृष्टि में सभी क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं।

'अघ्न्या' पद के पश्चात् 'पथ्या स्वस्तिः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'पन्था अन्तरिक्षम् तन्निवासात्' अर्थात् पन्था अन्तरिक्ष को कहते हैं और उसमें निवास करने वाले पदार्थ को पथ्या कहा जाता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षट्चत्वारिंशः खण्डः =

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति। सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा॥ [ऋ.१०.६३.१६]

स्वस्तिरेव हि प्रपथे श्रेष्ठा। रेक्णस्वती धनवती।
अभ्येति या वसूनि वननीयानि। सा नोऽमा गृहे। सा निरमणे।
सा निर्गमने पातु। स्वावेशा भवतु। देवी गोप्त्री। देवान् गोपायत्विति।
देवा एनां गोपायन्त्विति वा। उषा व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ ४६ ॥

इस मन्त्र का ऋषि गयप्लात है। इसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता पथ्या स्वस्ति और छन्द विराट् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अन्तरिक्ष में विद्यमान कमनीय पदार्थ विविध प्रकार के गौर वर्णों से युक्त होते हुए दूर-२ तक फैलने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(स्वस्तिः, इत्, हि, प्रपथे, श्रेष्ठा, रेक्णस्वती, अभि, या, वामम्, एति) 'स्वस्तिरेव हि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वती धनवती अभ्येति या वसूनि वननीयानि' [वामः = प्रशस्यनाम (निघं.३.

८), प्राणा वै वामम् (श.ब्रा.७.४.२.३५), वामं हि पशवः (ऐ.ब्रा.५.६)] अन्तरिक्ष में विद्यमान अनुकूल वा कमनीय मार्ग ही विशाल अन्तरिक्ष में संयोजनीय एवं विभाजनीय पदार्थों को प्राप्त होते हैं। वे कमनीय मार्ग ही नाना प्रकार की श्रेष्ठ प्राण व छन्दादि रश्मियों से युक्त होकर नाना प्रकार के सूक्ष्म कणों को अनुकूलता से प्राप्त कराते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि में जिन-जिन कणों के मध्य जो-जो भी अन्योन्य क्रियाएँ हो रही हैं, वे सब सरल एवं श्रेष्ठ मार्गों द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। विपरीत परिस्थितियों में ही मार्गों का विचलन होता है। यही स्थिति रश्मियों के विषय में भी समझनी चाहिए।

(सा, नः, अमा, सो इति, अरणे, नि, पातु, सु, आवेशा, भवतु, देवगोपा) 'सा नोऽमा गृहे सा निरमणे सा निर्गमने पातु स्वावेशा भवतु देवी गोप्त्री देवान् गोपायत्विति देवा एनां गोपायन्त्विति वा' वे पथ्या संज्ञक कल्याणकारी मार्ग संघात न होने की स्थिति में उन कणों व रश्मियों के गृहरूप होते हैं अर्थात् वे कण वा रश्मियाँ स्वतन्त्र अवस्था में भी उन्हीं श्रेष्ठ व कमनीय मार्गों में विचरण करती हैं। वे मार्ग विभिन्न देवकणों वा रश्मियों के रक्षक होकर उनके लिए सहजता से गमन करने के लिए स्थान प्रदान करने वाले अथवा उनको सहजता से प्रवेश कराने वाले होते हैं।

भावार्थ— सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ अनुकूलतम स्थिति में ही रहना चाहता है अर्थात् न्यूनतम ऊर्जा स्तर में रहना प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव है। जब वह किसी अन्य पदार्थ के साथ कोई क्रिया कर रहा होता है अथवा स्वच्छन्द विचरण कर रहा होता है अथवा विराम अवस्था में होता है, तब वह अनुकूलतम परिस्थिति में ही रहना चाहता है। बिना किसी बाहरी बल के वह अपनी अनुकूलतम स्थिति को भंग नहीं करना चाहता। अनुकूलतम परिस्थितियों से युक्त मार्ग उन कण आदि पदार्थों के लिए गृहरूप होकर सरल और सहज होते हैं।

'पथ्या स्वस्तिः' पद के पश्चात् 'उषाः' पद के निर्वचन के लिए खण्ड २.१८ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= सप्तचत्वारिंशः खण्डः =

अपोषा अनसः सरत्सम्पिष्टादह बिभ्युषी।
नि यत्सीं शिश्नथद्वृषा॥ [ऋ.४.३०.१०]
अपासरदुषा अनसः सम्पिष्टान्मेघाद् बिभ्युषी। अनो वायुः। अनितेः। अपि वोपमार्थे स्यात्। अनस इव शकटादिव। अनः शकटम्। आनद्धमस्मिंश्चीवरम्। अनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मणः। उपजीवन्त्येनत्। मेघोऽप्यन एतस्मादेव। यन्निरशिश्नथद् वृषा। वर्षिता मध्यमः। तस्यैषाऽपरा भवति॥ ४७॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है, जिसके विषय में पूर्व में हम लिख चुके हैं। इसका देवता इन्द्र एवं उषा तथा छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व एवं उषा दोनों ही रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अप, उषाः, अनसः, सरत्, सम्पिष्टात्, अह, बिभ्युषी, नि, यत्, सीम्, शिश्नथत्, वृषा) 'अपासरदुषा अनसः सम्पिष्टान्मेघाद् बिभ्युषी अनो वायुः अनितेः अपि वोपमार्थे स्यात् अनस इव शकटादिव अनः शकटम् आनद्धमस्मिंश्चीवरम् अनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मणः उपजीवन्त्येनत् मेघोऽप्यन एतस्मादेव यन्निरशिश्नथद् वृषा वर्षिता मध्यमः' [वृषा = इन्द्रो वै वृषा (क.सं. ४२.१, तां.ब्रा.९.४.३), इन्द्रो वृषा (काठ.सं.३४.१, श.ब्रा.१.४.१.३३)। वज्रः = वज्रो वा उष्णिहः (जै.ब्रा.१.२०९), श्नथति वधकर्मा (निघं.२.१९)। सीम् = सर्वतः (ऋ.द.भा.), सीम् इति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा (निरु.१.७)]

हम इस मन्त्र का भाष्य अन्तिम पाद से प्रारम्भ करते हैं— जब नाना लोकों को रचने में समर्थ शकट रूपी मेघ [शकटः = शक्नोतीति शकटः (उ.को.४.८२)] को वृषारूप इन्द्र अपनी वज्र रश्मियों से तोड़ता है, उस समय अर्थात् विखण्डन से पूर्व वह मेघ उषा जैसी लालिमा से युक्त होता है। इसके साथ ही इन्द्रतत्त्व भी त्रिष्टुप् एवं उष्णिक् छन्द रश्मियों से युक्त वज्र रश्मियों के कारण लालिमायुक्त वर्ण वाला होता है। ध्यातव्य है कि यहाँ उस तप्त खगोलीय मेघ की चर्चा है, जिससे सौर मण्डल का निर्माण होता है। यह

मेघ आन्तरिक भाग की अत्यधिक उष्णता के कारण लालिमायुक्त होता है। यह लालिमा दृश्य रूप में ही होती है। यहाँ मेघ को विखण्डित करने के लिए 'शिश्नथत्' क्रिया का प्रयोग हुआ है। इससे यह संकेत मिलता है कि इन्द्रतत्त्व उस खगोलीय मेघ को मथता हुआ तोड़ देता है और उस मन्थन से वह मेघ घूर्णन करने लगता है और घूमते हुए उसका बाहरी आवरण पृथक् हो जाता है।

ऋचा के अन्तिम पाद के भाष्य के उपरान्त प्रथम और द्वितीय पाद का भाष्य करते हैं— यहाँ 'अन:' पद का अर्थ मेघ किया है। जब इस मेघ का विखण्डन हो जाता है, तो इसके बाहरी भाग की उषा अर्थात् लालिमा धीरे-२ कम होती हुई समाप्त हो जाती है और वे भाग ही विभिन्न ग्रह-उपग्रह में परिवर्तित हो जाते हैं। ग्रह आदि लोकों में परिवर्तित हो रहे पिण्ड कम्पन करते हुए आकाश में गमन करने लगते हैं। इस प्रकार कम्पन करते हुए ही धीरे-२ वे अप्रकाशित होते जाते हैं। इसी बात को यहाँ उषा का डरकर भागना कहा गया है और यह भी कहा गया है कि उषा का यह पलायन उस मेघ के पीसे जाने अर्थात् तोड़े जाने से होता है। यहाँ 'अन:' का अर्थ वायु भी किया है। इसका अर्थ यह है कि वे लालिमायुक्त किरणें उस इन्द्ररूपी वायु में भी होती हैं, जो मेघ को विखण्डित करता है। जब इन्द्रतत्त्व का प्रहार मेघ पर होकर मेघ को विदीर्ण कर देता है, उस समय इन्द्रतत्त्व स्वयं भी दुर्बल हो जाता है और उसकी लालिमा भी समाप्त हो जाती है। इस कारण वायुरूपी अनस् से भी उषा का दूर चले जाना कहा गया है।

यहाँ शकट को भी अनस् कहा गया है। पूर्व में हम मेघ को शकट कह चुके हैं, परन्तु यहाँ शकट उन तरंगों का भी नाम है, जिन पर सवार होकर इन्द्रतत्त्व की रश्मियाँ गमन करती हैं। इन्हें पूर्व खण्ड ९.११ में 'रथ' नाम से सम्बोधित किया है। मेघ के आवरण के विखण्डन के पश्चात् इन रश्मियों के भी क्षीण हो जाने से उनकी रथरूप रश्मियों की लालिमा क्षीण हो जाती है। यहाँ शकट को 'चीवर' नामक पदार्थों से सब ओर से बँधा हुआ कहा गया है। इस पद का निर्वचन करते हुए उ.को.३.१ के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'चिनोति तृणादिना चीयते वा स चीवरः, चीवरम्'। इसका अर्थ यह है कि ये शकट अथवा रथ रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों का समूह होती हैं, जो एक-दूसरे से बँधी रहती हैं। इन रश्मियों पर ही इन्द्रतत्त्व जीवित रहता है अर्थात् रथ वा शकट रूप रश्मियाँ न केवल इन्द्र रश्मियों की वाहिका होती हैं, अपितु उन्हें अधिक शक्तिशाली व आक्रामक

बनाने में भी सहयोग करती हैं। मेघ के विखण्डन के पश्चात् इन सबका भी उसी प्रकार क्षरण हो जाता है, जिस प्रकार विद्युत् ऋणावेशित और धनावेशित कणों के प्रबल आकर्षण के उपरान्त भी जब वे परस्पर संयुक्त हो जाते हैं, तब उनका विद्युत् आवेश सर्वथा क्षीण व समाप्त हो जाता है।

भावार्थ— वह खगोलीय मेघ जिसके विखण्डन से सौरमण्डल का निर्माण होता है, वह विखण्डन से कुछ समय पूर्व उषा जैसी लालिमा से युक्त होता है। उस समय तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त विद्युत् के प्रहार से वह मेघ तेजी से घूर्णन करने लगता है, फिर घूर्णन करते-२ उसका बाहरी भाग फैलता हुआ क्षीण प्रकाश वाला होता जाता है। विखण्डन के पश्चात् बिखरे हुए पदार्थ का तापमान भी कम होने लगता है और वह पदार्थ ग्रह आदि लोकों में परिवर्तित हो जाता है और वे लोक कम्पन करते हुए आकाश में गमन करने लगते हैं। उस समय प्रहार करने वाली तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें स्वयं भी दुर्बल होकर अपनी लालिमा खो देती हैं और वे तीक्ष्ण तरंगें जिन रश्मियों पर सवार होकर गमन करती हैं, वे नाना प्रकार की रश्मियों के रूप में होती हैं। विखण्डन के पश्चात् वे सभी रश्मियाँ उसी प्रकार से शान्त हो जाती हैं, जिस प्रकार दो विपरीत आवेशित कण परस्पर संयुक्त होने के पश्चात् निरावेशित हो जाते हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (अप) (उषाः) प्रातर्वेलेव (अनसः) शकटस्याग्रम् (सरत्) सरति (सम्पिष्टात्) सञ्चूर्णितात् (अह) (बिभ्युषी) भयप्रदा (नि) (यत्) या (सीम्) सर्वतः (शिश्नथत्) शिथिलीकरोति (वृषा) बलिष्ठो राजा।

भावार्थः — अत्र वाचकलु.। यथा रथस्याग्रं पुरःसरं भवति तथैव सूर्य्यस्याग्र उषा गच्छति यथा सूर्य्यस्तमो हन्ति तथा राजाऽन्यायाऽऽचारं हन्यात्।

पदार्थ— जो (वृषा) बलिष्ठ राजा जैसे (बिभ्युषी) भय देने वाली (उषाः) प्रातर्वेला (अनसः) गाड़ी के अग्रभाग के सदृश आगे चलने वाली (सम्पिष्टात्) चूर्णित हुए (अह) ही अन्धकार से (अप, सरत्) आगे चलती है (यत्) जो (सीम्) सब प्रकार (नि, शिश्नथत्) शिथिल करती है वैसा आचरण करे वह सूर्य्य के सदृश तेजस्वी होवै।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। जैसे रथ का अग्रभाग आगे होता है, वैसे

ही सूर्य्य के आगे प्रातःकाल चलता है और जैसे सूर्य्य अन्धकार का नाश करता है, वैसे राजा अन्याय के आचार का नाश करे।''

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= अष्टचत्वारिंशः खण्डः =

एतदस्या अनः शये सुसम्पिष्टं विपाश्या।
ससार सीं परावतः॥ [ऋ.४.३०.११]
एतदस्या अन आशेते सुसम्पिष्टमितरदिव। विपाशि विमुक्तपाशि।
ससारोषाः परावतः प्रेरितवतः। परागताद्वा।
इळा व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ ४८॥

इस मन्त्र के ऋषि व देवता पूर्ववत् हैं। इसका छन्द निचृत् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(एतत्, अस्याः, अनः, शये, सुसम्पिष्टम्, विपाशि, आ, ससार, सीम्, परावतः) 'एतदस्या अन आशेते सुसम्पिष्टमितरदिव विपाशि विमुक्तपाशि ससारोषाः परावतः प्रेरितवतः पराग-ताद्वा' इस उषा अर्थात् लालिमायुक्त विशाल खगोलीय मेघ के विखण्डित होने पर उसका एक भाग पृथक् होकर दूसरे मेघों के समान आकाश में चारों ओर फैल जाता है। अपने विशाल भाग से पृथक् होकर उसके आकर्षण क्षेत्र से भी मुक्त हो जाता है। यहाँ मुक्त होने का तात्पर्य यह है कि कुछ काल तक वे मेघ के खण्डरूप निर्माणाधीन ग्रहादि लोक अस्थिर होकर अन्तरिक्ष में विचरण करने लगते हैं, उनकी कोई स्थायी कक्षा नहीं होती। यद्यपि वे उस मेघ के विशाल भाग के आकर्षण से पूर्णतः मुक्त नहीं होते, परन्तु वे स्थिर कक्षाएँ प्राप्त करके परिक्रमण भी नहीं कर रहे होते हैं। इस कारण उनको मुक्तपाश कहा गया है। वे ऐसे सभी लोक इन्द्रतत्त्व द्वारा प्रेरित होकर ही दूर-दूर गए होते हैं। ध्यातव्य है कि इस घटना में असुर पदार्थ की भी भूमिका होती है। ऐसे लोकों से ही उषा दूर चली

जाती है। उस मेघ का वह विशाल भाग, जो सूर्य का रूप लेता है, उससे उषा दूर नहीं जाती। यहाँ 'परावतः' का अर्थ दूर गया हुआ भी किया है। इससे हमारे पूर्वमन्त्र में लिखे हुए कथन की पुष्टि होती है कि जिन भागों से उषा अर्थात् लालिमा दूर जाती है, वे भाग ग्रहादि लोक ही होते हैं।

'उषा' पद के पश्चात् अग्रिम पद 'इळा' के निर्वचन के विषय में खण्ड ८.७ दर्शनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकोनपञ्चाशत्तमः खण्डः =

अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः॥
सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः॥ [ऋ.५.४१.१९-२०]
अभिगृणातु न इळा। यूथस्य माता। सर्वस्य माता। स्मदभि नदीभिः।
उर्वशी वा गृणातु। उर्वशी वा। बृहद्दिवा महद्दिवा। गृणाना। अभ्यूर्ण्वाना।
प्रभृथस्य प्रभृतस्य। आयोरयनस्य। मनुष्यस्य। ज्योतिषो वोदकस्य वा।
सेवतां नोऽन्नस्य पुष्टेः। रोदसी। रुद्रस्य पत्नी। तस्यैषा भवति॥ ४९॥

इस मन्त्र का ऋषि अत्रि है, जिसकी व्याख्या हम पूर्व में कर चुके हैं। इसका देवता इळा तथा छन्द स्वराट् जगती है। ऋग्वेद संहिता में इसे दो पृथक्-पृथक् ऋचाओं के रूप में दर्शाया गया है, किन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने इन दोनों ऋचाओं को एक ऋचा के रूप में उद्धृत किया है और इसी रूप में इसका भाष्य भी किया है। इस कारण हमने भी इसे एक ऋचा के रूप में ग्रहण करके इसका स्वराट् जगती छन्द दर्शाया है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इळा अर्थात् अग्नि अथवा विभिन्न प्रकार की वाक् रश्मियाँ दूर-२ तक फैलती हुई गौरवर्ण को उत्पन्न करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अभि, नः, इळा, यूथस्य, माता, स्मत्, नदीभिः, उर्वशी, वा, गृणातु) 'अभिगृणातु न इळा यूथस्य माता सर्वस्य माता स्मदभि नदीभिः उर्वशी वा गृणातु' सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करने वाली, साथ ही सबका पालन करने वाली, विभिन्न पदार्थों के समूहों का निर्माण करने वाली उर्वशी सूत्रात्मा प्राण रश्मियों के प्रभाव क्षेत्र में आये सभी पदार्थों को प्रकाशित करती है। यहाँ इळा को उर्वशी इस कारण कहा गया है, क्योंकि वाक् रश्मियाँ व्यापक रूप से सभी पदार्थों को आकर्षित करने वाली होती हैं। अग्नितत्त्व में भी इन गुणों को देखा जा सकता है। ये रश्मियाँ सर्वत्र व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों ही प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करती रहती हैं।

(उर्वशी, वा, बृहत्, दिवा, गृणाना, अभि, ऊर्ण्वाना, प्रभृथस्य, आयोः) 'उर्वशी वा बृहद्दिवा महद्दिवा गृणाना अभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्य प्रभृतस्य आयोरयनस्य मनुष्यस्य ज्योतिषो वोदकस्य वा' वे उर्वशीरूप इळा रश्मियाँ व्यापक रूप से दीप्ति उत्पन्न करती हुई ध्वनियों को उत्पन्न करती रहती हैं। वे वाक् रश्मियाँ सभी पदार्थों को आच्छादित किए रहती हैं, चाहे वे पदार्थ स्वतन्त्र विचरण कर रहे हों अथवा संघात रूप को प्राप्त कर चुके हों। चाहे वे गतिशील हों अथवा अत्यन्त मन्दगति से युक्त हों, चाहे वे मनुष्य नामक कण रूप में हों अथवा प्रकाशाणुओं के रूप में हों और चाहे वे उदकरूप सेचन गुणयुक्त हों, वे सभी भिन्न वाक् रश्मियों से ही आच्छादित होते हैं अथवा उन्हीं से निर्मित भी होते हैं।

(सिषक्तु, नः, ऊर्जव्यस्य, पुष्टेः) 'सेवतां नोऽन्नस्य पुष्टेः' वे वाक् रश्मियाँ तीव्र संयोजक बलों के पोषण का सेवन करती हैं। इसका अर्थ यह है कि वे रश्मियाँ इन बलों को उत्पन्न वा नष्ट भी करती हैं। इसके कारण जहाँ अनेक प्रकार के पदार्थ उत्पन्न भी होते रहते हैं, वहीं यथासमय नष्ट भी होते रहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि वाक् रश्मियों का ही खेल है।

भावार्थ— इस सृष्टि में विद्यमान सभी वाक् रश्मियाँ जब-२ और जहाँ-२ आकर्षण का भाव दर्शाती हैं, वहाँ-२ सूत्रात्मा वायु की उपस्थिति अनिवार्य होती है। इसका अर्थ यह है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियों के अभाव में कोई भी बल कार्य नहीं कर सकता। प्रत्येक संयोग प्रक्रिया में व्यक्त अथवा अव्यक्त अथवा दोनों प्रकार की ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं। संघातरहित अवस्था में भी सभी पदार्थ विभिन्न छन्द रश्मियों से आच्छादित रहते हैं। ये छन्द रश्मियाँ न केवल बलों को उत्पन्न करती हैं, अपितु उन्हें नष्ट करने में भी अपनी

अनिवार्य भूमिका निभाती हैं। यह बात पृथक् है कि बलों को नष्ट करने के लिए विरुद्ध धर्म वाली वाक् रश्मियों की आवश्यकता होती है।

'इळा' पद के पश्चात् 'रोदसी' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'रोदसी रुद्रस्य पत्नी' अर्थात् रुद्र संज्ञक तीक्ष्ण अग्नि की रक्षिका रश्मियों को रोदसी कहा जाता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= पञ्चाशत्तमः खण्डः =

रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे। आ यस्मिन्तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी॥ [ऋ.५.५६.८]
रथं क्षिप्रं मारुतं मेघं वयं श्रवणीयमाह्वयामहे।
आ यस्मिन्तस्थौ सुरमणीयान्युदकानि बिभ्रती सचा मरुद्भिः सह रोदसी रोदसी॥ ५०॥

इस मन्त्र का ऋषि श्यावाश्व आत्रेय है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न तीव्रवेगगामिनी विशेष प्रकार की रश्मियों से होती है। इसका देवता मरुत् और छन्द बृहती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न प्रकार की मरुद् रश्मियाँ पदार्थों की संघनन प्रक्रिया को समृद्ध करती हुई कृष्णवर्ण को उत्पन्न करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(रथम्, नु, मारुतम्, वयम्, श्रवस्युम्, आ, हुवामहे) 'रथं क्षिप्रं मारुतं मेघं वयं श्रवणीयमा-ह्वयामहे' इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियाँ सूक्ष्म मरुद् रश्मियों, जो मन्दगति से युक्त होती हैं, से उत्पन्न रथरूप रश्मियों को सब ओर से आकृष्ट करती हैं। रथरूप रश्मियों की चर्चा हम पूर्व खण्ड ९.११ में कर चुके हैं। यहाँ 'श्रवस्युम्' पद से यह भी संकेत मिलता है कि ये रथरूप रश्मियाँ असुर रश्मियों से आक्रान्त संयोज्य कणों के प्रति स्वाभाविक रूप से अथवा उन रश्मियों के अव्यक्त आह्वान पर असुर रश्मियों पर प्रहार

करती हैं। यहाँ अव्यक्त आह्वान का तात्पर्य है कि असुर प्रहार से रथ रश्मियों को उन संयोज्य कणों के प्रति एक आकर्षण का अनुभव होता है, जिससे आकृष्ट होकर रथ रश्मियाँ उन असुर रश्मियों की ओर इन्द्रतत्त्व के साथ वेगपूर्वक गमन करती हैं। उस समय इन्द्र के वज्र के प्रहार से असुर तत्त्व छिन्न-भिन्न हो जाता है और संयोग क्रिया निर्विघ्न सम्पन्न हो जाती है।

(आ, यस्मिन्, तस्थौ, सुरणानि, बिभ्रती, सचा, मरुत्सु, रोदसी) 'आ यस्मिन्तस्थौ सुरमणीयान्युदकानि बिभ्रती सचा मरुद्भिः सह रोदसी' घोर अग्नि की रक्षिका रश्मियाँ सुन्दर संयोजक गुणों से सम्पन्न सूक्ष्म उदक रश्मियों को धारण करती हुई नाना प्रकार की मरुद् रश्मियों के साथ उन रथरूप रश्मियों में स्थित होती हैं।

यहाँ मध्यमस्थानी देवताओं का प्रकरण समाप्त होता है। अब अगले अध्याय में द्युस्थानी देवताओं का प्रकरण प्रारम्भ किया जायेगा।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)

एकादशोऽध्यायः समाप्यते।

अथ द्वादशोऽध्यायः

= प्रथमः खण्डः =

अथातो द्युस्थाना देवताः। तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः।
अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वम्। रसेनान्यो ज्योतिषान्यः।
अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। तत्कावश्विनौ। द्यावापृथिव्यावित्येके।
अहोरात्रावित्येके। सूर्याचन्द्रमसावित्येके।
राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः। तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्।
प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भम्। अनु तमोभागो हि मध्यमः।
ज्योतिर्भाग आदित्यः। तयोरेषा भवति॥ १॥

अब द्युस्थानी देवताओं का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। द्युलोक किस क्षेत्र को कहते हैं, इसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। इस क्षेत्र में विद्यमान पदार्थ द्युस्थानी कहलाते हैं। इनमें से 'अश्विनौ' संज्ञक देवता को प्रथम आने वाला माना गया है। इस कारण इस प्रसंग की चर्चा इसी से प्रारम्भ करते हैं। अश्विनौ पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वम्' अर्थात् अश्विनौ उस युग्म को कहते हैं, जो सबमें व्याप्त रहता है। अश्विनौ अनेक पदार्थों का नाम है। यह द्विवचनान्त पद है। इस कारण अश्विनौ पद सदैव दो पदार्थों के युग्म के लिए ही प्रयुक्त होता है। इनमें से एक पदार्थ अपनी रसरूप रश्मियों के द्वारा और दूसरा पदार्थ अपनी प्रकाश रश्मियों के द्वारा सबको व्याप्त करता है। यहाँ रसरूप का तात्पर्य यह है कि यह पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को अपनी सूक्ष्म रश्मियों से सींचता हुआ संसिक्त कर देता है और दूसरा पदार्थ अपनी प्रकाश रश्मियों से अन्य पदार्थों को ज्योतिर्मय कर देता है। यहाँ और्णवाभ महर्षि के मत में अश्व से अश्विनौ व्युत्पन्न होता है अर्थात् नाना प्रकार की आशुगामिनी रश्मियों से युक्त पदार्थ अश्विनौ कहलाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि अश्विनौ किन पदार्थों का नाम है? इस विषय में कुछ आचार्यों का मानना है कि द्युलोक और पृथिवीलोक अर्थात् सूर्य और उसके ग्रहादि लोकों का युग्म ही अश्विनौ कहलाता है। इसके साथ ही प्रकाशित वा अप्रकाशित कणों का युग्म भी अश्विनौ कहलाता है। अब अन्य आचार्यों के मत में अहन् एवं रात्रि के युग्म को ही अश्विनौ कहा जाता है और इसके साथ ही प्राण एवं अपान रश्मियों के युग्म को भी अश्विनौ

कहा जाता है। अब तृतीय मत के आचार्यों की दृष्टि में सूर्य और चन्द्रमा अथवा उष्ण और शीतल पदार्थों का युग्म अथवा अग्नि और सोम का युग्म अश्विनौ कहा जाता है। वेदमन्त्रों की ऐतिहासिक अर्थात् सृष्टि की किसी आख्यानादि के माध्यम से व्याख्या करके नित्य इतिहास को कहने वालों की दृष्टि में दो ऐसे लोकों का युग्म, जिनमें पुण्यकृत् आत्माओं का निवास होता है अर्थात् लघु व विशाल द्युलोकों का युग्म भी अश्विनौ कहलाता है। इन लोकों के विषय में पूर्व खण्ड २.१४ पठनीय है। उधर वेद की आधिभौतिक व्याख्या करने वाले आचार्यों के मत में पुण्यकर्मा राजाओं के युग्म को अश्विनौ कहा जाता है। यहाँ 'राजानौ' पद से राजा और सेनापति का ग्रहण करना चाहिए। इसी शैली की व्याख्या में अध्यापक और शिष्य, माता और पिता, स्वामी और सेवक, पति एवं पत्नी जैसे युग्मों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

अब हम इन अश्विनौ संज्ञक पदार्थों की पुष्टि करने हेतु प्रत्येक युग्म पर क्रमशः विचार करते हैं—

१. प्रकाशित व अप्रकाशित लोक वा कण — इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मुख्यतः दो ही प्रकार के लोक हैं। सभी तेजस्वी लोक सूर्य अथवा तारा नाम से जाने जाते हैं। सभी अप्रकाशित लोक ग्रह-उपग्रह आदि नामों से जाने जाते हैं। ये दोनों ही प्रकार के लोक एक-दूसरे से बँधे रहते हैं। कोई ऐसा अप्रकाशित लोक नहीं, जो किसी प्रकाशित लोक से जुड़ा हुआ न हो और इसी प्रकार कोई भी तारा ऐसा नहीं होगा, जिसके चारों ओर कोई न कोई अप्रकाशित लोक परिक्रमण न कर रहा हो। इसी प्रकार इस सृष्टि में प्रकाशित कण, प्रकाशाणु एवं विभिन्न प्रकार के मूल कण दोनों की ही सत्ता साथ-२ रहती है। इन दोनों का परस्पर आकर्षण भी सदैव रहता है। इस कारण ये सभी लोक वा कण अश्विनौ कहलाते हैं।

२. अहोरात्रौ — इस सृष्टि में प्राण-अपान, प्राण-उदान आदि रश्मियाँ युग्मरूप में सर्वत्र व्याप्त रहती हैं। इनके बिना सृष्टि में कोई भी कार्य सम्भव नहीं है। उधर अहोरात्रौ पद से दिन और रात्रि का भी ग्रहण किया जा सकता है। इन दोनों का भी सदैव युग्म ही देखा जाता है। जहाँ दिन है, वहाँ रात्रि भी अवश्य होगी और जहाँ रात्रि है, वहाँ दिन भी अवश्य होगा। ये दोनों ही क्रमानुसार आते-जाते रहते हैं। इनका क्रम इसलिए अनिवार्य रूप से बना रहता है, क्योंकि इस सृष्टि में कुछ भी स्थिर नहीं है, बल्कि सब कुछ चलायमान है।

३. सूर्य और चन्द्रमा — इस सृष्टि में एक प्रकार के लोक वे हैं, जो स्वयं प्रकाशित होते हैं और दूसरे प्रकार के लोक वे हैं, जो तेजस्वी लोकों के प्रकाश के कारण प्रकाशित होकर प्रकाश देने वाले हैं। इनमें से प्रथम प्रकार के लोक सूर्य और द्वितीय प्रकार के लोक चन्द्रमा कहलाते हैं। इस पर द्वितीय दृष्टि से विचार करें तो [सूर्यः = समाने वै योना आस्ताँ सूर्यश्चाग्निश्च (काठ.सं.६.३), अग्निस्सूर्यस्य (योनिः) (काठ.सं.७.४)। सोमः = असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः (कौ.ब्रा.४.४), चन्द्रमा उ वै सोमः (श.ब्रा.६.५.१.१), एष (चन्द्रमाः) वै पवमान एष सोमो राजा (जै.ब्रा.२.१४५)] उधर अग्नि और सोम को भी क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा का रूप माना जाता है और ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ इस सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करते हैं। साथ ही ये सर्वत्र व्याप्त भी रहते हैं। इस कारण इन्हें भी अश्विनौ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अग्निप्रधान कण विद्युत् धनावेशित होते हैं तथा सोमप्रधान कण विद्युत् ऋणावेशित होते हैं। इन दोनों ही प्रकार के कणों से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है। इसलिए इन कणों के युग्म को भी अश्विनौ कहते हैं।

४. पुण्यकृत्-राजानौ (आधिदैविक पक्ष) — पुण्यकृत् आत्माओं के लोकों के युग्म भी सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान हैं। किसी भी तारे के निकट विद्यमान तथा उस तारे का निवास स्थानरूप द्युलोक भी पुण्यकृत्-लोक कहाता है तथा उस तारे व उस द्युलोक का आधार वह विशाल द्युलोक, जो आकाशगंगा के केन्द्रीय विशाल लोक के परितः विद्यमान रहकर उसका निवास स्थानरूप होता है, भी विशाल पुण्यकृत् लोक कहाता है। लघु द्युलोक विशाल द्युलोक के साथ प्रबल आकर्षण बल के द्वारा बँधा रहता है।

५. पुण्यकृत्-राजानौ (आधिभौतिक पक्ष) — राजा और सेनापति, राजा और प्रजा, आचार्य और शिष्य, पति एवं पत्नी आदि युग्म भी सम्पूर्ण सृष्टि में देखे जाते हैं। यहाँ 'ऐतिहासिक' पद से वेद में किसी प्रकार का मानवीय इतिहास कल्पित नहीं करना चाहिए, बल्कि यह अनित्य इतिहास अथवा सामान्य प्रसंग है।

अश्विनौ का निर्वचन और उसके उदाहरण दर्शाने के पश्चात् लिखते हैं— 'तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भम् अनु तमोभागो हि मध्यमः ज्योतिर्भाग आदित्यः' यहाँ अश्विनौ के काल की चर्चा की गई है और अर्द्धरात्रि से प्रारम्भ होकर प्रकाश होने तक के काल को अश्विनौ का काल माना गया है। आगे खण्ड १२.५ में इस काल को सूर्योदय पर्यन्त माना गया है। इस भाग का सभी भाष्यकारों ने जो भाष्य किया है,

उससे अश्विनौ पद का अर्थ केवल अहोरात्र और उसका भी अर्थ केवल दिन-रात ही सिद्ध होता है। हमारे मत में ग्रन्थकार इस काल को दर्शाते समय अश्विनौ पद के उन अर्थों, जो आधिदैविक हैं, की उपेक्षा नहीं कर सकते। इस कारण यहाँ काल की संगति केवल दिन-रात के युग्म से नहीं हो सकती। हाँ, दिन-रात अर्थ ग्रहण करने पर मध्यरात्रि से लेकर सूर्योदय तक का काल अहोरात्र कहलाता है, यह तो सर्वथा उचित है। हम इस प्रसंग में अन्य पदार्थों की इस कालावधि के साथ संगति पर विचार करते हैं—

१. द्यावापृथिवी — हमारी दृष्टि में महाप्रलयरूप रात्रि से जब सृष्टि उत्पन्न होने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उस समय गाढ़ अन्धकार की अवस्था में महत् तत्त्व की दीप्ति का प्रारम्भ होने वाला होता है। इस समय से लेकर तारों की उत्पत्ति तक का जो भी काल होता है, उस काल में सभी प्रकाशित और अप्रकाशित कण और लोकों की उत्पत्ति हुआ करती है अथवा हो जाती है। इस कारण इस काल को अश्विनौ का काल कहा गया है। इस काल में अन्धकार और प्रकाश दोनों मिश्रित होते हैं, जिसमें पूर्व-२ भाग अन्धकारयुक्त तथा उत्तर-उत्तर भाग क्रमशः ज्योतिर्मय होता जाता है। ज्योतिर्मय भाग को आदित्य कहते हैं। इसके अन्धकारयुक्त भाग को मध्यमस्थानी माना जाता है और ज्योतिर्मय भाग को द्युस्थानी आदित्य माना जाता है।

२. अहोरात्रौ — दिन और रात के विषय में तो सभी भाष्यकारों ने व्याख्या की ही है और वह सुसंगत भी है, परन्तु यदि अहोरात्र का अर्थ प्राण-अपान आदि युग्म मानें, तब उस व्याख्या का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में हमें आदित्य पर्यन्त का अर्थ प्रकाशाणु (फोटोन) की उत्पत्ति पर्यन्त मानना होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ होने से लेकर प्रकाशाणु की उत्पत्ति पर्यन्त ये युग्म पूर्णतः सक्रिय हो जाते हैं। यद्यपि प्रकाशाणु की उत्पत्ति से कई चरण पूर्व ही इन युग्मों की उत्पत्ति हो जाती है, परन्तु उनकी पूर्ण सक्रियता उस समय नहीं होती। इस कारण ही इनका काल आदित्य पर्यन्त कहा गया है। इसमें उत्तरभाग आदित्य है और पूर्वभाग अन्धकार रूप है। साथ ही यह इनकी सक्रियता की मध्यम अवस्था है और इनकी उत्पत्ति का समय भी मूल प्रकृति से लेकर प्रकाशाणु की उत्पत्ति तक की मध्यम अवस्था है।

३. सूर्याचन्द्रमसौ — इस प्रकरण में सूर्य और चन्द्रमा के लिए भी यह कालावधि सुसंगत है, क्योंकि सूर्य के पूर्ण रूप से विकसित होने से पूर्व चन्द्रमा जैसे पिण्ड अपने अस्तित्व में

ग्रहों के साथ ही आ जाते हैं। इस कारण इसका भी उत्तरभाग आदित्य है और पूर्वभाग अपेक्षाकृत अन्धकारमय है। ध्यान रहे सूर्य का पूर्ण विकसित होना तब मानना चाहिए, जब उसके केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है और वह सूर्यलोक अपने सभी ग्रहादि लोकों को पृथक्-२ स्थिर कक्षाएँ देने में समर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में ही सूर्य शब्द की सार्थकता सिद्ध होती है। जब सूर्य और चन्द्र से क्रमशः अग्नि और सोम का ग्रहण किया जाए, तब भी यह निश्चित है कि अग्नि की उत्पत्ति सोम के पश्चात् होती है। इसके साथ ही प्राणरूप अग्नि की उत्पत्ति मरुद्रूप (सोम) भूरादि व्याहृतियों के पश्चात् होती है। यहाँ भी आदित्य पर्यन्त काल की संगति ठीक बैठती है।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

द्वितीयः खण्डः

वसातिषु स्म चरथोऽसितौ पेत्वाविव।
कदेदमश्विना युवमभि देवाँ अगच्छतम्॥
इति सा निगदव्याख्याता।
तयोः समानकालयोः समानकर्मणोः संस्तुतप्राययोरसंस्तवेनैषोऽर्धर्चो भवति।
वासात्यो अन्य उच्यत उषः पुत्रस्तवान्यः। इति। तयोरेषाऽपरा भवति॥ २॥

[वसतिः = वसन्ति यत्रेति वसतिः, वसती वा गृहं रात्रिर्वा (उ.को.४.६१), पेत्वम् = पीयते तत् पेत्वम् (उ.को.४.१०६)] यहाँ 'वसतिः' के स्थान पर 'वसातिः' का प्रयोग छान्दस है। ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य २९.५८ एवं २९.५९ में क्रमशः पतनशील एवं शीघ्रगामी पदार्थ को पेत्वम् कहा है। इस मन्त्र का देवता अश्विनौ है। यह मन्त्र किसी अज्ञात स्रोत से लिया गया है। इस मन्त्र का भाष्य ग्रन्थकार ने नहीं किया है। हमारे अनुसार इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

पूर्वोक्त अश्विनौ संज्ञक पदार्थ निर्बाध रूप से शीघ्र गमन करने वाले नाना प्रकार के बल-क्षेत्रों में निरन्तर विचरण करते रहते हैं। यहाँ 'इव' एवं 'स्म' दोनों ही पद पदपूरणार्थ प्रयुक्त हैं। ये अश्विनौ नामक पदार्थ अन्धकारयुक्त अवस्था में भी गमन करते रहते हैं। ये इस जगत् में विभिन्न देव लोकों अर्थात् तारों एवं ग्रहादि लोकों की ओर गमन करते रहते हैं। ये पदार्थ कदा अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियों के अन्दर अथवा उन रश्मियों पर आरूढ़ होकर विभिन्न लोकों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ— सृष्टि में सभी प्रकाशित कण वा लोक सदैव प्राण तत्त्व के बल पर आश्रित होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में निश्चित बलों के आधार पर गमन करते हैं। सभी सूक्ष्म कण एवं विकिरण नाना प्रकार के लोकों के आकर्षण के प्रभाव से उनकी ओर निरन्तर गमन करते हैं और उनमें समाते भी रहते हैं।

तदुपरान्त ग्रन्थकार लिखते हैं— 'तयोः समानकालयोः समानकर्मणोः संस्तुतप्राय-योरसंस्तवेनैषोऽर्धर्चो भवति' अर्थात् उन समान काल वाले, समान कर्म वाले और शास्त्र में जिनकी स्तुति साथ-साथ की गई है, उनकी पृथक् स्तुति वाली ऋचा के अर्द्धभाग को इस प्रकार उद्धृत किया गया है— 'वासात्यो अन्य उच्यत उषः पुत्रस्तवान्यः' अर्थात् उन अश्विनौ में से एक रात्रि का पुत्र और दूसरा उषा का पुत्र कहा जाता है। उदाहरण के लिए ग्रहादि लोक रात्रिपुत्र और सूर्यादि लोक उषापुत्र कहे जा सकते हैं, क्योंकि इन दोनों लोकों में क्रमशः अन्धकार और प्रकाश की प्रधानता है।

इसकी एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= तृतीयः खण्डः =

इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा३ नामभिः स्वैः।
जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे॥

[ऋ.१.१८१.४]

इह चेह च जातौ संस्तूयेते। पापेनालिप्यमानया तन्वा। नामभिश्च स्वैः।
जिष्णुर्वामन्यः सुमहतो बलस्येरयिता मध्यमः।
दिवोऽन्यः सुभगः पुत्र ऊह्यत आदित्यः। तयोरेषाऽपरा भवति॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि अगस्त्य है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति ऐसी ऋषि प्राण रश्मियों से होती है, जो पतनकारी रश्मियों से सर्वथा मुक्त होती हैं। यद्यपि ऋषि रश्मियाँ प्रायः ऐसी ही होती हैं, परन्तु इस ऋषि रश्मि में यह गुण विशेष होता है। इस कारण ही इसे अगस्त्य कहते हैं। इसका देवता अश्विनौ और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अश्विनौ संज्ञक पूर्वोक्त पदार्थ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इह, इह, जाता, सम्, अवावशीताम्, अरेपसा, तन्वा, नामभिः, स्वैः) 'इह चेह च जातौ संस्तूयेते पापेनालिप्यमानया तन्वा नामभिश्च स्वैः' इस अन्तरिक्ष लोक में उत्पन्न अश्विनौ संज्ञक द्युलोक एवं पृथिवीलोक अथवा प्रकाशित वा अप्रकाशित कण पाप संज्ञक असुर पदार्थ से मुक्त होकर अपनी अंगभूत वाक् रश्मियों के विस्तार के द्वारा अच्छी प्रकार प्रकाशित व सक्रिय होते हैं। इसका अर्थ है कि ये पदार्थ असुर पदार्थों से न तो निर्मित ही होते हैं और न उनसे युक्त ही होते हैं, क्योंकि असुर पदार्थ से किसी लोक का निर्माण नहीं होता। ये पदार्थ बाहरी रश्मियों से नहीं, बल्कि इनके अन्दर विद्यमान विभिन्न प्रकार की वाक् रश्मियों के द्वारा ही सक्रिय वा प्रकाशित होते हैं। इन पदार्थों में पाप संज्ञक पदार्थ इसलिए विद्यमान नहीं होता, क्योंकि उसकी विद्यमानता के चलते किसी लोक वा कण का निर्माण नहीं होता।

(जिष्णुः, वाम्, अन्यः, सुमखस्य, सूरिः, दिवः, अन्यः, सुभगः, पुत्रः, ऊहे) 'जिष्णुर्वामन्यः सुमहतो बलस्येरयिता मध्यमः दिवोऽन्यः सुभगः पुत्र ऊह्यत आदित्यः' अश्विनौ संज्ञक दोनों पदार्थों में से एक पदार्थ जयशील होता है। इसका अर्थ यह है कि पृथिवी आदि अप्रकाशित लोक अपने अंगभूत पदार्थ को पूर्ण नियन्त्रित अर्थात् संघनित करके अपेक्षाकृत सघन रूप को प्राप्त करते हैं। ये लोक अपने सूर्यलोक के महान् बल से प्रेरित होकर निरन्तर परिक्रमण करते हैं। यहाँ 'ईरयति' पद 'ईर क्षेपे' धातु से व्युत्पन्न होता है, जिसका एक अर्थ जाना भी है। इस कारण ये लोक अपने सूर्य के महान् बल के द्वारा गमन करते

रहते हैं। ये लोक अन्तरिक्ष में विद्यमान होने के कारण और पूर्वोक्त कारणों से मध्यम कहलाते हैं। उधर दूसरा लोक अर्थात् आदित्य द्युलोक में विद्यमान रहता है, इसे यहाँ सुभग कहा गया है, क्योंकि इसमें व्यापक मात्रा में शोभनीय यजन क्रियाएँ होती रहती हैं। इस लोक को द्युलोक का पुत्र कहा गया है, क्योंकि यह द्युलोकस्थ सभी बलों का प्रतिपालक माना जा सकता है। यद्यपि सूर्यलोक, द्युलोक के आधार पर टिका हुआ होता है, परन्तु द्युलोक में विभिन्न प्रकार के क्षेत्र जो भी बल उत्पन्न करते हैं, वे भी बिना सूर्यलोक के उत्पन्न नहीं हो सकते।

भावार्थ— इस सृष्टि में कोई भी कण वा लोक दृश्य रश्मियों के संघनन से ही उत्पन्न होता है, असुरादि पदार्थों से कभी नहीं। कोई भी पदार्थ अपनी अंगरूप प्रकाशयुक्त रश्मियों के कारण ही प्रकाशयुक्त हो सकता है, केवल बाहरी प्रकाश से कोई भी पदार्थ प्रकाशित नहीं हो सकता। जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति सूर्य के प्रकाश से कुछ भी नहीं देख सकता। विभिन्न ग्रह आदि लोक सूर्य के गुरुत्वाकर्षण बल के कारण ही उसके चारों ओर परिक्रमण करते हैं। वे सूर्य से ही दूर फेंके जाते हैं और सूर्य के कारण ही निरन्तर गमन भी करते हैं। सूर्यादि तेजस्वी लोकों के अन्दर अन्य लोकों की अपेक्षा अधिक मात्रा में यजन क्रियाएँ होती हैं। सूर्य जिस द्युलोक में रहता है, उसमें विद्यमान सभी बलों का वही प्रतिपालक होता है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (इहेह) अस्मिञ्जगति। अत्र वीप्सायां द्वित्वं प्रकर्षद्योतनार्थम् (जाता) जातौ (सम्) सम्यक् (अवावशीताम्) भृशं कामयेथाम्। वशकान्तावित्यस्य यङ्लुगन्तं लङि रूपम्। (अरेपसा) न विद्यते रेपः पापं ययोस्तौ (तन्वा) शरीरेण (नामभिः) आख्याभिः (स्वैः) स्वकीयैः (जिष्णुः) जेतुंशीलः (वाम्) युवयोर्मध्ये (अन्यः) द्वितीयः (सुमखस्य) (सूरिः) विद्वान् (दिवः) प्रकाशात् (अन्यः) (सुभगः) सुन्दरैश्वर्यः (पुत्रः) यः पुनाति सः (ऊहे) वितर्कयामि।

भावार्थः — मनुष्या अस्यां सृष्टौ भूगर्भादिविद्यां विज्ञाय यो जेताऽध्यापको बह्वैश्वर्य्यः सर्वस्य रक्षकः पदार्थविद्यां तर्केण विजानीयात् स प्रसिद्धो जायते।

पदार्थ— हे (अरेपसा) निष्पाप सर्वगुणव्यापी अध्यापक और उपदेशक जन (इहेह) इस

जगत् में (जाता) प्रसिद्ध हुए आप लोगो! अपने (तन्वा) शरीर से और (स्वैः) अपने (नामभिः) नामों के साथ (सम्, अवावशीताम्) निरन्तर कामना करने वाले हूजिये (वाम्) तुम में से (जिष्णुः) जीतने के स्वभाव वाला (अन्यः) दूसरा (सुमखस्य) सुख के (दिवः) प्रकाश से (सूरिः) विद्वान् (अन्यः) और (सुभगः) सुन्दर ऐश्वर्य्यवान् (पुत्रः) पवित्र करता है उसको (ऊहे) तर्कता हूँ-तर्क से कहता हूँ।

भावार्थ— हे मनुष्यो! इस सृष्टि में भूगर्भादि विद्या को जान के जो जीतने वाला अध्यापक बहुत ऐश्वर्य वाला सबका रक्षक पदार्थविद्या को तर्क से जाने, वह प्रसिद्ध होता है।''

इसकी एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= चतुर्थः खण्डः =

प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम्।
अस्य सोमस्य पीतये॥ [ऋ.१.२२.१]
प्रातर्योगिनौ विबोधयाश्विनौ। इहागच्छतामस्य सोमस्य पानाय।
तयोरेषाऽपरा भवति॥ ४॥

इस मन्त्र का ऋषि काण्व मेधातिथि है, जिसकी व्याख्या हम पूर्व में कर चुके हैं। इसका देवता अश्विनौ और छन्द पिपीलिकामध्यानिचृद् गायत्री है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अश्विनौ संज्ञक द्युलोक एवं पृथ्वीलोक श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्रातः, युजा, वि, बोधय, अश्विनौ, आ, इह, गच्छताम्) 'प्रातर्योगिनौ विबोधयाश्विनौ इहागच्छताम्' इस छन्द रश्मि की ऋषिरूप सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ अतिशीघ्रतापूर्वक संयोग करने के लिए प्रकाशित और अप्रकाशित कणों को सक्रिय करती हैं। वे दोनों प्रकार के कण यजन क्रिया के लिए शीघ्र आकर्षित होते हैं।

(अस्य, सोमस्य, पीतये) 'अस्य सोमस्य पानाय' वे दोनों कण अन्तरिक्षस्थ सोम रश्मियों को अवशोषित करने लगते हैं। यहाँ सोम रश्मियों का तात्पर्य प्राण एवं मरुत् दोनों ही प्रकार की रश्मियों से है।

भावार्थ— जब किसी प्रकाशित और अप्रकाशित कण का संयोग होने वाला होता है, तब सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करके उन संयोज्य कणों को अतिशीघ्रता से सक्रिय करती हैं। तदुपरान्त वे दोनों कण उस क्षेत्र में विद्यमान विभिन्न प्राण एवं मरुद् रश्मियों को अवशोषित करते हुए एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होने लगते हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (प्रातर्युजा) प्रातः प्रथमं युङ्क्तस्तौ। अत्र सुपां सुलुग्. इत्याकारादेशः। (वि) विशिष्टार्थे (बोधय) अवगमय (अश्विनौ) द्यावापृथिव्यौ (आ) समन्तात् (इह) शिल्प-व्यवहारे (गच्छताम्) प्राप्नुतः। अत्र लडर्थे लोट् (अस्य) प्रत्यक्षस्य (सोमस्य) स्तोतव्यस्य सुखस्य (पीतये) प्राप्तये।

भावार्थः — शिल्पकार्य्याणि चिकीर्षुभिर्मनुष्यैर्भूम्यग्नी प्रथमं संग्राह्यौ नैताभ्यां विना यानादि-सिद्धिगमने सम्भवत इतीश्वरस्योपदेशः।

पदार्थ— हे विद्वान् मनुष्य! जो (प्रातर्युजा) शिल्पविद्या सिद्ध यन्त्रकलाओं में पहिले बल देने वाले (अश्विनौ) अग्नि और पृथिवी (इह) इस शिल्पव्यवहार में (गच्छताम्) प्राप्त होते हैं, इससे उनको (अस्य) इस (सोमस्य) उत्पन्न करने योग्य सुख समूह को (पीतये) प्राप्ति के लिये तुम हम को (विबोधय) अच्छी प्रकार विदित कराइये।

भावार्थ— शिल्प कार्य्यों की सिद्धि करने की इच्छा करने वाले मनुष्यों को चाहिये कि उसमें भूमि और अग्नि का पहिले ग्रहण करें, क्योंकि इनके विना विमान आदि यानों की सिद्धि वा गमन सम्भव नहीं हो सकता।"

इसकी एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= पञ्चमः खण्डः =

प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम्।
उतान्यो अस्मद्यजते वि चावः पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्॥

[ऋ.५.७७.२]

प्रातर्यजध्वमश्विनौ। प्रहिणुत। न सायमस्ति देवेज्या। अजुष्टमेतत्।
अप्यन्योऽस्मद्यजते। वि चावः। पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्वनयितृतमः।
तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्तः। तस्मिन्नन्या देवता ओप्यन्ते।
उषाः। वष्टेः। कान्तिकर्मणः। उच्छतेरितरा माध्यमिका।
तस्यैषा भवति॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि अत्रि है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता अश्विनौ और छन्द स्वराट् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पूर्वोक्त दोनों प्रकार के कण नीलवर्ण को उत्पन्न करते हुए नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को समृद्ध करने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्रातः, यजध्वम्, अश्विना, हिनोत, न, सायम्, अस्ति, देवयाः, अजुष्टम्) 'प्रातर्यजध्वमश्विनौ प्रहिणुत न सायमस्ति देवेज्या अजुष्टमेतत्' सृष्टि उत्पत्ति के प्रारम्भिक चरण में प्राण, अपान आदि अथवा प्रकाशित और अप्रकाशित कणों के युग्म रूपी अश्विनों में यजन क्रिया अतितीव्र गति से होती है। उस समय इस मन्त्र की ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ इन दोनों ही प्रकार के युग्मों को यजन क्रिया के लिए तीव्र गति से प्रेरित करती हैं और इस प्रेरणा से यजन क्रियाएँ भी तीव्रतापूर्वक होने लगती हैं। सृष्टि के सायम् अर्थात् अन्तिम काल में इन अश्विनों के मध्य इस प्रकार की यजन क्रियाएँ नहीं होती हैं, क्योंकि उस समय ये पदार्थ विभिन्न संयोजक रश्मियों का ग्रहण नहीं करते हैं। इसका कारण यह है कि उस समय सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ विपरीत प्रभाव के साथ उत्पन्न होती हैं। इस प्रक्रिया को समझने के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' अथवा श्री विशाल आर्य द्वारा लिखित 'परिचय वैदिक भौतिकी' ग्रन्थ पठनीय हैं।

(उत, अन्यः, अस्मत्, यजते, वि, च, आवः, पूर्वः, पूर्वः, यजमानः, वनीयान्) 'अप्यन्योऽ-

स्मद्यजते वि चावः पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्वनयितृतमः' उस समय कुछ अन्य पदार्थ सूत्रात्मा वायु रश्मियों से संयुक्त होने लगते हैं और उन्हें अधिक गतिशील बनाते हैं। [चावः = च+आवः (ऋ.द.भा.), यहाँ आवः पद 'अव रक्षण-गति-कान्ति-प्रीति-तृप्ति-अवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वामी-अर्थ-याचन-क्रिया-इच्छा-दीप्ति-अवाप्ति-आलिङ्गन-हिंसा -आदान-भाव-वृद्धिषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। अनेकार्थक होने से इस धातु का एक अर्थ विभाग करना भी है।] इसके साथ ही सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ संयोजन कर्मों के स्थान पर विभाजन कर्म करने लगती हैं। इसका कारण यह है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियों की गति विपरीत हो जाने से उनका स्वभाव भी विपरीत हो जाता है। इन पदार्थों में जो-जो पदार्थ सूत्रात्मा वायु रश्मियों के साथ पहले-पहल संयुक्त होता है, वह उतना ही अधिक विभाजक होता है। इसका अर्थ यह है कि प्रलय की प्रक्रिया में पूर्व-पूर्व विभाजन कर्म अधिक तीव्र होते हैं और उसके पश्चात् धीरे-धीरे इनकी तीव्रता में कमी आते-आते महाप्रलय की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

भावार्थ— सृष्टि के प्रारम्भिक काल में होने वाली क्रियाएँ आगामी सभी क्रियाओं की अपेक्षा अतितीव्र गति से होती हैं। इसका अर्थ यह है कि सूक्ष्म पदार्थों के अन्दर होने वाली क्रियाएँ स्थूल पदार्थों के अन्दर होने वाली क्रियाओं की अपेक्षा तीव्र होती हैं। सम्पूर्ण सृष्टिकाल में संयोग और वियोग दोनों प्रकार की क्रियाएँ साथ-२ चलती हैं, परन्तु जब प्रलय की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, तब संयोग प्रक्रियाएँ धीरे-२ न्यून से न्यूनतर होती चली जाती हैं और वियोग प्रक्रियाएँ निरन्तर अधिक समृद्ध होती जाती हैं। इन दोनों ही अवधियों में रश्मियों का स्वभाव भी विपरीत होता चला जाता है। विभाजन की प्रक्रियाएँ प्रलय की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर प्रारम्भ में तीव्रतम पुनः धीरे-२ न्यून से न्यूनतर होती हुई शान्त हो जाती हैं।

तदनन्तर लिखते हैं— 'तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्तः तस्मिन्नन्या देवता ओप्यन्ते' अर्थात् उन अश्विनों का काल मध्यरात्रि से लेकर सूर्यादय पर्यन्त होता है। इसकी चर्चा हम इसी अध्याय के प्रथम खण्ड में कर चुके हैं। इस काल में अश्विनों के अतिरिक्त अन्य कुछ देवता भी उत्पन्न वा व्याप्त होते हैं। इनकी चर्चा आगे की जा रही है।

'अश्विनौ' पद के पश्चात् अन्य देवताओं में 'उषाः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उषाः वष्टेः कान्तिकर्मणः उच्छतेरितरा माध्यमिका' अर्थात् कान्ति अर्थ वाली

'वश' धातु से 'उषाः' पद व्युत्पन्न होता है। 'उषाः' पद 'उच्छी विवासे' धातु से भी व्युत्पन्न होता है। यह उषा मध्यमस्थानी है और उपर्युक्त उषा से भिन्न है। इनमें से प्रथम उषा लालिमायुक्त प्रकाश को उत्पन्न करती है और दूसरी प्रकार की उषा किसी पदार्थ को बाँधने अथवा छोड़ने अर्थात् संयोग अथवा वियोग में सहायक होती है। हमारी दृष्टि में द्वितीय प्रकार की उषा विद्युत् को कहते हैं।

उषा की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति।
येन तोकं च तनयं च धामहे॥ [ऋ.१.९२.१३]
उषस्तत् चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमाहरास्मभ्यम्। अन्नवति।
येन पुत्रांश्चपौत्रांश्च दधीमहि। तस्यैषाऽपरा भवति॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि राहूगणपुत्र गोतम है, जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। इसका छन्द निचृत्परोष्णिक् और देवता उषा होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से ब्रह्माण्ड में बहुरंगी प्रकाश उत्पन्न होने लगता है और उष्णता की मात्रा में वृद्धि होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उषः, तत्, चित्रम्, आ, भर, अस्मभ्यम्, वाजिनीवति) 'उषस्तत् चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमाहरास्मभ्यम् अन्नवति' हम 'उषाः' पद की चर्चा खण्ड ११.४७ तथा २.१८ में कर चुके हैं। उषायुक्त विशाल खगोलीय मेघ लालिमा के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के रंगों के प्रकाश से युक्त होता है। उस विशाल मेघ से अनेक विचित्र रंगों के विकिरणों से सम्पूर्ण आकाश भर जाता है और ये विकिरण धनञ्जय रश्मियों पर आरूढ़ होकर दूर-दूर तक अन्तरिक्ष को सब ओर से भरने लगते हैं। इन उषा रश्मियों से सम्पन्न वह विशाल मेघ विशाल मात्रा में संयोज्य कणों और असंख्य छन्द व प्राण रश्मियों से भरा होता है। इस

प्रकार वह मेघ नाना प्रकार के लोकों की सृष्टि के लिए महनीय वा उपयुक्त होता है।

(येन, तोकम्, च, तनयम्, च, धामहे) 'येन पुत्रांश्चपौत्रांश्च दधीमहि' इस ऐसे मेघ से उसके पुत्र एवं पौत्रों का धारण-पोषण होता है अर्थात् इस मेघ से सूर्य, ग्रहादि लोकों का जन्म होता है और उनका पोषण भी होता है। इसका अर्थ यह है कि उस विशाल खगोलीय मेघ से उत्पन्न सूर्यलोक अपनी ऊर्जा के द्वारा न केवल सभी ग्रहों, अपितु उनके उपग्रहों का भी सतत पोषण करता रहता है और इन लोकों पर विभिन्न प्राणियों और वनस्पतियों का अस्तित्व भी बनाए रखता है।

इसकी एक और ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= सप्तमः खण्डः =

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः॥

[ऋ.१.९२.१, साम.उ.आ.१९.५.१]

एतास्ता उषसः केतुमकृषत। प्रज्ञानम्।
एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं स्यात्।
पूर्वेऽर्धेऽन्तरिक्षलोकस्य समञ्जते भानुना।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः। निरित्येष समित्येतस्य स्थाने।
एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव॥ [ऋ.१०.३४.५]
इत्यपि निगमो भवति। प्रतियन्ति। गावो गमनात्। अरुषीरारोचनात्।
मातरो भासो निर्मात्र्यः। सूर्या। सूर्यस्य पत्नी। एषैवाभिसृष्टकालतमा।
तस्यैषा भवति॥ ७॥

इसके ऋषि और देवता पूर्व खण्डवत् हैं। इसका छन्द निचृत् जगती होने से इसके

दैवत और छान्दस प्रभाव से उषायुक्त मेघ तीक्ष्ण रूप से फैलता हुआ गौरवर्ण को प्राप्त करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(एता, ऊम् इति, त्याः, उषसः, केतुम्, अक्रत) 'एतास्ता उषसः केतुमकृषत प्रज्ञानम् एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं स्यात्' यहाँ उषा का बहुवचनान्त प्रयोग उसकी महिमा प्रदर्शित करने के लिए ही है। लालिमायुक्त वह विशाल खगोलीय मेघ सर्वत्र प्रकाश को उत्पन्न करता है। वह अन्तरिक्ष में दूर-दूर तक अपने अस्तित्व का ज्ञान कराता है अर्थात् उसका प्रकाश निकट से दूर और दूरतर फैला हुआ होता है।

(पूर्वे, अर्धे, रजसः, भानुम्, अञ्जते) 'पूर्वेऽर्धेऽन्तरिक्षलोकस्य समञ्जते भानुना' उस उषा-युक्त विशाल मेघ के पूर्वार्द्ध में अर्थात् लोकों के बनने की प्रक्रिया के पूर्वार्द्ध में विशाल पिण्ड वा मेघ अपनी लालिमायुक्त किरणों के साथ अन्तरिक्ष में अच्छी प्रकार अर्थात् स्पष्ट रूप से प्रकट होता है अथवा विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त किरणों के साथ वह लोक प्रकट होता है। इसका अर्थ यह है कि ग्रह के बनने से पूर्व ही वह मेघ लालिमायुक्त दूर-दूर तक फैले हुए प्रकाश के साथ आकाश में प्रकट हो जाता है। यद्यपि उस समय उसके केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की क्रियाएँ प्रारम्भ नहीं हो पाती हैं, पुनरपि वह लाल वर्ण के विशाल तारे के रूप में दिखाई देता है।

(निःऽकृण्वानाः, आयुधानि, इव, धृष्णवः, प्रति, गावः, अरुषीः, यन्ति, मातरः) 'निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः निरित्येष समित्येतस्य स्थाने प्रतियन्ति गावो गमनात् अरुषीरारोचनात् मातरो भासो निर्मात्र्यः' जिस प्रकार से योद्धा अपने शस्त्र और अस्त्र निकालते हुए चमकाते हैं, उसी प्रकार उषायुक्त पिण्ड मातृरूपी अन्तरिक्ष की ओर गमन करने लगते हैं। इसका अर्थ यह है कि उस विशाल पिण्ड से ग्रहादि लोक चमकते हुए पिण्ड के रूप में बाहर की ओर वेगपूर्वक अस्त्र की भाँति प्रक्षिप्त होते हैं। यहाँ 'इव' पद को पदपूरक मानने पर यह रहस्य और प्रकट होता है कि इस प्रक्रिया में धृष्णु अर्थात् प्रचण्ड शक्तिसम्पन्न इन्द्रतत्त्व जब अपने पूर्वोक्त आयुधों को उस विशाल मेघ पर प्रक्षिप्त करता है, तब यह क्रिया होती है। अन्तिम पाद से यह दूसरा रहस्य और प्रकट होता है कि चमकते हुए लोकों की लालिमायुक्त किरणें अपने मूल स्थान सूर्यलोक की ओर लौट जाती हैं अथवा वे अन्तरिक्ष में उत्सर्जित हो जाती हैं और वे लोक धीरे-धीरे अप्रकाशित लोकों में परिवर्तित हो जाते हैं। यहाँ सूर्यलोक में लौटने का तात्पर्य मात्र यही है कि वही लोक (सूर्यलोक) प्रकाशित

रहता है, अन्य लोक अप्रकाशित लोक का रूप धारण कर लेते हैं।

यहाँ 'निष्कृण्वानाः' पद में 'सम्' के स्थान पर 'निर्' का प्रयोग हुआ है। इसे उपसर्ग-व्यत्यय कह सकते हैं। इसके उदाहरण रूप में एक और निगम को प्रस्तुत किया है— 'एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव'। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(एमि, इत्, एषाम्, निष्कृतम्, जारिणी, इव) इस छन्द रश्मि की कारणरूप 'कवष ऐलूष' ऋषि रश्मियाँ, जिनके विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' २.१९ में चर्चा की गई है, गमन करने लगती हैं। कहाँ गमन करती हैं, इसको दर्शाते हुए लिखा है— [अक्षः = अक्षाः परिधयः (मै.सं.४.५.९)] लोकों की परिधियों के रूप में सजायी गई विभिन्न रश्मियों की परतों की ओर गमन करती हैं अर्थात् ये रश्मियाँ उन परतों को जीर्ण करती हुई उस लोक के बाहरी भाग को विखण्डित करने में समर्थ होती हैं। इस निगम को केवल उपसर्ग-व्यत्यय के उदाहरण के रूप में दर्शाया गया है। यहाँ 'संस्कृतम्' के स्थान पर 'निष्कृतम्' का प्रयोग है।

अब पुनः उपर्युक्त मन्त्र पर आते हैं, जहाँ किरणों के वापिस मूल स्थान पर लौटने की चर्चा की गयी थी। किरणों को 'गौः' इस कारण कहते हैं, क्योंकि ये सतत गमन करती रहती हैं। चमकने के कारण इन्हें 'अरुषी' कहते हैं और ये प्रकाश को उत्पन्न करने वाली होती हैं, इसलिए इनको माता कहते हैं।

'उषाः' पद के पश्चात् अन्य पद 'सूर्या' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सूर्या सूर्यस्य पत्नी एषैवाभिसृष्टकालतमा'। यहाँ पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने उदय होते हुए आदित्य को सूर्य कहा है और उसकी सहचारिणी प्रभा को सूर्या कहा है। इसी सन्दर्भ में ग्रन्थकार का कथन है कि अधिक काल छोड़ चुकी प्रभा ही सूर्या कहलाती है अर्थात् उषाकाल से लेकर सूर्योदय पर्यन्त जो प्रकाश होता है, उसे सूर्या कहते हैं। यहाँ अधिक काल छोड़ने का तात्पर्य रात्रिकाल प्रारम्भ होने से लेकर उषापर्यन्त कालावधि के अतिरिक्त शेष सूर्योदय पर्यन्त कालावधि को सूर्या कहते हैं। हमने अनेकत्र सूर्य की रक्षिका रश्मियों को सूर्या कहा है, यह भी एक पक्ष है।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

अष्टमः खण्डः

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्। आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥ [ऋ.१०.८५.२०]
सुकाशनं शन्नमलं सर्वरूपम्। अपि वोपमार्थे स्यात्।
सुकिंशुकमिव शल्मलिमिति। किंशुकं क्रंशतेः प्रकाशयतिकर्मणः।
शल्मलिः सुशरो भवति। शरवान्वा। आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्।
उदकस्य। सुखं पत्ये वहतुं कुरुष्व।
सविता सूर्यां प्रायच्छत्सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा। इति च ब्राह्मणम्।
वृषाकपायी। वृषाकपेः पत्नी। एषैवाभिसृष्टकालतमा। तस्यैषा भवति॥ ८॥

इस मन्त्र का ऋषि सावित्री सूर्या है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति नाना प्रकार की सूर्य रश्मियों को उत्पन्न करने वाली प्राणादि रश्मियों से होती है। इसका देवता सूर्या तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से सूर्या संज्ञक रश्मियाँ तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सुकिंशुकम्, शल्मलिम्, विश्वरूपम्, हिरण्यवर्णम्, सुवृतम्, सुचक्रम्) 'सुकाशनं शन्नमलं सर्वरूपम् अपि वोपमार्थे स्यात् सुकिंशुकमिव शल्मलिमिति किंशुकं क्रंशतेः प्रकाशयति-कर्मणः शल्मलिः सुशरो भवति शरवान्वा' यहाँ 'किंशुकम्' पद 'क्रंशते' धातु, जो प्रकाश करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है, से व्युत्पन्न होता है। 'शल्मलिः' पद का अर्थ सरलता से हिंसित होने वाला अर्थात् कोमल वा भंगुर होता है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि विभिन्न शरों अर्थात् तीक्ष्ण रश्मियों से युक्त पदार्थ को भी शल्मलि कहते हैं। सूर्या शोभनीय प्रकाश वाले, भंगुर एवं तीक्ष्ण प्रहारक रश्मियों से युक्त, विविध प्रकार के रूपों वाले, सुवर्ण रंगयुक्त, अच्छी प्रकार घूर्णन करने वाले, सुन्दर चक्ररूप रश्मियों से युक्त रथ (आ, रोह, सूर्ये, अमृतस्य, लोकम्, स्योनम्, पत्ये, वहतुम्, कृणुष्व) 'आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम् उदकस्य सुखं पत्ये वहतुं कुरुष्व' पर आरूढ़ होती हैं। रथरूप पदार्थ की चर्चा हम पूर्व खण्ड ९.११ में कर चुके हैं। पाठक इस प्रकरण के अध्ययन के समय उस खण्ड को अवश्य पढ़ें। ये सूर्या रश्मियाँ रथरूप रश्मियों पर आरूढ़ होकर प्राणरूपी अमृत के लोक

को प्राप्त करती हैं अर्थात् ये रश्मियाँ सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर निरापद रूप से गमन करती हैं। अमृत के विषय में ऋषियों का कथन है— अमृतं वा ऽआप: (श.ब्रा.१.९.३.७, ४.४.३.१५), प्राणोऽमृतम् (श.ब्रा.१०.२.६.१८), अमृतꣳ हिरण्यममृतमेष (आदित्य:) (श.ब्रा.६.७.१.२), अमृतमु वै प्राणा: (श.ब्रा.९.१.२.३२), अमृतं वै प्राणा: (गो.उ.१.३), अमृतत्वं वा आप: (कौ.ब्रा. १२.१), अग्निरमृतम् (श.ब्रा.१०.२.६.१७)।

ध्यातव्य है कि सूर्य के केन्द्रीय भाग में प्राणतत्त्व की अन्य भागों की अपेक्षा अधिक सघनता होती है और ये प्राण रश्मियाँ उदकरूप होकर सभी संयोज्य कणों को सिंचित करती रहती हैं। वे ऐसा क्यों करती हैं, इसका कारण बताते हुए कहा गया है कि वे अपने पतिरूप सूर्य के अन्दर विभिन्न क्रियाओं को सुखपूर्वक वहन करने के लिए सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर गमन करती हैं और इसके लिए वे रथरूप रश्मियों को धारण करती हैं अर्थात् उन पर आरूढ़ होती हैं।

यहाँ रथरूप रश्मियों को भंगुर क्यों कहा है? इसका कारण यह है कि ये रश्मियाँ असुरादि पदार्थों पर प्रहार के पश्चात् बिखरकर नष्ट हो जाती हैं। यहाँ 'सूर्य' पद का एक उदाहरण किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का दिया गया है— 'सविता सूर्यां प्रायच्छत्सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा' [प्रजापति: = इमे लोका: प्रजापति: (श.ब्रा.७.५.१.२७), प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा (जै.ब्रा.२.२३३, श.ब्रा.७.४.२.५), एष उ एव प्रजापतिर्यो यजते (ऐ.ब्रा.२.१८), एष वै प्रजापतिर्यदग्नि: (तै.ब्रा.१.१.५.५)] सूर्यलोक अपनी सूर्या रश्मियों को एवं सूर्या संज्ञक लालिमायुक्त किरणों को सोम राजा अर्थात् विभिन्न ओषधियों और चन्द्रमा को निरन्तर देता रहता है। इसके साथ ही सूर्यलोक विभिन्न लोकों को अपनी किरणें प्रदान करके उनमें अग्नितत्त्व की वृद्धि करते हुए नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को प्रदान करता है। इसका अर्थ यह है कि इन सूर्य की किरणों के कारण विभिन्न लोकों में नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ समृद्ध होती हैं।

भावार्थ— सूर्यादि तेजस्वी लोकों के अन्दर विद्यमान रश्मियाँ एवं विकिरण ऐसी रश्मियों पर भी सवार होकर चलते हैं, जो तीक्ष्ण प्रहारक क्षमता से युक्त होती हैं। वे रश्मियाँ अपने प्रहार के द्वारा सूर्य की किरणों को बाधा पहुँचाने वाले पदार्थों पर प्रहार करके स्वयं बिखर जाती हैं। सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर गमन करने वाले कणों की धाराओं के साथ भी ऐसी प्रहारक रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, जो उन्हें केन्द्रीय भाग तक की यात्रा कराने के

लिए निरापद मार्ग प्रदान करने में सहायिका होती हैं। सूर्य के केन्द्रीय भाग में प्राणतत्त्व की प्रधानता होती है। सूर्यलोक निरन्तर ही चन्द्रमा को अपना प्रकाश देता रहता है। पृथिवी आदि लोकों के अन्दर होने वाली विभिन्न यजन क्रियाओं में सूर्य की किरणों की भी प्रत्यक्ष वा परोक्ष भूमिका होती है।

'सूर्या' पद के पश्चात् 'वृषाकपायी' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी एषैवाभिसृष्टकालतमा' [वृषाकपिः = आदित्यो वै वृषाकपिः (गो.उ.६.१२)] पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने संध्याकाल की लालिमा को वृषाकपायी कहा है। आदित्य लोक को वृषाकपि इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह अपने बल से सब लोकों को कँपाने व गति देने में समर्थ होता है। आदित्य लोक के अन्दर कुछ छन्द रश्मियाँ वृषाकपि नामक ऋषि रश्मियों से उत्पन्न होती हैं। ऋग्वेद १०.८६ मन्त्र-समूह वृषाकपि रश्मियों से ही उत्पन्न होता है। इस कारण इस मन्त्र-समूह को वृषाकपायी कह सकते हैं। ये वृषाकपायी छन्द रश्मियाँ वृषाकपिरूपी आदित्य की पालिका और रक्षिका होती हैं। इन छन्द समूहरूप रश्मियों का आदित्य लोक में क्या कार्य होता है, इसके लिए वेदविज्ञान-आलोकः ५.१५.१ पठनीय है।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= नवमः खण्डः =

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे। घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ [ऋ.१०.८६.१३]

वृषाकपायि रेवति। सुपुत्रे मध्यमेन। सुस्नुषे माध्यमिकया वाचा।
स्नुषा साधुसादिनीति वा। साधुसानिनीति वा। सु अपत्यम्। तत्सनोतीति वा।
प्राश्नातु त इन्द्र उक्षणः। एतान्माध्यमिकान्त्संस्त्यायान्।
उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः। उक्षन्त्युदकेनेति वा।

प्रियं कुरुष्व सुखचयकरं हविः। सुखकरं हविः।
सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्।
सरण्यूः। सरणात्। तस्यैषा भवति॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि वृषाकपि है [वृषाकपिः = आत्मा वै वृषाकपिः (ऐ.ब्रा.६.२९, गो.उ.६.८)] अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक में इन्द्रतत्त्व दूर-दूर तक फैलता हुआ नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को समृद्ध करता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वृषाकपायि, रेवति, सुऽपुत्रे, आत्, ॐ इति, सुस्नुषे) 'वृषाकपायि रेवति सुपुत्रे मध्यमेन सुस्नुषे माध्यमिकया वाचा स्नुषा साधुसादिनीति वा साधुसानिनीति वा सु अपत्यम् तत्सनोतीति वा' [रेवति = या हि का च गायत्री सा रेवती (तां.ब्रा.१६.५.२७), पशवो वै रैवत्यः (तां.ब्रा.१३.१०.११), वज्रो वै रेवती (काठ.सं.१०.१०), रेवत्य आपः (श.ब्रा.१.२.२.२)] सूर्यलोक की रक्षिका विभिन्न प्रकार की गायत्री, वज्र एवं प्राणादि रश्मियाँ तथा विभिन्न प्रकार के कण आदि पदार्थ नाना प्रकार की वाक् रश्मियों का भक्षण करते हैं। यहाँ सुपुत्रा का तात्पर्य भी 'सुन्दर प्राण रश्मियों वाली' प्रकट होता है। ध्यातव्य है कि सूर्यलोक में सभी प्रकार की छन्द और प्राण रश्मियाँ विद्यमान होती हैं और ये प्राण रश्मियाँ अथवा इन प्राण रश्मियों से युक्त इस सूक्तरूप रश्मि समूह की पंक्ति छन्द रश्मियाँ अन्य वाक् रश्मियों को अपने साथ संयुक्त करती रहती हैं। पंक्ति रश्मियों के संयोग से सभी वाक् रश्मियाँ परिपक्व भी होती हैं और दूर-दूर तक फैलते हुए उन्हें अधिक यजनशील भी बनाती हैं। यहाँ वाक् रश्मियों को स्नुषा इस कारण कहा गया है, क्योंकि वे निर्विघ्नरूपेण यजनादि क्रियाओं में विद्यमान होती हैं अथवा वे विभिन्न पदार्थों के समुचित विभाजनादि कर्मों को करने में भी सहायक होती हैं। ये पुत्ररूप प्राण रश्मियों के लिए योषारूप होती हैं तथा जो वाक् रश्मियाँ असुरादि रश्मियों से मुक्त होती हैं, वे स्नुषा कहलाती हैं और उन्हीं की चर्चा यहाँ की गई है।

(घसत्, ते, इन्द्रः, उक्षणः, प्रियम्, काचित्करम्, हविः) 'प्राश्नातु त इन्द्र उक्षणः एतान्मा-ध्यमिकान्त्संस्त्यायान् उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः उक्षन्त्युदकेनेति वा प्रियं कुरुष्व सुखचयकरं

हविः सुखकरं हविः' [उक्षन् = महन्नाम (निघं.३.३)] सूर्यलोक का इन्द्रतत्त्व अर्थात् सूर्यलोकस्थ तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें व्यापक क्षेत्र में फैली हुई होती हैं। वे उस क्षेत्र में नाना प्रकार की रश्मियों अथवा कणादि पदार्थों की वृष्टि करके सम्पूर्ण क्षेत्र को सिंचित करती हैं। वे सूर्यलोकस्थ आकाश में होने वाले संघातों एव संघातों से उत्पन्न कणों का भी भक्षण करती हैं। इसका अर्थ यह है कि वे कण उन छन्द रश्मियों के साथ मिलकर अन्य रूपों में प्रकट होते हैं अर्थात् अनेक प्रकार के कण इन छन्द रश्मियों के मेल से अन्य प्रकार के कणों में परिवर्तित हो जाते हैं। वह इन्द्रतत्त्व विभिन्न तर्पणशील प्राण रश्मियों का चयन करने वाली हवियों को ग्रहण करता है। यहाँ हवि पद का अर्थ विभिन्न कण और रश्मियाँ भी हो सकता है और मास रश्मियाँ भी। यहाँ हमने 'काचित्' पद का अर्थ 'प्राण रश्मियों का चयन' ग्रहण किया है। हम पूर्व में भी जो पद प्रश्नवाची 'किम्' सर्वनाम के रूप में प्रतीत होते हैं, उनका यौगिक अर्थ प्राण रश्मियाँ ही ग्रहण करते आये हैं। इसी प्रकार यहाँ हमने 'का' इस स्त्रीलिंग पद, जो प्रश्नवाचक रूप में प्रतीत होता है, का भी यौगिक अर्थ प्राणतत्त्व किया है। हमारी यही शैली 'वेदविज्ञान-आलोकः' में भी रही है। इस पर अनेक प्रौढ़ विद्वान् अवश्य ही आपत्ति करेंगे कि हमने सर्वनाम पदों को संज्ञावाची कैसे बना दिया? जो पद केवल प्रश्नवाचक के रूप में प्रयुक्त होता है, उसका कैसे यौगिक अर्थ करके एक पदार्थ विशेष बना दिया? यद्यपि हमारी इस शैली का कोई आर्ष प्रमाण स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर नहीं हुआ था, परन्तु हमारी अन्तःप्रज्ञा ने ऐसा करने के लिए प्रेरित किया। इसके पीछे एक प्रबल हेतु यह था कि छन्द रश्मियों के सृष्टि पर प्रभाव के सन्दर्भ में किसी प्रश्नवाची पद का कोई अर्थ नहीं होता और न ही उपमावाची पद का।

इस पर कुछ पूर्वाग्रही प्रश्न उठाते हुए कह सकते हैं कि यह शैली अप्रामाणिक है, जो अपने द्वारा प्रतिपादित 'वैदिक रश्मि सिद्धान्त' की पुष्टि के लिए अपनायी गई है। इसके उत्तर में हम कहना चाहेंगे कि 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥' (ऋ.१०.१२१.१) आदि कुछ मन्त्रों में 'कस्मै' पद प्रश्नवाचक भी है और किसी पदार्थ विशेष का वाचक भी है। इस कारण यह सर्वनाम होते हुए भी संज्ञा की तरह अर्थ प्रदान करने वाला है। ऋषि दयानन्द और आचार्य सायण दोनों ने ही यहाँ 'कस्मै' पद का संज्ञारूप में ही प्रयोग किया है, जो कि एक यौगिक अर्थ है। ऋषि दयानन्द से भी बड़ा प्रमाण महर्षि यास्क का है।

यहाँ 'काचित्' पद का यौगिक अर्थ करके सुखचय अर्थ ग्रहण किया है। महर्षि जैमिनी ने 'प्राणो वाव कः' (जै.उ.४.२३.४) कहकर पुल्लिंग 'कः' पद को प्राणवाची माना है। उधर गोपथ ब्राह्मण में 'सुखं वै कम्' (गो.उ.६.३) सुख को 'कम्' कहा है, परन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने स्त्रीवाची 'का' पद को सुखवाची माना है। ऐसी स्थिति में जब इन ऋषियों ने प्रश्नवाची सर्वनाम पदों का यौगिक अर्थ सुख एवं प्राण माना है, तब हम इस ग्रन्थ में 'किम्' और उसकी भिन्न-२ विभक्तियों में यौगिक अर्थ क्यों नहीं ग्रहण कर सकते?

यदि कोई वैयाकरण इन पदों की स्वर व्यवस्था का प्रश्न उठाए, तब हम कहना चाहेंगे कि उपर्युक्त मन्त्रों में 'कस्मै' पद स्वरितान्त है और यहाँ 'का' पद भी स्वरितान्त है। यदि कोई फिर भी हठ करे कि सर्वत्र ऐसा हो, यह आवश्यक नहीं है और न ही हमने ऐसा कोई ध्यान दिया ही है, वैसी स्थिति में दृढ़ता से कहना चाहेंगे कि जहाँ स्वरों का कोई भेद होगा भी, तो वह स्वर-व्यत्यय माना जाएगा। इस पर कोई व्याकरण महाभाष्य का यह प्रमाण 'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥' (महाभाष्य ३.१.८५) प्रस्तुत करके कहे कि वेद में जिन स्थानों पर व्यत्यय होता है, उन स्थानों में स्वर का कहीं कोई उल्लेख नहीं है, तब महाभाष्यकार से अलग हटकर हम स्वर-व्यत्यय की बात कैसे कर सकते हैं? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि हमारे द्वारा स्वर में व्यत्यय मानना महाभाष्यकार से पृथक् अवश्य हो सकता है, परन्तु विरुद्ध नहीं। वेद को इसी सीमा में बाँधना कदापि न्यायोचित नहीं है। यदि कोई इसी सीमा में रहने का हठ करे, तो हम यहाँ पूर्व खण्ड १२.७ में 'निष्कृण्वानाः' पद स्मरण कराना चाहेंगे, जहाँ उपसर्ग-व्यत्यय हुआ है, यह भी महाभाष्य की सीमा से बाहर है, तब हमारा मत कैसे प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता?

(विश्वस्मात्, इन्द्रः, उत्तरः) 'सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्' सूर्यलोकस्थ विभिन्न देवों में इन्द्रतत्त्व सर्वाधिक श्रेष्ठ और बलवान् होता है। इसके कारण ही इस आदित्य लोक को भी इन्द्र कहते हैं।

'वृषाकपायी' पद के पश्चात् 'सरण्यूः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सरण्यूः सरणात्' अर्थात् सरणशील पदार्थों को सरण्यू कहते हैं।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= दशमः खण्डः =

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥ [ऋ.१०.१७.२]
अप्यगूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः। कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते। अप्यश्विनावभरत्। यत्तदासीत्। अजहाद् द्वौ मिथुनौ सरण्यूः।
मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ताः। यमं च यमीं चेत्यैतिहासिकाः। तत्रेतिहासमाचक्षते-
त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद्यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार।
सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव।
स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव।
ततोऽश्विनौ जज्ञाते। सवर्णायां मनुः। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति॥ १०॥

इस मन्त्र का ऋषि देवश्रवा यामायन है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न देव कणों को गति देने वाली और उनको नियन्त्रित करने वाली रथरूप रश्मियों से होती है। इसका देवता सरण्यू और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सरण्यू संज्ञक पदार्थ तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अपः, अगूहन्, अमृताम्, मर्त्येभ्यः, कृत्वी, सवर्णाम्, अददुः, विवस्वते) 'अप्यगूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते' [अमृतम् = अमृतं हिरण्यममृतमेष (आदित्यः) (श.ब्रा.६.७.१.२), अग्निरमृतम् (श.ब्रा.१०.२.६.१७), आदित्योऽमृतम् (श.ब्रा.१०.२.६.१६)] सूर्य का केन्द्रीय भाग ही अमृतरूप कहलाता है, क्योंकि इस भाग में ही प्राण तत्त्व की विशेष प्रचुरता होती है। यह केन्द्रीय भाग मनुष्य नामक मर्त्य कणों से ढका रहता है। इन कणों के विषय में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। मर्त्य के विषय में महर्षि

याज्ञवल्क्य का कथन है— अनात्मा हि मर्त्यः (श.ब्रा.२.२.२.८)। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य के केन्द्रीय भाग के बाहर जो सन्धिभाग होता है, उसमें इस प्रकार के कणों की प्रचुरता होती है और इन कणों को शतपथ ब्राह्मण के उपर्युक्त वचन में अनात्मा कहा है। इसका अर्थ यह है कि इन कणों का सूत्रात्मा वायु रश्मियों के साथ दृढ़ बन्धन नहीं होता। इसके कारण सूर्यलोक का सम्पूर्ण विशाल भाग केन्द्रीय भाग के ऊपर फिसलता रहता है। इसमें सन्धिभाग स्नेहन का कार्य करता है। इस कार्य में इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियाँ सहयोग करती हैं। ये ऋषि रश्मियाँ सूर्यलोक के सम्यक् संचालन के लिए सवर्णा अर्थात् नाना प्रकार के वर्णों से युक्त प्रकाश रश्मियों वाले भाग को प्रदान करती हैं। 'सवर्णा' पद 'वर्ण क्रियाविस्तारगुणवचनेषु' इस धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक का केन्द्रीय भाग से ऊपर वाला भाग अतीव विस्तृत और प्रकाशयुक्त होने लगता है। इन सब क्रियाओं का कर्ता सरण्यू संज्ञक वायुतत्त्व होता है। वायु को सरण्यू इसलिए कहते हैं, क्योंकि वायु निरन्तर सरकता हुआ चलता है। इस प्रकार यह वायु ही सम्पूर्ण सूर्यलोक को आकार भी प्रदान करता है और उसे जन्म भी देता है।

(उत, अश्विनौ, अभरत्, यत्, तत्, आसीत्, अजहात्, ऊँ इति, द्वा, मिथुना, सरण्यूः) 'अप्यश्विनावभरत् यत्तदासीत् अजहाद् द्वौ मिथुनौ सरण्यूः' इसके साथ ही वह वायुतत्त्व अश्विन संज्ञक प्रकाशित-अप्रकाशित कणों एवं सूर्यलोक के अन्दर विद्यमान प्रकाशित और अप्रकाशित क्षेत्रों को धारण व पुष्ट करता है। ध्यातव्य है कि सूर्यलोक में अप्रकाशित कुछ भी नहीं होता, परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से कुछ क्षेत्र अधिक तेजस्वी और कुछ कम तेजस्वी होते हैं। यहाँ कम तेजस्वी क्षेत्रों को ही अप्रकाशित वा कृष्ण वर्ण कहा है। वर्तमान विज्ञान ऐसे क्षेत्रों को सनस्पॉट भी कहता है। इन सभी क्षेत्रों का निर्माण और उन क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का संचालन वायुतत्त्व के द्वारा ही सम्पन्न होता है। सूर्यलोक में जो भी मिथुन विद्यमान होते हैं, उन्हें सरण्यूरूप वायु रश्मियाँ अन्तरिक्ष में निरन्तर छोड़ती रहती हैं। ये मिथुन प्रकाश एवं ऊष्मा तथा कण एवं विकिरण आदि के रूप में होते हैं अथवा प्रकाश एवं ऊष्मा तथा ऋणावेशित और धनावेशित कणों के मिथुनरूप में होते हैं। ये सभी सूर्य से निरन्तर उत्सर्जित होते हुए अन्तरिक्ष में दूर तक यात्रा करके विभिन्न लोकों में पहुँचते रहते हैं।

यहाँ नैरुक्तों की दृष्टि से ये मिथुन मध्यम अर्थात् आकाश और उसमें विद्यमान

वाक् रश्मियों के युग्म के रूप में माने गये हैं। उधर वेद के ऐतिहासिक (नित्य) व्याख्याकारों की दृष्टि में यम और यमी के मिथुन की चर्चा की गई है। अन्तरिक्ष और वाक् के सम्बन्ध के विषय में महर्षि जैमिनी का कथन है— वागित्यन्तरिक्षम् (जै.उ. ४.२२.११)। आकाशतत्त्व सूक्ष्म वाक् रश्मियों से ही मिलकर बना होता है। इस कारण उसका अस्तित्व इन वाक् रश्मियों पर ही निर्भर है। उधर बड़ी छन्द रश्मियाँ आकाश में उत्पन्न होने से उसी पर आश्रित होती हैं। इस कारण ये दोनों एक-दूसरे पर आश्रित होने से मिथुनरूप हैं। यम और यमी के विषय में अध्याय १० के खण्ड १९ एवं २० में लिखा जा चुका है। तै.सं.३.३.८.३ के अनुसार पृथ्वी तत्त्व को यमी और गो.उ.४.८ के अनुसार अग्नि को यम कहा गया है। ये दोनों भी सूर्यलोक से उत्पन्न होते हैं।

इन मिथुनों के त्यागने का क्या अर्थ है, यह विचारणीय है। हमारी दृष्टि में सूर्यलोक के निर्माण की प्रक्रिया में पूर्व में इन्हीं रश्मियों की विद्यमानता और प्रचुरता होती है। उस समय यह लोक अत्यन्त विरल वायव्य अवस्था में होता है। उस समय ये दोनों ही मिथुन विद्यमान होते हैं। कालान्तर में जब सूर्यलोक के निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है, उस समय मिथुनों की इस स्थिति से बहुत आगे चलकर एक विशाल लोक का निर्माण हो जाता है। इसी कारण यहाँ इन मिथुनों के त्याग की बात कही गई है।

अब इसी ऋचा की ऐतिहासिक पक्ष में व्याख्या करते हुए लिखते हैं अथवा ऐतिहासिकों का मत दर्शाते हुए लिखते हैं—

'त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद्यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार सा सवर्णामन्यां प्रति-निधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव ततोऽश्विनौ जज्ञाते सवर्णायां मनुः तदभिवादिन्येषर्ग्भवति।'

इन्द्र संज्ञक त्वष्टा से उत्पन्न सरणशील वायु रश्मियाँ प्रारम्भिक उत्पन्न अग्नि के परमाणुओं (प्रकाशाणु) के साथ संयुक्त होकर यम और यमी अर्थात् अग्नि और पृथिवी के अणुओं को उत्पन्न करती हैं। इसका अर्थ यह है कि इस चरण में वर्तमान कथित मूलकण और अणुओं (मोलिक्यूल्स) की उत्पत्ति होने लगती है। हमारे मतानुसार प्रारम्भिक प्रकाशाणु अतिन्यून ऊर्जा वाले ही होते हैं। उन पर वायु रश्मियों के प्रहार से ही उनकी ऊर्जा में वृद्धि होती है। अग्नि और पृथिवी के अणुओं की उत्पत्ति के पश्चात् वे सरणशील वायु रश्मियाँ तीव्र वेग से सम्पन्न होकर तेजी से सब ओर फैलने लगती हैं और सम्पूर्ण

पदार्थ दृश्य प्रकाश से युक्त होता हुआ चमकने लगता है। उधर तीव्र ऊर्जा को प्राप्त प्रकाशाणु तीव्र रूप से फैलने वाली वायु रश्मियों का अनुगमन करते हुए उनके साथ संयुक्त होने लगते हैं। इससे सम्पूर्ण प्रकाशित पदार्थ तीव्र रूप से घूर्णन करने लगता है। उसके चारों ओर वायु रश्मियाँ भी तीव्र ऊर्जा से सम्पन्न होकर उस पदार्थ को तेजी से घुमाने लगती हैं। इसके कारण वह पदार्थ, जो विशाल और चमकीले मेघ के समान रूप वाला होता है, बिखर जाता है। इससे अश्विनौ अर्थात् सूर्य एवं पृथिवी आदि लोकों की उत्पत्ति होती है। इसकी चर्चा हम पूर्व में अनेकत्र कर चुके हैं। यहाँ सवर्ण अवस्था में मनु के उत्पन्न होने [मनुः = मनुर्यज्ञनीः (तै.सं.३.३.२.१), मनोर्यज्ञऽइत्यु वाऽआहुः (श.ब्रा. १.५.१.७)] का तात्पर्य यह है कि उस समय विभिन्न प्रकार के कणों के मध्य यजन प्रक्रियाएँ तीव्रतर होने लगती हैं।

यह इस मन्त्र की ऐतिहासिक व्याख्या है। यहाँ पाठक यह स्वयं समझ सकते हैं कि यह कोई मानवीय इतिहास नहीं हैं, बल्कि सृष्टि प्रक्रिया का एक नित्य इतिहास अर्थात् विज्ञान है।

सम्पूर्ण भावार्थ— सूर्यलोक के सन्धिभाग में सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ अल्प मात्रा में विद्यमान होती हैं, इस कारण उस क्षेत्र में विद्यमान सूक्ष्म कणों के मध्य बन्धन बल अत्यन्त शिथिल होते हैं। इस कारण सूर्यलोक के सन्धिभाग के बाहर स्थित विशाल भाग फिसलता रहता है। सन्धिभाग दोनों क्षेत्रों के मध्य स्नेहन का कार्य करता है। इस कार्य में इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियाँ भी सहयोग करती हैं। सूर्य के केन्द्रीय भाग से ऊपर वाला भाग विस्तृत और प्रकाशित होता है। सूर्य के तल पर कुछ क्षेत्र अधिक प्रकाशित, तो कुछ अन्य क्षेत्र कम प्रकाशित होते हैं। इन सभी के निर्माण में वायु एवं अग्नितत्त्व की ही भूमिका होती है। सूर्यलोक से विकिरणों के साथ कुछ कण भी अन्तरिक्ष में उत्सर्जित होते रहते हैं। बड़ी छन्द रश्मियाँ आकाशतत्त्व पर आश्रित होती हैं और आकाश लघु छन्द रश्मियों से मिलकर बना होता है। इस प्रकार आकाश और वायु दोनों ही एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं। सूर्यलोक अथवा खगोलीय मेघ प्रारम्भ में अत्यन्त विरल होता है, जो धीरे-धीरे सघन होता चला जाता है। विद्युत् चुम्बकीय तरंगें वायु रश्मियों के द्वारा संघनित होकर कणों में परिवर्तित हो जाती हैं। सृष्टि के प्रारम्भिक काल में कम ऊर्जा वाले विकिरण उत्पन्न होते हैं, जो वायु रश्मियों के प्रहार से उत्तरोत्तर अधिक ऊर्जा वाले होने

लगते हैं। धीरे-२ सम्पूर्ण पदार्थ प्रकाशित होने लगता है और विशाल खगोलीय मेघ का रूप धारण कर लेता है, जो विखण्डित होकर लोकों का निर्माण करता है।

इसकी एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकादशः खण्डः =

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥ [ऋ.१०.१७.१]
त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोति। इतीदं विश्वं भुवनं समेति।
इमानि च सर्वाणि भूतान्यभिसमागच्छन्ति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश। रात्रिरादित्यस्य।
आदित्योदयेऽन्तर्धीयते॥ ११॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्ववत् हैं तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसका दैवत और छान्दस प्रभाव भी लगभग पूर्ववत् होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(त्वष्टा, दुहित्रे, वहतुम्, कृणोति, इति, इदम्, विश्वम्, भुवनम्, सम्, एति) 'त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोति इतीदं विश्वं भुवनं समेति इमानि च सर्वाणि भूतान्यभिसमागच्छन्ति' त्वष्टा अर्थात् इन्द्रतत्त्व अपनी पुत्री अर्थात् दूर-दूर तक प्रहार करने में समर्थ वज्र रश्मियों का वहन करने के लिए स्वयं को समर्थ करता है और इसलिए उन वज्र रश्मियों को धारण करता है। इन्द्र की वज्र रश्मियाँ दूर-दूर तक विद्यमान असुरादि पदार्थों को नष्ट करके देव पदार्थों का धारण और पोषण करती हैं। इस कारण वे वज्र रश्मियाँ ही त्वष्टा की दुहितारूप होती हैं। इन्द्रतत्त्व उन वज्र रश्मियों को अपने चारों ओर आच्छादित करता हुआ वहन करता है अथवा उन्हें वहन करने के लिए अपने चारों ओर उनके द्वारा आच्छादित होता है। ऐसा करके वह इन्द्रतत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अपना कार्य करने के लिए प्रवृत्त होता है। इसके साथ ही सभी उत्पन्न देव पदार्थ उस इन्द्रतत्त्व की ओर गमन करते हैं। इसका अर्थ

यह है कि सभी देव पदार्थ, जिनसे कि यह सृष्टि बनी है, इन्द्रतत्त्व के प्रति आकर्षण का भाव रखते हैं।

(यमस्य, माता, परिऽउह्यमाना, महः, जाया, विवस्वतः, ननाश) 'यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश रात्रिरादित्यस्य आदित्योदयेऽन्तर्धीयते' त्वष्टा की दुहिता रूप वज्र रश्मियाँ यम अर्थात् अग्नितत्त्व की मातृरूप होती हैं। जैसा कि हम पूर्व खण्ड में लिख चुके हैं कि यम और यमी दोनों पदार्थ इन्हीं वज्र रश्मियों से उत्पन्न होते हैं। अग्निरूपी यम को उत्पन्न करने वाली ये वज्र वा वायु रूप रश्मियाँ विवस्वान् अर्थात् सूर्यलोक की व्यापक जाया रूप होती हैं। इनको सूर्य की जाया अर्थात् पत्नी इसलिए कहा गया है, क्योंकि इनके बिना सूर्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसके साथ ही सूर्यलोक अपनी किरणों रूपी रस को अपने परितः विद्यमान वायु रश्मियों में ही प्रक्षिप्त करता रहता है। यहाँ वज्र को वायु रश्मियाँ इसलिए कहा है, क्योंकि विभिन्न प्राण और छन्द रश्मियों का मिश्रण ही वायु कहलाता है, उधर वज्र रश्मियाँ भी कुछ छन्द रश्मियों के तीक्ष्ण रूप में ही होती हैं। ये वज्र रश्मियाँ विशाल खगोलीय मेघ के चारों ओर तेजी से परिक्रमण करती हुई शान्त हो जाती हैं।

इससे यह संकेत मिलता है कि तेजी से घूर्णन कर रहे विशाल मेघ के चारों ओर जब इन्द्र और वज्र रश्मियों के प्रबल प्रहार से उस विशाल खगोलीय पिण्ड, जो निर्माणाधीन सूर्यलोक का ही रूप होता है, के बाहरी आवरण का विखण्डन हो जाता है, उसके पश्चात् वे तीक्ष्ण वज्र रश्मियाँ शान्त वा अदृश्य हो जाती हैं। इस सृष्टि में जहाँ कहीं भी इन्द्र का वज्र प्रहार होता है, वह अपना कार्य करके शान्त वा अदृश्य हो जाता है।

भावार्थ— इन्द्रतत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें सूक्ष्म परन्तु तीक्ष्ण रश्मियों से आच्छादित होकर सर्वत्र कार्य करती हैं। विभिन्न संयोज्य कणों के साथ इनका आकर्षण का भाव रहता है। इन सूक्ष्मतम वज्र रश्मियों से प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के कणों की उत्पत्ति होती है। इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों के बिना सूर्यादि लोकों का निर्माण एवं अस्तित्व सम्भव नहीं है। तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें जब विशाल खगोलीय मेघ पर प्रहार करती हैं, तो उसके बाहरी आवरण को छिन्न-भिन्न करके अदृश्य हो जाती हैं।

यहाँ ग्रन्थकार इस विषय को इस प्रकार समझाते हुए लिखते हैं— 'रात्रिरादित्यस्य

आदित्योदयेऽन्तर्धीयते' अर्थात् जैसे आदित्य के उदय होने पर रात्रि अन्तर्धान हो जाती है, वैसे ही सूर्यलोक के अपने स्वरूप में प्रकट होने पर तमोरूप वायु रश्मियाँ अदृश्य हो जाती हैं।

* * * * *

= द्वादश: खण्ड: =

सविता व्याख्यात:। तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काऽऽकीर्णरश्मिर्भवति। तस्यैषा भवति॥ १२॥

सरण्यू पद के पश्चात् 'सविता' पद के निर्वचन के लिए पूर्व खण्ड ७.३१ और १०.३१ पठनीय हैं। सविता सूर्यलोक के उस रूप को कहते हैं, जिसके काल में द्युलोक अन्धकार से निवृत्त हो चुका होता है, परन्तु पृथ्वी आदि लोकों पर अन्धकार ही होता है। प्राय: सभी भाष्यकारों ने सूर्योदय से पूर्व की सूर्य की अवस्था को सविता कहा है, परन्तु हमें यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सूर्य के उदय और अस्त होने से सूर्य के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता। हाँ, इतना अवश्य है कि उदय होने से पूर्व उषा की लालिमा अवश्य सभी प्राणियों के लिए सुखकारिणी होती है। यदि इस उषाकाल को प्रेरक माना जाए और उस आधार पर पृथ्वी आदि लोकों पर रहने वाले प्राणियों के लिए सूर्य को सविता कहा जाए, तब कुछ उपयुक्त माना जा सकता है।

हमारी दृष्टि में सविता सूर्य का वह रूप है, जब उसमें नाभिकीय संलयन के द्वारा ऊर्जा का उत्पादन प्रारम्भ नहीं हो पाता है। उस समय उस लालिमायुक्त सूर्य का प्रकाश अपने चारों ओर फैले हुए द्युलोक को तो प्रकाशित कर देता है, परन्तु पृथ्वी आदि लोकों पर उसके प्रकाश का पहुँचना सम्भव नहीं हो पाता है अर्थात् प्रकाश की मात्रा अत्यन्त न्यून ही आ पाती है। इसके कारण ग्रहादि लोकों पर प्राय: अन्धकार ही रहता है। सूर्य की इस अवस्था को ही सविता कहते हैं अथवा जब उस तप्त विशाल घनीभूत मेघ, जिसमें से अभी ग्रहादि लोक पृथक् नहीं हुए हैं, उस समय वह विशाल पिण्ड ही सविता कहलाता है, क्योंकि उसी से सम्पूर्ण सौर परिवार की उत्पत्ति होती है। इसको सविता इस कारण

कहते हैं, क्योंकि इसी सविता रूप से ग्रहादि लोक उत्पन्न होते हैं और इसी के आकर्षण से समस्त द्युलोक और ग्रहादि लोक प्रेरित भी होते हैं। उस समय उसकी रश्मियाँ द्युलोक में व्याप्त होने से वह लोक अवश्य दीप्तिमान् होता है।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

≡ त्रयोदशः खण्डः ≡

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥ ऋ.५.८१.२]

सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते मेधावी। कविः क्रान्तदर्शनो भवति। कवतेर्वा। प्रसुवति भद्रं द्विपाद्भ्यश्च। चतुष्पाद्भ्यश्च।

व्यचिख्यपन्नाकं सविता वरणीयः।

प्रयाणमनूषसो विराजति।

अधोरामः सावित्रः॥ [यजु.२९.५८]

इति पशु समाम्नाये विज्ञायते। कस्मात् सामान्यादिति।

अधस्तात्तद्वेलायां तमो भवत्येतस्मात्सामान्यात्। अधस्ताद्रामोऽधस्तात्कृष्णः। कस्मात्सामान्यादिति। अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्। रामा रमणायोपेयते।

[न धर्माय- कहीं-२ इतना पाठ अतिरिक्त है।]

कृष्णजातीया एतस्मात्सामान्यात्।

कृकवाकुः सावित्रः॥ [यजु.२४.३५]

इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कस्मात्सामान्यादिति। कालानुवादं परीत्य। कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणम्। वचेरुत्तरम्।

भगो व्याख्यातः। तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात्। तस्यैषा भवति॥ १३॥

इस मन्त्र का ऋषि श्यावाश्व आत्रेय है, जिसके विषय में पूर्व में हम लिख चुके हैं। इसका देवता सविता और छन्द विराट् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सवितारूप पिण्ड गौरवर्ण के प्रकाश से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(विश्वा, रूपाणि, प्रति, मुञ्चते, कविः, प्र, असावीत्, भद्रम्, द्विपदे, चतुःपदे) 'सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा प्रसुवति भद्रं द्विपाद्भ्यश्च चतुष्पाद्भ्यश्च' क्रान्तदर्शी अर्थात् सबको दिखाने वाला, मेधावी अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियों से विशेष रूप से समृद्ध सूर्यलोक विभिन्न रूपों वाले पदार्थों को सब ओर से निकालता है। इसका अर्थ यह है कि सभी रूपवान् पदार्थ सूर्यलोक, विशेषकर सवितालोक से ही उत्पन्न होते हैं। सूर्यलोक को कवि इस कारण भी कहा गया है, क्योंकि यह निरन्तर गतिशील भी होता है और ध्वनियों को भी उत्पन्न करता रहता है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'कविः' पद का अर्थ मेधावी किया है। इसका कारण यह है कि सूर्यलोक के अन्दर, विशेषकर उसके केन्द्रीय भाग के अन्दर होने वाली नाभिकीय संलयन की क्रियाओं में सूत्रात्मा वायु रश्मियों, जिनमें महत् तत्त्व की विशेष प्रधानता होती है, की विशेष सक्रियता होती है। ये सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ द्विपाद एवं चतुष्पाद अर्थात् दो पाद वाली छन्द रश्मियों एवं चार पाद वाली छन्द रश्मियों को अनेक प्रकार की क्रियाओं के लिए अनुकूल परिस्थिति प्रदान करती हैं। सूत्रात्मा वायु रश्मियों के अभाव में कोई भी छन्द रश्मि यजन वा संघनन कर्मों को सम्पादित नहीं कर सकती।

(वि, नाकम्, अख्यत्, सविता, वरेण्यः, अनु, प्रयाणम्, उषसः, वि, राजति) 'व्यचिख्य-पन्नाकं सविता वरणीयः प्रयाणमनूषसो विराजति' सबका वरण करने वाला अथवा सबका वरणीय सविता लोक सम्पूर्ण द्युलोक को प्रकाशित करता है। जब उषाकाल जैसी लालिमा सम्पूर्ण द्युलोक को प्रकृष्ट रूप से व्याप्त कर लेती है, उसके पश्चात् सूर्यलोक विशेष रूप से प्रकाशित होने लगता है। इसका अर्थ यह है कि सविता लोक का तापमान धीरे-२ बढ़ते हुए उसके केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगती है। इससे सम्पूर्ण लोक का तापमान बढ़ते हुए वह लोक धीरे-२ दूर-दूर तक प्रकाशित होने लगता है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) सूर्यादीनि (प्रति) (मुञ्चते) त्यजति (कविः) सर्वेषां क्रान्तप्रज्ञः सर्वज्ञः (प्र) (असावीत्) उत्पादयति (भद्रम्) कल्याणम् (द्विपदे) मनुष्याद्याय (चतुष्पदे) गवाद्याय (वि) (नाकम्) अविद्यमानदुःखम् (अख्यत्) ख्याति प्रकाशयति (सविता) सकलैश्वर्यप्रदः (वरेण्यः) वरितुमर्हः (अनु) (प्रयाणम्) (उषसः) (वि) (राजति) प्रकाशते।

भावार्थः — हे मनुष्या येन जगदीश्वरेण विचित्रं विविधं जगत्सर्वेषां प्राणिनां सुखाय निर्मितं तमेव यूयं भजध्वम्।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जो (कविः) सर्व पदार्थों का जानने वाला सर्वज्ञ (वरेण्यः) स्वीकार करने योग्य और (सविता) सम्पूर्ण ऐश्वर्य्यों का देने वाला ईश्वर (द्विपदे) मनुष्य आदि और (चतुष्पदे) गौ आदि के लिये (भद्रम्) कल्याण को (प्र, असावीत्) उत्पन्न करता और (विश्वा) सम्पूर्ण (रूपाणि) सूर्य्य आदिकों का (प्रति, मुञ्चते) त्याग करता है तथा (नाकम्) नहीं विद्यमान दुःख जिसमें उसका (वि, अख्यत्) प्रकाश करता है वह जैसे (उषसः) प्रातःकाल के (अनु, प्रयाणम्) पीछे गमन को सूर्य्य (वि, राजति) विशेष करके शोभित करता है, वैसे सूर्य्य आदि को प्रकाशित करता है, उसकी तुम सब उपासना करो।

भावार्थ— हे मनुष्यो! जिस जगदीश्वर ने विचित्र और अनेक प्रकार के जगत् को सम्पूर्ण प्राणियों के सुख के लिये रचा, उसी जगदीश्वर की आप लोग उपासना करो।''

इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने सविता पद से सम्बन्धित यजुर्वेद २९.५८ के दो पदों को यहाँ उद्धृत किया है— 'अधोरामः सावित्रः'। यह मन्त्र बहुत बड़ा भी है और जटिल भी। इसका ऋषि दयानन्द का भाष्य बहुत संक्षिप्त व अस्पष्ट है। हम यहाँ सम्पूर्ण मन्त्र को उद्धृत कर रहे हैं—

'आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेषी बभ्रुः सौम्यः पौष्णः श्यामः शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः शिल्पो वैश्वदेवऽऐन्द्रोऽरुणो मारुतः कल्माषऽऐन्द्राग्नः सꣳहितोऽधोरामः सावित्रो वारुणः कृष्णऽएकशितिपात्पेत्वः॥' (यजु.२९.५८)

इस मन्त्र का ऋषि भारद्वाज है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राणतत्त्व से होती है। इसका देवता विद्वांसः है। [विद्वांसः = विद्वांसो हि देवाः (श.ब्रा. ३.७.३.१०), ये वै विद्वाꣳसस्ते पक्षिणो येऽविद्वाꣳसस्तेऽपक्षास्त्रिवृत्पञ्चदशावेव स्तोमौ पक्षौ

कृत्वा स्वर्गं लोकं प्रयन्ति (तां.ब्रा.१४.९.१३)] इसका छन्द भुरिक् अत्यष्टि होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न देव कण तीन तथा पन्द्रह गायत्री छन्द रश्मियों के समूहों के द्वारा श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होते हुए अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में फैलने लगते हैं। इसके साथ ही ये तीव्र बलों से युक्त भी होते हैं। [त्रिवृत् = प्राणो वै त्रिवृत् स्तोमानां प्रतिष्ठा (तां.ब्रा.९.३.४), त्रिवृद्वै स्तोमानां क्षेपिष्ठः (तां.ब्रा.१७.१२.३; ष.ब्रा.४.२) स यमेव हरति स त्रिवृत् (जै.ब्रा.१.२५३)। पञ्चदशः = तस्माद्राजन्यस्य पञ्चदश स्तोमः (तां.ब्रा. ६.१.८), पञ्चदशो वै वज्रः (जै.ब्रा.१.१९५, तां.ब्रा.२.४.२, श.ब्रा.१.३.५.७), पञ्चदशं माध्यन्दिनꣳ सवनम् (मै.सं.४.४.१०), यजमानो वै पञ्चदशः (मै.सं.४.७.६), प्राणो वै त्रिवृदात्मा पञ्चदशः (तां.ब्रा.१९.११.३), वीर्यं वै बृहद् वीर्यं पञ्चदशः (जै.ब्रा. २.४०७)] इसके साथ ही इसके दैवत प्रभाव से अनेक प्रकार के स्तोम उत्पन्न होकर सभी देव पदार्थों को अतीव बलवान् और वज्ररूप ऊर्जा प्रदान करते हैं। इससे वे पदार्थ असुरादि बाधक रश्मियों से मुक्त रहते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आग्नेयः, कृष्णग्रीवः) [ग्रीवा = ग्रीवा उष्णिहः (श.ब्रा.८.६.२.११)] अग्नितत्त्व से समृद्ध पदार्थ विभिन्न उष्णिक् छन्द रश्मियों से युक्त होते हैं और उन ग्रीवारूप छन्द रश्मियों के द्वारा ही अन्य पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं अर्थात् इन्हीं रश्मियों के द्वारा उनका संगमन कर्म सम्पन्न होता है। (सारस्वती, मेषी) [मेषी = यह पद 'मिष स्पर्धायाम्' एवं 'मिषु सेचने' धातुओं से व्युत्पन्न होता है। एष वै प्रत्यक्षं वरुणस्य पशुर्यन्मेषः (श.ब्रा.२. ५.२.१६)। पशुः = यजमानः पशुः (तै.ब्रा.२.१.५.२), वज्रो वै पशवः (श.ब्रा.६.४.४.६), पशवो वै सविता (श.ब्रा.३.२.३.११)] विभिन्न कणों के ऊपर ऊर्जा का सेचन करने वाली और उनसे टकराने वाली सूर्य की किरणें विभिन्न छन्द रश्मियों से युक्त होती हैं। ये किरणें स्वभाव से ही विभिन्न प्रकार के कणों के साथ अन्योन्य क्रिया दर्शाने वाली होती हैं। पृथ्वी आदि लोकों पर विद्यमान प्राणी एवं वनस्पति आदि सभी पदार्थों की ऊर्जा का बहुत बड़ा स्रोत ये किरणें ही होती हैं। ये किरणें वाक् रश्मियों से उत्पन्न और उन्हीं में विद्यमान रहती हैं।

(बभ्रुः, सौम्यः) [बभ्रुः = बभ्रुः पिङ्गलो भवति सोमस्य रूपꣳ समृद्ध्यै (मै.सं.२.५.१), बभ्रुवो वो वृञ्जा आनुष्टुभेन छन्दसा (मै.सं.४.२.११), ये (पशवः) ऽभितप्तादसृज्यन्त ते बभ्रवः (जै.ब्रा.३.२६३), बभ्रुर्भवत्येतद्वा अन्नस्य रूपम् (तै.सं.२.१.३.३)] जो सोम अर्थात्

मरुद् रश्मियाँ अभितप्त पदार्थ से उत्पन्न होती हैं, वे अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से आच्छादित वा संयुक्त होकर पिंगल (पीला लाल मिश्रित) वर्ण की उत्पत्ति करती हैं। ऐसी सोम रश्मियाँ बभ्रु कहलाती हैं, जो नाना प्रकार के यजन वा धारण कर्मों से सम्पन्न होती हैं।

(पौष्णः, श्यामः) [श्यामः = श्यामं श्यायतेः (निरु.४.३), पूषा = असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.५.२), पशवो वै पूषा (श.ब्रा.१३.१.८.६), इयं (पृथिवी) वै पूषा (मै.सं.२.५.५, श.ब्रा.६.३.२.८), अन्नं वै पूषा (कौ.ब्रा.१२.८)] इस सृष्टि में सभी पार्थिव अथवा आग्नेय परमाणु अथवा अन्य कोई भी संयोज्य कण आदि पदार्थ अथवा छन्दादि रश्मियाँ सम्पूर्ण सृष्टि का पोषण करने वाले होते हैं। ये सभी पदार्थ सतत गति करते रहते हैं। यदि इनमें से कोई भी पदार्थ विराम अवस्था में आ जाए, तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। (शितिपृष्ठः, बार्हस्पत्यः) [शितिः = शितिः श्यतेः (निरु.४.३)। बृहस्पतिः = अथ यस्सोऽपान आसीत् स बृहस्पतिरभवत् (जै.उ.२.२.५), एष (प्राणः) उ एव बृहस्पतिः (श.ब्रा.१४.४.१.२२), बृहस्पतिर्ह वै देवानां पुरोहितः (ऐ.ब्रा.८.२६), यजमानदेवत्यो वै बृहस्पतिः (तै.ब्रा.१.८.३.१)। पृष्ठम् = यज्ञो वै पृष्ठानि (काठ.सं. ३२.६)] विभिन्न संयोज्य पदार्थों के संयोग की दिशा वाले भाग प्राण और अपान रश्मियों से युक्त होने के कारण सूक्ष्म और तीक्ष्ण होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब दो यजनशील कण परस्पर संयुक्त होने वाले होते हैं, तब उनके उत्तरी वा दक्षिणी ध्रुव अपने साथ संयुक्त होने वाले कण के विपरीत ध्रुव के साथ संयुक्त होते हैं। उस समय ध्रुव प्रदेश प्राणापानादि रश्मियों को अपने अग्रभाग में धारण किए रहते हैं और संयुक्त होने से ठीक पूर्व उन दोनों ध्रुवों के मध्य सम्पूर्ण वायु तत्त्व तीक्ष्ण नुकीला रूप धारण करते हुए दूसरे से संयुक्त हो जाता है।

(शिल्पः, वैश्वदेवः) [शिल्पः = शिल्पं कर्मनाम (निघं.२.१), रूपनाम (निघं.३.७), प्राणाः शिल्पानि (कौ.ब्रा.२५.१२)] जिन पदार्थों में नाना प्रकार के देव पदार्थ विद्यमान होते हैं अथवा सभी देव पदार्थ विद्यमान होते हैं, वे नाना प्रकार के रूपों और कर्मों से युक्त होकर सबको प्राणवान् करते हैं अथवा विभिन्न पदार्थों को धारण करने वाले होते हैं। स्मरणीय है कि सूर्यादि लोक वैश्वदेव रूप ही होते हैं, क्योंकि इनमें सभी देव पदार्थ विद्यमान होते हैं। (ऐन्द्रः, अरुणः) [अरुणः = आरोचनः (निरु.५.२१)] इन्द्रतत्त्व से युक्त पदार्थ सब ओर से प्रकाशित होने वाले और सब पदार्थों को सब ओर से प्रकाशित करने वाले होते हैं।

सूर्यलोक भी ऐन्द्ररूप होकर सब ओर से प्रकाशित होता हुआ सबको प्रकाशित करता है।

(मारुतः, कल्माषः) [कल्माषः = (कलयति, कल्+क्विप्, तं माषयति अभिभवति, माष्+णिच्+अच्, कल् चासौ माषश्च- कर्म.स.), कल् = धारण करना, अधिकार में करना, ले जाना (आ.को.)] मारुत अर्थात् वायु रश्मियाँ धारण करने, नियन्त्रण करने और किसी पदार्थ को उठाकर ले जाने अथवा फेंकने आदि क्रियाओं को सम्पादित और नियन्त्रित करती हैं। सम्पूर्ण सृष्टि में ये कर्म जहाँ कहीं भी हो रहे हैं, वे वायु तत्त्व के कारण ही हो रहे हैं। विभिन्न प्रकार के रंगों की उत्पत्ति यद्यपि अग्नि का कर्म है, पुनरपि इनकी उत्पत्ति में विभिन्न वायु रश्मियों की ही मूल भूमिका होती है। (ऐन्द्राग्नः, सꣳहितः) इस सृष्टि में जहाँ भी इन्द्र और अग्नि तत्त्वों का जितना अधिक सम्मिश्रण होता है, वहाँ पदार्थ उतना ही अधिक घनीभूत होने लगता है। ब्रह्माण्ड में सभी प्रकार के लोक इन्द्र और अग्नि के उत्कृष्ट संयोग से ही अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं। सभी लोकों के केन्द्रीय भाग इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

(अधोराम इत्यधःऽरामः, सावित्रः) इसका भाष्य करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'इति पशु समाम्नाये विज्ञायते कस्मात् सामान्यादिति अधस्तात्तद्वेलायां तमो भवत्येतस्मात्सामान्यात् अधस्ताद्रामोऽधस्तात्कृष्णः कस्मात्सामान्यादिति अग्निं चित्वा न रामामुपेयात् रामा रमणायोपेयते कृष्णजातीया एतस्मात्सामान्यात्' [पशुः = सर्वदेवत्यः पशुः (काठ.सं.२६.८), सर्वा एव देवताः पशवः (क.सं.४१.५)] यहाँ अधोराम को सविता देवता से सम्बन्धित बतलाया गया है। यह वही शैली है, जो उपर्युक्त अन्य पदार्थों का चित्रण करने के लिए इस मन्त्र में प्रयुक्त की गई है। इस मन्त्र में विभिन्न देवताओं और हविरूप छन्द रश्मियों की चर्चा की गई है। सविता के विषय में हम पूर्व में लिख ही चुके हैं कि जब लालिमायुक्त विशाल खगोलीय पिण्ड से ग्रहादि लोक छिटककर बाहर नहीं निकलते अथवा उससे ये लोक सद्यः ही पृथक् हुए हैं और सूर्य अपने स्वरूप को अभी प्राप्त नहीं कर पाया है, उस समय तक वह पिण्ड सविता कहलाता है। सविता देवता वाला वह विशाल पिण्ड अधोराम किस समानता से कहा गया है? इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं कि उस समय निचले भागों अर्थात् द्युलोक के बाहर स्थित पृथ्वी आदि ग्रहों पर अथवा अन्तरिक्ष में अतिन्यून प्रकाश अर्थात् अन्धकार होता है, उसी प्रकार उस विशाल पिण्ड के अधोभाग में भी न्यून प्रकाश ही होता है, क्योंकि उस समय तक इस पिण्ड के केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की

प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हो पाती है, इससे निर्माणाधीन सूर्य (सविता) भी न्यून प्रकाशयुक्त ही होता है। यहाँ अधोभाग का तात्पर्य सूर्य का केन्द्र नहीं, बल्कि बाहरी परिधि भाग कहलाता है। 'अधः' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने पूर्व में खण्ड २.११ में लिखा है— 'न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा' अर्थात् यह भाग ऊर्ध्व दिशा अर्थात् केन्द्रीय भाग, जो प्रत्येक दृष्टि से अन्य भागों की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है, की ओर गमन नहीं करता है। इस समय पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी होती है। इस क्षेत्र को राम कहा गया है और 'रामः' पद का अर्थ यहाँ ग्रन्थकार ने 'कृष्णः' किया है। इसके यहाँ दो अर्थ हैं—

१. यह पदार्थ तारे के केन्द्रीय भाग के प्रचण्ड आकर्षण बल के द्वारा होने वाली संघनन प्रक्रिया की समाप्ति के कारण इस परिधि भाग के बाहरी तल पर ही क्रीड़ा करता रहता है।

२. इसका दूसरा अर्थ यह है कि इस भाग में विद्यमान पदार्थ केन्द्रीय भाग के प्रबल आकर्षण बल से आकृष्ट हो चुका होता है और उस आकर्षण की प्रक्रिया की सीमा भी समाप्त हो चुकी होती है। इसके साथ ही वह भाग वर्तमान रूप की दृष्टि से एवं उस समय उस लोक के केन्द्रीय भाग की दृष्टि से कुछ तमोरूप होता है।

पाठक यहाँ सूर्य की बाहरी परिधि को अधोभाग मानने पर कुछ प्रश्न खड़े कर सकते हैं, परन्तु उन्हें यह विचारना चाहिए कि जब पृथ्वी आदि लोक को सूर्य का अधोभागस्थ माना गया है, तब सूर्य के केन्द्र की अपेक्षा सूर्य की परिधि को अधोभाग क्यों नहीं माना जा सकता? यह परिधिभाग कृष्ण इस कारण भी कहा जा सकता है, क्योंकि यह भाग ही अन्तरिक्ष से अनेक प्रकार के कण, विकिरण एवं रश्मि आदि पदार्थों को निरन्तर आकृष्ट करता रहता है। इस भाग को राम कहने का एक कारण यह भी है कि इस क्षेत्र में अनेक प्रकार की छन्दादि रश्मियों का ऐसा आवरण होता है कि जो रश्मियाँ और उनके कारण नाना प्रकार के कण आदि पदार्थ क्रीड़ा करते रहते हैं, वे सूर्यलोक के अन्दर जाने का प्रयास भी करते हैं, परन्तु अन्दर प्रविष्ट भी नहीं हो पाते हैं। इस कारण ऐसे पदार्थों का सूर्यतल पर भारी नृत्य चलता रहता है।

अब पुनः यह प्रश्न उठाया है— 'कस्मात्सामान्यादिति?' अर्थात् राम को कृष्ण किस समानता के आधार पर कहा गया है? इसका उत्तर निरुक्तकार ने इस प्रकार दिया है—'अग्निं चित्वा न रामामुपेयात् रामा रमणायोपेयते कृष्णजातीया एतस्मात्सामान्यात्' इस विषय में काठक संहिता का भी कथन है— 'व्रतं चरेदग्निं चित्वा प्रथमं चित्वा न

रामामुपेयाद् द्वितीयं चित्वा नान्येषाँ स्त्रियस्तृतीयं चित्वा न काञ्चन' (काठ.सं.२२.७) [व्रतम् = संवत्सरो वै व्रतम् (तां.ब्रा.२१.१५.२), अग्निहोत्रं वाव व्रतम् (क.सं.३६.४)] इन सबका तात्पर्य यह है कि जब सूर्यलोक के निर्माण की प्रक्रिया चल रही होती है, उस समय पदार्थ के संघनन से अग्नि का प्रथम प्रादुर्भाव हो चुका होता है। उस समय सर्वप्रथम केन्द्रीय भाग का तापमान बढ़ने लगता है।

इस तापमान के बढ़ने के साथ ही संघनन की प्रक्रिया धीरे-२ मन्द होती हुई बन्द हो जाती है। इतने तापमान पर भी वह रामा अर्थात् सविता के बाहरी भाग में स्थित पूर्वोक्त रामा संज्ञक कण आदि पदार्थ, विशेषकर स्त्रीरूप व्यवहार करने वाले पदार्थ उष्ण नहीं हो पाते हैं अथवा वे पदार्थ सविता लोक के आभ्यन्तर भाग में प्रविष्ट नहीं हो पाते हैं। यहाँ 'रामामुपेयात्' का अर्थ यही है कि सविता लोक का यह भाग प्रकाशित नहीं हो पाता है और वह बाहर ही क्रीड़ा करता रहता है। यह सविता वा सूर्यलोक के अन्दर होने वाली यजन क्रियाओं में भाग नहीं ले पाता है और न वह सूर्य के केन्द्रीय भाग में विलीन होकर सम्पूर्ण सूर्यलोक को धारण करने में ही सहायक हो पाता है। इसके पश्चात् उस सविता लोक के अन्दर चलने वाली अनेक प्रकार की यजन क्रियाओं के द्वारा तापमान में और अधिक वृद्धि होने लगती है। इसे ही यहाँ अग्नि का द्वितीय चयन कहा गया है। इसके पश्चात् अन्य [अन्यः = अन्यो नानेयः (निरु.१.६), अन्ये सपत्नाः (निरु.१०.२७)] अर्थात् असंगमनीय एवं संगमन आदि कर्मों को अपनी हिंसक प्रवृत्ति के द्वारा रोकने वाले असुरादि पदार्थों के प्रति स्त्रीरूप व्यवहार करने वाली रश्मियों वा कणों को भी केन्द्रीय भाग एवं अन्य भाग में होने वाली यजन क्रियाओं से दूर किया जाता है। इस समय सम्पूर्ण सविता लोक लालिमायुक्त वर्ण से युक्त होकर तप्त होने लगता है। ऐसी स्थिति में तापमान के बढ़ने के साथ-साथ ही असुरादि पदार्थ केन्द्रीय भाग से दूर और दूरतर होने लगते हैं।

अब अन्त में अग्नि के तृतीय चयन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इसे तृतीय सवन भी कहा है। इस समय सविता लोक का केन्द्रीय भाग अत्यन्त तप्त हो उठता है। इस कारण उसके अन्दर नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। ऐसी स्थिति में कोई भी स्त्रीरूप पदार्थ एवं कोई भी असंलयनीय पदार्थ इस भाग में प्रवेश नहीं कर पाते अर्थात् संलयन प्रक्रिया में भाग नहीं ले पाते। यद्यपि इतना विस्तार ग्रन्थकार ने नहीं किया है, परन्तु हमने काठक संहिता के उपर्युक्त वचन की दृष्टि से यह व्याख्या की है। ग्रन्थकार

ने केवल रामा नामक पदार्थ के ही दूर रहने की बात की है और पूर्व में राम को कृष्ण क्यों कहा, इस विषय में ग्रन्थकार ने कहा है— 'कृष्णजातीया एतस्मात्सामान्यात्' [कृष्णः = एतद्वै पाप्मनो रूपं कृष्ण इव पाप्मा यत् कृष्णः (मै.सं.२.५.६, काठ.सं.१३.२)] अर्थात् जिस प्रकार रामा नामक पदार्थ यजन प्रक्रिया का भाग नहीं बन पाते और वे सविता लोक के केन्द्रीय भाग से दूर ही रहते हैं। उसी प्रकार [कृष्णः = तमो वै कृष्णम् (मै.सं.२.१.६)] पतनकारी पाप संज्ञक पदार्थ एवं अधिक द्रव्यमान युक्त पदार्थ एवं न्यून तापयुक्त पदार्थ भी यजन क्रिया में भाग नहीं ले पाते, इस कारण राम को कृष्ण कहा गया है, क्योंकि दोनों के गुण समान सिद्ध होते हैं।

ग्रन्थकार की इस व्याख्या के पश्चात् अब हम पुनः मन्त्र के शेष भाग का आधिदैविक भाष्य करते हैं— (वारुणः, कृष्णः) वरुण देवता वाला भाग अर्थात् प्राण, अपान एवं व्यान इन तीनों से विशेष समृद्ध होने के कारण विशेष आकर्षण बल से युक्त होता है। (एकशितिपात्, पेत्वः) ऐसे पदार्थ जो एक सरल रेखा में गमन करते हैं और जिनका अग्रभाग अति तीक्ष्ण होता है, वे अन्य पदार्थों की अपेक्षा आशुगामी होते हैं।

इस मन्त्र में अनेक प्रकार के पदार्थों के गुणों की चर्चा की गई है। एक ही मन्त्र में अनेक पदार्थों की वैज्ञानिकता का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (आग्नेयः) अग्निदेवताकः (कृष्णग्रीवः) कृष्णा ग्रीवा यस्य सः (सारस्वती) सरस्वतीदेवताका (मेषी) (बभ्रुः) धूम्रवर्णः (सौम्यः) सोमदेवताकः (पौष्णः) पूषदेवताकः (श्यामः) श्यामवर्णः (शितिपृष्ठः) कृष्णपृष्ठः (बार्हस्पत्यः) बृहस्पति-देवताकः (शिल्पः) नानावर्णः (वैश्वदेवः) विश्वदेवदेवताकः (ऐन्द्रः) इन्द्रदेवताकः (अरुणः) रक्तवर्णः (मारुतः) मरुद्देवताकः (कल्माषः) श्वेतकृष्णवर्णः (ऐन्द्राग्नः) इन्द्राग्निदैवत्यः (संहितः) दृढाङ्गः (अधोरामः) अधःक्रीडी (सावित्रः) सवितृदेवताकः (वारुणः) वरुणदैवत्यः (कृष्णः) (एकशितिपात्) एक शितिः पादोऽस्य (पेत्वः) पतनशीलः।

भावार्थः — हे मनुष्याः! युष्माभिर्यद्यद्दैवत्या ये ये पशवो विख्यातास्ते तत्तद्गुणा उपदिष्टाः सन्तीति वेद्यम्।

पदार्थ— हे मनुष्यो! तुम लोग जो (आग्नेयः) अग्नि देवता वाला अर्थात् अग्नि के उत्तम गुणों से युक्त है वह (कृष्णग्रीवः) काले गले वाला पशु जो (सारस्वती) सरस्वती वाणी के गुणों वाली वह (मेषी) भेड़ जो (सौम्यः) चन्द्रमा के गुणों वाला वह (बभ्रुः) घुमेला पशु जो (पौष्णः) पुष्टि आदि गुणों वाला वह (श्यामः) श्याम रङ्ग से युक्त पशु जो (बार्हस्पत्यः) बड़े आकाशादि के पालन आदि गुणयुक्त वह (शितिपृष्ठः) काली पीठ वाला पशु जो (वैश्वदेवः) सब विद्वानों के गुणों वाला वह (शिल्पः) अनेक वर्णयुक्त जो (ऐन्द्रः) सूर्य्य के गुणों वाला वह (अरुणः) लाल रङ्गयुक्त जो (मारुतः) वायु के गुणों वाला वह (कल्माषः) खाखी रङ्गयुक्त जो (ऐन्द्राग्नः) सूर्य्य अग्नि के गुणों वाला वह (संहितः) मोटे दृढ़ अङ्गयुक्त जो (सावित्रः) सूर्य के गुणों से युक्त वह (अधोरामः) नीचे विचरने वाला पक्षी जो (एकशितिपात्) जिसका एक पग काला (पेत्वः) उड़ने वाला और (कृष्णः) काले रङ्ग से युक्त वह (वारुणः) जल के शान्त्यादि गुणों वाला है, इस प्रकार इन सब को जानो।

भावार्थ— हे मनुष्यो! तुम लोगों को चाहिये कि जिस जिस देवता वाले जो-जो पशु विख्यात है, वे-वे उन उन गुणों वाले उपदेश किये हैं, ऐसा जानो।''

हमारी दृष्टि में जिस भी पण्डित ने ऋषि दयानन्द के भाष्य का हिन्दी अनुवाद किया है, वह कुछ अंशों में त्रुटिपूर्ण भी है। यहाँ ऋषि दयानन्द ने 'मेषी' पद का भाष्य नहीं किया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने इस पद का भाष्य यजुर्वेद २४.१ में 'शब्दकर्त्री मेषस्य स्त्री' किया है। हिन्दी अनुवादक ने वहाँ भी इस पद का अर्थ 'भेड़' किया है। वस्तुतः वेद में एक-एक पशु वा पक्षी को लेकर कोई व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि वेद एक ब्रह्माण्डीय ग्रन्थ है और ऐसी स्थिति में ब्रह्माण्ड के पशु-पक्षियों का विवरण वेद में मिलना सम्भव नहीं है। इसलिए वेद में जो भी वर्णन है, उसे सामान्य नहीं समझना चाहिए। इसलिए विशेष गर्जना करने वाला एवं विशेष रेतःसम्पन्न कोई भी पशु वा पक्षी, जो मादा हो, का ग्रहण 'मेषी' पद से करना चाहिए, न कि भेड़ का। इसी प्रकार सभी पदों के अर्थों को समझें। यहाँ एक पशु वा पक्षी विशेष को किसी न किसी देवता से सम्पन्न बताया गया है, उससे यह संकेत मिलता है कि प्रत्येक जाति व वर्ग के पशु, पक्षी अथवा किसी भी प्राणी के शरीर में भिन्न-२ पदार्थों की प्रधानता होती है। यह एक ऐसा विज्ञान है, जो आधुनिक जीवविज्ञानियों को अनुसन्धान करने के लिए अनेक दशकों तक

मार्गदर्शन कर सकता है।

अब हम इसका आध्यात्मिक भाष्य करते हैं—

(आग्नेय:, कृष्णग्रीव:) [अग्नि: = आत्मैवाग्नि: (श.ब्रा.६.७.१.२०), प्राणो वाऽअग्नि: (श.ब्रा.९.५.१.६८), वागेवाग्नि: (श.ब्रा.३.२.२.१३), मनऽएवाग्नि: (श.ब्रा.१०.१.२.३)। ग्रीवा = ओजो वै वीर्यं ग्रीवा (जै.ब्रा.२.५७)। कृष्णम् = कर्षति विलिखति येन ज्योति: समूहेन तम् (म.द.ऋ.भा.१.५८.४)] श्रेष्ठ मनन शक्ति सम्पन्न आत्मवान् पुरुष ब्रह्मतेज की ज्योति और ओज से युक्त होता है। वह अपने तेज से अन्यों को आकर्षित करने वाला होता है। (सारस्वती, मेषी) ऐसे योगी पुरुष का मन आकाश में विद्यमान विभिन्न ऋचाओं से सम्पन्न होकर शुद्ध ज्ञान की वृद्धि कराने वाला होता है। (बभ्रु:, सौम्य:) वह पुरुष अनेक दिव्य शक्तियों को धारण करने वाला प्रशान्त मन से युक्त होता है। (पौष्ण:, श्याम:) वह सबके पोषक परब्रह्म के सानिध्य को प्राप्त करके निरन्तर आत्मपोषण करता हुआ श्रेय मार्ग पर गमन करने वाला होता है। (शितिपृष्ठ:, बार्हस्पत्य:) विशाल से विशालतम लोकों के पालक और रक्षक परमात्मा का बल ही उस आत्मवान् पुरुष का तीक्ष्ण व सुदृढ़ आधार होता है। यह उसका ऐसा शस्त्र होता है, जिसके द्वारा वह अपने समस्त दोषों को दग्ध कर देता है।

(शिल्प:, वैश्वदेव:) वह सभी दैवीय शक्तियों से सम्पन्न होकर अनेक रूपों और कर्मों को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इसके लिए पाठकों को पातञ्जल योगदर्शन का विभूति पाद पढ़ना चाहिए (ऐन्द्र:, अरुण:) वह परम ऐश्वर्यवान् इन्द्र परमात्मा के तेज को प्राप्त करके समाधिस्थ अवस्था में तेजस्वी मुखमण्डल वाला हो जाता है। (मारुत:, कल्माष:) [मरुत: = हिरण्यनाम (निघं.१.२)] वह सुवर्णसम तेज से युक्त होकर अपनी चित्तवृत्तियों को सम्पूर्ण रूप से जीत लेता है। (ऐन्द्राग्न:, सꣳहित:) वह इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान् और अग्नि के समान अनिष्ट विचारों का दाहक होकर सम्यक् रूप से स्थितप्रज्ञ होता है। (अधोराम:, सावित्र:) वह पुरुष सबका प्रेरक सवितारूप होकर दीनहीन व पतित लोगों को सत्कर्मों में रमण करने की प्रेरणा करने वाला होता है। (वारुण:, कृष्ण:) वह धर्मात्मा जनों एवं अन्य सामान्य मनुष्यों द्वारा वरण करने योग्य, साथ ही सबके वरणीय परब्रह्म में सदैव स्थित रहता हुआ अपने आध्यात्मिक तेज के द्वारा सबको आकृष्ट करता है और उनके दुर्गुणों को छिन्न-भिन्न करने में सहायक होता है। (एकशितिपात्, पेत्व:) वह

योगनिष्ठ पुरुष अपनी गमन साधनरूप प्राण शक्तियों को एक दिशा में केन्द्रित व तीक्ष्ण करके आकाशगमन करने में समर्थ होता है।

भावार्थ— मन्त्र में किसी श्रेष्ठ योगी पुरुष की अनेक सिद्धियों का वर्णन किया गया है।

एतदनन्तर सविता पद की एक और ऋचा के दो पदों को उद्धृत करते हुए लिखते हैं— 'कृकवाकुः सावित्रः'। इस मन्त्र में भी पूर्वमन्त्र की भाँति आधिभौतिक अर्थों में अनेक प्रकार के प्राणियों का वर्णन है। हम यहाँ सम्पूर्ण मन्त्र को उद्धृत कर रहे हैं—

'पुरुषमृगश्चन्द्रमसो गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनां कृकवाकुः।
सावित्रो हꣳसो वातस्य नाक्रो मकरः कुलीपयस्तेऽकूपारस्य ह्रियै शल्यकः॥' (यजु.२४.३५)

इस मन्त्र का ऋषि प्रजापति है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राथमिक प्राण से होती है। इसका देवता चन्द्रादि है अर्थात् इसमें अनेक देवतावाची पदार्थों का वर्णन है। इसका छन्द निचृच्छक्वरी है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से ऋचा में वर्णित अनेक पदार्थ अति तीक्ष्ण तेज और बल से सम्पन्न होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पुरुषमृगः, चन्द्रमसः) [चन्द्रमाः = चन्द्रमा वै हिङ्कारः (जै.उ.१.३.४), चन्द्रमा वै यज्ञायज्ञियं यो हि कश्च यज्ञः संतिष्ठते, एतमेव तस्याहुतीनां रसोऽप्येति तद्यदेतं यज्ञोयज्ञोऽप्येति तस्माच्चन्द्रमा यज्ञायज्ञियम् (श.ब्रा.९.१.२.३९)। पुरुषः = पुरुषो वै संवत्सरः (श.ब्रा. १२.२.४.१), पुरुष एव सविता (जै.उ.४.२७.१७), पुरुषोऽग्निः (श.ब्रा.१०.४.१.६)] 'हिम्' रश्मियाँ, जो विभिन्न छन्द रश्मियों को एक-दूसरे के साथ संयुक्त रखने में सहायक होती हैं, सम्पूर्ण सविता लोक और उसमें उत्पन्न होने वाले अग्नि को निरन्तर शुद्ध करती रहती हैं। ये रश्मियाँ तारों के अन्दर विभिन्न कणों को शुद्ध करके संलयनीय कणों को केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित करने में सहायक होती हैं।

(गोधा, कालका, दार्वाघाटः, ते, वनस्पतीनाम्) [गोधा = गाम् धारयतीति (मे मतम्)। कालका = कल्+णिच्+कन् (मे मतम्)। दार्वाघाटः = दार्वाघात इति दारुऽआघातः। दारु = दीर्यते भिद्यते इति दारु (उ.को.१.३)] विभिन्न किरणों के पालक वनस्पति संज्ञक अग्नि और सूर्य गोधा अर्थात् नाना प्रकार की रश्मियों व कणों को धारण करने वाले होते हैं। 'गोधा' पद 'गुध क्रीडायाम्' एवं 'गुध परिवेष्टने' धातुओं से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ

यह है कि अग्नि और सूर्य दोनों ही पदार्थ नाना प्रकार की रश्मियों से आच्छादित होकर क्रीड़ा करते हुए निरन्तर गमन करते रहते हैं। ये दोनों ही पदार्थ कालका रूप होकर विभिन्न कणों, विकिरणों और रश्मियों को अन्तरिक्ष में निरन्तर प्रक्षिप्त करते रहते हैं। ये दोनों पदार्थ दार्वाघाट भी कहे गए हैं। इसका अर्थ यह है कि ये पदार्थ विभिन्न भेदन करने योग्य पदार्थों पर प्रहार करके उन्हें विदीर्ण करने में सक्षम होते हैं। सूर्य की किरणें विभिन्न कणों का भेदन करके नाना प्रकार की रासायनिक क्रियाओं को सम्पादित करने में समर्थ होती हैं। सभी प्रकार की रासायनिक क्रियाएँ ऊष्मा की उपस्थिति में ही सम्भव हो पाती हैं।

(कृकवाकुः, सावित्रः) 'इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते कस्मात्सामान्यादिति कालानुवादं परीत्य कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणम् वचेरुत्तरम्' [कृकम् = हिंसनम् (म.द.ऋ.भा.१.२९.७), कृकवाकुः = कृकोपपदाद् वचधातोर्जुण्। कृकेन कण्ठेन वक्तीति कृकवाकुः (उ.को.१.६)] सविता नामक पूर्वोक्त लोक कृकवाकु रूप होता है। इसका अर्थ यह है कि यह लोक अपनी हिंसक अर्थात् तीक्ष्ण आन्तरिक क्रियाओं के द्वारा प्रकाश और ध्वनियों को उत्पन्न करता हुआ द्युलोक को गुँजाता और प्रकाशित करता है। पशुरूप अग्नि, सविता, सूर्य आदि पदार्थों के स्वरूप के वर्णन द्वारा सविता को कृकवाकु जाना जाता है अर्थात् जिस प्रकार यहाँ अन्य पदार्थों का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार सविता की कृकवाकु रूप के साथ समानता दर्शायी है। वह समानता कैसे दर्शायी गई है, इसके लिए कहा गया है— 'कालानुवादं परीत्य कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणम् वचेरुत्तरम्' अर्थात् यह समानता काल के अनुकूल बोलने को लेकर की गयी है। कृकवाकु कुक्कुट पक्षी (मुर्गा) को भी कहते हैं। यह पक्षी 'कृक' पद का अनुकरण करता अर्थात् 'कृक कृक' बोलने से कृकवाकु कहलाता है। जब कुक्कुट बोलता है, उस समय पृथिवी पर अंधेरा वा अति न्यून मात्रा में ही प्रकाश होता है। उसी प्रकार जब सूर्य सवितारूप में होता है, उस समय भी पृथिव्यादि लोकों पर अन्धकार वा अति न्यून मात्रा में ही प्रकाश होता है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि सवितालोक भी 'कृक कृक' की ध्वनि करता रहता है, इसलिए भी वह कृकवाकु कहा जाता है। यहाँ 'कृकवाकु' में पूर्वपद का अनुकरण है और उत्तरपद 'वच्' धातु से व्युत्पन्न है।

(हंसः, वातस्य) [हंसः = हंसा सूर्यरश्मयः (निरु.१४.२९), असौ वा आदित्यो हꣳसः शुचिषत् (श.ब्रा.६.७.३.११), हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम् (निरु.४.१३)] सूर्य की किरणें वा

सूर्यलोक वायुतत्त्व का ही संघनित रूप है। (नाक्रः, मकरः, कुलीपयः, ते, अकूपारस्य) [नाक्रः = न क्रामतीति नक्रः। मकरः = मा + करः, यहाँ 'म' 'मा' का छान्दसरूप है। मा = अयं वै (पृथिवी) लोका मा अयं हि लोको मितऽइव (श.ब्रा.८.३.३.५), चन्द्रमा वै मा मासः (जै.उ.३.१२.६), कुलीपयः = 'कुल संस्त्याने बन्धुषु च' + पुक्+णिच्। अकूपारः = आदित्योऽप्यकूपार उच्यतेऽकूपारो भवति दूरपारः (निरु.४.१८)] वह अकूपार संज्ञक आदित्य लोक निश्चित आकार को प्राप्त करके अपनी वृद्धि को रोक देता है अर्थात् एक निश्चित सीमा के पश्चात् किसी भी तारे का आकार नहीं बढ़ सकता है, इस कारण उसे नाक्र कहते हैं। वह आदित्यलोक पृथ्वी और चन्द्रमा अर्थात् ग्रह और उपग्रह आदि लोकों को अपने चारों ओर धारण किये रहता है, इस कारण उसे मकर कहते हैं। सूर्य को कुलापि इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह विशाल मात्रा में पदार्थ को एकत्रित करके निर्मित होता है। इसके साथ ही यह अपने चारों ओर विद्यमान सूक्ष्म पदार्थ को भी अपने साथ मिलाता रहता है। आदित्यलोक को अकूपार क्यों कहते हैं, यह हम पूर्व में खण्ड ४.१८ में लिख आये हैं।

(ह्रियै, शल्यकः) [शल्यकः = शल्+यत्+कन्, 'शल चलनसंवरणयोः' धातु का प्रयोग है।] वेदविज्ञान-आलोकः ३.२६.२ में शल्यक के विषय में लिखा है—

"आकाश व प्राणतत्त्व का ऐसा मिश्रण होता है, जो सोम रश्मियों की ओर मन्द-मन्द गति करता हुआ उन्हें आच्छादित करके अपने साथ संयुक्त कर लेता है। हमारे मत में यह शल्यक नामक पदार्थ गायत्री छन्द रश्मियों से पूर्णतः पृथक् नहीं होता, बल्कि अल्पांश में उससे संयुक्त ही रहता है और शेष अंश उन रश्मियों से पृथक् होकर, फैलकर सोम रश्मियों को ग्रहण करता है। इस कारण वह शल्यक नामक पदार्थ भी नखरूप होकर सोम रश्मियों को बाँधने वाला होता है।"

इससे यह संकेत मिलता है कि विभिन्न लोकों, विशेषकर सूर्यादि लोकों के अन्दर जो नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ होती हैं, उनमें विभिन्न गायत्री छन्द रश्मियों और शल्यक नामक पदार्थ की अहम भूमिका होती है। इसके लिए वेदविज्ञान-आलोकः का उपर्युक्त प्रकरण पढ़ना उचित रहेगा। यह शल्यक नामक पदार्थ संयोग प्रक्रिया के अनन्तर आकाशतत्त्व को संकुचित करने के लिए उपयोगी होता है। यहाँ हमने 'ह्री' धातु को संकुचित होने अथवा करने अर्थ में प्रयोग किया है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (पुरुषमृगः) यः पुरुषान्मार्ष्टि स पशुविशेषः (चन्द्रमसः) चन्द्रस्य (गोधा) (कालका) (दार्वाघाटः) शतपत्रकः (ते) (वनस्पतीनाम्) (कृकवाकुः) कुक्कुटः (सावित्रः) सवितृदेवताकः (हंसः) (वातस्य) (नाक्रः) नक्राज्जातः (मकरः) (कुलीपयः) जलजन्तुविशेषः (ते) (अकूपारस्य) समुद्रस्य (ह्रियै) लज्जायै (शल्यकः) कण्टकपक्षयुक्तः श्वावित्।

भावार्थः — ये चन्द्रादिगुणाः पशुपक्षिविशेषास्ते मनुष्यैर्विज्ञेयाः।

पदार्थ— हे मनुष्यो! तुम को (पुरुषमृगः) पुरुषों को शुद्ध करने हारा विशेष पशु वह (चन्द्रमसः) चन्द्रमा के अर्थ जो (गोधा) गोह (कालका) कालका पक्षी और (दार्वाघाटः) कठफोरवा हैं (ते) वे (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों के सम्बन्धी जो (कृकवाकुः) मुर्गा वह (सावित्रः) सविता देवता वाला जो (हंसः) हंस है वह (वातस्य) पवन के अर्थ जो (नाक्रः) नाके का बच्चा (मकरः) मगरमच्छ (कुलीपयः) और विशेष जलजन्तु हैं (ते) वे (अकूपारस्य) समुद्र के अर्थ और जो (शल्यकः) से ही है वह (ह्रियै) लज्जा के लिये जानना चाहिये।

भावार्थ— जो चन्द्रमा आदि के गुणों से युक्त विशेष पशु-पक्षी हैं, वे मनुष्यों को जानने चाहिये।''

यहाँ इस भाष्य में भी हिन्दी अनुवादकों ने कुछ त्रुटियाँ की हैं। हम उन्हें दूर करते हुए कुछ स्पष्टता लाने का प्रयास करते हैं। यहाँ जिस प्राणी को पुरुष को शुद्ध करने वाला कहा है, वह कोई एक प्राणी विशेष नहीं हो सकता, बल्कि ऐसे प्राणी, जो अपने दुग्धादि उत्पादों के द्वारा मनुष्य को शुद्ध व सात्त्विक बुद्धि व शरीर प्रदान करने वाले होते हैं, वे भी पुरुषमृग कहे जा सकते हैं, जैसे— गौ। कुछ प्राणी ऐसे भी हो सकते हैं, जो मनुष्य को शुद्ध वायु एवं जल अथवा भूमि प्रदान करने वाले होते हैं, वे भी पुरुषमृग कहे जा सकते हैं। इन सब प्राणियों का चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध बतलाना यह सिद्ध करता है कि प्राणियों का चन्द्रमा से कोई विशेष सम्बन्ध है, जिसके विषय में अनुसन्धान करने की अपेक्षा है। यहाँ 'गोधा' पद का अर्थ गोह के समान कोई अति चञ्चल प्राणी है, जो पृथक्-२ लोकों में पृथक्-२ रूपों में पाया जा सकता है। 'गोधा' पद 'गुध क्रीडायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता

है। कालका पद से भी किसी ऐसे प्राणी का उल्लेख है, जो विशेष गर्जना करता हुआ अपने अन्दर से वायु अथवा किसी अन्य पदार्थ का प्रक्षेपण करके शत्रु को भयभीत करने वाला होता है। ऐसा प्राणी कहीं भी किसी भी लोक में हो सकता है। दार्वाघाट के पदच्छेद से ही यह स्पष्ट है कि ऐसा प्राणी काष्ठ आदि को भी विदीर्ण करने में सक्षम होता है और इसके अनेक पंख होते हैं। इन तीनों प्राणियों का वनस्पतियों से सम्बन्ध बतलाया गया है। इसका अर्थ यह है कि ये तीनों ही प्राणी शाकाहारी होते हैं।

यहाँ कृकवाकु का अर्थ कुक्कुट किया गया है और इसका सम्बन्ध सविता से किया है। कुक्कुट (मुर्गा) सूर्योदय से पूर्व ही बोलता है, ऐसे अन्य प्राणी भी हो सकते हैं। इसके साथ ही इस प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करने वाले भी अन्य अनेक प्राणी इस ब्रह्माण्ड में हो सकते हैं, इन सभी को यहाँ कृकवाकु मानना चाहिए। हंस का सम्बन्ध वायु से बतलाया है। हंस एक आशुगामी एवं दूर तक गमन करने वाला प्राणी है। इनका वायु से विशेष सम्बन्ध होने के कारण ही ये लम्बी उड़ान भरने में सक्षम होते हैं। इस प्रकार के सभी प्राणियों को हंस कहना चाहिए। यहाँ नाक्र ऐसे जीवों का नाम है, जो चलने-फिरने में बहुत शिथिल होते हैं। ये मकर, मगरमच्छ जैसी प्रजाति के सरीसृप जलीय प्राणी होते हैं अथवा छिपकली आदि जीव भी इसी श्रेणी में आ सकते हैं। कुलीपय को यहाँ ऋषि दयानन्द ने जलजन्तु विशेष कहा है। हमारे मत में जल से क्रीड़ा करने वाले अनेक जीव इस श्रेणी में आ सकते हैं। इन तीनों प्रकार के प्राणियों नाक्र, मकर और कुलीपय का सम्बन्ध समुद्र से बतलाया गया है। इससे भी ये तीनों प्रकार के प्राणी समुद्री जीव सिद्ध होते हैं। निरुक्तकार ने आदित्य को भी अकूपार कहा है। यहाँ शल्यक ऐसे जीव का नाम है, जिसके ऊपर असंख्य कण्टक होते हैं और जिसे स्पर्श करते ही वह सिकुड़ जाता है अर्थात् वह बहुत शर्मीला जीव होता है। ऐसे जीव कई प्रकार के होते हैं और ये कहीं भी हो सकते हैं।

अब हम इसका आध्यात्मिक भाष्य करने का प्रयास करते हैं—

(पुरुषमृगः, चन्द्रमसः) [चन्द्रमा = चन्द्रमा वै प्राणः (जै.उ.४.२२.११), वागिति चन्द्रमाः (जै.उ.३.१३.१२)] वाक् अर्थात् 'ओम्' के जप तथा प्राणायाम से मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध होता है। महर्षि पतञ्जलि ने 'तस्य वाचकः प्रणवः' एवं 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' सूत्रों के द्वारा 'ओम्' जप के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। उधर भगवान् मनु ने प्राणायाम के

द्वारा सभी दोषों को दूर करने की बात करते हुए लिखा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ (मनु.६.७१)

योगसाधक जब 'ओम्' जप के साथ प्राणायाम करता है, तब उसके न केवल आत्मिक व मानसिक, अपितु शारीरिक दोषों का भी शमन होने लगता है। (गोधा, कालका, दार्वाघाटः, ते, वनस्पतीनाम्) उस योगी का चित्त वेद की ऋचाओं में रमण करता हुआ ['कालका' पद 'काल उपदेशे' धातु से व्युत्पन्न होता है। यहाँ पुरुष-व्यत्यय भी मानना चाहिए।] मुमुक्षु जनों को सत्योपदेश करता है। वह विदीर्ण करने योग्य अन्तःकरण के विकारों पर अपने सद्विचारों से प्रहार करके उन्हें निरन्तर दूर करता रहता है। [वनस्पतिः = प्राणो वै वनस्पतिः (ऐ.ब्रा.२.४), सोमो वै वनस्पतिः (मै.सं.१.१०.९)] इन तीनों प्रकार के गुणों से युक्त योगी प्राणविद्या का ज्ञाता एवं शान्तिदायक सोम परमात्मा का साक्षात्कर्त्ता होता है। इसी कारण इन तीनों का सम्बन्ध वनस्पति के साथ दर्शाया गया है।

(कृकवाकुः, सावित्रः) वह योगी सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र के जप द्वारा अपनी वाणी और विचारों को दुरितों को नष्ट करने वाला बना लेता है अर्थात् गायत्री जप के द्वारा वह मन और वाणी दोनों को शुद्ध करता है। (हꣳसः, वातस्य) वह योगी उदान वायु के जय के द्वारा तथा शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से ऊर्ध्वगति अर्थात् आकाश में तीव्रगमन करने में सक्षम होता है। इसके लिए महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन में दो सूत्र निम्नानुसार दिए हैं—

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च॥ (यो.द.३.३९)
कामाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्॥ (यो.द.३.४२)

वर्तमान में कुछ कथित योगीजन योगदर्शन के विभूतिपाद पर प्रश्न उठाते हैं, यह उनकी अज्ञानता का द्योतक है। जब तक कोई वैदिक विज्ञान को नहीं समझेगा, तब तक वह योग की भी वैज्ञानिकता नहीं समझ सकता है।

(नाक्रः, मकरः, कुलीपयः, ते, अकूपारस्य) ऐसा योगी नाक्र अर्थात् अपने योगमार्ग से कभी विचलित न होने वाला होता है। इसके साथ ही वह अपने योगबल के द्वारा शरीर को अविचल बना सकता है अर्थात् वह महान् बल को प्राप्त कर सकता है। [मा = यया मीयते

सा (म.द.य.भा.१४.१८)] वह अपने शरीर में व्याप्त विभिन्न छन्द रश्मियों को अपने योगज ज्ञान के द्वारा धारण किए रहता है अर्थात् उनका प्रत्यक्ष करने वाला होता है। इसके साथ ही वह अपने शरीर के आकार को अपनी इच्छानुसार छोटा अथवा बड़ा कर सकता है। इसी को योगदर्शन में अणिमादि सिद्धि कहा है। कुलीपय पद यह दर्शाता है कि योगी अपने निकटवर्ती वायुमण्डल से विभिन्न तन्मात्राओं को आकर्षित करके उन्हीं से ऊर्जा प्राप्त कर बिना कुछ खाए-पीए दीर्घकाल तक नीरोग रहते हुए जीवित रह सकता है। इसके साथ ही कोई उच्च कोटि का योगी वायुतत्त्व में विद्यमान सूक्ष्म कणों वा विकिरणों को आकर्षित करके अथवा वायुतत्त्व से नवीन कणों का निर्माण करके नाना दिव्य पदार्थों वा दिव्य तकनीक को सिद्ध कर सकता है। इन तीनों ही पदों नाक्र, मकर एवं कुलीपय का सम्बन्ध अकूपार के साथ दर्शाया गया है। इसका अर्थ यह है कि योग की शक्तियों का पार पाना दुष्कर है।

(ह्रियै, शल्यकः) वह योगी ह्री नामक गुण को प्राप्त करने के लिए अपनी इन्द्रियों और मन की वृत्तियों को एकाग्र करके परोपकार में लगा देता है। ह्री की व्याख्या करते हुए पितामह भीष्म ने कभी धर्मराज युधिष्ठिर से कहा था—

कल्याणं कुरुते बाढं धीमान् न ग्लायते क्वचित्।
प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते॥
(महाभारत-शान्तिपर्व-आपद्धर्मपर्व-अध्याय-१६२, श्लोक-१५)

अर्थात् जो बुद्धिमान् पुरुष भलीभाँति दूसरों का कल्याण करता है और मन में कभी खेद नहीं मानता, जिसके मन व वाणी सदा शान्त रहते हैं, वह लज्जाशील माना जाता है। यह लज्जा नामक गुण धर्म के आचरण से प्राप्त होता है।

'सविता' पद के पश्चात् 'भगः' पद के निर्वचन के लिए पूर्व खण्ड ३.१६ पठनीय है, परन्तु यहाँ भगः पद आदित्य की एक अवस्था का नाम है। वह अवस्था सूर्योदय से ठीक पूर्व की अवस्था होती है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= चतुर्दशः खण्डः =

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥

[ऋ.७.४१.२, यजु.३४.३५]

प्रातर्जितं भगमुग्रं ह्वयेम वयं पुत्रमदितेः। यः विधारयिता सर्वस्य।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानः। आढ्यालुर्दरिद्रः। तुरश्चित्। तुर इति यमनाम। तरतेर्वा।
त्वरतेर्वा। त्वरया तूर्णगतिर्यमः। राजा चित्। यं भगं भक्षीत्याह।
अन्धो भगः। [कौ.ब्रा.६.१३, श.ब्रा.१.७.४.६] इत्याहुः।
अनुत्सृप्तो न दृश्यते।
प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघान। [कौ.ब्रा.६.१३] इति च ब्राह्मणम्।
जनं भगो गच्छति। [मै.सं.१.६.१२] इति वा। जनं गच्छत्यादित्य उदयेन।
सूर्यः सर्तेर्वा। सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ १४॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता भग और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से आदित्य लोक तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्रातःजितम्, भगम्, उग्रम्, हुवेम, वयम्, पुत्रम्, अदितेः, यः, विधर्ता) 'प्रातर्जितं भगमुग्रं ह्वयेम वयं पुत्रमदितेः यः विधारयिता सर्वस्य' [अदितिः = वाङ्नाम (निघं.१.११), प्रातः = प्रकृष्टमतति गच्छतीति प्रातः (उ.को.५.५९)] वह आदित्य लोक नाना लोकों को विविध प्रकार से धारण करता, अपनी ऊर्जा के द्वारा उनका नाना प्रकार से पोषण करता हुआ अत्यन्त उग्र भग स्वरूप होता है। इसका अर्थ यह है कि आदित्य लोक के अन्दर होने वाली यजन क्रियाएँ अत्यन्त तीव्र होती हैं। वह आदित्य लोक अदिति अर्थात् विभिन्न वाक् रश्मियों से उत्पन्न होता है। इस कारण से अदिति पुत्र कहा जाता है। वह वाक् रश्मियों के कारण संरक्षित भी होता है। वह आदित्य लोक अत्यन्त तीव्र गति से अन्धकार को जीतने वाला होता है। ऐसे आदित्य लोक को विभिन्न वसिष्ठ रश्मियाँ बुलाती हैं। इसका अर्थ यह है

कि सबको बसाने वाला अग्नितत्त्व एवं प्राण तत्त्व ही वाक् रश्मियों के साथ मिलकर इसका निर्माण करते हैं। इसके साथ ही प्राणतत्त्व इसे थामे भी रखता है।

(आध्रः, चित्, यम्, मन्यमानः, तुरः, चित्, राजा, चित्, यम्, भगम्, भक्षि, इति, आह) 'आध्रश्चिद्यं मन्यमानः आढ्यालुर्दरिद्रः तुरश्चित् तुर इति यमनाम तरतेर्वा त्वरतेर्वा त्वरया तूर्णगतिर्यमः राजा चित् यं भगं भक्षीत्याह' जिस भग संज्ञक आदित्य लोक को उसकी सब ओर से धारक विभिन्न प्रकार की रश्मियाँ प्रकाशित करती हैं, वे रश्मियाँ ही यहाँ आढ्यालु एवं दरिद्र कही गई हैं। इसका अर्थ यह है कि वे रश्मियाँ कुटिल मार्गों पर गमन करने वाली, जिनको जानना वा अनुभव करना अति दुष्कर होता है तथा जो आदित्य लोक के अन्दर निरन्तर श्रेणीबद्ध रूप से वृद्धि को प्राप्त होती रहती हैं, इस आदित्य लोक को निरन्तर प्रकाशित करती रहती हैं। उस आदित्य लोक को यहाँ 'तुरः' कहा है। इसका अर्थ यह है कि वह आदित्यलोक यमरूप होकर अपने ग्रहादि लोकों को निरन्तर नियन्त्रित किए रहता है। वह सबको पार लगाने वाला अर्थात् अपने साथ सम्पूर्ण आकाशगंगा में भ्रमण कराता रहता है। वह अत्यन्त तीव्र गति से निरन्तर गमन करता रहता है। वह अपनी तीव्र गति के साथ अपने ग्रहादि लोकों को भी अपने साथ रखता हुआ उन्हें भी इसी गति से गमन कराता है। वह तीव्र प्रकाशमान होने से राजा कहलाता है। कोई भी तारा अपने मण्डल के सभी लोकों का नियन्त्रक और प्रकाशक होने से उनका राजा कहलाता है। इस आदित्यलोक में 'यं भगं भक्षि' ये दैवी पंक्ति छन्द रश्मियाँ निरन्तर उत्पन्न होती रहती हैं। वस्तुतः ये रश्मियाँ इस निचृत् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि का ही भाग होती हैं, जो प्राण रश्मियों के द्वारा विशेष रूप से प्रभावी होकर आदित्यलोक में यजन प्रक्रियाओं को निरन्तर तीव्र करने में सहायक होती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (प्रातर्जितम्) प्रातरेव जेतुमुत्कर्षयितुं योग्यम् (भगम्) ऐश्वर्यम् (उग्रम्) तेजोमयम् (हुवेम) शब्दयेम (वयम्) (पुत्रम्) पुत्रमिव वर्तमानम् (अदितेः) अन्तरिक्ष-स्थाया भूमेः प्रकाशस्य वा (यः) (विधर्ता) विविधानां लोकानां धर्ता (आध्रः) यः सर्वैस्समन्ताद्ध्रियते (चित्) अपि (यम्) (मन्यमानः) विजानन् (तुरः) शीघ्रकारी (चित्) इव (राजा) प्रकाशमानः (चित्) अपि (यम्) (भगम्) ऐश्वर्यम् (भक्षि) भजेयं सेवेय (इति) अनेन प्रकारेण (आह) उपदिशतीश्वरः।

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ मनुष्यैः प्रातरुत्थाय सर्वाधारं परमेश्वरं ध्यात्वा सर्वाणि कर्त्तव्यानि कार्याणि विचिन्त्य धर्मेण पुरुषार्थेन प्राप्तमैश्वर्यं भोक्तव्यं भोजयितव्यमि-तीश्वर उपदिशति।

पदार्थ— हे मनुष्यो! (यः) जो (अदितेः) अन्तरिक्षस्थ भूमि वा प्रकाश का (विधर्ता) वा विविध लोकों का धारण करने वाला (आध्रः, चित्) जो सब ओर से धारण सा किया जाता (मन्यमानः) जानता हुआ (तुरः) शीघ्रकारी (राजा) प्रकाशमान (चित्) निश्चय से परमात्मा (यम्) जिस (भगम्) ऐश्वर्य्य की प्राप्ति होने को (आह) उपदेश देता है, जिसकी प्रेरणा पाये हुए (वयम्) हम लोग (पुत्रम्) पुत्र के समान (प्रातर्जितम्) प्रातःकाल ही उत्तमता से प्राप्त होने को योग्य (उग्रम्) तेजोमय तेज भरे हुए (भगम्) ऐश्वर्य्य को (हुवेम) कहें (इति) इस प्रकार (यम्, चित्) जिस को निश्चय से मैं (भक्षि) सेवूं उसकी उपासना करें।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालंकार हैं— मनुष्यों को चाहिये कि प्रातःसमय उठकर सबके आधार परमेश्वर का ध्यान कर सब करने योग्य कामों का नाना प्रकार से चिन्तन कर धर्म और पुरुषार्थ से पाये हुए ऐश्वर्य्य को भोगें वा भुगावें, यह ईश्वर उपदेश देता है।''

'भगः' पद का एक और उदाहरण ब्राह्मण ग्रन्थों से इस प्रकार उद्धृत किया गया है— 'अन्धो भगः इत्याहुः अनुत्सृप्तो न दृश्यते' [अन्धः = अन्ननाम (निघं.२.७), अन्धांसि अन्नानि (निरु.९.३४), अन्नं वा अन्धः (जै.ब्रा.१.३.३), अद्यते भक्ष्यते तद् अन्धः (उ.को. ४.२०७)] अर्थात् संयोज्य पदार्थों का विशाल समुदाय ही भगरूप आदित्यलोक कहलाता है। इसका कारण यह है कि जब आदित्यलोक के अन्दर अन्न अर्थात् संलयनीय पदार्थों का अभाव हो जाता है, तब वह लोक अपने स्वरूप को खो देता है। इसके साथ ही ग्रन्थकार का यह भी मत है कि आदित्यलोक से जब तक अग्नि के परमाणु उड़कर बाहर की ओर अन्तरिक्ष में उत्सर्जित नहीं होते, तब तक वह अदृश्य ही होता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि जब तक संलयनीय पदार्थ (अन्नरूप पदार्थ) आदित्य लोक की ऊर्ध्वदिशा अर्थात् केन्द्रीय भाग की ओर गमन नहीं कर रहे होते, तब भी आदित्यलोक पूर्ण प्रकाशमान नहीं होता। इसलिए अन्ध को भग कहा गया है।

यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थ का एक अन्य वचन भी इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघान' [प्राशित्रम् = यह पद 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से उणादि सूत्र 'चरेर्वृत्ते' (४.१७३) के द्वारा 'णित्रन्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।] वह पूर्वोक्त भग संज्ञक आदित्यलोक जब अप्रकाशित अवस्था में होता है अर्थात् उससे प्रकाश आदि की किरणें उत्सर्जित होकर बाहरी अन्तरिक्ष में उत्सर्जित नहीं हो रही होती, उस समय उसे पृथ्वी आदि लोकों से अनुभव नहीं किया जा सकता। हम यह जानते हैं कि सूर्यलोक की किरणों को व्यक्त करने के दो ही गुण हैं— ऊष्मा एवं प्रकाश। ये दोनों ही हमें उस आदित्यलोक का अनुभव कराते हैं। इस कारण इन दोनों ही प्रकार के विकिरणों को अथवा इन दोनों ही गुणों को आदित्य का अक्षि कहा गया है, क्योंकि इनके बिना हम आदित्यलोक का अनुभव नहीं कर सकते।

जब आदित्यलोक की किरणें हम तक नहीं पहुँच पाती, उस समय वे किरणें आदित्यलोक के बाहरी भाग में व्याप्त वायुतत्त्व में अथवा आदित्यलोक के अन्दर व्याप्त वायुतत्त्व में विलीन हो जाती हैं। इसी तथ्य को यहाँ इस प्रकार समझाया गया है कि वायुतत्त्व ही उन ऊष्मा और प्रकाशरूपी नेत्रों को पूर्ण रूप से अपने अन्दर समा लेता है और वे दोनों ही पदार्थ हमारे लिए नष्ट हुए जैसे होते हैं। यहाँ वायुतत्त्व को ही प्राशित्र कहा गया है, क्योंकि यह सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त है। यहाँ इस प्रकरण से यह भी संकेत मिलता है कि जब ऊष्मा एवं प्रकाश की उत्पत्ति नहीं हो पाती, उस समय ये दोनों ही गुण एवं इनसे सम्पन्न अग्नि के परमाणु मानो वायुतत्त्व में ही परोक्ष रूप से विद्यमान रहते हैं और अग्नितत्त्व के प्रलय होते समय भी ये दोनों गुण और अग्नि के परमाणु वायुतत्त्व में विलीन हो जाते हैं। अन्नरूपी भग के आकर्षण और प्रतिकर्षण दोनों ही गुण अथवा विद्युत् धन एवं ऋण दोनों ही आवेश वायुतत्त्व में ही लीन रहते हैं। यही इस ब्राह्मण वचन का तात्पर्य है।

तदुपरान्त एक और उदाहरण देते हुए लिखते हैं— 'जनं भगो गच्छति इति वा जनं गच्छत्यादित्य उदयेन' [जनः = इयं (पृथिवी) वाव जनो यो वा इमामेति न स पुनरागच्छति (काठ.सं.२५.७)] जब आदित्यलोक का उदय हो जाता है अर्थात् उसकी किरणें पृथिवी आदि लोकों तक पहुँचने लगती हैं। पृथ्वी आदि लोकों पर पहुँची हुई किरणें पुनः आदित्य लोक में वापिस नहीं लौटती हैं। हम जानते हैं कि सूर्य से पृथिवी पर आने वाली किरणें पृथिवी द्वारा अवशोषित कर ली जाती हैं, कुछ किरणें परावर्तित भी होती हैं। इनमें से कुछ

किरणें ऊष्मा के रूप में उत्सर्जित भी होती हैं, परन्तु ये सभी सूर्यलोक को उसी रूप में प्राप्त नहीं होती हैं।

'भग:' पद के पश्चात् अगले पद 'सूर्य:' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सूर्य: सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा' अर्थात् सूर्य निरन्तर सरकता हुआ गमन करता रहता है। वह विभिन्न लोकों को उत्पन्न भी करता है। इसके साथ ही वह इन्हें प्रेरित भी करता है। यह सूर्यलोक निरन्तर आकाश में काँपता और थरथराता हुआ गमन करता रहता है। इस कारण इसे सूर्य कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

पञ्चदश: खण्ड:

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ [ऋ.१.५०.१, यजु.७.४१]
उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्यमिति।
कमन्यमादित्यादेवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति॥ १५॥

इस मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों के एक उत्कृष्ट रूप से होती है। इसका देवता सूर्य तथा छन्द निचृत् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक तीक्ष्ण श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उत्, ऊम् इति, त्यम्, जातवेदसम्, देवम्, वहन्ति, केतव:) 'उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मय: केतव:' सूर्य की रश्मियाँ अपने प्रकाश द्वारा सभी उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान प्रकाश को ऊपर उठाकर ले जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि सूर्य की किरणें अन्तरिक्ष में गमन करती हुई उसके प्रकाशमान स्वरूप को उत्कृष्ट रूप से वहन करती हैं। इसके साथ ही इसका यह भी अर्थ है कि कुछ छन्दादि रश्मियाँ इस सूर्यलोक को अपनी शक्ति से उठाकर सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में अर्थात् एक कक्षा विशेष में परिक्रमण कराती हैं। इसी प्रकार सूर्यलोक से

उत्पन्न विकिरणों को भी कुछ रश्मियाँ उठाकर ले जाती हुई सुदूर अन्तरिक्ष में गमन करती हुई विभिन्न लोकों की ओर ले जाती हैं।

(दृशे, विश्वाय, सूर्यम्) 'सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्यम्' ऐसा किस लिए होता है, इसका कारण बताते हुए कहा गया है कि इससे सूर्यलोक सभी प्राणियों को दिखाई देता है। यदि सूर्य की किरणें सूर्य से बाहर निकलकर गमन नहीं करें, तो किसी को भी सूर्य के अस्तित्व का भी अनुभव नहीं हो सकता। ऐसा कथन केवल इस सूर्यरूपी आदित्य के लिए ही कहा गया है, न कि किसी अन्य पदार्थ के लिए, क्योंकि सूर्य के समान अन्य कोई पदार्थ सबका ऐसा प्रकाशक नहीं होता।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (उत्) ऊर्ध्वार्थे (उ) वितर्के (त्यम्) अमुम् (जातवेदसम्) यो जातान् पदार्थान् विन्दति तम् (देवम्) देदीप्यमानम् (वहन्ति) प्राप्नुवन्ति (केतवः) किरणाः (दृशे) दृष्टुं दर्शयितुं वा। इदं केन्प्रत्ययान्तं निपातनम् (विश्वाय) सर्वेषां दर्शनव्यवहाराय (सूर्य्यम्) सवितृलोकम्। यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याख्यातवान्। उद्वहन्ति तं जातवेदसं देवमश्वाः केतवो रश्मयो वा सर्वेषां भूतानां संदर्शनाय सूर्य्यम्। निरु.१२.१५

भावार्थः — धार्मिका जना यथाश्वा रथं किरणाश्च सूर्यं वहन्त्येवं विद्याधर्मप्रकाशयुक्ताः स्वसदृशाः स्त्रियः सर्वान्पुरुषानुद्वाहयेयुः।

पदार्थ— हे मनुष्यो! तुम जैसे (केतवः) किरणें (विश्वाय) सब के (दृशे) दीखने (उ) और दिखलाने के योग्य व्यवहार के लिये (त्यम्) उस (जातवेदसम्) उत्पन्न किये हुए पदार्थों को प्राप्त करने वाले (देवम्) प्रकाशमान (सूर्य्यम्) रविमंडल को (उद्वहन्ति) ऊपर वहते हैं, वैसे ही गृहाश्रम का सुख देने के लिये सुशोभित स्त्रियों को विवाह विधि से प्राप्त होओ।

भावार्थ— धार्मिक माता पिता आदि विद्वान् लोग जैसे घोड़े रथ को और किरणें सूर्य्य को प्राप्त कराती हैं, ऐसे ही विद्या और धर्म के प्रकाशयुक्त अपने तुल्य स्त्रियों से सब पुरुषों का विवाह करावें।''

इसकी एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षोडशः खण्डः =

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

[ऋ.१.११५.१, यजु.७.४२]

चायनीयं देवानामुदगमदनीकम्। ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्च।
आपूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन।
तेन सूर्य आत्मा जङ्गमस्य च स्थावरस्य च।
अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति। तस्यैषा भवति॥ १६॥

इसका ऋषि आङ्गिरस कुत्स है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण रश्मियों के एक विशेष संयोग, जो तीक्ष्ण भेदक क्षमता से युक्त होता है, से होती है। इसका देवता सूर्य और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(चित्रम्, देवानाम्, उत्, अगात्, अनीकम्, चक्षुः, मित्रस्य, वरुणस्य, अग्नेः) 'चायनीयं देवानामुदगमदनीकम् ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्च' वह सूर्यलोक विभिन्न देव पदार्थों का समूहरूप होकर अन्य सभी लोकों में श्रेष्ठ रूप में उत्कृष्टता से अपने प्रकाश द्वारा सबको व्याप्त करता है। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि में सूर्यादि तेजस्वी लोक ही सबके प्रकाशित होने का कारण होते हैं। इन लोकों में प्रायः सभी प्रकार के देव पदार्थ विद्यमान होते हैं। यह लोक मित्र अर्थात् प्राण, वरुण अर्थात् अपान-व्यान एवं उदान, अग्नि अर्थात् विद्युत् आदि का चक्षुरूप होता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक से उसमें विद्यमान प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं विद्युत् आदि की उपस्थिति का बोध होता है। वस्तुतः इनकी उपस्थिति के बिना सूर्यलोक का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है। इसलिए सूर्यलोक को इनका चक्षु अर्थात् प्रकाशक कहा है।

(आ, अप्राः, द्यावापृथिवी इति, अन्तरिक्षम्, सूर्यः, आत्मा, जगतः, तस्थुषः, च) 'आपूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन तेन सूर्य आत्मा जङ्गमस्य च स्थावरस्य च' वह सूर्यलोक अपनी किरणों की व्यापकता के द्वारा द्युलोक, सभी ग्रह-उपग्रहादि लोक एवं अन्तरिक्ष को सब ओर से व्याप्त करता है। इस प्रकार वह सूर्य सभी जड़ और जङ्गम पदार्थों का आत्मा है। इसका अर्थ यह है कि वह सभी जड़ पदार्थों, वनस्पतियों एवं प्राणियों के शरीरों को अपनी ऊर्जा के द्वारा निरन्तर व्याप्त करता है अर्थात् वह अपनी ऊर्जा के द्वारा उन सभी पदार्थों में अपनी उपस्थिति दर्शाता है।

भावार्थ— सूर्यलोक अनगिनत देव पदार्थों का भण्डार होता है। यह लोक अग्नि, विद्युत् और प्राणतत्त्व का प्रकाशक होता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य की किरणें अग्नि, विद्युत् और प्राण रश्मियों का बोध कराने वाली होती हैं। वस्तुतः इनके बिना सूर्यलोक का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। यह सभी लोकों को अग्नि और प्राण तत्त्व प्रदान करने वाला है और इन्हीं के द्वारा वह सभी पदार्थों को निरन्तर ऊर्जा प्रदान करता है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (चित्रम्) अद्भुतम् (देवानाम्) विदुषां दिव्यानां पदार्थानां वा (उत्) उत्कृष्टतया (अगात्) प्राप्तमस्ति (अनीकम्) चक्षुरादीन्द्रियैरप्राप्तम् (चक्षुः) दर्शकं ब्रह्म (मित्रस्य) सुहृद इव वर्त्तमानस्य सूर्यस्य (वरुणस्य) आह्लादकस्य जलचन्द्रादेः (अग्नेः) विद्युदादेः (आ) समन्तात् (अप्राः) पूरितवान् (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमी (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (सूर्यः) सवितेव ज्ञानप्रकाशः (आत्मा) अतति सर्वत्र व्याप्नोति सर्वान्तर्यामी (जगतः) जङ्गमस्य (तस्थुषः) स्थावरस्य (च) सकलजीवसमुच्चये।

भावार्थः — न खलु दृश्यं परिच्छिन्नं वस्तु परमात्मा भवितुमर्हति, नो कश्चिदप्यव्यक्तेन सर्वशक्तिमता जगदीश्वरेण विना सर्वस्य जगत उत्पादनं कर्त्तुं शक्नोति, नैव कश्चित् सर्वव्यापकसच्चिदानन्दस्वरूपमनन्तान्तर्यामिणं सर्वात्मानं परमेश्वरमन्तरा जगद्धर्त्तुं जीवानां पापपुण्यानां साक्षित्वं फलदानं च कर्त्तुमर्हति, न ह्येतस्योपासनया विना धर्मार्थकाममोक्षान् लब्धुं कोऽपि जीवः शक्नोति, तस्मादयमेवोपास्य इष्टदेवः सर्वैर्मन्तव्यः।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जो (अनीकम्) नेत्र से नहीं देखने में आता तथा (देवानाम्) विद्वान् और अच्छे-अच्छे पदार्थों वा (मित्रस्य) मित्र के समान वर्त्तमान सूर्य वा (वरुणस्य)

आनन्द देने वाले जल, चन्द्रलोक और अपनी व्याप्ति आदि पदार्थों वा (अग्नेः) बिजुली आदि अग्नि वा और सब पदार्थों का (चित्रम्) अद्‌भुत (चक्षुः) दिखाने वाला है, वह ब्रह्म (उदगात्) उत्कर्षता से प्राप्त है। जो जगदीश्वर (सूर्य्यः) सूर्य्य के समान ज्ञान का प्रकाश करने वाला विज्ञान से परिपूर्ण (जगतः) जङ्गम (च) और (तस्थुषः) स्थावर अर्थात् चराचर जगत् का (आत्मा) अन्तर्यामी अर्थात् जिसने (अन्तरिक्षम्) आकाश (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमिलोक को (आ, अप्राः) अच्छे प्रकार परिपूर्ण किया अर्थात् उनमें आप भर रहा है, उसी परमात्मा की तुम लोग उपासना करो।

भावार्थ— जो देखने योग्य परिमाण वाला पदार्थ है, वह परमात्मा होने को योग्य नहीं। न कोई भी उस अव्यक्त सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के विना समस्त जगत् को उत्पन्न कर सकता है और न कोई सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दस्वरूप, अनन्त, अन्तर्यामी, चराचर जगत् के आत्मा परमेश्वर के विना संसार के धारण करने, जीवों को पाप और पुण्यों का साक्षीपन और उनके अनुसार जीवों को सुख-दुःख रूप फल देने को योग्य है। न इस परमेश्वर की उपासना के बिना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पाने को कोई जीव समर्थ होता है, इससे यही परमेश्वर उपासना करने योग्य इष्टदेव सबको मानना चाहिये।''

'सूर्यः' पद के पश्चात् 'पूषा' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति' अर्थात् वह सूर्यलोक जब रश्मियों के द्वारा सब ओर से पुष्ट होकर सभी लोकों को उन रश्मियों द्वारा पुष्ट करता है, तब उसे पूषा कहते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि सूर्य के सदैव ही रश्मियों से आवेष्टित या पुष्ट होने के उपरान्त भी उसको किसी विशेष परिस्थिति में ही पूषा कहा गया है अथवा क्या वह सदैव ही पूषारूप में भी विद्यमान रहता है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि वह सदैव ही पूषारूप होने पर भी किसी विशेष परिस्थिति वा ऋतु आदि में अथवा किसी विशेष काल में उसके द्वारा वनस्पतियों एवं प्राणियों को विशेष पोषण प्राप्त होता है। इसके साथ ही पृथ्वी आदि लोकों के ऊपर अथवा अन्दर होने वाली विभिन्न क्रियाओं को भी यह सूर्यलोक किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अधिक परिपुष्ट करता है। इस कारण उन परिस्थितियों में सूर्य का जो रूप होता है, उसे पूषा कहा जा सकता है। सूर्य पर होने वाले विस्फोट और तूफानों के चक्र एवं ऐसी अन्य क्रियाएँ भी सूर्य के स्वरूप में स्वल्प एवं क्रमबद्ध परिवर्तन का संकेत देती हैं। पूषा भी ऐसे किसी स्वरूप विशेष का ही बोधक है।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= सप्तदश: खण्ड: =

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि। विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु॥ [ऋ.६.५८.१] शुक्रं ते अन्यल्लोहितं ते अन्यत्। यजतं ते अन्यद्यज्ञियं ते अन्यत्। विषमरूपे ते अहनी कर्म। द्यौरिव चासि। सर्वाणि प्रज्ञानान्यवसि। अन्नवन्! भाजनवती ते पूषन्निह दत्तिरस्तु। तस्यैषाऽपरा भवति॥ १७॥

इस मन्त्र का ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता उषा एवं छन्द त्रिष्टुप् होने से पूषा रूप सूर्य रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(शुक्रम्, ते, अन्यत्, यजतम्, ते, अन्यत्, विषुरूपे, अहनी इति, द्यौः, इव, असि) 'शुक्रं ते अन्यल्लोहितं ते अन्यत् यजतं ते अन्यद्यज्ञियं ते अन्यत् विषमरूपे ते अहनी कर्म द्यौरिव चासि' उस पूषा लोक का एक रूप रक्तवर्णीय तेज से युक्त होता है और एक अन्य रूप यज्ञीय रूप होता है, जो विभिन्न लोकों में सम्पादित होने वाली यजन क्रियाओं में अपनी भूमिका निभाता है। पूषा का रक्तवर्णीय रूप भी उषा की लालिमा से युक्त होकर यजन क्रियाओं को विशेष रूप से सक्रिय करता है। उदय और अस्त होता सूर्य विभिन्न यजन क्रियाओं को सम्पन्न कराने में विशेष समर्थ होता है। वह पूषा लोक विषम रूप होकर रात्रि और दिन का निर्माण करता है। [अहनी = अग्निर्वाऽह: सोमो रात्रि: (श.ब्रा.३.४.४.१५)] सूर्यलोक में जहाँ तेजस्वी क्षेत्र होते हैं, वहाँ अनेक सौर कूप भी होते हैं, जो अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कृष्ण वर्ण के होते हैं। इसके अतिरिक्त सूर्य से जहाँ तेजस्वी विकिरण आते हैं, वहीं कुछ कृष्ण वर्ण की तरंगें भी सूर्य से अन्तरिक्ष में गमन करती हैं। यद्यपि वर्तमान

विज्ञान इस विषय में यह मानता है—

"Dark lines in the solar spectrum that result from the absorption by elements in the solar chromosphere of some of the wavelengths of the visible radiation emitted by the hot inerior of the sun."

(A Dictionary of Physics, fourth edition, edited by Alan Isaacs)

यहाँ दृश्य प्रकाश के अवशोषण से ही काली रेखाओं का उत्पन्न होना माना गया है, परन्तु हमारी दृष्टि में सूर्य से कुछ कृष्णवर्णीय विकिरण भी आते हैं, जिनमें बृहती छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। इसके साथ यह भी सम्भव है कि सूर्य से आने वाले प्रोटॉन एवं न्यूट्रिनो अथवा धनावेशित एवं उदासीन कणों को भी कृष्णवर्णीय विकिरण माना जा सकता है, क्योंकि इनमें प्रकाशाणु की अपेक्षा बृहती छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है और इनमें प्रकाश की मात्रा भी अपेक्षाकृत अति न्यून होती है। वर्तमान विज्ञान भी न्यूट्रिनो को हॉट डार्क मैटर का कण मानता है।

यह पूषा संज्ञक सूर्यलोक द्यौ के समान होता है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार द्युलोक में नाना प्रकार के कणों, विकिरणों और रश्मियों का जाल बिछा होता है, उसी प्रकार पूषारूप सूर्यलोक में भी नाना प्रकार के कणों, विकिरणों और रश्मियों की विद्यमानता होती है। जिस प्रकार द्युलोक सभी लोकों को अपने बल से थामे रखता है, उसी प्रकार सूर्यलोक भी अपने बल से द्युलोक को थामे रखता है।

(विश्वाः, हि, मायाः, अवसि, स्वधावः, भद्रा, ते, पूषन्, इह, रातिः, अस्तु) 'सर्वाणि प्रज्ञानान्यवसि अन्नवन् भाजनवती ते पूषन्निह दत्तिरस्तु' [माया = प्रज्ञानाम (निघं.३.९)] वह पूषा संज्ञक सूर्यलोक सारे प्रज्ञानों की रक्षा करता है। इसका अर्थ यह है कि ज्ञान के सबसे बड़े साधन प्रकाश का वही उत्पादक है। वही अनेक हानिकारक पदार्थों को नष्ट करने वाला होता है। पूषा लोक नाना प्रकार के संयोज्य पदार्थों का भण्डार होता है। वह पूषा लोक जो भी विकिरण इन पृथ्वी आदि लोकों पर भेजता है, वे सभी विकिरण विभिन्न प्रकार के कणों का विखण्डन करने वाले होते हैं। यहाँ 'भाजन' शब्द 'भाज पृथक्कर्मणि' धातु से निष्पन्न होता है। यदि सूर्य की किरणें इस पृथ्वी पर न आवें, तो अनेक प्रकार की रासायनिक, जैविक एवं भूगर्भीय क्रियाएँ सम्पन्न न हो सकें।

इसकी एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

अष्टादश: खण्ड:

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानळर्कम्। स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा॥ [ऋ.६.४९.८] पथस्पथोऽधिपतिं वचनेन कामेन कृतोऽभ्यानडर्कमभ्यापन्नोर्कमिति वा। स नो ददातु चायनीयाग्राणि धनानि। कर्मकर्म च नः प्रसाधयतु पूषेति। अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा। व्यश्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ १८॥

इस मन्त्र का ऋषि ऋजिष्वा है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति ऐसी किसी सूक्ष्म प्राण रश्मि से होती है, जो सरल रेखा में गति करती हुई निरन्तर वर्धमान होती रहती है। इसका देवता पूषा और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पूषा लोक विविध प्रकार के रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पथः, पथः, परिपतिम्, वचस्या, कामेन, कृतः, अभि, आनट्, अर्कम्) 'पथस्पथोऽधिपतिं वचनेन कामेन कृतोऽभ्यानडर्कमभ्यापन्नोर्कमिति वा' सभी ग्रह-उपग्रह आदि लोकों के प्रत्येक मार्ग का रक्षक, उन सभी लोकों के प्रक्षेपण की क्रिया का अधिपति एवं उन सब लोकों की परिक्रमण गतियों का नियन्त्रक व निर्धारक पूषारूप सूर्यलोक अनेक प्रकार की छन्द रश्मियों के आकर्षण बल और उनकी दीप्ति को धारण करके सब लोकों को सब ओर से प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न छन्द रश्मियों से ही सूर्यलोक निर्मित भी है और उन्हीं के द्वारा प्रकाशित व संचालित होता हुआ सब लोकों को सब प्रकार से धारण करता है। यहाँ सूर्यलोक को अर्क कहा गया है। इस पद के विषय में हम पूर्व में खण्ड ५.४ और ५.५ में लिख चुके हैं।

(सः, नः, रासत्, शुरुधः, चन्द्र-अग्राः, धियम्, धियम्, सीसधाति, प्र, पूषा) 'स नो ददातु चायनीयाग्राणि धनानि कर्मकर्म च नः प्रसाधयतु पूषा' वह पूषालोक ऋजिष्वा ऋषि रश्मियों से सम्पृक्त पदार्थों को ऐसे पदार्थों से संयुक्त करता है अर्थात् ऐसे पदार्थ प्रदान करता है, जो कमनीय अग्रभाग से युक्त होते हैं अर्थात् उनमें संयोजक गुण विशेष होता है। इन पदार्थों के अग्रभाग में कुछ ऐसी रश्मियाँ होती हैं, जो अन्य पदार्थों से संयोग हेतु विशेष तत्पर रहती हैं। इसके कारण उन सभी पदार्थों के नाना प्रकार के कर्म सिद्ध होते हैं। इन कर्मों की सिद्धि से पदार्थों का पोषण होता है। इसी कारण इस लोक को पूषा कहते हैं।

भावार्थ— सूर्यलोक विभिन्न छन्द रश्मियों के द्वारा सभी ग्रह-उपग्रह आदि लोकों के प्रक्षेपण, परिक्रमण, घूर्णन आदि क्रियाओं का पोषण और रक्षण करता है। वह इन्हीं छन्दादि रश्मियों के द्वारा स्वयं भी प्रकाशित व संचालित होता है। सूर्य की किरणें विभिन्न कणों के संयोजक सामर्थ्य को बढ़ाने वाली होती हैं। उन किरणों के कारण विभिन्न कणों के अग्रभाग में विशेष संयोजक गुणों से युक्त कुछ ऐसी रश्मियाँ प्रकट होने लगती हैं, जो उनकी संयोजकता को बढ़ा देती हैं।

'पूषा' पद के पश्चात् 'विष्णुः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा' सूर्यलोक विभिन्न प्रकार की किरणों, रश्मियों और कणों से विभिन्न प्रकार से व्याप्त वा आच्छादित रहने के कारण विष्णु कहलाता है। यह उन्हीं किरणों, रश्मियों वा कणों के द्वारा सभी पदार्थों में व्याप्त होता है, इस कारण भी विष्णु कहलाता है। यह अपनी किरणों के द्वारा वेगपूर्वक अन्तरिक्ष में प्रविष्ट होता है, इस कारण भी विष्णु कहलाता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकोनविंशः खण्डः =

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।

समूळ्हमस्य पांसुरे॥ [ऋ.१.२२.१७]
यदिदं किं च तद्विक्रमते विष्णुः। त्रिधा निधत्ते पदम्।
त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः।
समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः।
समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते। अपि वोपमार्थे स्यात्।
समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति। पांसवः पादैः सूयन्त इति वा।
पन्नाः शेरत इति वा। पंसनीया भवन्तीति वा॥ १९॥

इस मन्त्र का ऋषि मेधातिथि काण्व है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता विष्णु और छन्द पिपीलिकामध्यानिचृद् गायत्री है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक तीक्ष्ण श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इदम्, विष्णुः, वि, चक्रमे, त्रेधा, नि, दधे, पदम्) 'यदिदं किं च तद्विक्रमते विष्णुः त्रिधा निधत्ते पदम् त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः समारोहणे विष्णुपदे गयशिर-सीत्यौर्णवाभः समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते अपि वोपमार्थे स्यात्' विष्णुरूप सूर्यलोक इस जगत् में जो कुछ भी है, उसको विशेष रूप से संतप्त करता है। यह सूर्यलोक अपने क्षेत्र में विद्यमान सभी लोकों को अपने अधिकार में रखता हुआ उनके ऊपर अधिष्ठित होता है। वह इस जगत् में तीन प्रकार से पग रखता है अर्थात् यह तीन प्रकार से जगत् को प्राप्त करता है। महर्षि शाकपूणि के अनुसार विष्णुलोक पृथ्वी आदि ग्रहों, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में अपनी रश्मियों द्वारा व्याप्त रहता है। यहाँ पृथ्वी पद से सभी ग्रह-उपग्रह आदि का ग्रहण करना चाहिए।

महर्षि और्णवाभ के मत में यह सूर्यलोक तीन पदों के द्वारा जगत् को व्याप्त करता है। इनमें सूर्य का सम्यक् रूप से उदय होना ही प्रथम पद कहलाता है। [विष्णुः = यो वै विष्णुः स यज्ञः (श.ब्रा.५.२.३.६), विष्णुर्यज्ञः (गो.उ. १.१२), विष्णुः (यजमानाय) तद् (विन्दति) यदन्तरिक्षा (मै.सं.२.२.१३), विष्णुर्वै यज्ञः (ऐ.ब्रा.१.१५)] अन्तरिक्ष में सूर्य की किरणों का व्याप्त होना और वहाँ विद्यमान विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों की यजन प्रक्रियाओं में व्याप्त होना विष्णु का दूसरा पद कहलाता है। [गयः = गृहनाम (निघं.३.४),

गयशिरसि-उत्तराह्णे पश्चिमायां दिशि 'गयः, अस्तम्-गृहनाम' (निघं.३.४) गयेऽस्ते गृहे शिरो यस्मिन् काले देशे वा स कालो देशो वा 'गयशिराः' तस्मिन् गयशिरसि-उत्तराह्णे पश्चिमायां दिशि (स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक)] विष्णु का तीसरा पद सूर्य का अस्त होना है। इस प्रकार महर्षि और्णवाभ ने सूर्योदय, मध्याह्न एवं सूर्यास्त इन तीन अवस्थाओं को सूर्य के तीन पद कहा है। यहाँ सूर्य के प्रारम्भिक काल, उत्कर्ष काल और अन्तिम काल, इन तीन अवस्थाओं को भी विष्णुरूपी सूर्य के तीन पाद कहा जा सकता है।

(सम्, ऊढम्, अस्य, पांसुरे) 'समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति' विस्तृत अन्तरिक्ष में सूर्य की किरणें और उनके मार्ग दिखाई नहीं देते अर्थात् ये किरणें अन्य पदार्थों को दिखाने में साधनरूप होने के उपरान्त भी स्वयं अदृश्य होती हैं। 'समूढम्' पद का भाष्य करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं— 'यत्सम्यक् तर्क्यते तर्केण यद्विज्ञायते तत्' अर्थात् सूर्य के ये मार्ग और उनकी किरणें तर्क और ऊहा के द्वारा जानी जाती हैं। यहाँ ग्रन्थकार उपमा अलंकार को भी स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि अन्तरिक्ष में सूर्य की विकिरणों के मार्ग उसी प्रकार दिखाई नहीं देते, जिस प्रकार उड़ती हुई धूल में पैरों के चिह्न दिखाई नहीं देते।

यहाँ 'पांसुः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'पांसवः पादैः सूयन्त इति वा पन्नाः शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा' अर्थात् धूल (रेत) को पांसु इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसका निर्माण पाद अर्थात् विभिन्न प्रकार की हलचल से ही होता है। इस हलचल में सभी प्राणियों के गमनागमन, जल एवं हवा आदि के प्रवाह से ग्रहादि लोकों पर धूल की उत्पत्ति होती है और यह धूल उत्पन्न होकर भूतल पर फैल जाती है। इसलिए इसे पांसु कहते हैं। इसको पांसु इस कारण भी कहते हैं, क्योंकि यह निरन्तर खण्डित होकर नष्ट होती रहती है अथवा सूक्ष्मतर रूपों में परिवर्तित होती रहती है।

यद्यपि धूल में पैरों के चिह्न बनते हैं, परन्तु वे स्पष्ट नहीं होते हैं और कुछ हलचल से ही नष्ट भी हो जाते हैं, वैसे ही अन्तरिक्ष में सूर्य की किरणों का स्वरूप उसी समय अस्तित्व में आता है, जब कोई प्रकाशाणु उस स्थान पर विद्यमान होता है। उस प्रकाशाणु के गमन करने के पश्चात् आकाश में विद्यमान वायुतत्त्व, जो प्रकाशाणु के कारण विशेष हलचल युक्त होता है, उसके गुजरने के पश्चात् शान्त हो जाता है। इसी कारण यहाँ सूर्य के पादों की तुलना धूल में बने किसी प्राणी के पैरों से की गई है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (इदम्) प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं जगत् (विष्णुः) व्यापकेश्वरः (वि) विविधार्थे (चक्रमे) यथायोग्यं प्रकृतिपरमाण्वादिपादानंशान् विक्षिप्य सावयवं कृतवान् (त्रेधा) त्रिःप्रकारकम् (नि) नितराम् (दधे) धृतवान् (पदम्) यत्पद्यते प्राप्यते तत् (समूढ़म्) यत्सम्यक् तर्क्यते तर्केण यद्विज्ञायते तत् (अस्य) जगतः (पांसुरे) प्रशस्ताः पांसवो रेणवो विद्यन्ते यस्मिन्नन्तरिक्षे तस्मिन्। नगपांसुपाण्डुभ्यश्चेति वक्तव्यम्। अष्टा.५.२.१०७ अनेन प्रशंसार्थे रः प्रत्ययः।

यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे — विष्णुर्विशतेर्व्यश्नोतेर्वा यदिदं किं च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति पांसवः पादैः सूयन्त इति वा पन्नाः शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा। निरु.१२.१९

गयशिरसीत्यत्र गय इत्यपत्यनामसु पठितम्। निघं.२.२। गय इति धननामसु च। निघं.२.१०। प्राणा वै गयाः। श.ब्रा.१४.८.१५.७ प्रजायाः शिर उत्तमभागो यत्कारणं तद्विष्णुपदं गयानां विद्यादिधनानां यच्छिरः फलमानन्दः सोऽपि विष्णुपदाख्यः। गयानां प्राणानां शिरः प्रीतिजनकं सुखं तदपि विष्णुपदमित्यौर्णवाभाचार्य्यस्य मतम्। पादैः सूयन्ते वाऽनेन कारणांशैः कार्य्यमुत्पद्यत इति बोध्यम्। पदं न दृश्यतेऽनेनातीन्द्रियाः परमाण्वादयो-ऽन्तरिक्षे विद्यमाना अपि चक्षुषा न दृश्यन्त इति वेदितव्यम्। इदं त्रेधाभावायेति। एकं प्रत्यक्षं प्रकाशरहितं पृथिवीमयं द्वितीयं कारणख्यामदृश्यं तृतीयं प्रकाशमयं सूर्य्यादिकं च जगदस्तीति बोध्यम्। विष्णुशब्देनात्र व्यापकेश्वरो ग्राह्य इति।

भावार्थः — परमेश्वरेणास्मिन् संसारे त्रिविधं जगद्रचितमेकं पृथिवीमयं द्वितीयमन्तरिक्षस्थं त्रसरेण्वादिमयं तृतीयं प्रकाशमयं च। एतेषां त्रयाणामेतानि त्रीण्येवाधारभूतानि यच्चान्तरिक्षस्थं तदेव पृथिव्याः सूर्य्यादेश्च वर्धकं नैवैतदीश्वरेण विना कश्चिज्जीवो विधातुं शक्नोति सामर्थ्या-भावात्।

पदार्थ— मनुष्य लोग जो (विष्णुः) व्यापक ईश्वर (त्रेधा) तीन प्रकार का (इदम्) यह प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष (पदम्) प्राप्त होने वाला जगत् है, उसको (विचक्रमे) यथायोग्य प्रकृति और परमाणु आदि के पद वा अंशों को ग्रहण कर सावयव अर्थात् शरीर वाला

करता और जिसने (अस्य) इस तीन प्रकार के जगत् का (समूढ़म्) अच्छी प्रकार तर्क से जानने योग्य और आकाश के बीच में रहने वाला परमाणुमय जगत् है उसको (पांसुरे) जिसमें उत्तम उत्तम मिट्टी आदि पदार्थों के अति सूक्ष्म कण रहते हैं, उनको आकाश में (विदधे) धारण किया है।

जो प्रजा का शिर अर्थात् उत्तम भाग कारण रूप और जो विद्या आदि धनों का शिर अर्थात् उत्तम फल आनन्दरूप तथा जो प्राणों का शिर अर्थात् प्रीति उत्पादन करने वाला सुख है, ये सब 'विष्णुपद' कहाते हैं, यह और्णवाभ आचार्य्य का मत है। 'पादैः सूयन्त इति वा' इसके कहने से कारणों से कार्य्य की उत्पत्ति की है, ऐसा जानना चाहिये। 'पदं न दृश्यते' जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होते, वे परमाणु आदि पदार्थ अन्तरिक्ष में रहते भी हैं, परन्तु आँखों से नहीं दीखते। 'इदं त्रेधाभावाय' इस तीन प्रकार के जगत् को जानना चाहिये अर्थात् एक प्रकाशरहित पृथिवीरूप, दूसरा कारणरूप जो कि देखने में नहीं आता और तीसरा प्रकाशमय सूर्य आदि लोक है। इस मन्त्र में विष्णु शब्द से व्यापक ईश्वर का ग्रहण है।

भावार्थ— परमेश्वर ने इस संसार में तीन प्रकार का जगत् रचा है अर्थात् एक पृथिवीरूप, दूसरा अन्तरिक्ष आकाश में रहने वाला प्रकृति परमाणुरूप और तीसरा प्रकाशमय सूर्य आदि लोक तीन आधाररूप हैं, इनमें से आकाश में वायु के आधार से रहने वाला जो कारणरूप है, वही पृथिवी और सूर्य आदि लोकों का बढ़ाने वाला है और इस जगत् को ईश्वर के विना कोई बनाने को समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि किसी का ऐसा सामर्थ्य ही नहीं।''

* * * * *

विंशः खण्डः

विश्वानरो व्याख्यातः। तस्यैष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि॥ २०॥

'विष्णुः' पद के पश्चात् 'विश्वानरः' पद के निर्वचन के विषय में खण्ड ७.२१ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकविंशः खण्डः =

विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः।
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम्॥ [ऋ.८.६८.४]
विश्वानरस्यादित्यस्य। अनानतस्य। शवसो महतो बलस्य।
एवैश्च कामैरयनैरवनैर्वा। चर्षणीनां मनुष्याणाम्। ऊत्या च पथा रथानाम्।
इन्द्रमस्मिन्यज्ञे ह्वयामि। वरुणो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ २१॥

इस मन्त्र का ऋषि प्रियमेध है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों के एक विशेष रूप से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द विराट् अनुष्टुप् है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अनेक रंगों से युक्त होता हुआ अपने कार्य को अनुकूलतापूर्वक सम्पन्न करने में विशेष सक्षम होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(विश्वानरस्य, वः, पतिम्, अनानतस्य, शवसः) 'विश्वानरस्यादित्यस्य अनानतस्य शवसो महतो बलस्य' यहाँ 'वः' पद का प्रयोग इस ऋचा के देवता इन्द्र के लिए किया गया है। यहाँ आदित्य लोक को विश्वानर कहा गया है, क्योंकि आदित्य लोक सभी पदार्थों में अपनी किरणों के द्वारा पहुँचा हुआ अर्थात् व्याप्त होता है। यह किसी अन्य लोक की ज्योति के प्रति झुकाव नहीं रखता है अर्थात् किसी अन्य लोक की ज्योति से प्रकाशित नहीं होता है। इसके साथ ही यह ग्रहादि लोकों के प्रति झुका हुआ नहीं होता है, बल्कि उन्हें ही अपनी ओर झुकाए रखता है। उसका बल बहुत महान् और व्यापक होता है।

(एवैः, च, चर्षणीनाम्, ऊती, हुवे, रथानाम्) 'एवैश्च कामैरयनैरवनैर्वा चर्षणीनां मनुष्याणाम् ऊत्या च पथा रथानाम् इन्द्रमस्मिन्यज्ञे ह्वयामि' उस बल के रक्षक व पालक इन्द्रतत्त्व को इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियाँ अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। तदुपरान्त वह इन्द्रतत्त्व विश्वानर संज्ञक सूर्यलोक के अन्दर होने वाली विभिन्न यजन क्रियाओं और सूर्य

रश्मियों के द्वारा अन्यत्र होने वाली यजन क्रियाओं में पृथक्-२ यथायोग्य भूमिका निभाता है। यहाँ इन्द्रतत्त्व के मार्ग के विषय में कहा गया है कि सूर्यलोक के अन्दर अपेक्षाकृत अधिक प्रकाशित चर्षणि संज्ञक मनुष्य कणों को आकर्षण बल, गति एवं रक्षण आदि प्रदान करने के साथ-साथ जिस मार्ग से सूर्य के विकिरण गमन करते हैं, उसी मार्ग से इन्द्र का भी गमन होता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य के अन्दर विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों में सूर्य की किरणों के मार्ग और व्यवहार परिवर्तित होते रहते हैं। इसके साथ ही प्रकाशाणु सूक्ष्म विद्युत् प्रभावों से युक्त अवश्य होता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो किसी भी प्रकाशाणु का सोम्य कण (इलेक्ट्रॉन) के साथ संयोग नहीं होता। इस इन्द्रतत्त्व के कारण सूर्यलोक में विभिन्न मनुष्य नामक कणों के मार्ग और व्यवहार भी परिवर्तित होते रहते हैं।

भावार्थ— सूर्यलोक अपनी किरणों के द्वारा सभी लोकों में व्याप्त होता है। यह लोक किसी अन्य लोक की ज्योति से प्रकाशित नहीं होता है, बल्कि अपनी ही अवयवभूत रश्मियों के द्वारा ही प्रकाशित होता है। यह अपने महान् बल के द्वारा विभिन्न लोकों को अपनी ओर झुकाये रखता है। सूर्य के विभिन्न बलों का मूल विद्युत् ही है। सूर्य के अन्दर विद्यमान विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों से गुजरती हुई किरणों के मार्ग और व्यवहार परिवर्तित होते रहते हैं। सूर्य की किरणें सभी विद्युदावेशित कणों से अन्योन्य क्रियाएँ करती हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जो विद्युत् आवेशविहीन कण होते हैं, वे वस्तुतः आवेशविहीन नहीं, बल्कि विपरीत आवेशों का संघात होते हैं। इस कारण सूर्य की किरणें उनके प्रति भी आकर्षण का भाव रखती हैं।

'विश्वानरः' पद के पश्चात् 'वरुणः' पद के निर्वचन के लिए खण्ड १०.३ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= द्वाविंशः खण्डः =

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु।
त्वं वरुण पश्यसि॥ [ऋ.१.५०.६]

भुरण्युः इति क्षिप्रनाम। भुरण्युः शकुनिः। भुरिमध्वानं नयति। स्वर्गस्य लोकस्यापि वोढा। तत्सम्पाती भुरण्युः। अनेन पावक। ख्यानेन। भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि। तत्ते वयं स्तुम इति वाक्यशेषः। अपि वोत्तरस्याम्॥ २२॥

इस मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व है, जिसके विषय में पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता सूर्य है, परन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने वरुण के उदाहरण के रूप में इसे उद्धृत किया है। वस्तुतः वरुण भी सूर्य का ही नाम है। इसका छन्द निचृत् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्य तीक्ष्ण श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(येन, पावक, चक्षसा, भुरण्यन्तम्, जनान्, अनु, त्वम्, वरुण, पश्यसि) 'भुरण्युः इति क्षिप्रनाम भुरण्युः शकुनिः भुरिमध्वानं नयति स्वर्गस्य लोकस्यापि वोढा तत्सम्पाती भुरण्युः अनेन पावक ख्यानेन भुरण्यन्तं जनाँ अनु त्वं वरुण पश्यसि तत्ते वयं स्तुम इति वाक्यशेषः अपि वोत्तरस्याम्' यहाँ क्षिप्र को भुरण्यु कहा गया है और क्षिप्रगामी शकुनि को भी भुरण्यु कहा गया है। शकुनि इन्द्रतत्त्व के एक तीव्र रूप का ही नाम है। इस विषय में पूर्व खण्ड ९.३ पठनीय है। यह इन्द्रतत्त्व व्यापक मार्गों को प्राप्त कराता है अर्थात् यह व्यापक क्षेत्रों में गमन करने वाला होता है। यह सूर्यलोक के केन्द्रीय भाग रूप स्वर्गलोक का भी वाहक होता है अर्थात् यह उसके अन्दर भी व्याप्त रहता है। उसके घूर्णन में शकुनि रूपी इन्द्रतत्त्व की भूमिका होती है। इस इन्द्रतत्त्व के साथ गमन करने वाली आशुगामिनी रश्मियाँ भी भुरण्यु कहलाती हैं। वह वरुण रूपी सूर्य, जो अपने साथ सब लोकों को बाँधे रखता है तथा जो सब लोकों में श्रेष्ठ होता है, वह सभी पदार्थों को पवित्र करने वाला और सब लोकों को गति देने वाला होता है। ऐसा सूर्यलोक अपने इन सभी कर्मों को शकुनिरूपी इन्द्रतत्त्व के द्वारा ही सिद्ध करता है। उस इन्द्रतत्त्व के कारण ही वह वरुण रूप सूर्यलोक सबको दिखाई भी देता है। इस प्रकार विद्युत् के अभाव में सूर्य के न केवल उत्पादन की प्रक्रिया, अपितु उससे ऊर्जा उत्सर्जन और अवशोषण की प्रक्रिया भी सम्भव नहीं है।

यहाँ ग्रन्थकार ने इस मन्त्र में 'तत्ते वयं स्तुम' यह वाक्यशेष माना है। यह वाक्यशेष यह दर्शाता है कि इन्द्रतत्त्व के इन कर्मों को अधिक प्रकाशित करने के लिए इस छन्द रश्मि

की कारणरूप ऋषि रश्मियाँ भी अपनी भूमिका निभाती हैं अथवा इस वाक्य की संगति अगले मन्त्रों में लग सकती है, ऐसा ग्रन्थकार का मानना है।

* * * * *

= त्रयोविंशः खण्डः =

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु।
त्वं वरुण पश्यसि॥ [ऋ.१.५०.६]
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य॥ [ऋ.१.५०. ७]
व्येषि द्यां रजश्च पृथु। महान्तं लोकम्।
अहानि च मिमानोऽक्तुभी रात्रिभिः सह।
पश्यञ्जन्मानि जातानि सूर्य। अपि वा पूर्वस्याम्॥ २३॥

इनमें से प्रथम मन्त्र पूर्व खण्ड में व्याख्यात किया जा चुका है। द्वितीय मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्ववत् समझें। इसका (द्वितीय मन्त्र का) छन्द विराट् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक विविध प्रकार के श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वि, द्याम्, एषि, रजः, पृथु, अहा, मिमानः, अक्तुभिः) 'व्येषि द्यां रजश्च पृथु महान्तं लोकम् अहानि च मिमानोऽक्तुभी रात्रिभिः सह' [रजसः = अन्तरिक्षलोकस्य (निरु. १२.७)] वह वरुण संज्ञक सूर्यलोक द्युलोक, विस्तृत अन्तरिक्ष लोक और अन्य सभी लोकों की ओर विविध प्रकार से गमन करता है अथवा वह अपने प्रकाशादि के द्वारा इन सभी लोकों को व्याप्त करता है। इसके साथ ही वह इन सभी लोकों में रात्रि और दिन दोनों का निर्माण करता है।

(पश्यन्, जन्मानि, सूर्य) 'पश्यञ्जन्मानि जातानि सूर्य अपि वा पूर्वस्याम्' वह सूर्य सभी

उत्पन्न पदार्थों को देखते हुए ये सभी क्रियाएँ करता है अर्थात् उन सबको प्रकाशित करता है। इस ऋचा की पूर्व ऋचा के साथ संगति है। पूर्व ऋचा में भी सूर्य के द्वारा विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित करने की चर्चा की गई है, उसी चर्चा को यहाँ कुछ और विस्तार दिया गया है।

भावार्थ— सूर्यलोक की किरणें द्युलोक और अन्तरिक्ष को पार करती हुई पृथिव्यादि लोकों को व्याप्त करती हैं। इन लोकों के अपने अक्ष पर घूर्णन के पीछे सूर्य का भी प्रत्यक्ष वा परोक्ष योगदान होता है। इसलिए दिन और रात बनने के पीछे सूर्य भी एक कारण है।

* * * * *

चतुर्विंशः खण्डः

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥
प्रत्यङ्देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्।
प्रत्यङ्विश्वं स्वर्दृशे॥ [ऋ.१.५०.६, ५]
प्रत्यङ्ङिदं सर्वमुदेषि। प्रत्यङ्ङिदं सर्वमभिविपश्यसीति।
अपि वैतस्यामेव॥ २४॥

इनमें से प्रथम मन्त्र की व्याख्या तो हम कर ही चुके हैं। द्वितीय मन्त्र का ऋषि व देवता इसी के समान समझें। इस मन्त्र का छन्द यवमध्या विराड्गायत्री है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इस मन्त्र का आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्रत्यङ्, देवानाम्, विशः, प्रत्यङ्, उत्, एषि, मानुषान्, प्रत्यङ्, विश्वम्, स्वः, दृशे) 'प्रत्यङ्ङिदं सर्वमुदेषि प्रत्यङ्ङिदं सर्वमभिविपश्यसीति अपि वैतस्यामेव' सूर्य की किरणें देव अर्थात् विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियों से उत्पन्न देव कणों एवं मनुष्य नामक विभिन्न प्रकार के कणों को प्राप्त होती हैं अर्थात् उन्हें दर्शाती हैं। इसके लिए वे किरणें उन कणों का अनुवर्तन करके पुनः वापिस लौटती हैं। इस प्रक्रिया से ही हमें विभिन्न पदार्थ दिखाई देते हैं। इसके साथ ही कोई भी प्रकाशाणु जिस किसी भी कण से टकराता है, तब वे दोनों

विपरीत ध्रुवों की ओर से ही एक-दूसरे से संयोग करते हैं। यह सूर्य सभी पदार्थों को दिखाने के लिए इसी प्रकार की क्रिया को करता है अर्थात् उसकी किरणें उसी क्रिया को अपनाती हैं।

इस ऋचा की संगति उपर्युक्त ऋचा के साथ सिद्ध होती है अथवा इस ऋचा में वर्णित प्रक्रियाओं की स्वयं में ही परस्पर संगति है। इसी प्रकार के उदाहरण के रूप में उपर्युक्त ऋचा, जिसकी व्याख्या खण्ड १२.२२ में कर चुके हैं, को पुनः अगले खण्ड में प्रस्तुत करते हैं।

* * * * *

= पञ्चविंशः खण्डः =

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु।
त्वं वरुण पश्यसि॥ [ऋ.१.५०.६]
तेन नो जनानभिविपश्यसि। केशी। केशा रश्मयः। तैस्तद्वान् भवति।
काशनाद्वा। प्रकाशनाद्वा। तस्यैषा भवति॥ २५॥

इस मन्त्र की व्याख्या हम पूर्व खण्ड १२.२२ में कर चुके हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने प्रसंगानुसार पुनः इसे उद्धृत किया है, जिसके लिए ग्रन्थकार ने यहाँ इतना ही लिखा है— 'तेन नो जनानभिविपश्यसि' अर्थात् उसी पूर्व प्रक्रिया के अनुसार इन ऋषि रश्मियों से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के पदार्थों को सूर्य की किरणें इसी प्रकार दर्शाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि देखने की प्रक्रिया सर्वत्र समान ही होती है। केवल यही दर्शाने के लिए इस मन्त्र को पुनः प्रस्तुत किया गया है।

'वरुणः' पद के निर्वचन के पश्चात् 'केशी' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'केशी केशा रश्मयः तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा' अर्थात् सूर्य की किरणों को केश कहते हैं और उन किरणों के कारण उनसे युक्त होने से सूर्य को केशी कहते हैं। विशेष रूप से दीप्तिमान् होने के कारण तथा सभी पदार्थों को प्रकाशित करने वाला होने से

भी सूर्य को केशी कहा जाता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षड्विंशः खण्डः =

केश्य१ग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ [ऋ.१०.१३६.१]
केश्यग्निं च विषं च। विषम् इत्युदकनाम। विष्णातेः।
विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्यर्थस्य। विपूर्वस्य वा सचतेः।
द्यावापृथिव्यौ च धारयति।
केशीदं सर्वमिदमभिविपश्यति। केशीदं ज्योतिरुच्यत इत्यादित्यमाह।
अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते। धूमेनाग्नी रजसा च मध्यमः।
तयोरेषा साधारणा भवति॥ २६॥

इसका ऋषि जूति है [जूतिः = जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा (निरु.१०.२८)] अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति किसी अत्यन्त वेगवती एवं आकर्षण गुण सम्पन्न प्राण रश्मि से होती है। यह रश्मि धनञ्जय मिश्रित प्राण एवं व्यान रश्मियों का रूप हो सकती है। इसका देवता केशी और छन्द विराडनुष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक के अन्दर विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ अनुकूलतापूर्वक सम्पन्न होते हुए विविध रंगों की उत्पत्ति होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(केशी, अग्निम्, केशी, विषम्, केशी, बिभर्ति, रोदसी) 'केश्यग्निं च विषं च विषम् इत्युदकनाम विष्णातेः विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्यर्थस्य विपूर्वस्य वा सचतेः द्यावापृथिव्यौ च धारयति' विभिन्न रश्मियों को धारण करने वाला केशी संज्ञक सूर्य अग्नि को धारण करता है और यह अग्नि को निरन्तर पोषण भी प्रदान करता है। सूर्य में अग्नि निरन्तर व्याप्त रहता है और इसके केन्द्रीय भाग में निरन्तर अग्नि उत्पन्न होने के कारण इसे अग्नि का पोषण करने वाला भी माना गया है। वह सूर्य विष नामक पदार्थ को भी निरन्तर धारण

करता है। विष के विषय में एक तत्त्ववेत्ता का कथन है— 'रुद्र ओषधीर्विषेणालिम्पत्ताः पशवो नालिशन्त' (काठ.सं. ६.५)। उधर अन्य ऋषि का कथन है— 'ओषधयः पशवः' (मै.सं.२.५.१)। इसका आशय यह है कि सूर्यलोक उन पदार्थों को धारण करता है, जो उष्णता से युक्त कणों को आच्छादित करते हैं। इन विष नामक पदार्थों के द्वारा रुद्र अर्थात् तीक्ष्ण इन्द्र रश्मियाँ उन ऊर्जायुक्त कणों को आच्छादित करती हैं। इस कारण वे पशुसंज्ञक संयोज्य कण एवं वज्र आदि रश्मियाँ संलयन आदि क्रियाओं से दूर नहीं जाती हैं अर्थात् बाधक रश्मियाँ एवं अनावश्यक कण पृथक् होकर संलयनीय पदार्थ शुद्ध रूप को प्राप्त करके संलयित होने लगता है।

यहाँ ग्रन्थकार ने 'विषम्' पद को 'सच समवाये' धातु से भी निष्पन्न माना है। इसका अर्थ यह है कि विष नामक पदार्थ सभी संलयनीय कणों के साथ संयुक्त होकर उनका ही एक भाग बन जाता है। इसी बात को वहाँ आच्छादित करने वाला कहा है। यदि यहाँ 'सच सेचने सेवने च' धातु से भी 'विषम्' पद को निष्पन्न मानें, तब यह स्पष्ट होता है कि यह विष नामक पदार्थ संलयनीय कणों पर निरन्तर सिंचित होता हुआ उन्हें संपृक्त करता रहता है। विषम् पद का यही अर्थ उदक पद से भी सिद्ध होता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ऐसा विष नामक पदार्थ क्या है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि सूक्ष्म स्तर पर प्राण एवं अपान रश्मियों का युग्म तथा उससे स्थूल स्तर पर त्रिष्टुबादि वज्र रश्मियाँ विष कहलाती हैं। इस प्रकार सूर्यलोक इन सभी रश्मियों को निरन्तर धारण करता है और ये रश्मियाँ सूर्यलोक में निरन्तर उत्पन्न भी होती रहती हैं। तदनन्तर कहते हैं कि यह सूर्यलोक अथवा कोई भी तारा द्युलोक और पृथ्वीलोक दोनों को धारण करता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक अपने निकटस्थ आकाशतत्त्व एवं द्यु नामक क्षेत्र तथा पृथ्वी आदि लोकों को धारण करता है। इसके साथ ही वह इन सभी को अपनी ऊर्जा से निरन्तर अनुप्राणित भी करता रहता है।

(केशी, विश्वम्, स्वः, दृशे, केशी, इदम्, ज्योतिः, उच्यते) 'केशीदं सर्वमिदमभिविपश्यति केशीदं ज्योतिरुच्यत इत्यादित्यमाह' यह केशी संज्ञक सूर्यलोक प्रकाशस्वरूप होता है। इसके साथ ही इसमें 'स्वः' व्याहृति रश्मियों की प्रधानता होती है। ऐसा यह सूर्यलोक सभी लोक-लोकान्तरों को विविध प्रकार से देखता है और दिखाता है। इसके साथ ही हम 'दृश्' धातु से इच्छा अथवा आकर्षण अर्थ ग्रहण करें, तब इस पाद से यह अर्थ निकलता

है कि यह सूर्यलोक सभी लोकों को अपनी ओर निरन्तर आकृष्ट किए रहता है। महर्षि जैमिनी ने 'विश्वम्' पद के विषय में लिखा है— तदन्नं वै विश्वम्प्राणो मित्रम् (जै.उ.३.३.६) अर्थात् सभी संयोज्य पदार्थ विश्वरूप हैं। इसका अर्थ यह है कि 'स्व:' रूप केशी अर्थात् सूर्य का केन्द्रीय भाग इन संलयनीय कणों को अपनी ओर निरन्तर आकर्षित करता रहता है। इसके साथ ही इन अन्नरूप संयोज्य कणों में विभिन्न प्राण रश्मियाँ प्रविष्ट होती रहती हैं। यह केशी ज्योतिरूप कहलाता है। ज्योति अर्थात् प्रकाश एवं विद्युत् रूप कहलाता है।

ज्योति के विषय में ऋषियों का कथन है— अयमग्निर्ज्योति: (श.ब्रा.९.४.२.२२), अयं वै (भू) लोको ज्योति: (काठ.सं.३३.३, ऐ.ब्रा.४.१५), ज्योतिर्वै यज्ञ: (काठ.सं.३१.११), प्राणो वै ज्योति: (श.ब्रा.८.३.२.१४), इदमेवान्तरिक्षं ज्योति: (जै.ब्रा.२.१६६)। इसका अर्थ यह है कि ज्योतिर्मय केशी आदित्यलोक को कहते हैं। इन उपर्युक्त वचनों से उस आदित्यलोक के स्वरूप का कुछ संकेत मिलता है, वह यह है कि उस आदित्य लोक में अग्नि, वायु, आकाश एवं पार्थिव तीनों ही प्रकार के पदार्थ विद्यमान होते हैं और ये सभी पदार्थ संयोज्य रूप में विद्यमान होते हैं। इसके साथ ही आदित्यलोक सबका प्राणरूप होकर जीवन देने वाला होता है।

भावार्थ— सूर्यलोक निरन्तर अग्नि से व्याप्त रहता है और अग्नि को उत्पन्न भी करता रहता है। इसके लिए यह लोक प्राण व अपान के युग्म तथा त्रिष्टुप् आदि तीक्ष्ण रश्मियों को भी धारण करता है, जो सूर्य के अन्दर होने वाली विभिन्न क्रियाओं को पार लगाती हैं। यह लोक विभिन्न रश्मियों के जाल द्वारा अपने परित: विद्यमान द्युलोक नामक क्षेत्र को अपने साथ बाँधे रखता है। वह द्युलोक नामक क्षेत्र पृथिवी आदि लोकों को अपने साथ बाँधे भी रखता है और उन्हें अनुप्राणित भी करता रहता है। सूर्यलोक का बाहरी तल अपने परित: विद्यमान अन्तरिक्ष से अनेक प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों को निरन्तर आकर्षित करता रहता है और सूर्य का केन्द्रीय भाग सम्पूर्ण सूर्यलोक से संलयनीय कणों को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। सूर्यलोक के अन्दर अग्नि, वायु, आकाश एवं आप: महाभूत के साथ-२ स्वल्प मात्रा में पार्थिव अणु भी एक जटिल मिश्रण के रूप में विद्यमान रहते हैं।

तदनन्तर ग्रन्थकार लिखते हैं— 'अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते धूमेनाग्नी रजसा च मध्यम:' अर्थात् सूर्यलोक के अतिरिक्त अन्य ज्योतिर्मय पदार्थ केशिनी कहलाते हैं। यहाँ इन पदार्थों का उदाहरण देते हुए कहा है कि धूम अग्नि के केशरूप होने से अग्नि

केशी कहलाता है और मध्यमस्थानी वायु का केश रजःरूप पदार्थ है। इसका अर्थ यह है कि जिस पदार्थ से किसी अन्य पदार्थ के अस्तित्व का बोध होता है एवं उसके अस्तित्व की अनिवार्यता सिद्ध होती है, वह पदार्थ उस अन्य पदार्थ का केश रूप होता है। इसका प्रथम उदाहरण यह बतलाया है कि धूम से अग्नि के अस्तित्व की अनिवार्यता सिद्ध होती है। जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि अवश्य है। इस कारण अग्नि केशी है और धूम उसका केश है। दूसरे उदाहरण में आकाशस्थ वायु को केशी और रज अर्थात् विभिन्न कणों को केश कहा है। इसका कारण यह है कि जहाँ कण आदि पदार्थ विद्यमान हैं, वहाँ वायु अवश्य है, क्योंकि वायु के बिना न तो कणों की उत्पत्ति सम्भव है और न उनमें गति का होना ही सम्भव है। इसलिए वायुतत्त्व भी केशी कहलाता है।

इन दोनों ही पदार्थों की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

सप्तविंशः खण्डः

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्। विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥ [ऋ.१.१६४.४४]

त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते कालेकालेऽभिविपश्यन्ति।
संवत्सरे वपत एक एषामित्यग्निः पृथिवीं दहति।
सर्वमेकोऽभिविपश्यति कर्मभिरादित्यः।
गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य॥
अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति। वृषाकम्पनः।
तस्यैषा भवति॥ २७॥

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है। इसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता 'त्रयः केशिनः' और छन्द भुरिग्त्रिष्टुप् होने से तीनों केशी संज्ञक पदार्थ तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होते हुए बाहुरूप बलों से भी सम्पन्न होने लगते हैं। इसका

आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(त्रयः, केशिनः, ऋतुथा, वि, चक्षते, संवत्सरे, वपते, एकः, एषाम्) 'त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते कालेकालेऽभिविपश्यन्ति संवत्सरे वपत एक एषामित्यग्निः पृथिवीं दहति' तीन प्रकार के केशी संज्ञक पदार्थ अर्थात् सूर्यलोक, अग्नि एवं वायुतत्त्व समय-२ पर सब ओर से विविध प्रकार से नाना पदार्थों को प्रकाशित करते और आकर्षित करते रहते हैं। यहाँ समय-२ पर क्रियाओं के होने का तात्पर्य यह है कि ये तीनों ही प्रकार के पदार्थ अपने-२ सम्बन्धित केश संज्ञक पदार्थ को उचित समय एवं परिस्थितियों में धारण एवं प्रकाशित करते हैं। इन सभी क्रियाओं का होना एक व्यवस्थित क्रम व नियम के अनुसार होता है, न कि यदृच्छया बिना किसी नियम के। यहाँ 'वि' उपसर्ग का प्रयोग यह भी बतलाता है कि केशी संज्ञक पदार्थ केश संज्ञक पदार्थों को विविध प्रकार से धारण करते हैं और एक ही केशी संज्ञक पदार्थ के अनेक केश संज्ञक पदार्थ हो सकते हैं, जिनका केशी संज्ञक पदार्थ से भिन्न-२ प्रकार से सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए वायुतत्त्व में विद्यमान कण अनेक प्रकार के होते हैं और उन सबकी वायु के साथ अन्योन्य क्रिया भिन्न-२ प्रकार से और भिन्न-२ रूप में होती है। इसलिए यहाँ 'ऋतुथा' पद का प्रयोग हुआ है।

संवत्सर रूपी सूर्यलोक के अन्दर ये तीनों प्रकार के केशी संज्ञक पदार्थ विद्यमान होते हैं। इनमें से एक केशी स्वयं सूर्यलोक है अथवा उसका केन्द्रीय भाग है, जिसे स्वर्गलोक भी कहा जाता है, दूसरे रूप में अग्नि, जो सम्पूर्ण सूर्यलोक में व्याप्त रहता है तथा तीसरे रूप में वायु भी सूर्यलोक में विद्यमान होता है। इन तीनों में से अग्नितत्त्व पृथ्वीतत्त्व को निरन्तर जलाता रहता है। सूर्यलोक में यदि कुछ पदार्थ पार्थिव अर्थात् अणु (मोलिक्यूल्स) के रूप में विद्यमान होता है, तो उसे सूर्य की ऊष्मा अथवा विद्युत् विखण्डित करके आयनों के रूप में परिवर्तित करती रहती है। इस क्रिया को यहाँ दहन करना बताया गया है। इसका दूसरा आशय यह भी है कि सौर अग्नि विभिन्न ग्रहादि लोकों को निरन्तर ऊष्मा प्रदान करती रहती है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'वप बीजसन्ताने छेदने च' धातु का अर्थ दहन करना लिखा है, जिसे ग्रहण करके ही हमने उपर्युक्त अर्थ किया है। वहाँ द्वितीय पाद का यह अर्थ भी सम्भव है कि इन तीनों केशी संज्ञक पदार्थों में से एक पदार्थ वायु अन्य दोनों ही पदार्थों सूर्य एवं अग्नितत्त्व में बीजवपन करता है।

(विश्वम्, एकः, अभि, चष्टे, शचीभिः, ध्राजिः, एकस्य, ददृशे, न, रूपम्) 'सर्वमेकोऽभि-

विपश्यति कर्मभिरादित्यः गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य' इस सम्पूर्ण जगत् को अकेला सूर्य अपने प्रकाशन कर्मों के द्वारा सब ओर से निरन्तर प्रकाशित करता रहता है। वह अपने आकर्षण रूपी कर्म के द्वारा सभी लोकों को सब ओर से थामे भी रखता है। [शची = शची वाङ्नाम (निघं.१.११), कर्मनाम (निघं.२.१), प्रज्ञानाम (निघं.३.९)] इन तीनों केशी संज्ञक पदार्थों में से वायुतत्त्व की गति का अनुभव तो होता है, परन्तु उसके रूप को नहीं देखा जा सकता। गति वायुतत्त्व का एक अनिवार्य गुण है, इस कारण वह सतत ही चलायमान रहता है, परन्तु रूप वायु का गुण नहीं है। इस कारण उसका रूप नहीं देखा जा सकता।

अब ग्रन्थकार लिखते हैं— 'अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति वृषाकम्पनः तस्यैषा भवति' यहाँ 'वृषाकपिः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि जो लोक विभिन्न प्रकार की रश्मियों के द्वारा सबको कँपाता हुआ गमन करता है अथवा जो विभिन्न रश्मियों के द्वारा कम्पन करता हुआ एवं अन्य पदार्थों को कँपाता हुआ उनमें व्याप्त होता है, उसे वृषाकपि कहते हैं। यह लोक निरन्तर विभिन्न प्रकार की किरणों की वृष्टि करता हुआ निरन्तर कम्पन करता रहता है। यह अनेक प्रकार के कणों और विकिरणों की वृष्टि करता हुआ विभिन्न लोकों को कँपाता और स्वयं कम्पन करते हुए अन्य लोकों को भी कँपाता रहता है, इस कारण भी उसे वृषाकपि कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= अष्टाविंशः खण्डः =

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै। य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ [ऋ.१०.८६.२१]

पुनरेहि वृषाकपे। सुप्रसूतानि वः कर्माणि कल्पयावहै। य एष स्वप्ननंशनः। स्वाप्नान्नाशयति। आदित्य उदयेन। सोऽस्तमेषि पथा पुनः।

सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्। यमो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ २८॥

इस मन्त्र का ऋषि वृषाकपि इन्द्र और इन्द्राणी है। इनके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता वरुण और छन्द निचृत् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वरुणरूपी सूर्यलोक में नीलवर्ण का तीक्ष्ण तेज व्याप्त होने लगता है। इसके साथ ही यजन क्रियाएँ व्यापक रूप से होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पुनः, आ, इहि, वृषाकपे, सुविता, कल्पयावहै) 'पुनरेहि वृषाकपे सुप्रसूतानि वः कर्माणि कल्पयावहै' कम्पन करते हुए गति करने वाला सूर्यलोक इस जगत् में नाना प्रकार के कणों और विकिरणों की वृष्टि करता है। इस कारण उसे वृषाकपि कहते हैं। ऐसा वृषाकपि संज्ञक सूर्य पुनः पुनः अपनी स्थितियों को प्राप्त करता रहता है। यहाँ 'सुविता' पद का अर्थ 'अच्छी प्रकार उत्पन्न दो प्रकार के कर्म' किया है। यहाँ क्रिया का भी द्विवचनान्त प्रयोग है। इससे संकेत मिलता है कि जिन स्थितियों के पुनः प्राप्त करने की चर्चा यहाँ की गई है, उन्हें सूर्यलोक के दोनों ध्रुव सतत बारी-बारी से प्राप्त करते रहते हैं अर्थात् ये दोनों ध्रुव परस्पर सतत निकट और दूर जाते रहते हैं।[१] इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक के दोनों ध्रुव एक-दूसरे की ओर सरल रेखा पर दोलन करते रहते हैं। ये दोलन कर्म इस छन्द रश्मि के प्रभाव से भी सामर्थ्य प्राप्त करते रहते हैं।

(यः, एषः, स्वप्ननंशनः, अस्तम्, एषि, पथा, पुनः) 'य एष स्वप्ननंशनः स्वप्नान्नाशयति आदित्य उदयेन सोऽस्तमेषि पथा पुनः' [स्वप्नः = मृत्युर्वै स्वप्नः ... तस्माद्यो म्रियते तमाहुर्दीर्घं स्वप्नमस्वाप्सीरिति (काठ.संक.५०.४-५), तमो वा अन्धं स्वप्नः (काठ.संक. ८.२)] यह आदित्य लोक, जिसे वृषाकपि कहा गया है, बार-२ क्रमानुसार उदय व अस्त होता रहता है। यहाँ उदय होने का अर्थ है कि यह लोक ध्रुवों की ओर से संकुचित होकर केन्द्रीय भाग की ओर (ऊर्ध्व दिशा में) गमन करता है तथा अस्त होने का अर्थ है— सूर्य के ध्रुवों का बाहर की ओर फेंका जाना अर्थात् ध्रुवों के मध्य दूरी का बढ़ना। सूर्य अपनी

---

[1] हर ग्यारह साल में सूर्य का चुम्बकीय क्षेत्र पूरी तरह से पलट जाता है। इसका अर्थ है कि सूर्य के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव अपना स्थान बदल लेते हैं, फिर सूर्य के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों को पुनः पलटने में लगभग ग्यारह साल और लग जाते हैं। द एस्ट्रोफिजिकल जर्नल में छपे एक पेपर के अनुसार प्रत्येक ग्यारह वर्ष में सूर्य १ से २ कि.मी. फैलता और सिकुड़ता है।

इस प्रक्रिया के द्वारा अन्धकार रूप मृत्यु संज्ञक बाधक पदार्थों को निरन्तर नष्ट करता रहता है। इसके कारण सूर्य के प्रकाशन की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। इससे हमें यह भी प्रतीत होता है कि सूर्य से अन्तरिक्ष में फैलने वाले विकिरण सदैव एकरस नहीं होते हैं, बल्कि उनमें निश्चित उतार-चढ़ाव भी होता रहता है।

(विश्वस्मात्, इन्द्रः, उत्तरः) 'सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्' इन सब प्रक्रियाओं में जो भी तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, उन सबमें इन्द्र की भूमिका सर्वश्रेष्ठ होती है। इस कारण आदित्यलोक को भी इन्द्र कहते हैं।

'वृषाकपिः' पद के पश्चात् 'यमः' पद की व्याख्या के लिए पूर्व खण्ड १०.१९ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

एकोनत्रिंशः खण्डः

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥ [ऋ.१०.१३५.१]
यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे स्थाने। वृतक्षये वा। अपि वोपमार्थे स्यात्।
वृक्ष इव सुपलाश इति। वृक्षो व्रश्चनात्। पलाशं पलाशनात्।
देवैः सङ्गच्छते यमो रश्मिभिरादित्यः।
तत्र नः सर्वस्य पाता वा पालयिता वा पुराणाननुकामयेत।
अज एकपात्। अजन एकः पादः। एकेन पादेन पातीति वा।
एकेन पादेन पिबतीति वा। एकोऽस्य पाद इति वा।
एकं पादं नोत्खिदति। [अथर्व.११.४.२१]
इत्यपि निगमो भवति। तस्यैष निपातो भवति वैश्वदेव्यामृचि॥ २९॥

इस मन्त्र का ऋषि यामायन कुमार है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की

उत्पत्ति सबको नियन्त्रित करने वाली सूत्रात्मा वायु रश्मियों से उत्पन्न अति वेगवती कुमार नामक विशेष प्रकार की रश्मियों से होती है। इसका देवता यम और छन्द अनुष्टुप् होने से विभिन्न लोकों के नियन्त्रक सूर्यलोक में विद्यमान नाना प्रकार की छन्द रश्मियों का कार्य अनुकूलतापूर्वक होते हुए विविध प्रकार के रंगों की उत्पत्ति होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यस्मिन्, वृक्षे, सुपलाशे, देवैः, सम्पिबते, यमः) 'यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे स्थाने वृतक्षये वा अपि वोपमार्थे स्यात् वृक्ष इव सुपलाश इति वृक्षो व्रश्चनात् पलाशं पलाशनात् देवैः सङ्गच्छते यमो रश्मिभिरादित्यः' पूर्वखण्ड २.६ के अनुसार सूर्यादि तेजस्वी लोकों को वृक्ष कहा गया है। जिस सूर्यादि लोक में [पलाशः = तेजो वै ब्रह्मवर्चसं वनस्पतीनां पलाशः (ऐ.ब्रा.२.१), ब्रह्म वै पलाशः (श.ब्रा.१.३.३.१९), सोमो वै पलाशः (कौ.ब्रा.२.२; श.ब्रा.६.६.३.७)] सुन्दर दीप्ति से युक्त सोम एवं प्राण रश्मियों में सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सभी देव कणों के साथ निरन्तर सम्यक् रूप से संयुक्त होने लगती हैं अर्थात् वे देव कण सूत्रात्मा वायु रश्मियों को सम्यक् रूप से अवशोषित करने लगते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब किसी सूर्यलोक में विभिन्न मरुद् एवं प्राण रश्मियाँ अच्छी प्रकार से प्रकाशित व सक्रिय होने लगती हैं, उस समय सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ एवं अन्य नियन्त्रक रश्मियाँ सभी देव कणों के साथ संयुक्त होने लगती हैं।

(अत्र, नः, विश्पतिः, पिता, पुराणान्, अनु, वेनति) 'तत्र नः सर्वस्य पाता वा पालयिता वा पुराणाननुकामयेत' उस समय उस सूर्यलोक में सभी पदार्थों का पालक और रक्षक एवं उत्पादक [विश्पतिः = सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा (निरु.४.२६)] प्राणतत्त्व अपने से पूर्व उत्पन्न विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित करने लगता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक में विद्यमान विभिन्न व्याहृति आदि सूक्ष्म रश्मियाँ अनुकूलतापूर्वक प्रकाशित व सक्रिय होने लगती हैं। इसके कारण नाना प्रकार के यजन कर्म समृद्ध होने लगते हैं। प्राण रश्मियाँ इन सभी पदार्थों और उनके द्वारा सूर्यादि लोकों में विद्यमान सभी पदार्थों को सभी कमनीय गुणों से युक्त करने लगती हैं।

भावार्थ— सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ प्राणापानादि रश्मियों के उत्पन्न होने से पूर्व उत्पन्न हो जाती हैं, परन्तु प्राणापानादि रश्मियों के उत्पन्न होने पर उनकी सक्रियता विशेष बढ़ जाती है। इसी प्रकार विभिन्न व्याहृति रश्मियाँ भी प्राणापानादि रश्मियों से पूर्व उत्पन्न हो चुकी

होती हैं, परन्तु उनकी सक्रियता भी प्राणापानादि के उत्पन्न होने के बाद बढ़ने लगती है।

'यमः' पद के अनन्तर 'अज एकपात्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अज एकपात् अजन एकः पादः एकेन पादेन पातीति वा एकेन पादेन पिबतीति वा एकोऽस्य पाद इति वा' अर्थात् एक पाद से गति करने वाला, एक पाद से रक्षा करने वाला अथवा एक पाद से नाना रसों को पीने वाला अथवा जिसका एक ही पाद होता है, उस पदार्थ को अज एकपात् कहते हैं। पाद के विषय में ऋषियों ने लिखा है— प्रतिष्ठा वै पादः (श.ब्रा.१३.८.३.८), पादः पद्यतेः (निरु.२.७), दिशः पादाः (तै.सं.७.५.२५.१)। यहाँ 'अज एकपात्' पद का चार प्रकार से निर्वचन किया है—

१. 'अजन एकः पादः' यहाँ 'पादः' पद का तात्पर्य मार्ग है अर्थात् जो पदार्थ एक ही मार्ग पर अथवा एक ही दिशा में सतत गमन करता रहता है, वह पदार्थ 'अज एकपात्' कहलाता है। इसके साथ ही जो पदार्थ सदैव एक ही गति से गमन करता है, वह भी 'अज एकपात्' कहलाता है। यह लक्षण सर्वप्रमुख लक्षण है। इस लक्षण के कारण ही इस पदार्थ के अन्य लक्षण भी सिद्ध होते हैं, अन्यथा नहीं।

२. 'एकेन पादेन पातीति वा' अर्थात् जो पदार्थ अपने उपर्युक्त लक्षणों वा गुणों के कारण अपने अधीनस्थ पदार्थों की रक्षा करने में समर्थ होता है। यहाँ 'अज एकपात्' पद का तात्पर्य सूर्यलोक ग्रहण कर सकते हैं। सूर्यलोक अथवा तारे सदैव एक ही दिशा में समान गति से एक ही कक्षा में अपनी-अपनी आकाशगंगाओं के केन्द्रों का परिक्रमण करते रहते हैं। इस ब्रह्माण्ड में अनेक तारे दक्षिणावर्त परिक्रमण करते हैं, तो अनेक तारे वामावर्त परिक्रमण करते हैं। कोई भी तारा अपनी दिशा को कभी परिवर्तित नहीं करता। इस अपरिवर्तनीय गति और कक्षा के कारण ही किसी भी तारे के ग्रहादि लोक सुरक्षित गति व मार्गों को प्राप्त कर पाते हैं। यदि ऐसा नहीं होवे, तो सभी ग्रह-उपग्रहादि परस्पर टकराकर बिखर जावें। इसी कारण किसी भी तारे को 'अज एकपात्' कहा गया है।

३. 'एकेन पादेन पिबतीति वा' यहाँ 'पादः' पद का तात्पर्य प्रतिष्ठा ग्रहण करना चाहिए। यहाँ 'प्रतिष्ठा' से भी दो अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं, जिसमें पहला अर्थ है— सूर्य का केन्द्रीय भाग। इसे सूर्य की प्रतिष्ठा इस कारण कह सकते हैं, क्योंकि इसी भाग के अत्यन्त प्रबल गुरुत्वाकर्षण बल के कारण ही सम्पूर्ण तारे का अस्तित्व वा आकार बना रहता है

और इसी भाग में ऊर्जा की उत्पत्ति होने के कारण सम्पूर्ण तारा प्रकाशित होता है। इस केन्द्रीय भाग के द्वारा ही कोई भी तारा संलयनीय कणों का निरन्तर पान अर्थात् अवशोषण करता रहता है। इसी कारण यहाँ कहा है— 'एकेन पादेन पिबतीति वा' अर्थात् तारा एक ही आधाररूप केन्द्रीय भाग के द्वारा पदार्थ का पान करता है। एक तारे में ऐसे केन्द्र एक से अधिक नहीं हो सकते।

यहाँ 'प्रतिष्ठा' से एक अन्य अर्थ भी ग्रहण होता है, वह है— द्युलोक। ग्रन्थकार ने आदित्य को द्युस्थानी कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि द्युलोक किसी भी आदित्य लोक को घेरकर बाँधने वाला अतीव शक्तिशाली क्षेत्र होता है, जिसकी चर्चा हम इस ग्रन्थ में पूर्व में अनेकत्र कर चुके हैं। यह द्युलोक नामक विशाल क्षेत्र बाहरी विशाल अन्तरिक्ष से आने वाली रश्मियों एवं कणों वा विकिरणों को निरन्तर अवशोषित करता रहता है, 'एकेन पादेन पिबतीति वा' का यह अर्थ भी प्रकाशित होता है। वर्तमान वैज्ञानिक इस विषय में क्या मानते हैं, यह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते, परन्तु हमारे मत में कोई भी तारा सुदूर अन्तरिक्ष से निरन्तर कुछ सूक्ष्म पदार्थों को अवशोषित करता रहता है और यह अवशोषण इसी द्युलोक के द्वारा होता है। हमारे मत में द्युलोक का यह विशाल क्षेत्र उन सूक्ष्म पदार्थों को न केवल सूर्य के तल तक पहुँचने का मार्ग प्रदान करता है, अपितु वह उन पदार्थों को ग्रहण करने में भी अपनी भूमिका निभाता है। इस कारण भी तारे को 'अज एकपात्' कहा गया है।

४. 'एकोऽस्य पाद इति वा' इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार किसी भी तारे के अन्दर आधाररूप दो केन्द्र नहीं हो सकते, उसी प्रकार तारे के बाहर उसे थामने वाले दो द्युलोक भी नहीं हो सकते। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि तारे का पाद अर्थात् उसका मार्ग अन्तरिक्ष में दूर-दूर तक गया हुआ होता है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी तारे का परिक्रमण पथ कई-कई प्रकाशवर्ष तक फैला हुआ होता है। उदाहरण के लिए हमारे सूर्य का परिक्रमण पथ १.६×१०^{१८} किमी. होता है।[2]

इस पद का निगम, जो एक अंशरूप में ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किया है, उसे हम

[2] गैलेक्सी के चारों ओर हमारे सूर्य की गति = ८,२८,००० किमी. प्रति घण्टा तथा एक परिक्रमा का समय = २३०×१०^{६} वर्ष

सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य
न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्यु ච्छेत् कदा चन॥ (अथर्व.११.४.२१)

इस मन्त्र का ऋषि भार्गव वैदर्भि है। [दर्भः = अपां वा एतत्तेजो वर्चः यद् दर्भाः (तै.ब्रा.२.७.९.५), आपो दर्भाः (श.ब्रा.२.२.३.११), मेध्या वै दर्भाः (श.ब्रा.३.१.३.१८)] इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विशेष प्रकार की ऋषि रश्मियों से होती है। वे विशेष प्रकार की ऋषि रश्मियाँ स्वयं अग्नि की ज्वालाओं में उत्पन्न रश्मियों, जिनका तेजस्वी और संगमनीय रूप क्षीण हो चुका होता है, से उत्पन्न होती हैं। इसका देवता सूर्य है और छन्द मध्यज्योतिर्जगती है। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्यलोक की ज्योतिर्मयी ज्वालाएँ दूर-२ तक फैलने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(हंसः, सलिलात्, उच्चरन्, एकम्, पादम्, न, उत्खिदति) [हंसः = हंसासः अश्वनाम (निघं.१.१४)। हंसाः = हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम् (निरु.४.१३), हंसाः सूर्यरश्मयः (निरु.१४.२९)] यह सूर्यलोक, जो अतितीव्र वेग से अन्तरिक्ष में गमन करता है, अपने एक पादरूप द्युलोक को अथवा अपने परिक्रमण पथ को तीव्रगामी होने पर भी कभी अपने निकटवर्ती आकाश से पृथक् नहीं करता। यहाँ आकाश को ही सलिल कहा गया है, क्योंकि सभी पदार्थ विनाश के समय अपने कारणभूत पदार्थ में परिवर्तित होकर इसी आकाशतत्त्व में विलीन हो जाते हैं। ऐसा आकाशतत्त्व सभी लोकों को चारों ओर से अपेक्षाकृत सघनता से आच्छादित किए रहता है। जब भी कोई लोक अन्तरिक्ष में परिक्रमण करता है अथवा अपने अक्ष पर घूर्णन करता है, उस समय उस आकाशतत्त्व के आवरण से द्युलोकरूपी क्षेत्र कभी पृथक् नहीं होता अर्थात् उस सूर्यलोक का एक पादरूप द्युलोक कभी आकाशतत्त्व से पृथक् नहीं होता। इसी कारण सूर्यलोक की परिक्रमा कर रहे ग्रहादि लोक भी उस सूर्यलोक के साथ-२ उसके मार्ग का अनुसरण करते रहते हैं।

(अङ्ग, यत्, सः, तम्, उत्खिदेत्) [अङ्गः = क्षिप्रनाम (निरु.५.१७)] जब प्रलयकाल प्रारम्भ होता है, तब वे आशुगामी सूर्य आदि तारे अपने आधाररूप द्युलोक को आकाशतत्त्व से उखाड़कर पृथक् कर देते हैं अर्थात् उन तारों का आच्छादक आकाशतत्त्व जब उन द्युलोकों से छिटककर पृथक् हो जाता है, इससे सम्पूर्ण द्युलोक और उनका मध्यस्थ तारा बिखरने लग जाता है।

(न, एव, अद्य, न, श्वः, स्यात्) [अद्य = अद्य वाव रथन्तरम् (तै.सं.३.१.७.२)। श्वः = श्वो बृहत् (तै.सं.३.१.७.२)] ऐसी स्थिति में सूर्यलोक में विद्यमान बृहत् एवं रथन्तर साम रश्मियाँ निष्क्रिय वा छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और सूर्यलोक का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इन साम रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है— उभे बृहद्रथन्तरे भवतस्तद्धि स्वाराज्यम् (तां.ब्रा.१९.१३.५), एतद् वै दैव्यं मिथुनं प्रजननं यदुभे बृहद्रथन्तरे (जै.ब्रा. २.८१), एते वै यज्ञस्य नावौ सम्पारिण्यौ यद् बृहद्रथन्तरे ताभ्यामेव तत्संवत्सरं तरन्ति (ऐ.ब्रा.४.१३)। इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि तारों के अन्दर नाभिकीय संलयन की क्रिया के द्वारा जो ऊर्जा की उत्पत्ति होती है, विभिन्न कणों का जो संलयन होता है और जो संलयनीय पदार्थ तारों के केन्द्रीय भाग की ओर अनेक बाधाओं को पार करता हुआ गमन करता है, उन सबमें बृहत् एवं रथन्तर नामक साम रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है। इन दोनों ही प्रकार की साम रश्मियों के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' का खण्ड ४.१३.१ पठनीय है। ऐसी स्थिति में पृथ्वी आदि लोकों पर आज एवं कल के होने जैसा व्यवहार भी असम्भव हो जाता है, जैसा कि आगे कहा है—

(न, रात्री, न, अहः) सूर्यादि लोकों के न रहने से रात्रि और दिन का व्यवहार भी समाप्त हो जाता है। इसका दूसरा आशय यह है कि सूर्यलोक का बाहरी विशाल भाग, जो केन्द्रीय भाग की अपेक्षा रात्रिरूप होता है और सूर्यलोक का केन्द्रीय भाग जो अहन् रूप होता है, दोनों ही अस्त-व्यस्त होकर अपने स्वरूप को खोकर मिश्रित रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस कारण रात्रि, दिन, आज एवं कल जैसा समय-विभाग भी नहीं रह पाता। (न, कदाचन, व्युच्छेत्) न उस समय उषाकाल जैसी अवस्था ही रहती है।

अब हम इसका आधिभौतिक भाष्य करते हैं—

(हंसः, सलिलात्, उच्चरन्, एकम्, पादम्, न, उत्खिदति) [सलिलम् = वेदिर्वै सलिलम् (श.ब्रा.३.६.२.५)] अपने और प्रजा के पापों का हनन करने वाला नीर-क्षीर विवेकी न्यायकारी राजा पवित्रता और शीतलता के प्रति जल जैसे शीतल स्वभाव एवं यज्ञवेदी अर्थात् राष्ट्र के संगठन और प्रजा के परोपकार के मार्ग से कभी अपना पग नहीं हटाता। इसका अर्थ यह है कि चाहे वह राजा युद्ध में हो अथवा राजदरबार में, रनिवास में हो वा प्रजाजनों के बीच में, क्रोध में हो अथवा शान्त वातावरण में, उसे सम्मान मिले वा अपमान, वह कभी भी न्याय और पवित्रता के साथ-२ स्थायी शान्ति के मार्ग से अपना पग

नहीं हटाता अर्थात् उसका ध्यान मूल रूप से राष्ट्र के स्थायी कल्याण व शान्ति में अवश्य रहता है। चाहे राजा के उत्कर्ष का काल हो अथवा अपकर्ष का, वह सदैव स्थितप्रज्ञ बना रहता है।

(अङ्ग, यत्, सः, तम्, उत्खिदेत्) प्रजा का अंगरूप वह प्रिय राजा यदि अपने इस मार्ग का परित्याग कर देता है, (न, एव, अद्य, न, श्वः, स्यात्) तब सम्पूर्ण राष्ट्र का वर्तमान और भविष्य नष्ट हो जाए अर्थात् वर्तमान और भविष्य दोनों ही अशान्ति और दुःखसागर में डूब जायें। (न, रात्री, न, अहः, न, कदाचन, व्युच्छेत्) सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए रात्री एवं दिन दोनों ही अराजकता से पूर्ण होकर दुःखदायी हो जाते हैं और ऐसे राजा के राज्य में कभी भी प्रजा के दुःखों की निवृत्ति नहीं हो सकती है। वस्तुतः ऐसा राजा, राजा कहलाने योग्य नहीं रह पाता है, क्योंकि राजा के विषय में महाभारतकार के शब्दों में पितामह भीष्म कहते हैं— 'राजा रंजनात्' अर्थात् राजा उसी को कहते हैं, जो प्रजा को सदैव आनन्दित रखता है।

अब इसका आध्यात्मिक भाष्य करते हैं—

(हंसः, सलिलात्, उच्चरन्, एकम्, पादम्, न, उत्खिदति) प्रकृति एवं पुरुष का विवेक प्राप्त करने वाला योगी अथवा परमानन्द के मार्ग का पथिक समाधिस्थ पुरुष सलिल अर्थात् प्रकृति से ऊपर उठता हुआ परमानन्द के एकमात्र मार्ग से कभी नहीं भटकता अर्थात् वह स्थिरबुद्धि होकर सदैव ब्रह्म में स्थित रहता है। (अङ्ग, यत्, सः, तम्, उत्खिदेत्) परमेश्वर का वह प्रिय साधक यदि उस योगमार्ग से भ्रष्ट हो जाए वा भटक जाए, (न, एव, अद्य, न, श्वः, स्यात्) तब उस व्यक्ति के लिए वर्तमान एवं भविष्य दोनों ही शाश्वत सुख से वंचित हो जायें।

(न, रात्री, न, अहः, न, कदाचन, व्युच्छेत्) ऐसा साधक रात्रि व दिन अथवा जाग्रत एवं स्वप्नावस्था दोनों में ही सांसारिक दुःखों से पूर्णतः मुक्त न हो सके, बल्कि ऐसा व्यक्ति किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर सदैव अनुचित मार्गों का आलम्बन करता रहे।

यह उपर्युक्त निगम 'अज एकपात्' पद का प्रस्तुत किया गया है। अब इसी पद का दूसरा निगम, जिसका देवता विश्वेदेवा है, अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= त्रिंशः खण्डः =

पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः।
विश्वे देवासः शृणवन्वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या॥
[ऋ.१०.६५.१३]

पविः शल्यो भवति। यद्विपुनाति कायम्। तद्वत्। पवीरमायुधम्।
तद्वानिन्द्रः पवीरवान्।
अतितस्थौ पवीरवान्॥ [ऋ.१०.६०.३]
इत्यपि निगमो भवति। तद्देवता वाक् पावीरवी। पावीरवी च दिव्या वाक्।
तन्यतुस्तनित्री वाचोऽन्यस्याः। अजश्चैकपात्। दिवो धारयिता। सिन्धुश्च।
आपश्च समुद्रियाश्च। सर्वे च देवाः। सरस्वती च सह पुरन्ध्या।
स्तुत्या प्रयुक्तानि। धीभिः कर्मभिर्युक्तानि। शृण्वन्तु वचनानीमानीति।
पृथिवी व्याख्याता। तस्या एष निपातो भवत्यैन्द्राग्न्यामृचि॥ ३०॥

इस मन्त्र का ऋषि वासुक्र वसुकर्ण है। [वसुक्रः = इन्द्र उ वै वसुक्रः (शां.आ. १.३)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति इन्द्रतत्त्व के अग्रभाग में अनेक प्रकार की क्रियाओं में अपनी भूमिका निभाने वाली कुछ प्राण रश्मियों के युग्म से होती है। इसका देवता विश्वेदेवा है, परन्तु हमारी दृष्टि में इसका प्रधान देवता इन्द्र ही है। इसका छन्द निचृत् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ, विशेषकर इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण गौरवर्ण से युक्त होने लगते हैं और यह प्रभाव दूर-दूर तक फैलने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पावीरवी, तन्यतुः, एकऽपात्, अजः, दिवः, धर्ता, सिन्धुः, आपः, समुद्रियः) 'पविः शल्यो भवति यद्विपुनाति कायम् तद्वत् पवीरमायुधम् तद्वानिन्द्रः पवीरवान् तद्देवता वाक् पावीरवी पावीरवी च दिव्या वाक् तन्यतुस्तनित्री वाचोऽन्यस्याः अजश्चैकपात् दिवो धारयिता सिन्धुश्च आपश्च समुद्रियाश्च' पूर्वोक्त 'अज एकपात्' संज्ञक सूर्यलोक में विद्यमान विभिन्न दैवी वाक् रश्मियाँ, दूर-दूर तक फैली हुई अन्य वाक् रश्मियों और विद्युत् आदि पदार्थों सूर्यादि लोकों में अनेक प्रकार के देवकणादि पदार्थों को धारण करती हैं। वह सूर्यलोक अथवा कोई भी

तारा अपने परितः विद्यमान द्युलोक को धारण करता है। ध्यातव्य है कि तारे के अभाव में किसी भी द्युलोक की कल्पना नहीं की जा सकती। अन्तरिक्ष में ऐसे उस सूर्यलोक एवं समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में बहने वाली सूक्ष्म कणों वा रश्मियों की धाराएँ (विश्वे, देवासः, शृणवन्, वचांसि, मे, सरस्वती, सह, धीभिः, पुरम्ऽध्या) 'सर्वे च देवाः सरस्वती च सह पुरन्ध्या स्तुत्या प्रयुक्तानि धीभिः कर्मभिर्युक्तानि शृण्वन्तु वचनानीमानीति' [पुरन्धी = द्यावापृथिवीनाम (निघं.३.३०)] द्युलोक और पृथिवीलोक अर्थात् विभिन्न ग्रहादि लोकों और आकाशतत्त्व के साथ संयुक्त अथवा उनमें विद्यमान नाना प्रकार की वाक् रश्मियाँ प्रज्ञानपूर्वक नानाप्रकार की क्रियाओं के साथ इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों से उत्पन्न नाना प्रकार की छन्द रश्मियों से आकर्षित होकर सभी देवकणों की ओर गमन करती हैं। इससे सभी देवकण सक्रिय रहते हैं।

भावार्थ— यहाँ पवि शल्य अर्थात् शूल को कहा गया है। उस शूल से युक्त रश्मियाँ ही वज्र कहलाती हैं। इस ब्रह्माण्ड में वज्रधारी इन्द्रतत्त्व से निकलने वाली सूक्ष्म प्राण रश्मियाँ सृष्टि के सभी पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। विभिन्न दैवी छन्द रश्मियाँ, विद्युत्, सभी प्रकार के देवकण आदि पदार्थ, जो भी सूर्यादि लोकों में विद्यमान होते हैं, आकाश में प्रवाहित होती हुई सूक्ष्म कणों और विकिरणों की धाराएँ, सभी प्रकाशित वा अप्रकाशित लोकों, द्युलोकों एवं अन्तरिक्ष में विद्यमान वाक् रश्मियाँ इन्द्रतत्त्व से किसी न किसी रूप में आकर्षित होती रहती हैं। सभी तारे अपने चारों ओर विशाल शक्तिसम्पन्न द्युलोकों को धारण करने वाले होते हैं। इस सृष्टि में इन्द्र अर्थात् विद्युत् की महती भूमिका होती है।

यहाँ एक और निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अतितस्थौ पवीरवान्'। यहाँ 'अज एकपात्' का प्रकरण चल रहा है, लेकिन इस मन्त्र में अथवा इस सूक्त के किसी भी मन्त्र में 'अज एकपात्' पद विद्यमान नहीं है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि ग्रन्थकार ने इस मन्त्र को 'अज एकपात्' पद के उदाहरण के रूप में क्यों प्रस्तुत किया है? इससे हमें यह संकेत मिलता है कि यहाँ जो 'पवीरवान्' पद है, जो इन्द्र के लिए प्रयुक्त किया गया है, वह इन्द्र भी सूर्य का ही वाचक है। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण सूर्यलोक वज्र रश्मियों से ही भरा रहता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि इन्द्रतत्त्व स्वयं ही 'अज एकपात्' रूप वाला हो। निगम के इस अंश में इन्द्रतत्त्व को

पवीरवान् कहकर सर्वोपरि विराजमान बताया है अर्थात् यह सभी बलवान् पदार्थों का अतिक्रमण करके उन्हें पराभूत करने में समर्थ होता है। कोई भी सूर्यलोक उसके क्षेत्र में विद्यमान सभी ग्रह-उपग्रहादि लोकों को पराभूत करके उन सब पर शासन करता है। इस कारण इन पदों में पवीरवान् को सबके ऊपर स्थित होकर शासन करने वाला कहा गया है।

'अज एकपात्' पद के उपरान्त 'पृथिवी' पद की व्याख्या के लिए पूर्व खण्ड १.१३ और ११.३७ पठनीय है। इसका निगम अगले खण्ड में इन्द्राग्नी देवता वाली एक ऋचा के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

एकत्रिंशः खण्डः

यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः। अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ [ऋ.१.१०८.१०]
इति सा निगदव्याख्याता।
समुद्रो व्याख्यातः। तस्यैष निपातो भवति पावमान्यामृचि॥ ३१॥

इस मन्त्र का ऋषि आङ्गिरस कुत्स है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति कुछ विशेष वज्र रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्राग्नी और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र और अग्नितत्त्व दोनों ही तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यत्, इन्द्राग्नी इति, परमस्याम्, पृथिव्याम्, मध्यमस्याम्, अवमस्याम्, उत, स्थः) [पृथिवी = पृथिवी अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), पृथ्वी पृथिवीनाम (निघं.१.१), पृथ्वी द्यावापृथिवी-नाम (निघं.३.३०)] इन्द्र और अग्नितत्त्व तीन प्रकार की पृथिवियों में विद्यमान होते हैं। यहाँ पृथिवी लोक को तीन प्रकार का बताया गया है—

१. परम अर्थात् उच्च वा उत्कृष्ट स्थान में स्थित। पृथ्वी का यह रूप द्युलोक ही हो सकता है, क्योंकि यह लोक सभी ग्रहादि लोकों के ऊपर और उत्कृष्ट स्थान में विद्यमान होता है।

यह लोक न केवल ग्रहादि लोकों, अपितु तारे को भी अपने प्रबल आकर्षण बल के द्वारा बाँधे रखता है। यह क्षेत्र बहुत विस्तृत होने के कारण पृथ्वी कहलाता है। इसी को यहाँ पृथ्वी का परम रूप कहा गया है।

२. मध्यम अर्थात् अन्तरिक्ष लोक को भी पृथ्वी कहा गया है, क्योंकि अन्तरिक्ष बहुत दूर तक फैला हुआ होता है। अन्तरिक्ष के विषय में ग्रन्थकार ने पूर्व में कहा है— अन्तरिक्षं कस्मात् अन्तरा क्षान्तं भवति अन्तरेमे इति वा (निरु.२.१०) अर्थात् लोकों के मध्य में स्थित आकाश को अन्तरिक्ष कहा गया है। मध्य में स्थित होने से इसे मध्यम पृथ्वी कहा गया है।

३. अवम पृथ्वी अर्थात् जो इन दोनों से लघु वा निम्न होता है, उसे अवम पृथ्वीलोक कहते हैं। ग्रहादि लोकों का इसी में ग्रहण होता है।

इन तीनों ही लोकों में इन्द्र और अग्नि दोनों ही तत्त्व (अर्थात् विद्युत् और ऊष्मा-प्रकाश अथवा वायु एवं विद्युत्) विद्यमान होते हैं।

(अतः, परि, वृषणौ, आ, हि, यातम्, अथ, सोमस्य, पिबतम्, सुतस्य) ये इन्द्र और अग्नि तत्त्व अर्थात् विद्युत् एवं वायु तीनों लोकों में विद्यमान होने के कारण सब ओर अपने बल की वृष्टि करते हैं। इस सृष्टि में जो भी बल हम अनुभव करते हैं वा कर सकते हैं, वह विद्युत् और वायु का ही बल होता है। ये दोनों निश्चय ही 'आ-यातम्' सब ओर गमन करने वाले और विभिन्न कण आदि पदार्थों को वहन करने वाले होते हैं। इसके साथ-साथ ये दोनों ही सूक्ष्म सोम रश्मियों, जो विभिन्न पदार्थों से रिसती रहती हैं, को अवशोषित करते रहते हैं। ध्यातव्य है कि इन्द्रतत्त्व सोम रश्मियों के अवशोषण से प्रबलतर होने लगता है और सम्पीडित सोम रश्मियाँ अग्नितत्त्व को उत्पन्न करती हैं।

'पृथिवी' पद के पश्चात् 'समुद्रः' पद के निर्वचन के लिए पूर्व खण्ड २.१० पठनीय है। इसके निगम को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है, जिसका देवता पवमान है।

* * * * *

= द्वात्रिंशः खण्डः =

पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम्। महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्॥ [ऋ.९.७३.३]
पवित्रवन्तो रश्मिवन्तो माध्यमिका देवगणाः पर्यासते माध्यमिकां वाचम्।
मध्यमः पितैषां प्रत्नः पुराणोऽभिरक्षति व्रतं कर्म।
महः समुद्रं वरुणस्तिरोऽन्तर्दधाति।
अथ धीराः शक्नुवन्ति धरुणेषूदकेषु कर्मणो आरभमारब्धुम्।
अज एकपाद् व्याख्यातः। पृथिवी व्याख्याता। समुद्रः व्याख्यातः।
तेषामेष निपातो भवत्यपरस्यां बहुदेवतायामृचि॥ ३२॥

इस मन्त्र का ऋषि पवित्र है। [पवित्रम् = प्राणापानौ पवित्रे (तै.ब्रा.३.३.४.४), प्राणोदानौ पवित्रे (श.ब्रा.१.८.१.४४), अन्तरिक्षं वै पवित्रम् (काठ.सं.२६.१०)] इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति आकाशतत्त्व में विद्यमान प्राण, अपान एवं उदान रश्मियों के सम्मिश्रण से उस समय होती है, जब अग्नि एवं वायु आदि तत्त्वों का निर्माण हो रहा होता है। इसी कारण ग्रन्थकार ने लिखा है—

'रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते आपः पवित्रमुच्यन्ते अग्निः पवित्रमुच्यते वायुः पवित्रमुच्यते सोमः पवित्रमुच्यते सूर्यः पवित्रमुच्यते इन्द्रः पवित्रमुच्यते' (निरु.५.६)

इसका देवता पवमान सोम व छन्द निचृत् जगती होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सोम रश्मियाँ गौर वर्ण को उत्पन्न करती हुई दूर-दूर तक तेजी से फैलने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पवित्रवन्तः, परि, वाचम्, आसते, पिता, एषाम्, प्रत्नः, अभि, रक्षति, व्रतम्) 'पवित्रवन्तो रश्मिवन्तो माध्यमिका देवगणाः पर्यासते माध्यमिकां वाचम् मध्यमः पितैषां प्रत्नः पुराणोऽ-भिरक्षति व्रतं कर्म' इस छन्द रश्मि की कारणभूत प्राण, अपान एवं उदान रश्मियों से युक्त दिव्य वायु मध्यमस्थानी वायु आदि पदार्थों का आश्रय ग्रहण करती है अर्थात् आकाश तत्त्व की अंगभूत प्राणापान आदि रश्मियाँ वायुतत्त्व से मिलकर उसे सम्पीडित करके अग्नि एवं इन्द्रादि पदार्थों का निर्माण करती हैं। यहाँ 'परि' उपसर्ग यही संकेत करता है कि ये

प्राणादि रश्मियाँ आकाशतत्त्व के द्वारा वायु रश्मियों को आच्छादित करके सम्पीडित करती हैं। इन प्राणादि रश्मियों का पालक व रक्षक मनस्तत्त्व, जो इनकी अपेक्षा पुरातन होता है, इन रश्मियों के कर्मों की सब ओर से रक्षा करता है। मनस्तत्त्व एवं प्राण के पारस्परिक सम्बन्ध को दर्शाते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः (श.ब्रा.७.५.२.६), मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः (श.ब्रा. १४.३.२.३)। सभी प्राण रश्मियाँ मनस्तत्त्व में ही आश्रित होती हैं और इसी के द्वारा वे रक्षित और सक्रिय भी होती हैं।

(महः, समुद्रम्, वरुणः, तिरः, दधे, धीराः, इत्, शेकुः, धरुणेषु, आरभम्) 'महः समुद्रं वरुणस्तिरोऽन्तर्दधाति अथ धीराः शक्नुवन्ति धरुणेषूदकेषु कर्मणो आरभमारब्धुम्' [वरुणः = यः प्राणः स वरुणः (गो.उ.४.११), व्यानो वरुणः (श.ब्रा.१२.९.१.१६), अपानो वरुणः (श.ब्रा.८.४.२.६)] प्राण, अपान एवं व्यान रश्मियों का समूह विशाल समुद्र अर्थात् व्यापक आकाशतत्त्व को अन्तर्धान किए रहता है। इसका आशय यह है कि आकाशतत्त्व की इकाईयों का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है। यद्यपि प्राणापान एवं व्यानादि रश्मियों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता, पुनरपि यहाँ यह स्पष्ट अवश्य हो रहा है कि आकाशतत्त्व की इकाईयों को प्राण, अपान एवं व्यान रश्मियाँ आच्छादित किए रहती हैं। [धरुणम् = असावेवादित्यो धरुण एकविंशः (श.ब्रा.८.४.१.१२), प्रतिष्ठा वै धरुणम् (श.ब्रा.७.४.२.५)] विभिन्न पदार्थों एवं कर्मों के धारक आदित्यलोक में गुप्त रूप से विद्यमान अर्थात् प्राण, अपान एवं व्यान से आच्छादित आकाशतत्त्व में विभिन्न क्रियाओं को आरम्भ करने के लिए धीरः अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ ही समर्थ होती हैं। इसका अर्थ यह है कि आकाश तत्त्व के संकुचन व सम्पीडन आदि कर्मों में सूत्रात्मा वायु रश्मियों के अतिरिक्त अन्य रश्मियाँ समर्थ नहीं होतीं। जहाँ कहीं भी किन्हीं रश्मियों को ऐसा कर्म करने में समर्थ बताया है, वहाँ वे रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियों के सहयोग से ही ऐसा कर पाती हैं।

भावार्थ— प्राणापानादि से युक्त दिव्य वायु वायुतत्त्व को संघनित व सम्पीडित करके विभिन्न मूल कणों और फोटॉन्स को उत्पन्न करता है। इस सम्पीडन प्रक्रिया में आकाशतत्त्व वायुतत्त्व को आच्छादित कर लेता है। ये सभी प्राणादि रश्मियाँ मनस्तत्त्व में प्रतिष्ठित होती हैं। आकाशतत्त्व प्राणादि रश्मियों से आच्छादित होता है। सूत्रात्मा वायु रश्मियों के बिना आकाशतत्त्व में कोई भी संकुचन वा सम्पीडन की क्रिया नहीं हो सकती।

पूर्व में खण्ड १२.२९ में 'अज एकपात्' पद का निर्वचन किया गया। पूर्व में पृथिवी और समुद्र दो पदों की व्याख्या भी की गई। इन तीनों ही पदों के निपात रूप में बहुदेवता वाली एक ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= त्रयस्त्रिंशः खण्डः =

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः। विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु॥ [ऋ.६.५०.१४]
अपि च नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोतु। अजश्चैकपात्। पृथिवी च। समुद्रश्च।
सर्वे च देवाः। सत्यवृधो वा। यज्ञवृधो वा। हूयमाना मन्त्रैः।
स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु। मेधाविशस्ताः।
दध्यङ्। प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा। प्रत्यक्तमस्मिन्ध्यानमिति वा।
अथर्वा व्याख्यातः। मनुः मननात्। तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि॥ ३३॥

इस मन्त्र का ऋषि ऋजिष्वा है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति ऐसी विशेष प्रकार की ऋषि रश्मियों से होती है, जो सरल रेखा में गमन करती हुई फैलती जाती हैं। इसका देवता विश्वेदेवा तथा छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न देव पदार्थ विस्तृत क्षेत्र में फैलते हुए नीलवर्ण की उत्पत्ति करने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उत, नः, अहिः, बुध्न्यः, शृणोतु, अजः, एकऽपात्, पृथिवी, समुद्रः) 'अपि च नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोतु अजश्चैकपात् पृथिवी च समुद्रश्च' [अहिः = मेघनाम (निघं.१.१०), अही गोनाम (निघं.२.११), द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)। बुध्नम् = बुध्नमन्तरिक्षं बद्धा अस्मिन्धृता आप इति वा (निरु.१०.४४)] अन्तरिक्ष में गमन करने वाले विभिन्न कण और विकिरण एवं उनसे निर्मित मेघ इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों के प्रति आकर्षण का भाव रखते हैं। इसके कारण 'अज एकपात्' संज्ञक सूर्यलोक, विभिन्न ग्रहादि

लोक, अन्तरिक्ष, (विश्वे, देवाः, ऋतऽवृधः, हुवानाः, स्तुता, मन्त्राः, कविऽशस्ताः, अवन्तु) 'सर्वे च देवाः सत्यवृधो वा यज्ञवृधो वा हूयमाना मन्त्रैः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु मेधाविशस्ताः' [कविः = एते वै कवयो यदृषयः (श.ब्रा.१.४.२.८)] नाना प्रकार के देव पदार्थ अर्थात् कण वा विकिरण, जो विभिन्न प्राणादि रश्मियों की नानाविध यजन क्रियाओं के द्वारा समृद्ध होते हैं, वे देव पदार्थ, जो विभिन्न छन्द रश्मियों के द्वारा आकृष्ट किए जाते हैं, संदीप्त छन्द रश्मियाँ और सूत्रात्मा वायु रश्मियों से प्रेरित विभिन्न पदार्थ, ऋजिष्वा ऋषि रश्मियों के साथ गमन करते हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में ऋजिष्वा नाम की कुछ ऐसी ऋषि रश्मियाँ होती हैं, जो सरल रेखा में गमन करती हुई भी निरन्तर अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाती जाती हैं। अन्तरिक्ष में विद्यमान सभी प्रकार के कण-विकिरण और रश्मियाँ इन ऋषि रश्मियों के द्वारा प्रेरित वा आकृष्ट होकर दीर्घकालीन एवं वर्धमान क्रियाओं से समृद्ध होते रहते हैं। इस प्रकार की क्रियाएँ सूक्ष्म स्तर से लेकर व्यापक स्तर तक अपना प्रभाव दर्शाती हैं। विभिन्न तारों, ग्रहादि लोकों और अन्तरिक्ष में नाना प्रकार की क्रियाएँ सतत होती रहती हैं। ये क्रियाएँ सूक्ष्म रश्मियों के स्तर से लेकर स्थूल कणों तक निरन्तर चलती रहती हैं। सूक्ष्म रश्मियों की क्रियाएँ ऋजिष्वा ऋषि रश्मियों के प्रभाव को समृद्ध करती हैं और ये क्रियाएँ स्थूल कणों से लेकर सभी लोकों में होने वाली नाना प्रकार की क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार ये सभी क्रियाएँ शृंखलाबद्ध होकर निरन्तर चलती रहती हैं।

'दध्यङ्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा प्रत्यक्त-मस्मिन्ध्यानमिति वा' यहाँ 'ध्यानम्' पद 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता है। ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष ४.१५२ की व्याख्या में इसी धातु से व्युत्पन्न 'ध्यामा' पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है— 'ध्यायते स ध्यामा, परिमाणं तेजो वा'। इससे स्पष्ट है कि 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु का एक अर्थ 'प्रकाशित होना' भी है, तब 'ध्यानम्' पद का अर्थ 'तेज' भी सिद्ध होता है। इस कारण 'दध्यङ्' पद का अर्थ है— 'तेज को प्राप्त हुआ'। इस पर महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— 'वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः' (श.ब्रा.६.४.२.३) वाक् रश्मियाँ भी तेज को उत्पन्न करने वाली होती हैं।

'दध्यङ्' पद के पश्चात् 'अथर्वा' पद के निर्वचन के लिए पूर्व खण्ड ११.१८ पठनीय है। तदुपरान्त 'मनुः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'मनुः मननात्'। यह

पद 'मन ज्ञाने' अथवा 'मनु अवबोधने' धातुओं से व्युत्पन्न होता है। ये दोनों धातुएँ समानार्थक मानी गई हैं। 'मन' धातु के विषय में ग्रन्थकार का कथन है— मन्यते इति कान्तिकर्मा (निघं.२.६), मन्यते इति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः (निरु.१०.२९)। इन सभी का आशय यह है कि दीप्तियुक्त और आकर्षण आदि बलों से युक्त पदार्थ मनु कहलाता है। इन तीनों ही पदों का निपात एक ही ऋचा में, जो इन्द्र देवता वाली है, अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

चतुस्त्रिंशः खण्डः

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ्धियमत्नत। तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्नु स्वराज्यम्॥ [ऋ.१.८०.१६]

यामथर्वा च। मनुश्च पिता मानवानां दध्यङ् च। धियमतनिषत।
तस्मिन्ब्रह्माणि कर्माणि पूर्वेन्द्र उक्थानि च सङ्गच्छन्ताम्।
अर्चन्योऽनूपास्ते स्वराज्यम्॥ ३४॥

इस मन्त्र का ऋषि राहूगण गोतम है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति धनञ्जय प्राण से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द बृहती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व पदार्थ का संघनन करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(याम्, अथर्वा, मनुः, पिता, दध्यङ्, धियम्, अत्नत) 'यामथर्वा च मनुश्च पिता मानवानां दध्यङ् च धियमतनिषत' [भाष्य करने से पूर्व हम 'मनुः' पद पर विस्तार से विचार करते हैं। इसके विषय में ऋषियों के कथन हैं— मनोर्यज्ञऽइत्यु वाऽआहुः (श.ब्रा.१.५.१.७), मनुर्ह वाऽअग्रे यज्ञेनेजे तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते (श.ब्रा.१.५.१.७), मनुर्यज्ञनीः (तै.सं. ३.३.२.१)। इन प्रमाणों से 'मनुः' पद से ऐतिहासिक भगवान् मनु का नहीं, बल्कि एक पदार्थ का ग्रहण होता है, जो यजन प्रक्रिया का वाहक होता है एवं जहाँ से यजन प्रक्रिया

प्रारम्भ भी होती है। हमारी दृष्टि में मनस्तत्त्व को ही मनु कहा गया है।] सभी पदार्थों का उत्पादक, पालक एवं रक्षक मनस्तत्त्व, वाक् तत्त्व एवं अथर्वा अर्थात् प्राणतत्त्व ये तीनों ही पदार्थ जिन [धी: = कर्मनाम (निघं.२.१), प्रज्ञानाम (निघं.३.९)] क्रियाओं और दीप्तियों को विज्ञानपूर्वक सर्वत्र फैलाते हैं।

(तस्मिन्, ब्रह्माणि, पूर्वथा, इन्द्रे, उक्था, सम्, अग्मत, अर्चन्, अनु, स्वऽराज्यम्) 'तस्मिन्ब्रह्माणि कर्माणि पूर्वेन्द्र उक्थानि च सङ्गच्छन्ताम् अर्चन्योऽनूपास्ते स्वराज्यम्' [ब्रह्मा = बलं वै ब्रह्मा (तै.ब्रा.३.८.५.२), विद्युद् ह्येव ब्रह्म (श.ब्रा.१४.८.७.१), ब्रह्म ब्रह्माऽभवत् स्वयम् (तै.ब्रा.३.१२.९.३), ब्रह्म वै त्रिवृत् (तां.ब्रा.२.१६.४), तद् ब्रह्म तदिदमन्तरिक्षम् (जै.उ.२.९.६), अयमग्निर्ब्रह्म (श.ब्रा.९.२.१.१५)] मनस्तत्त्व, वाक् एवं प्राण रश्मियों की उन विविध क्रियाओं और दीप्तियों में ऊष्मा, विद्युत् एवं आकाशतत्त्व आदि पदार्थ नाना प्रकार के बलों को उत्पन्न करते हुए सम्यक् रूप से संगत होने लगते हैं। ये सभी पदार्थ वाक् एवं प्राण आदि जो पूर्वोत्पन्न पदार्थ हैं, उनकी भाँति इन्द्रतत्त्व को उत्पन्न व प्रकाशित करने लगते हैं। इसके लिए वे नाना प्रकार के उक्थ अर्थात् छन्द रश्मियों को उत्पन्न करते हैं। उनमें से त्रिवृत् अर्थात् तीन-२ गायत्री छन्द रश्मियों के त्रिक् प्रारम्भिक चरण में उत्पन्न होते हैं और ये सब त्रिक् परस्पर संगत होकर अनेक पदार्थों को उत्पन्न करने लगते हैं। इन सबके कारण इन्द्रतत्त्व सभी पदार्थों को प्रकाशित करने लगता है अर्थात् ब्रह्माण्ड में प्रकाश की मात्रा बढ़ने के साथ-२ पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया भी समृद्ध होने लगती है।

भावार्थ— प्रकृति नामक मूल पदार्थ से प्रथम उत्पाद मनस्तत्त्व उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् उसमें वाक् एवं प्राण रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। इनके अन्दर धीरे-२ क्रियाओं का विस्तार होने लगता है और इन पदार्थों में सूक्ष्म एवं अव्यक्त दीप्ति उत्पन्न होने लगती है। फिर इसके अन्दर धीरे-धीरे आकाशतत्त्व की उत्पत्ति होती है। छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने के क्रम में सबसे पहले गायत्री छन्द रश्मियों के एक विशेष समूह की उत्पत्ति होती है, जिसमें तीन गायत्री छन्द रश्मियाँ होती हैं। इस समय सम्पूर्ण पदार्थ में ऊष्मा एवं आकर्षण तथा प्रतिकर्षण एवं प्रकाश आदि गुणों की उत्पत्ति होने लगती है। धीरे-धीरे तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें और विभिन्न प्रकार के कणों की उत्पत्ति होकर पदार्थ का संघनन होने लगता है।

* * * * *

= पञ्चत्रिंशः खण्डः =

अथातो द्युस्थाना देवगणाः।
तेषामादित्याः प्रथमागामिनो भवन्ति। आदित्या व्याख्याताः।
तेषामेषा भवति॥ ३५॥

दैवत काण्ड में अब तक पृथिवीस्थानी एवं अन्तरिक्षस्थानी देवों की चर्चा की गई। अब द्युस्थानी देवों की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। इनमें आदित्यलोक की चर्चा सर्वप्रथम की जा रही है, क्योंकि द्युस्थानी देवों में आदित्यलोक ही सर्वोपरि अर्थात् प्रधान है। 'आदित्य' पद के निर्वचन के विषय में खण्ड २.१३ पठनीय है। इसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षट्त्रिंशः खण्डः =

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि। शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः॥ [ऋ.२.२७.१]
घृतस्नूर्घृतप्रस्नाविन्यः। घृतप्रस्राविण्यः। घृतसानिन्यः। घृतसारिण्यः इति वा। आहुतीरादित्येभ्यश्चिरं जुह्वा जुहोमि। चिरं जीवनाय। चिरं राजभ्य इति वा। शृणोतु न इमा गिरो मित्रश्चार्यमा च भगश्च बहुजातश्च धाता दक्षो वरुणोंऽशश्च। अंशोंऽशुना व्याख्यातः। सप्त ऋषयो व्याख्याताः।
तेषामेषा भवति॥ ३६॥

इस मन्त्र का ऋषि गार्त्समद कूर्म है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति कूर्म संज्ञक ऋषि रश्मियों से होती है। हम जानते हैं कि कूर्म संज्ञक रश्मियाँ अपान संज्ञक प्राण रश्मियों की उपप्राण होती हैं। यहाँ इन रश्मियों को गृत्समद रश्मियों से उत्पन्न माना है और हम जानते हैं कि प्राण एवं अपान रश्मियों के युग्म को ही गृत्समद कहते हैं।

ऐसा हम पूर्व में भी लिख चुके हैं। इससे यह रहस्य उद्घाटित होता है कि कूर्म संज्ञक प्राण भले ही अपान का उपप्राण हो, परन्तु इनकी उत्पत्ति प्राण एवं अपान के युग्म से होती है। इसका देवता आदित्य और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से आदित्य लोक में तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज की उत्पत्ति होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इमाः, गिरः, आदित्येभ्यः, घृतऽस्नूः, सनात्, राजऽभ्यः, जुह्वा, जुहोमि) 'घृतस्नूर्घृतप्रस्ना-विन्यः घृतप्रस्राविण्यः घृतसानिन्यः घृतसारिण्यः इति वा आहुतीरादित्येभ्यश्चिरं जुह्वा जुहोमि चिरं जीवनाय चिरं राजभ्य इति वा' [घृतम् = स घृङ्ङकरोत् तद् घृतस्य घृतत्वम् (काठ.सं.२४.७), वज्रो घृतम् (काठ.सं.२०.५), तेजो वै घृतम् (तै.सं.२.२.९.४, मै.सं. १.६.८, काठ.सं.१०.१)] कूर्म नामक प्राण रश्मियाँ आदित्य लोकों में सम्पादित होने वाली विभिन्न क्रियाओं में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन प्राण रश्मियों के विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' का छठा अध्याय पठनीय है, जहाँ इन रश्मियों को प्राण एवं अपान रश्मियों के मध्य संयोग के साथ-२ विभिन्न अन्य छन्दादि रश्मियों के संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली बताया गया है। आदित्य लोकों के अन्दर 'राजा' उस क्षेत्र को कहा गया है, जिसमें ऊर्जा की उत्पत्ति होती है और जो सम्पूर्ण लोक का नियन्त्रक और प्रकाशक होता है। ऐसी कूर्म रश्मियाँ आदित्य लोक के अन्दर अथवा उसके बाहरी भाग और द्युलोक में विद्यमान सभी छन्द रश्मियों को निरन्तर प्रेरित करती रहती हैं। वे छन्द रश्मियाँ आदित्य लोक के अन्दर नाना प्रकार की तेजःप्रदा 'घृम्' रश्मियों का स्रवण करती रहती हैं। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न छन्द रश्मियाँ कूर्म रश्मियों से प्रेरित होकर आदित्यलोक में विद्यमान विभिन्न पदार्थों पर 'घृम्' रश्मियों का सिंचन करती रहती हैं। इसके कारण आदित्यलोकस्थ पदार्थ तेजयुक्त होने लगते हैं।

ये छन्द रश्मियाँ न केवल 'घृम्' रश्मियों का सिंचन करती हैं, अपितु वे उन 'घृम्' रश्मियों का विभिन्न पदार्थों के ऊपर विभाजन भी करती हैं। इसका अर्थ यह है कि ये छन्द रश्मियाँ यह निर्धारण भी करती हैं कि किन-२ पदार्थों पर कितनी-कितनी मात्रा में 'घृम्' रश्मियों का सिंचन किया जाये। वे उन 'घृम्' रश्मियों को समुचित गति भी प्रदान करती हैं। [जुहूः = असौ (द्यौः) वै जुहूः (तै.ब्रा.३.३.१.१), तस्यासावेव द्यौर्जुहूः (श.ब्रा.१.३. २.४)] ये छन्द रश्मियाँ 'जुहू' नामक क्षेत्र से निरन्तर 'घृम्' रश्मियों को आदित्य लोक में

सिंचित या प्रवाहित करती रहती हैं, जिसके कारण आदित्य लोक को दीर्घकाल तक तेजस्वी बने रहने में सहयोग मिलता है और उस आदित्यलोक का केन्द्रीय भाग, जिसे यहाँ राजा कहा गया है, दीर्घकाल तक ऊर्जा को उत्पन्न करने में सक्षम बना होता है। ध्यातव्य है कि 'घृम्' संज्ञक सूक्ष्म रश्मियाँ वज्ररूप भी होती हैं, जो आदित्य लोक से बाधक असुरादि रश्मियों को नष्ट वा नियन्त्रित करने में लगी रहती हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मन्त्र में 'इमा गिरः' से कौनसी वाणियों का वर्णन किया गया है? इस विषय में हमारा विचार यह है कि यद्यपि 'गीः' पद सभी वेद ऋचाओं का वाचक है, परन्तु इस प्रकरण में 'इमाः' सर्वनाम इस सूक्त में वर्णित छन्द रश्मियों के लिए प्रयोग किया गया है, जिनमें त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त हम यह भी कहना चाहेंगे कि यहाँ जो 'घृतम्' पद का अर्थ 'घृम्' रश्मियाँ किया है, उसका आशय 'घृम्' रश्मियों को धारण करने वाली लघु छन्द रश्मियाँ ग्रहण करना चाहिए।

(शृणोतु, मित्रः, अर्य्यमा, भगः, नः, तुविऽजातः, वरुणः, दक्षः, अंशः) 'शृणोतु न इमा गिरो मित्रश्चार्यमा च भगश्च बहुजातश्च धाता दक्षो वरुणोंऽशश्च अंशोंऽशुना व्याख्यातः' वह आदित्य-लोक इन छन्द रश्मियों अर्थात् इस सूक्त में विद्यमान सभी ऋचाओं को ग्रहण करता है। ये सभी ऋचाएँ कूर्म संज्ञक प्राण से उत्पन्न होती हैं। यहाँ आदित्यलोक के सात नाम दिए गए हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं— मित्र, अर्यमा, भग, धाता, वरुण, दक्ष एवं अंश। यहाँ ग्रन्थकार ने 'अंशः' पद से 'अंशुः' पद का ग्रहण किया है, जिसका निर्वचन पूर्व खण्ड २.५ में किया गया है।

इन सभी छन्द रश्मियों से आदित्य लोक के मित्र, अर्यमा आदि सभी रूप प्रकाशित वा सक्रिय होने लगते हैं। इन सभी रूपों के विषय में इस ग्रन्थ में पूर्व में लिखा जा चुका है।

भावार्थ— कूर्म नामक प्राण रश्मियाँ विभिन्न प्राण एवं छन्द रश्मियों के संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये रश्मियाँ सूर्यलोक के अन्दर 'घृम्' रश्मियों का सिंचन करने के लिए विभिन्न छन्द रश्मियों को निरन्तर प्रेरित करती रहती हैं। ये रश्मियाँ 'घृम्' रश्मियों का विभिन्न कणों के ऊपर समुचित विभाजन भी करती हैं और 'घृम्' रश्मियों को समुचित गति भी प्रदान करती रहती हैं। इन 'घृम्' रश्मियों के कारण ही विभिन्न पदार्थ

तेजस्वी दिखाई देते हैं। ये 'घृम्' रश्मियाँ बाधक पदार्थों को नष्ट करने में भी सूक्ष्म स्तर पर सहायक होती हैं।

'आदित्याः' पद के पश्चात् 'सप्तऋषयः' पद के विषय में पूर्व में खण्ड ४.२६ एवं २.११ पठनीय हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

सप्तत्रिंशः खण्डः

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

[यजु.३४.५५]

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। रश्मय आदित्ये। सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। संवत्सरमप्रमाद्यन्तः। सप्तापनास्त एव स्वपतो लोकमस्तमितमादित्यं यन्ति। तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ। वाय्वादित्यौ। इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्। सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी। आत्मनि। सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। शरीरमप्रमाद्यन्ति। सप्तापनानीमान्येव स्वपतो लोकमस्तमितमात्मानं यन्ति। तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ। प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्च। इत्यात्मगतिमाचष्टे। तेषामेषाऽपरा भवति॥ ३७॥

इस मन्त्र का ऋषि काण्व है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता प्राण और छन्द भुरिक् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न प्राण रश्मियाँ दूर-२ तक फैलती हुई गौरवर्ण को उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सप्त, ऋषयः, प्रतिहिताः, शरीरे, सप्त, रक्षन्ति, सदम्, अप्रमादम्) 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः

शरीरे रश्मय आदित्ये सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् संवत्सरमप्रमाद्यन्तः' आदित्यलोक में सात ऋषि रश्मियाँ विद्यमान रहती हैं। यहाँ ऋषि रश्मियों का तात्पर्य कई प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है। सात प्रकार की गायत्री आदि प्रमुख छन्द रश्मियाँ; प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, धनञ्जय एवं वायु ये सात प्राण रश्मियाँ अथवा सात प्रकार की ऐसी ऋषि रश्मियाँ, जिनसे उत्पन्न विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियाँ तारे के अन्दर प्रमुखता से व्याप्त होती हैं। यहाँ शरीर का अर्थ आदित्य ग्रहण किया गया है और इसी के 'सदस्' कहा गया है। ये सभी सातों प्रकार की रश्मियाँ इस आदित्य लोक की निरन्तर रक्षा भी करती हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण आदित्य लोक इन रश्मियों से ही निर्मित है और इन्हीं के द्वारा संचालित भी है। यदि इन रश्मियों में कुछ भी व्यवधान आ जाए, तो सूर्यलोक के अस्तित्व को भी संकट हो सकता है। यहाँ सूर्यलोक को 'प्रमादरहित सदस्' कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक ही सभी ग्रहादि लोकों का धारक है तथा अनेक पदार्थों का आवास है, इसके कार्यों में कभी शिथिलता नहीं होती, बल्कि यह सतत अपने कर्मों को करता रहता है।

(सप्त, आपः, स्वपतः, लोकम्, ईयुः, तत्र, जागृतः, अस्वप्नजौ, सत्रसदौ, च, देवौ) 'सप्तापनास्त एव स्वपतो लोकमस्तमितमादित्यं यन्ति तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ वाय्वादित्यौ' [आपानः = व्याप्तिकर्म (निघं.२.१८)] वे व्यापनशील सात प्रकार की प्राणादि रश्मियाँ अस्त होते हुए अर्थात् मृत्यु को प्राप्त करते हुए सूर्यलोक में भी व्याप्त रहती हैं। इसका अर्थ यह है कि जब सूर्यलोक का अन्तिम समय आने वाला होता है, तब भी उस पदार्थ में ये रश्मियाँ भिन्न-२ रूपों में व्याप्त रहती हैं अर्थात् उनका नाश नहीं होता। अब प्रश्न यह है कि उस समय वे रश्मियाँ किस रूप में विद्यमान होती हैं?

इसके उत्तर में कहा गया है कि उस समय जब तारा अपने स्वरूप को खो देता है, तब भी दो देव पदार्थ जागते रहते हैं अर्थात् उनका अस्तित्व बना रहता है। वे दो देव पदार्थ हैं— वायु एवं आदित्य। इसका अर्थ यह है कि उस मृत तारे में भले ही नाभिकीय संलयन होना बन्द हो गया हो, परन्तु इन रश्मियों के वायव्य-रूप के साथ-साथ कुछ प्रकाश तरंगों का भी अस्तित्व बना रहता है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी मृत तारा अप्रकाशित पदार्थ (डार्क मैटर) में परिवर्तित नहीं होता। यहाँ हमें प्रतीत होता है कि आदित्य पद का अर्थ मास आदि रश्मियाँ भी ग्रहण करना उचित है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस मृत तारे में

भी संयोगादि प्रक्रियाएँ चलते रहकर अनेक पदार्थों का निर्माण होता रहता है। यह आधिदैविक व्याख्या है।

अब ग्रन्थकार इसकी आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए लिखते हैं— 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी आत्मनि सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् शरीरमप्रमा-द्यन्ति सप्तापनानीमान्येव स्वपतो लोकमस्तमितमात्मानं यन्ति तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्च इत्यात्मगतिमाचष्टे।'

यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ शरीर है। मनुष्य के शरीर में सात ऋषि सदैव विद्यमान रहते हैं। ये सात ऋषि हैं— छह इन्द्रियाँ और सातवीं बुद्धि। यहाँ छह इन्द्रियों का तात्पर्य स्पष्ट नहीं किया गया है। यदि यहाँ बुद्धि से मन का भी ग्रहण किया जाए, तब छह इन्द्रियों का तात्पर्य पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं एक वाक् इन्द्रिय हो सकता है। यदि यहाँ बुद्धि से मन का ग्रहण न करें, तो छठी इन्द्रिय का तात्पर्य मन होगा, परन्तु मन एवं बुद्धि दोनों की निकटता को दृष्टिगत रखकर प्रथम पक्ष ही अधिक उपयुक्त है। यहाँ भी 'आत्मा' पद से शरीर का ही ग्रहण करना चाहिए और यह शरीर ही इन्द्रियों का ऐसा आवास है, जो सतत इनके सम्पर्क में रहता हुआ नाना क्रियाओं को सम्पन्न करता है। सोते और जागते हुए भी इन्द्रियाँ और मन आदि निरन्तर सक्रिय रहते हैं। सुषुप्ति अवस्था अथवा समाधि अवस्था में भी ये शरीर के अन्दर ही रहते हैं। इन सातों ऋषियों के कारण ही शरीर की रक्षा और पोषण आदि कर्म होते हैं। इनके कारण ही शरीर सक्रिय होता है और इनके अभाव में शरीर का कोई महत्त्व नहीं होता। ये सातों ऋषि संज्ञक बुद्धि व इन्द्रिय आदि पदार्थ आत्मा के साथ निरन्तर विद्यमान रहते हैं। यहाँ विद्यमान रहने वाले पदार्थों में दो पदार्थों को विशेष रेखांकित किया गया है—

१. प्राज्ञ आत्मा — इसका अर्थ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने बुद्धि ग्रहण किया है, जबकि स्कन्दस्वामी एवं आचार्य भगीरथ शास्त्री ने आत्मा ग्रहण किया है। हमारी दृष्टि में यहाँ आत्मा का ग्रहण करना ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि आत्मा ही सबको जानने वाला होकर अपनी चेतना के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करता है। बुद्धि के जानने के गुण के पीछे भी इसी आत्मा की ही भूमिका होती है।

२. तैजस — इस पद का अर्थ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने जीवात्मा किया है, जबकि आचार्य भगीरथ शास्त्री ने इसका अर्थ प्राण किया है। हमारी दृष्टि में यहाँ इसका

अर्थ मन अथवा प्राण ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि आत्मा के गुणों को शरीर में इन्हीं के माध्यम से प्रकाशित किया जाता है।

ये दोनों ही पदार्थ अर्थात् आत्मा एवं प्राण जागृत एवं सुषुप्त दोनों ही अवस्थाओं में शरीर में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार यह आध्यात्मिक व्याख्या सम्पन्न हुई। इसी पद की एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= अष्टात्रिंशः खण्डः =

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥ [अथर्व.१०.८.९]
तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धनः। ऊर्ध्वबोधनो वा।
यस्मिन्यशो निहितं सर्वरूपम्।
अत्रासत ऋषयः सप्त सहादित्यरश्मयः। ये अस्य गोपा महतो बभूवुः।
इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्। तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धनः। ऊर्ध्वबोधनो वा।
यस्मिन्यशो निहितं सर्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि।
यान्यस्य गोप्तॄणि महतो बभूवुः। इत्यात्मगतिमाचष्टे।
देवाः व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥ ३८॥

इस मन्त्र का ऋषि कुत्स है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति वज्र रश्मियों से होती है। इसका देवता आत्मा है। आत्मा के विषय में ऋषियों का कथन है— आत्मा वै वृषाकपिः (ऐ.ब्रा.६.२९, गो.उ.६.८), आत्मा वै वेनः (कौ.ब्रा.८.५)। पूर्व में हम जान चुके हैं कि वृषाकपि और वेन दोनों ही आदित्य के नाम हैं। इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तिर्यग्बिलः, चमसः, ऊर्ध्वबुध्नः, यस्मिन्, यशः, निहितम्, विश्वरूपम्) 'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धनः ऊर्ध्वबोधनो वा यस्मिन्यशो निहितं सर्वरूपम्' [बिलम् = बिलं भरं भवति बिभर्तेः (निरु.२.१७)। चमसः = मेघनाम (निघं.१.१०)। बुध्नम् = बुध्नमन्तरिक्षं बद्धा अस्मिन् धृता आप इति वा (निरु.१०.४४)। यशः = आदित्यो यशः (श.ब्रा.१२.३.४.८), आदित्या एव यशः (गो.पू.५.१५), द्यौरेव यशः (गो.पू.५.१५)] जिस समय विशाल खगोलीय मेघ की उत्पत्ति होती है, उस समय वह मेघ तिरछा, टेढ़ा-मेढ़ा अर्थात् खण्ड-२ रूप बिखरा हुआ सा होता है। यहाँ 'बिलः' और 'चमसः' दोनों उस मेघ के ही नाम हैं। इस विशाल मेघ में ही सम्पूर्ण सौर मण्डल के निर्माण की सामग्री भरी रहती है। यहाँ 'बिलः' पद का तात्पर्य उस मेघ में विद्यमान बड़े-२ छिद्रों से भी है। इन छिद्रों से मेघस्थ पदार्थ ऊर्ध्व अर्थात् केन्द्रीय भाग की ओर बलपूर्वक प्रविष्ट होता है। यहाँ 'ऊर्ध्वबुध्नः' के ग्रन्थकार ने दो अर्थ किए हैं, जो इस प्रकार हैं—

उस विशाल मेघ का ऊर्ध्वबन्धन अर्थात् ऊर्ध्व दिशा से दृढ़ बन्धन और ऊर्ध्वबोधन अर्थात् उसी दिशा से उसका निरन्तर उत्कृष्ट प्रेरण। इसका अर्थ यह है कि उस विशाल मेघ के केन्द्रीय क्षेत्र में कुछ ऐसे पदार्थ विद्यमान रहते हैं, जो सम्पूर्ण मेघस्थ पदार्थ को अपने साथ बाँधे रखते हैं। इसी विशाल मेघ में तारे के निर्माण की सम्पूर्ण सामग्री, साथ ही तारे के साथ उत्पन्न अथवा उससे पृथक् हुए सभी प्रकार के रूपों वाले लोकों के निर्माण की सामग्री भी निहित होती है। यहाँ 'विश्वरूपम्' पद से यही स्पष्ट हो रहा है कि किसी भी सौरमण्डल में पदार्थ के जो भी रूप होते हैं। फिर वह चाहे तारा हो, ग्रह वा उपग्रह हो, लघु ग्रह हो अथवा अन्य किसी प्रकार के पिण्ड हों, चाहे अनेक प्रकार के विकिरण हों, वे सभी रूप इस विशाल मेघ से ही उत्पन्न होते हैं और वे सभी पिण्ड ऊर्ध्व अर्थात् केन्द्रीय भाग से ही निरन्तर प्रेरित वा आकर्षित होते रहते हैं।

(अत्र, आसते, ऋषयः, सप्त, साकम्, ये, अस्य, गोपा, महतः, बभूवुः) 'अत्रासत ऋषयः सप्त सहादित्यरश्मयः ये अस्य गोपा महतो बभूवुः' यहाँ अर्थात् इस विशाल मेघ में इस विशाल सौरमण्डल के रक्षक एवं उत्पादक के रूप में सात ऋषि नामक पूर्वोक्त सभी पदार्थ विद्यमान रहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार का कथन है कि पूर्वोक्त सप्त ऋषि नामक सभी पदार्थ इस मेघ मण्डल के अन्दर एवं उसके निकटस्थ क्षेत्र में विद्यमान रहते हैं। वे ही विशाल सौरमण्डल के रक्षकरूप सिद्ध होते हैं। यह इस मन्त्र की आधिदैविक व्याख्या है।

अब इसकी जो आध्यात्मिक व्याख्या ग्रन्थकार ने की है, उसे यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं— 'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन: ऊर्ध्वबोधनो वा यस्मिन्यशो निहितं सर्वरूपम् अत्रासत ऋषय: सप्त सहेन्द्रियाणि यान्यस्य गोप्तॄणि महतो बभूवु: इत्यात्मगतिमाचष्टे'।

जैसा कि पूर्व खण्ड में सप्तऋषि का अर्थ छह इन्द्रियाँ और बुद्धि कहा है, इस मन्त्र में भी वही अर्थ ग्रहणीय है। यहाँ शरीर को तिर्यग्बिल कहा है, क्योंकि इसमें अनेक प्रकार के टेढ़े-मेढ़े छिद्र हुआ करते हैं। इन छिद्रों के द्वारा इस शरीर का पोषण होता है। शरीर का कोई भी छिद्र यहाँ तक कि रोमछिद्र भी निष्प्रयोजन नहीं होते, बल्कि वे नाना प्रकार के कार्यों के द्वारा शरीर की रक्षा करते हैं। यह बात आयुर्विज्ञानी अच्छी प्रकार जानते हैं। इन सभी छिद्रों का शरीर से उत्कृष्ट बन्धन होता है और ये आत्मा को नाना प्रकार का बोध कराते हैं। यहाँ शरीर को चमस भी कहा गया है, क्योंकि यह नाना इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न विषयों का सेवन करता है। [यश: = प्राणा वै यश: (श.ब्रा.१४.५.२.५)] इस शरीर में प्राणतत्त्व सभी रूपों में विद्यमान रहता है। ये पूर्वोक्त सात ऋषि अर्थात् इन्द्रियाँ और बुद्धि इस शरीर के व्यापक रूप से रक्षक होते हैं अर्थात् इनका रक्षण कार्य सम्पूर्ण शरीर में होता रहता है। इस प्रकार यह आध्यात्मिक व्याख्या सम्पन्न हुई।

'सप्तऋषय:' पद के पश्चात् 'देवा:' पद के निर्वचन के विषय में खण्ड ७.१५ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

एकोनचत्वारिंश: खण्ड:

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्। देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयु: प्र तिरन्तु जीवसे॥ [ऋ.१.८९.२]
देवानां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतावृजुगामिनामृतुगामिनामिति वा।
देवानां दानमभि नो निवर्तताम्। देवानां सख्यमुपसीदेम वयम्।
देवा न आयु: प्रवर्द्धयन्तु चिरं जीवनाय।

विश्वे देवाः। सर्वे देवाः। तेषामेषा भवति॥ ३९॥

इस मन्त्र का ऋषि राहूगणपुत्र गोतम है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति धनञ्जय रश्मि से होती है। इसका देवता 'देवा' तथा छन्द जगती होने से इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ दूर-२ तक फैलते हुए गौरवर्ण को उत्पन्न करने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवानाम्, भद्रा, सुमतिः, ऋजूयताम्, देवानाम्, रातिः, अभि, नः, नि, वर्तताम्) 'देवानां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतावृजुगामिनामृतुगामिनामिति वा देवानां दानमभि नो निवर्तताम्' जब विभिन्न प्रकार के देवकण अनुकूल दीप्ति और आकर्षण आदि बलों से युक्त होते हैं, तब वे नाना प्रकार की संयोग एवं वियोग आदि प्रक्रियाओं के लिए सरलतम मार्गों पर गमन करते हैं। उस स्थिति में गमन करते हुए धनञ्जय रश्मियों के द्वारा बार-२ आकृष्ट होते हैं। उल्लेखनीय है कि इन संयोग एवं वियोग आदि प्रक्रियाओं में अनेक प्राण रश्मियों की भूमिका होती है, परन्तु उनमें प्रधानता अथवा नायकत्व धनञ्जय रश्मियों का होता है। धनञ्जय रश्मियों के कारण कणों के आकर्षण की क्षमता बढ़ने लगती है। मरुत् रश्मियों की प्रधानता वाले कण बार-२ लौटकर प्राण रश्मियों की प्रधानता वाले कणों की ओर आकृष्ट होते हैं। यहाँ 'निवर्तताम्' पद से यह संकेत मिलता है कि दोनों प्रकार के देव कणों के मध्य संयोग की प्रक्रिया सहसा ही नहीं हो जाती है, बल्कि मरुद् प्रधान कण स्पन्दित होते हुए अथवा कुछ दोलन करते हुए से घूमते हुए प्राणप्रधान कणों की ओर बढ़ते हैं।

(देवानाम्, सख्यम्, उप, सेदिम, वयम्, देवाः, नः, आयुः, प्र, तिरन्तु, जीवसे) 'देवानां सख्यमुपसीदेम वयम् देवा न आयुः प्रवर्द्धयन्तु चिरं जीवनाय' उस समय इस छन्द रश्मि की कारणभूत धनञ्जय रश्मियाँ संयोज्य देवकणों के सामीप्य को प्राप्त होती हैं अर्थात् वे रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु एवं बृहती आदि आच्छादक रश्मियों के साथ मिलकर उन कणों को घेर लेती हैं और ये उनकी घूर्णन गतियों का भी एक कारण बनती हैं। जब दो या दो से अधिक कण परस्पर मिलकर एक बड़े कण का निर्माण करते हैं, तब उस बड़े कण के घूर्णन में ये रश्मियाँ भी अपनी भूमिका निभाती हैं। इनके कारण उन देवकणों के मध्य [आयुः = यज्ञो वा आयुः (तां.ब्रा.६.४.४)] संयोग की आयु बढ़ जाती है अर्थात् वह संयोग दृढ़ भी होता है और दीर्घकालीन भी। यहाँ 'देवाः' पद का अर्थ व्याहृति रश्मियाँ भी

ग्रहण कर सकते हैं, जो धनञ्जय व सूत्रात्मा आदि रश्मियों के संयोग में अनिवार्य भूमिका निभाती हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में दो संयोज्य कण सरलतम और सहज मार्गों से ही पारस्परिक संयोग के लिए अग्रसर होते हैं। धनावेशित कणों से धनञ्जय रश्मियों के नायकत्व में विभिन्न प्राण रश्मियाँ उत्सर्जित होने लगती हैं। वे रश्मियाँ दूसरे कण से मरुद् रश्मियों को बाहर की ओर खींचकर निकालने का काम करती हैं। वे दोनों कण सहसा ही संयुक्त नहीं हो जाते, बल्कि ऋणावेशित कण स्पन्दित होते हुए और घूमते हुए विपरीत आवेश वाले कणों की ओर गमन करते हैं। उस समय धनञ्जय रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु एवं बृहती रश्मियों के साथ मिलकर न केवल कणों को आच्छादित कर लेती हैं, अपितु उनकी घूर्णन गतियों का भी एक कारण बन जाती हैं। फिर इन घूर्णन गतियों के कारण अन्य कणों का भी इनके साथ संघात होकर स्थूल कणों का निर्माण होने लगता है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (देवानाम्) विदुषाम् (भद्रा) कल्याणकारिणी (सुमतिः) शोभना बुद्धिः (ऋजूयताम्) आत्मन ऋजुमिच्छताम् (देवानाम्) दिव्यगुणानाम् (रातिः) विद्यादानम्। अत्र मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः॥ अष्टा.३.३.९६॥ अनेन भावे क्तिन् स चान्तोदात्तः। (अभि) आभिमुख्ये (नः) अस्मभ्यम् (नि) नित्यम् (वर्त्तताम्) (देवानाम्) दयया विद्यावृद्धिं चिकीर्षताम् (सख्यम्) मित्रभावम् (उप) (सेदिम) प्राप्नुयाम। अत्रान्येषामपि दृश्यत इति दीर्घः। (वयम्) (देवाः) विद्वांसः (नः) अस्माकम् (आयुः) जीवनम् (प्र) (तिरन्तु) सुशिक्षया वर्द्धयन्तु (जीवसे) जीवितुम्। इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवमाचष्टे॥ देवानां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतावृजुगामिनामृतुगामिति वा देवानां दानमभि नो निवर्त्तताम् देवानां सख्यमुपसेदिम वयं देवा न आयुः प्रवर्द्धयन्तु चिरंजीवनाय। निरु.१२.३९।

भावार्थः — नह्याप्तानां विदुषां संगेन ब्रह्मचर्यादिनियमैश्च विना कस्यापि शरीरात्मबलं वर्द्धितुं शक्यं तस्मात्सर्वैरेतेषां संगो नित्यं विधेयः।

पदार्थ— (वयम्) हम लोग जो (ऋजूयताम्) अपने को कोमलता चाहते हुए (देवानाम्) विद्वान् लोगों की (भद्रा) सुख करने वाली (सुमतिः) श्रेष्ठ बुद्धि वा जो अपने को निरभिमानता चाहने वाले (देवानाम्) दिव्य गुणों की (रातिः) विद्या का दान और जो

अपने को सरलता चाहते हुए (देवानाम्) दया से विद्या की वृद्धि करना चाहते हैं, उन विद्वानों का जो सुख देने वाला (सख्यम्) मित्रपन है, यह सब (नः) हमारे लिये (अभि+नि+वर्त्ताम्) सम्मुख नित्य रहे और उक्त समस्त व्यवहारों को (उप+सेदिम) प्राप्त हों और उक्त जो (देवाः) विद्वान् लोग हैं, वे (नः) हम लोगों के (जीवसे) जीवन के लिये (आयुः) उमर को (प्र+तिरन्तु) अच्छी शिक्षा से बढ़ावें।

भावार्थ— उत्तम विद्वानों के सङ्ग और ब्रह्मचर्य्य आदि नियमों के विना किसी का शरीर और आत्मा का बल बढ़ नहीं सकता, इससे सबको चाहिये कि इन विद्वानों का सङ्ग नित्य करें और जितेन्द्रिय रहें।''

'देवाः' पद के निर्वचन के पश्चात् 'विश्वेदेवाः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'विश्वे देवाः सर्वे देवाः'। यहाँ 'विश्वे' का अर्थ सभी है।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

चत्वारिंशः खण्डः

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥ [ऋ.१.३.७]
अवितारो वा। अवनीया वा। मनुष्यधृतः सर्वे च देवा इहागच्छत।
दत्तवन्तो दत्तवतः सुतमिति।
तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते।
यत्तु किंचिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते।
यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः। अनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति।
बभ्रुरेकः [ऋ.८.२९]। इति दश द्विपदा अलिङ्गाः।
भूतांशः काश्यप आश्विनम् [ऋ.१०.१०६] एकलिङ्गम्।

अभितष्टीयं सूक्तम् [ऋ.३.३८] एकलिङ्गम्।
साध्याः देवाः। साधनात्। तेषामेषा भवति॥ ४०॥

इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता विश्वेदेवा और छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ओमासः, चर्षणिधृतः, विश्वे, देवासः, आ, गत) 'अवितारो वा अवनीया वा मनुष्यधृतः सर्वे च देवा इहागच्छत' [चर्षणयः = मनुष्यनाम (निघं.२.३)] यहाँ 'चर्षणि' को 'चर्षणी' प्रयोग छान्दस है। इस सूर्यलोक में दो प्रकार के देव पदार्थ विद्यमान होते हैं—

१. ओमासः — इनको यहाँ ग्रन्थकार ने रक्षक व रक्षित दो विभागों में बाँटा है। प्रथम ओमास, अन्य पदार्थों को गति प्रदान करने वाला, उन्हें नियन्त्रित करने वाला, अपने साथ संयुक्त करने वाला एवं अवांछित पदार्थों को नष्ट करने वाला होता है। दूसरी श्रेणी का ओमास वह है, जो प्रथम श्रेणी के ओमास संज्ञक देव कणों द्वारा रक्षण, गति आदि प्राप्त करता हुआ उनके साथ संयुक्त भी होता रहता है। हमारी दृष्टि में विभिन्न प्रकार की विद्युत् तरंगें एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगें प्रथम श्रेणी के ओमास पदार्थ हैं तथा अन्य सभी कण, जो इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों से नियन्त्रित होते हैं और उनसे गति एवं ऊर्जा प्राप्त करते हैं। ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ आदित्यलोक के अन्दर विद्यमान होते हैं।

२. चर्षणिधृतः — ऐसे पदार्थ, जो सूर्यलोक में मनुष्य नामक विभिन्न कणों को धारण करते हैं, चर्षणिधृत कहलाते हैं। 'चर्षणिः' पद की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य राजवीर शास्त्री ने वैदिक कोश में लिखा है—

''कृष विलेखने (भ्वा.) धातोर्बाहुलकादौणादिको अनिः प्रत्ययः आदेश्च धातोश्चकारादेशः।''

इस व्युत्पत्ति से हमें यह संकेत मिलता है कि ये कण सूर्यलोक के अन्दर पदार्थ को विखण्डित करने में उपयोगी होते हैं अर्थात् जो कण संलयनीय अवस्था में नहीं होते हैं, उन्हें तोड़कर संलयनीय बनाने में ये सहायक होते हैं। इस प्रकार ये कण सम्पूर्ण सूर्यलोक में व्याप्त होकर छेदन-भेदन की नाना क्रियाएँ करते रहते हैं। इस प्रकार ये कुल तीन प्रकार के पदार्थ विश्वेदेवा कहलाते हैं। ये विश्वेदेवा नामक तीनों प्रकार के पदार्थ

सूर्यलोक में सब ओर व्याप्त होते हैं।

(दाश्वांसः, दाशुषः, सुतम्) 'दत्तवन्तो दत्तवतः सुतमिति' ये तीनों प्रकार के सूक्ष्म पदार्थ सूर्यलोक में नाना प्रकार की क्रियाओं को जन्म देते हैं, इसलिए इन्हें दाश्वान् कहा गया है। यहाँ दत्तवान् सूर्य को कहा गया है, क्योंकि यह सभी लोकों व प्राणियों को जीवन देता है। जब यह सूर्यलोक विशाल मेघ का सम्पीडित रूप होता है अर्थात् वह मेघ सम्पीडित हो ही रहा होता है, उस समय भी ये तीनों पदार्थ उसमें विद्यमान होते हैं। इसका अर्थ यह है कि वह कॉस्मिक मेघ जब सम्पीडित हो रहा था, उस समय ये तीनों प्रकार के पदार्थ उस सम्पीडित होते हुए मेघ में केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित हो रहे थे। यही इस मन्त्र का आशय है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (ओमासः) रक्षका ज्ञानिनो विद्याकामा उपदेशप्रीतयो विज्ञानतृप्तयो याथातथ्यावगमाः शुभगुणप्रवेशाः सर्वविद्याश्राविणः परमेश्वरप्राप्तौ व्यवहारे च पुरुषार्थिनः शुभविद्यागुणयाचिनः क्रियावन्तः सर्वोपकारमिच्छुका विज्ञाने प्रशस्ता आप्ताः सर्वशुभ-लिङ्गिनो दुष्टगुणहिंसकाः शुभगुणदातारः सौभाग्यवन्तो ज्ञानवृद्धाः। अव रक्षणगतिकान्ति-प्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु। अविसिविसिशुषिभ्यः कित् इत्यनेनौणादिकेन सूत्रेणावधातोरोंशब्दः सिध्यति। ओमास इति पदनामसु पठितम्। निघं.४.३। (चर्षणीधृतः) सत्योपदेशेन मनुष्येभ्यः सुखस्य धर्तारः। चर्षणय इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं.२.३। (विश्वेदेवासः) देवा दीव्यन्ति विश्वे सर्वे च ते देवा विद्वांसश्च ते। विश्वेदेवा इति पदनामसु पठितम्। निघं.५.६ (आ गत) समन्तात् गमयत। इत्यत्र गमधातोर्ज्ञानार्थः प्रयोगः। (दाश्वांसः) सर्वस्याभयदातारः। दाश्वान् साह्वान् मीढ्वाँश्च। अष्टा.६.१.१२ अनेनायं दानार्थाद्दाशेः क्वसुप्रत्ययान्तो निपातितः। (दाशुषः) दातुः (सुतम्) यत्सोमादिकं ग्रहीतुं विज्ञानं प्रकाशयितुं चाभीष्टं वस्तु।

निरुक्तकार एनं मन्त्रमेवं समाचष्टे — अवितारो वाऽवनीया वा, मनुष्यधृतः सर्वे च देवा इहागच्छत, दत्तवन्तो दत्तवतः सुतमिति। तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिद्बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते, यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिरनत्यन्तगत-स्त्वेष उद्देशो भवति, बभ्रुरेक इति दश द्विपदा अलिङ्गाः भूतांशः काश्यप आश्विनमेकलिङ्ग-मभितष्टीयं सूक्तमेकलिङ्गम्। निरु.१२.४०। अत्र रक्षाकर्तारः सर्वे रक्षणीयाश्च सर्वे विद्वांसः

सन्ति, ते च सर्वेभ्यो विद्याविज्ञानं दत्तवन्तो भवन्त्विति।

भावार्थः — ईश्वरो विदुषः प्रत्याज्ञां ददाति-यूयमेकत्र विद्यालये चेतस्ततो वा भ्रमणं कुर्वन्तः सन्तोऽज्ञानिनो जनान् विदुषः सम्पादयत। यतः सर्वे मनुष्या विद्याधर्मसुशिक्षासत्क्रियावन्तो भूत्वा सदैव सुखिनः स्युरिति।

पदार्थ— (ओमासः) जो अपने गुणों से संसार के जीवों की रक्षा करने, ज्ञान से परिपूर्ण, विद्या और उपदेश में प्रीति रखने, विज्ञान से तृप्त, यथार्थ निश्चययुक्त, शुभगुणों को देने और सब विद्याओं को सुनाने, परमेश्वर के जानने के लिये पुरुषार्थी, श्रेष्ठ विद्या के गुणों की इच्छा से दुष्ट गुणों के नाश करने, अत्यन्त ज्ञानवान् (चर्षणीधृतः) सत्य उपदेश से मनुष्यों के सुख के धारण करने और कराने (दाश्वांसः) अपने शुभ गुणों से सब को निर्भय करने हारे (विश्वेदेवासः) सब विद्वान् लोग हैं, वे (दाशुषः) सज्जन मनुष्यों के सामने (सुतम्) सोम आदि पदार्थ और विज्ञान का प्रकाश (आ, गत) नित्य करते रहें।

भावार्थ— ईश्वर विद्वानों को आज्ञा देता है कि तुम लोग एक जगह पाठशाला में अथवा इधर-उधर देशदेशान्तरों में भ्रमते हुए अज्ञानी पुरुषों को विद्यारूपी ज्ञान देके विद्वान् किया करो कि जिससे सब मनुष्य लोग विद्या, धर्म और श्रेष्ठ शिक्षायुक्त होके अच्छे-अच्छे कर्मों से युक्त होकर सदा सुखी रहें।''

इस मन्त्र पर ग्रन्थकार द्वारा की गई टिप्पणी पर हम विचार करते हैं। वह टिप्पणी इस प्रकार है— 'तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते यत्तु किंचिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः अनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति बभ्रुरेकः (ऋ.८.२९) इति दश द्विपदा अलिङ्गाः। भूतांशः काश्यप आश्विनम् (ऋ.१०.१०६) एकलिङ्गम्। अभितष्टीयं सूक्तम् (ऋ.३.३८) एकलिङ्गम्।'

इसकी व्याख्या करते हुए पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार लिखते हैं—

''यास्काचार्य 'विश्वेदेवाः' का अर्थ सामान्यतः देवमात्र करते हैं, परन्तु शाकपूणि इसे किन्हीं विशेष देवताओं का वाचक मानते हैं (सायण भाष्य १.३.७)। अतः आचार्य शाकपूणि के मत का खण्डन इस प्रकार करते हैं—

सो, यह एक ही 'विश्वेदेवाः' देवता वाला तथा गायत्री छन्द वाला तीन ऋचाओं का समूह (१.३.७-९) ऋग्वेद में है। परन्तु यज्ञ में 'विश्वेदेवाः' देवता वाले अनेक मन्त्रों की

आवश्यकता होने पर जो कोई गायत्री छन्द में बहुत देवताओं वाला प्रकरण है, वह 'विश्वेदेवाः' देवता वालों के स्थान में प्रयुक्त किया जाता है। अतः पता लगता है कि 'विश्वेदेवाः' कोई विशेष देव नहीं, प्रत्युत सामान्यतया देवमात्र के लिये प्रयुक्त है। परन्तु शाकपूणि कहता है कि नहीं, यह विनियोग ठीक नहीं, जिस मन्त्र में 'विश्व' शब्द पठित हो, जैसे कि ऋ.८.३०.१ में हैं, उसे ही विनियुक्त करना चाहिए, अन्यों को नहीं।

यास्काचार्य कहते हैं कि शाकपूणि की यह प्रतिज्ञा कि जिस मन्त्र में देवतावाची शब्द पठित हो, वही तद्देवताक मन्त्र है, यह अनैकान्तिक दोष से युक्त है, 'बभ्रुरेको विषुणः' इत्यादि (८.२९) दश ऋचाओं वाले द्विपद सूक्त में किसी भी मन्त्र में 'विश्वेदेवाः' शब्द पठित नहीं, अतः यह सूक्त तद्देवताक नहीं होना चाहिये, परन्तु इस सूक्त को 'विश्वेदेवाः' देवता वाला माना जाता है। भूतांश काश्यप ऋषि से दृष्ट सूक्त (१०.१०६) ११ मन्त्रों का है, परन्तु उसमें केवल ११वें मन्त्र में 'अश्विनोः' पद आया है, अन्य किसी मन्त्र में अश्विन्-पद प्रयुक्त नहीं, अतः अन्य दश मन्त्र 'अश्विनौ' देवता वाले नहीं होने चाहियें। इसी प्रकार 'अभितष्टेव दीधया' आदि अभितष्टीय सूक्त (३.३८) १० मन्त्रों का है, परन्तु उसमें केवल १०वें मन्त्र में 'इन्द्रं' पद आया है, अन्य किसी मन्त्र में इन्द्र-पद प्रयुक्त नहीं, अतः अन्य नौ मन्त्र 'इन्द्र' देवता वाले नहीं होने चाहियें। परन्तु ऐसा नहीं माना जाता, अतः शाकपूणि की प्रतिज्ञा अयुक्त है।"

यद्यपि ऋषियों के विचारों में भिन्नता नहीं होनी चाहिए, परन्तु इस प्रकरण में जो मतभेद हैं, वे अति सामान्यस्तरीय हैं। इनसे वेद के स्वरूप अथवा सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती। इस कारण हम इस प्रकरण को यहीं समाप्त करते हैं।

'विश्वेदेवाः' पद के निर्वचन के पश्चात् 'साध्याः देवाः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'साध्याः देवाः साधनात्' अर्थात् किसी कार्य को सिद्ध करने के कारण साध्य कहा जाता है अथवा सिद्ध करने योग्य पदार्थ को साध्य कहते हैं। इसके विषय में ऋषियों का कथन है— साध्याः रश्मिनाम (निघं.१.५), प्राणा वै साध्या देवास्तऽएतम् (प्रजापतिं) अग्रऽएवमसाधयन् (श.ब्रा.१०.२.२.३), छन्दांसि वै साध्या देवास्तेऽग्रेऽग्निनाग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोकमायन् (ऐ.ब्रा.१.१६)। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न छन्द एवं प्राण रश्मियाँ ही साध्य देव कहलाती हैं।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकचत्वारिंशः खण्डः =

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ [ऋ.१.१६४.५०]
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। अग्निनाग्निमयजन्त देवाः। अग्निः पशुरासीत्। तमालभन्त। तेनायजन्त। इति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः। साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः। पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम्।
वसवः। यद्विवसते सर्वम्।
अग्निर्वसुभिर्वासव इति समाख्या, तस्मात्पृथिवीस्थानाः।
इन्द्रो वसुभिर्वासव इति समाख्या, तस्मान्मध्यस्थानाः।
वसव आदित्यरश्मयो विवासनात्, तस्माद् द्युस्थानाः।
तेषामेषा भवति॥ ४१ ॥

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है। इसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता साध्या और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न छन्द एवं प्राण रश्मियाँ विविध प्रकार से प्रकाशित होती हुई रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यज्ञेन, यज्ञम्, अयजन्त, देवाः, तानि, धर्माणि, प्रथमानि, आसन्) 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः अग्निनाग्निमयजन्त देवाः अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम् तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत विभिन्न स्तरों पर विभिन्न देव पदार्थ एक यजन प्रक्रिया के द्वारा दूसरी यजन प्रक्रिया को संगत करते हैं। इस प्रक्रिया से सूक्ष्म पदार्थों के मध्य होने वाली यजन क्रियाएँ शृंखलाबद्ध रूप से व्यापक रूप धारण करने लगती हैं। इसी क्रम में एक अग्नि दूसरे अग्नि को अपने साथ संगत करने लगता है। यहाँ 'अग्निः'

पद के अनेक अर्थ विभिन्न स्तरों पर सिद्ध होते हैं, यह बात अवश्य ही ध्यान में रखनी चाहिए। यहाँ 'देवाः' पद का अर्थ विभिन्न प्रकार की रश्मियाँ मानना चाहिए। ये रश्मियाँ ही स्वयं का हवन करने के साथ-२ अन्य पदार्थों के संगतिकरण की प्रक्रिया को भी सिद्ध करती हैं। इस बात को ऋग्वेद १.१२.६ में भी कहा गया है— 'अग्निनाग्निः समिध्यते'। प्राण एवं छन्दादि रश्मियाँ प्रथम पशुरूप द्रष्टव्य पदार्थ को उत्पन्न करती हैं, इसलिए अग्नि को ब्राह्मण ग्रन्थ के इस वचन में पशु कहा गया है। उस अग्नितत्त्व को ही विभिन्न प्राण रश्मियाँ संघनित और संगत करके आगे की सृष्टि प्रक्रिया को सम्पादित करती हैं, ऐसा इस ब्राह्मण ग्रन्थ का भी वचन है। यहाँ यह भी कहा गया है कि आगे की सभी क्रियाएँ अग्नि के द्वारा ही अथवा अग्नि के सानिध्य में ही सम्पन्न होती हैं। इसका अर्थ यह है कि ऊष्मा और विद्युत् के अभाव में कोई भी सृष्टि प्रक्रिया सम्भव नहीं है। अग्नि को उत्पन्न करने की वे प्रक्रियाएँ प्राण रश्मियों का प्राथमिक धर्म कही गयी हैं अर्थात् प्राण व छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के साथ ही विद्युत् एवं ऊष्मा का प्राथमिक रूप उत्पन्न हो जाता है।

(ते, ह, नाकम्, महिमानः, सचन्त, यत्र, पूर्वे, साध्याः, सन्ति, देवाः) 'ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम्' [नाकः = नाक आदित्यो भवति नेता रसानां नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः अथ द्यौः कमिति सुखनाम तत् प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत (निरु.२.१४), सुवर्गो वै लोको नाकः (तै.सं.५.३.३.५), संवत्सरो वाव नाकः (श.ब्रा.८.४.१.२४)] वे देव पदार्थ अर्थात् प्राण रश्मियाँ आदित्य लोक, विशेषकर उसके केन्द्रीय भाग में सर्वप्रथम संगत होती हैं, जहाँ विभिन्न प्रकार की छन्दादि रश्मियाँ, जो नाना प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने हेतु उसी क्षेत्र में विद्यमान होती हैं। इस प्रकार निर्माणाधीन तारे के केन्द्रीय भाग में प्राण एवं छन्द रश्मियों का व्यापक संगम होने लगता है। यहाँ नैरुक्त आचार्य कहते हैं कि ये देवगण द्युस्थानी होते हैं अर्थात् तारों के केन्द्रीय भाग एवं उसके परितः निर्मित होने वाले द्युलोक नामक क्षेत्र में विद्यमान होते हैं। यहाँ इस विज्ञान को आख्यान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह आख्यान देवयुग का आख्यान कहा गया है अर्थात् इस प्रकार की क्रियाएँ उस समय होती हैं, जब सृष्टि में कणादि पदार्थों की उत्पत्ति भी नहीं हो पाती है और सारा खेल रश्मियों के स्तर पर ही हो रहा होता है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (यज्ञेन) अग्न्यादिदिव्यपदार्थसमूहेन (यज्ञम्) धर्मार्थकाममोक्षव्यवहारम् (अयजन्त) यजन्ति संगच्छन्ते (देवाः) विद्वांसः (तानि) (धर्माणि) (प्रथमानि) आदिमानि ब्रह्मचर्य्यादीनि (आसन्) सन्ति (ते) (ह) किल (नाकम्) दुःखविरहं सुखम् (महिमानः) पूज्यतां प्राप्नुवन्तः (सचन्त) सचन्ते लभन्ते (यत्र) यस्मिन् (पूर्वे) अधीतविद्याः (साध्याः) अन्यैर्विद्यार्थं संसेवितुमर्हाः (सन्ति) वर्त्तन्ते (देवाः) विद्वांसः।

भावार्थः — ये प्रथमे वयसि ब्रह्मचर्यसुशिक्षादीनि सेवितव्यानि कर्माणि प्रथमं कुर्वन्ति ते आप्तविद्वद्वद्विद्वांसो भूत्वा विद्यानन्दं प्राप्य सर्वत्र सत्कृता भवन्ति।

पदार्थ— जो (देवाः) विद्वान् जन (यज्ञेन) अग्नि आदि दिव्य पदार्थों के समूह से (यज्ञम्) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के व्यवहार को (अयजन्त) मिलते प्राप्त होते हैं और जो ब्रह्मचर्य आदि (धर्माणि) धर्म (प्रथमानि) प्रथम (आसन्) हैं (तानि) उनका सेवन करते और कराते हैं (ते, ह) वे ही (यत्र) यहां (पूर्वे) पहिले अर्थात् जिन्होंने विद्या पढ़ ली (साध्याः) तथा औरों को विद्यासिद्धि के लिये सेवन करने योग्य (देवाः) विद्वान् जन (सन्ति) हैं वहां (महिमानः) सत्कार को प्राप्त हुए (नाकम्) दुःखरहित सुख को (सचन्त) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ— जो लोग प्रथमावस्था में ब्रह्मचर्य से उत्तम उत्तम शिक्षा आदि सेवन करने योग्य कामों को प्रथम करते हैं, वे आप्त अर्थात् विद्यादि गुण, धर्म्मादि कार्यों को साक्षात् किये हुए जो विद्वान्, उनके समान विद्वान् होकर विद्यानन्द को प्राप्त होकर सर्वत्र सत्कार को प्राप्त होते हैं।''

'साध्याः देवाः' पद के पश्चात् 'वसवः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वसवः यद्विवसते सर्वम् अग्निर्वसुभिर्वासव इति समाख्या तस्मात्पृथिवीस्थानाः इन्द्रो वसुभिर्वासव इति समाख्या, तस्मान्मध्यस्थानाः वसव आदित्यरश्मयो विवासनात् तस्माद् द्युस्थानाः' इसका अर्थ यह है कि जो सबको आच्छादित करते हैं, वे वसु कहलाते हैं। 'वसवः' वसु का ही बहुवचनान्त रूप है। वसु के विषय में ऋषियों का कथन है— रश्मिनाम (निघं.१.५), प्राणा वै वसवः (जै.उ.४.२.३), पशवो वै वसु (तां.ब्रा.७.१०.१७)। इसका अर्थ यह है कि प्राण एवं छन्दादि रश्मियाँ वसु कहलाती हैं, क्योंकि ये सभी पदार्थों को आच्छादित किए रहती हैं। अग्नि के अन्दर विभिन्न रश्मियाँ होती हैं, इस कारण अग्नि

को 'वासवः' कहा गया है। उधर अग्नि को पृथिवीस्थानी माना है, इस कारण वसु नामक रश्मियाँ भी पृथिवी-स्थानी सिद्ध होती हैं।

इन्द्रतत्त्व भी रश्मियों से ही निर्मित होता है, इस कारण उसे भी 'वासव' कहते हैं। उधर इन्द्रतत्त्व को मध्यम अर्थात् अन्तरिक्षस्थानी माना है, इस कारण वसु रश्मियाँ अन्तरिक्षस्थानी भी सिद्ध होती हैं। आदित्यलोक भी इन्हीं रश्मियों से निर्मित होता है, इस कारण आदित्य को भी 'वासव' कहा गया है। ये वसु रश्मियाँ ही अन्धकार को बाहर निकालती हैं और आदित्यलोक को द्युस्थानी कहा गया है, इसलिए वसु रश्मियाँ द्युस्थानी भी सिद्ध होती हैं। इस प्रकार ये रश्मियाँ तीनों ही स्थानों में विद्यमान सभी पदार्थों को आच्छादित करने वाली होती हैं। यहाँ अग्नि आदि पदार्थों के स्थान के विषय में हम दैवत काण्ड के प्रारम्भ से ही लिखते आए हैं। अध्येता उन प्रकरणों को एक बार पुनः विचार लेवें। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= द्विचत्वारिंशः खण्डः =

सुगा वो देवाः सदनमकर्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः।
जक्षिवाँसः पपिवाँसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि॥

[तु.अथर्व.७.९७.४, यजु.८.१८, तै.सं.१.४.४४.२, मै.सं.१.३.३८, काठ.सं.४.१२]

स्वागमनानि वो देवाः सुपथान्यकर्म य आगच्छ सवनानीमानि। जुषाणाः।
खादितवन्तः पीतवन्तश्च। सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि।
तेषामेषाऽपरा भवति॥ ४२॥

इस मन्त्र का ऋषि अत्रि है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मि से होती है। इसका देवता गृहपति और छन्द त्रिष्टुप् होने से [गृहपतिः = असौ वै गृहपतिर्योऽसौ (सूर्यः) तपत्येष (सूर्यः) पतिः, ऋतवो गृहाः (ऐ.ब्रा.५.२५)] इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक, विशेषकर उसका बाहरी विशाल भाग रक्तवर्णीय तेज से

युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सुगा, वः, देवाः, सदनम्, अकर्म, ये, आजग्मुः, इदम्, सवनम्, जुषाणाः) 'स्वागमनानि वो देवाः सुपथान्यकर्म य आगच्छ सवनानीमानि जुषाणाः' यहाँ 'त्वः' सम्बोधन पद वसुओं के लिए प्रयुक्त किया गया है। [अकर्म = अकार्ष्म कुर्याम् (ऋषि दयानन्द भाष्य)] वे वसु संज्ञक कमनीय, सबकी प्रदीपिका प्राण एवं छन्दादि रश्मियाँ सभी पदार्थों में सहजता से गमन करने वाली होती हैं। ये रश्मियाँ सूर्यादि तेजस्वी लोकों में निवास करती हुई अनेक प्रकार के कर्मों को सम्पादित करती हैं। इन लोकों में हो रहे नाना प्रकार के संगमन कर्मों में एक-दूसरे को चाहती वा आकर्षित करती हुई ये रश्मियाँ सम्पूर्ण सूर्यलोक में व्याप्त होती हैं। इसके साथ ही ये रश्मियाँ बाहरी अन्तरिक्ष से सूर्यादि लोकों में निर्बाध रूप से गमनागमन करती रहती हैं। ये रश्मियाँ सम्पूर्ण सूर्यलोक में अनेक प्रकार की संगमन क्रियाओं को विभिन्न स्थानों व स्तरों पर करती रहती हैं।

(जक्षिवाँसः, पपिवाँसः, च, विश्वे, अस्मे, इत्यस्मे, धत्त, वसवः, वसूनि) 'खादितवन्तः पीतवन्तश्च सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि' ये वसु संज्ञक रश्मियाँ सम्पूर्ण सूर्यलोक में नष्ट करने योग्य बाधक पदार्थों को नष्ट करती हुई, अवशोषण करने योग्य रश्मियों का अवशोषण करती हुई, सभी वसु संज्ञक सूक्ष्म कणादि पदार्थों को इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियों से संयुक्त करने में सहायक होती हैं। इसका अर्थ यह है कि इन वसु संज्ञक रश्मियों के कारण ही विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कण सूत्रात्मा वायु रश्मियों के बन्धन में निकटता से आकर नाना प्रकार की संघनन और संलयन क्रियाओं को सम्पादित करने में समर्थ होते हैं।

यजुर्वेद मा. संहिता में कुछ पाठभेद है, जिसका ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (सुगा) सुष्ठु गन्तुं प्राप्तुं योग्यानि। अत्र शेश्छन्दसि बहुलम्। अष्टा.६.१.६८। इति लुक् (वः) युष्माकम् (देवाः) व्यवहरमाणाः (सदना) सीदन्ति गच्छन्ति पुरुषार्थेन येषु तानि गृहाणि (अकार्म्म) अकार्ष्म कुर्याम। अत्र डुकृञ् धातोर्लुङि मन्त्रे घस.। अष्टा.२.४.८०। इत्यादिना च्लेर्लुक् (ये) (आजग्म) प्राप्नुवन्तु (इदम्) प्रत्यक्षम् (सवनम्) ऐश्वर्यम् (जुषाणाः) सेवमानाः (भरमाणाः) धरमाणाः (वहमानाः) प्राप्नुवन्तः (हवींषि) दातुमादातु-मर्हाणि (अस्मे) अस्मभ्यम्। अत्र भ्यसः स्थाने सुपां सुलुक्। अष्टा.७.१.३९।

इति शे इत्यादेशः (धत्त) धरत (वसवः) ये वसन्ति सद्गुणकर्मसु ते (वसूनि) धनानि। वस्विति धननामसु पठितम् निघं.२.१० (स्वाहा) श्रेष्ठक्रियया। अयं मन्त्रः शत.४.४.४.१० व्याख्यातः।

यास्कमुनिरत्राह — सुगा वो देवाः सदनमकर्म्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वागमनानि वो देवाः सुपथान्यकर्म्म य आगच्छत सवनानीमानि जुषाणाः खादितवन्तः पीतवन्तश्च सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि। निरु.१२.४२।

भावार्थः — यथा पितृपतिश्वशुरश्वश्रूर्मित्रस्वामिनः पदार्थैः पुत्रपुत्रीस्त्रीसखिभृत्यानां पालनं कुर्वन्तः सुखं ददति तथैव पुत्रादयोप्येतेषां सेवनं कुर्य्युः।

पदार्थ— हे (वसवः) श्रेष्ठ गुणों में रमण करने वाले (देवाः) व्यवहारी जनो! (ये) जो (स्वाहा) उत्तम क्रिया से (इदम्) इस (सवनम्) ऐश्वर्य का (जुषाणाः) सेवन (भरमाणाः) धारण करने (वहमानाः) औरों से प्राप्त होते हुए हम लोग तुम्हारे लिये (सुगा) अच्छी प्रकार प्राप्त होने योग्य (सदना) जिनके निमित्त पुरुषार्थ किया जाता है उन (हवींषि) देने लेने योग्य (वसूनि) धनों को (अकर्म) प्रकट कर रहे और (आजग्म) प्राप्त हुए हैं (अस्मे) हमारे लिये उन (वसूनि) धनों को आप (धत्त) धरो।

भावार्थ— जैसे पिता पति श्वशुर सासू मित्र और स्वामी पुत्र कन्या स्त्री स्नुषा सखा और भृत्यों का पालन करते हुए सुख देते हैं, वैसे पुत्रादि भी इनकी सेवा करना उचित समझें।''

अन्य भाष्यकारों ने इस मन्त्र को वाजसनेय सं. का दर्शाते हुए कुछ पाठभेद से इस प्रकार उद्धृत किया है— 'सुगावो देवाः सुपथा...' (शेष उपर्युक्तवत्)। इस प्रकार पण्डित भगवद्दत्त रिसर्चस्कॉलर का पाठ दोनों से भिन्न है।

इसी देवता की एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

त्रिचत्वारिंशः खण्डः

ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः। अर्वाक्पथ

उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य॥ [ऋ.७.३९.३]
ज्मया अत्र वसवोऽरमन्त देवाः। ज्मा पृथिवी। तस्यां भवाः। उरौ चान्तरिक्षे। मर्जयन्त गमयन्त रमयन्त। शुभ्राः शोभमानाः।
अर्वाच एनान्पथो बहुजवाः कुरुध्वम्। शृणुत दूतस्य जग्मुषो नोऽस्याग्नेः। वाजिनः। व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥ ४३॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति पार्थिव अग्नि से उत्पन्न प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता 'वसवः' तथा छन्द स्वराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वसु संज्ञक रश्मियाँ रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ज्मयाः, अत्र, वसवः, रन्त, देवाः, उरौ, अन्तरिक्षे, मर्जयन्त, शुभ्राः) 'ज्मया अत्र वसवो-ऽरमन्त देवाः ज्मा पृथिवी तस्यां भवाः उरौ चान्तरिक्षे मर्जयन्त गमयन्त रमयन्त शुभ्राः शोभ-मानाः' पार्थिव लोकों में विद्यमान विभिन्न प्रकार की वसु संज्ञक रश्मियाँ इन लोकों में सर्वत्र रमण करती रहती हैं और ये रश्मियाँ ही विस्तृत अन्तरिक्ष लोक में भी व्याप्त रहती हैं। ये रश्मियाँ अन्तरिक्ष में विभिन्न प्रकार के पदार्थों को सर्वत्र गमन कराती हुई एक अव्यक्त दीप्ति से युक्त होती हैं। ये रश्मियाँ अन्तरिक्ष में विभिन्न सूक्ष्म कणों को शुद्ध भी करती रहती हैं अर्थात् वे अन्तरिक्ष में व्याप्त देव पदार्थ को असुरादि पदार्थों से पृथक् करके पुनः शुद्ध करती हैं। यहाँ अन्तरिक्ष को 'उरु' कहा है। इसके यहाँ दो आशय हैं, जिसमें प्रथम यह है कि आकाशतत्त्व अति व्यापक होने के कारण सबको अपने अन्दर व्याप्त किए रहता है और दूसरा यह है कि आकाश ही सबको धारण भी करता है।

(अर्वाक्, पथः, उरुज्रयः, कृणुध्वम्, श्रोत, दूतस्य, जग्मुषः, नः, अस्य) 'अर्वाच एनान्पथो बहुजवाः कुरुध्वम् शृणुत दूतस्य जग्मुषो नोऽस्याग्नेः' ये वसु संज्ञक रश्मियाँ अन्तरिक्षस्य कणों वा विकिरणों, जो उनके सम्पर्क में आते हैं, उनको तीव्र वेग वाला बनाती हैं। ध्यान रहे कि जिस समय कोई प्रकाशाणु सोम्य कण से उत्सर्जित होता है, उस समय उसकी गति बहुत तीव्र नहीं होती, किन्तु जैसे ही वह धनञ्जय रश्मि से जुड़ जाता है, वैसे ही उसकी गति बहुत तीव्र हो जाती है। इसी प्रकार कणों की गति भी इन रश्मियों के संयोग से तीव्र हो जाती है अथवा यह कहें तब भी अनुचित नहीं होगा कि विभिन्न पदार्थों की गति का

कारण ये रश्मियाँ ही होती हैं। यहा 'श्रोता' पद 'श्रोत' का छान्दस रूप है। यहाँ 'दूतः' शब्द अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस विषय में वेद का भी कथन है— अग्निं दूतं वृणीमहे (ऋ.१.१२.१)। ये वसु संज्ञक रश्मियाँ इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों से सम्बद्ध विभिन्न पदार्थों के वाहकरूप अग्नि के परमाणुओं, जो इन रश्मियों के सम्मुख आ जाते हैं, को गति प्रदान करती हैं। इस मन्त्र के दोनों भागों में एक जैसी बात कही गई है, कथन की पुनरुक्ति सिद्धान्त की दृढ़ता की सूचक है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (ज्मयाः) भूमेर्मध्ये (अत्र) अस्मिन्संसारे (वसवः) विद्यायां कृतवासाः (रन्त) रमन्ताम् (देवाः) विद्वांसः (उरौ) बहुव्यापके (अन्तरिक्षे) आकाशे (मर्जयन्त) शोधयन्तु (शुभ्राः) शुद्धाचाराः (अर्वाक्) (पथः) मार्गान् (उरुज्रयः) बहुगन्तारः (कृणुध्वम्) (श्रोत) शृणुत। अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः। (दूतस्य) (जग्मुषः) गन्तॄन् प्राप्तान् वेदितॄन् (नः) अस्माकं अस्मान् वा (अस्य)।

भावार्थः — हे विद्वांसो यूयं धर्ममार्गान् शुद्धान् प्रचार्य्य दूतवत् सर्वत्र भ्रमणं कृत्वा धर्मे विस्तार्य सर्वान्मनुष्यान् प्राप्तविद्यासुखान्कुरुत।

पदार्थ— हे (उरुज्रयः) बहुत जाने और (शुभ्राः) शुद्ध आचरण करने वाले (वसवः) विद्या में वास किये हुए (देवाः) विद्वान् जनो तुम (उरौ) बहुव्यापक (अन्तरिक्षे) आकाश में (अत्र) इस संसार में (ज्मयाः) भूमि के बीच (रन्त) रमें (अर्वाक्) पीछे (पथः) मार्गों को (मर्जयन्त) शुद्ध करो (अस्य) इस (दूतस्य) दूत को (नः) हम लोगों को (जग्मुषः) जाने, प्राप्त होने वा जानने वाले (कृणुध्वम्) करो और हमारी विद्याओं को (श्रोत) सुनो।

भावार्थ— हे विद्वानो! तुम धर्म-मार्गों को शुद्ध प्रचरित कर दूत के समान सब जगह घूम, धर्म का विस्तार कर सब मनुष्यों को विद्या सुखयुक्त करो।''

तदुपरान्त 'वाजिनः' पद के निर्वचन के विषय में खण्ड २.२८ पठनीय है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= चतुश्चत्वारिंशः खण्डः =

**शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः॥**

[ऋ.७.३८.७, यजु.९.१६]

सुखा नो भवन्तु वाजिनो ह्वानेषु देवतातौ यज्ञे। मितद्रवः सुमितद्रवः। स्वर्काः स्वञ्चना इति वा। स्वर्चना इति वा। स्वर्चिष इति वा। जम्भयन्तोऽहिं च वृकं च रक्षांसि च। क्षिप्रमस्मद्यावयन्त्वमीवाः। देवाश्वा इति वा। देवपत्न्यः। देवानां पत्न्यः। तासामेषा भवति॥ ४४॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है, इसके विषय में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। इसका देवता वाजिनः है। इसका छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वाजी संज्ञक तरंगें नीलवर्ण को उत्पन्न करती हुई दूर-दूर तक फैलकर यजन कर्मों को परिपक्वता प्रदान करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(शम्, नः, भवन्तु, वाजिनः, हवेषु, देवताता, मितद्रवः, सुअर्काः) 'सुखा नो भवन्तु वाजिनो ह्वानेषु देवतातौ यज्ञे मितद्रवः सुमितद्रवः स्वर्काः स्वञ्चना इति वा स्वर्चना इति वा स्वर्चिष इति वा' इस सृष्टि में होने वाली विभिन्न यजन क्रियाओं में संयोज्य कण अन्य सहायक रश्मियों वा तरंगों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। ध्यान रहे कोई भी दो या दो से अधिक कण जब परस्पर संयुक्त होते हैं, तब उस यजन प्रक्रिया में अन्तरिक्ष में विद्यमान अनेक प्रकार की रश्मियों वा तरंगों की अनिवार्य भूमिका होती है। इसी प्रकरण में यहाँ कहा गया है कि यजन प्रक्रिया के समय संयोज्य कण वाजी संज्ञक उन तरंगों को, जो अन्तरिक्ष में विद्यमान होती हैं, अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। ये वाजी संज्ञक तरंगें मितद्रव होती हैं। इसका अर्थ यह है कि इनकी गति मर्यादित होती है। ये तरंगें न अति मन्द होती हैं और न अति तीव्रगामिनी होती हैं। इनकी गति सुन्दर होती है। इसका अर्थ यह है कि यजन प्रक्रिया के लिए इन तरंगों की जितनी गति होनी चाहिए, वैसी ही इनकी गति होती है। ये तरंगें सुन्दर दीप्ति को भी उत्पन्न करने वाली होती हैं और संयोज्य कणों को विशेष प्रभावित व चिह्नित करने वाली भी होती हैं। हमारी दृष्टि में यहाँ वाजी पद से न केवल

खण्ड २.२८ में वर्णित विशेष प्रकार की तरंगों का ग्रहण करना चाहिए,अपितु कुछ विशेष मरुद् रश्मियों का भी ग्रहण करना चाहिए।

(जम्भयन्तः, अहिम्, वृकम्, रक्षांसि, सनेमि, अस्मत्, युयवन्, अमीवाः) 'जम्भयन्तोऽहिं च वृकं च रक्षांसि च क्षिप्रमस्मद्यावयन्त्वमीवाः देवाश्वा इति वा' ये वाजी नामक तरंगें वा रश्मियाँ क्या करती हैं, इस बात को यहाँ स्पष्ट किया गया है। यहाँ 'जम्भयन्तः' पद 'जभि नाशने' धातु से व्युत्पन्न होता है। ये वाजी संज्ञक तरंगें वा रश्मियाँ [अहिः = अथ (वृत्रः) यदपात्समभवत्तस्मादहिः (श.ब्रा.१.६.३.९)। वृकः = स्तेननाम (निघं.३.२४)] वृत्र नामक आच्छादक बाधक असुर रश्मियों अर्थात् ऐसी असुर रश्मियों, जो संयोज्य कणों वा रश्मियों को उठाकर दूर ले जा सकती हैं एवं राक्षस संज्ञक हिंसक पदार्थों पर तीक्ष्ण प्रहार करके उन्हें नष्ट वा नियन्त्रित करने में सक्षम होती हैं, को नष्ट वा नियन्त्रित करती हैं। ध्यातव्य है कि किसी भी संयोग प्रक्रिया में इस प्रकार के बाधक पदार्थ बाधा डालते ही हैं। ये वाजी तरंगें वा रश्मियाँ वसिष्ठ नामक ऋषि रश्मियों से अर्थात् उन रश्मियों की प्रधानता वाले अग्नि वा विद्युत् से अमीवा अर्थात् किसी भी प्रकार की विकृति को दूर करती हैं। यहाँ 'युयवन्' पद 'यु मिश्रणे अमिश्रणे च' धातु से व्युत्पन्न होता है। यहाँ हमने अमिश्रण अर्थ ग्रहण किया है अर्थात् ये तरंगें अग्नि की विकृति को पृथक् करती हैं। इसका अर्थ यह भी है कि संयोग प्रक्रिया के समय जो अन्य विद्युदावेशित कण वहाँ विद्यमान होते हैं, जिनकी इस संयोग में कोई भूमिका नहीं है, उन कणों को ये तरंगें दूर हटाने का कार्य करती हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने 'अमीवाः' पद का अर्थ 'देवाश्वाः' भी किया है, इसका अर्थ है— आशुगामी देव पदार्थ। इससे यह भी संकेत मिलता है कि ये वाजी संज्ञक तरंगें या रश्मियाँ किसी भी संयोग प्रक्रिया में देवाश्व नामक तरंगों को संयुक्त कणों से दूर हटाती हैं अर्थात् इस संयोग प्रक्रिया में कुछ विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का उत्सर्जन होता है। यहाँ नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया, जो सभी तारों में होती है, का ही संकेत है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (शम्) सुखाय (नः) अस्माकम् (भवन्तु) (वाजिनः) वेगवन्तोऽश्वाः ज्ञानवन्तो योद्धारो वा (हवेषु) संग्रामेषु (देवताता) विद्वद्भिरनुष्ठातव्ये यज्ञे (मितद्रवः) ये मितं द्रवन्ति गच्छन्ति ते (स्वर्काः) शोभनोऽर्कोऽन्नादिकमैश्वर्यं येषान्ते (जम्भयन्तः) विनामयन्तः (अहिम्) सर्पमिव वर्तमानम् (वृकम्) स्तेनम् (रक्षांसि) दुष्टान् प्राणिनः

(सनेमि) पुरातने। सनेमीति पुराणनाम.। निघं.३.२७। (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (युयवन्) वियुज्यन्ताम् (अमीवाः) रोगाः।

भावार्थः — ये दुष्टाचारान् प्राणिनो रोगान् शत्रूँश्च निवर्त्य सर्वेषां कल्याणकरा भवन्ति त एव जगत्पूज्यास्सन्ति।

पदार्थ— हे विद्वानो! (वाजिनः) वेगवान् घोड़ा वा ज्ञानवान् योद्धा पुरुष (मितद्रवः) जो प्रमाण भर जाते हैं (स्वर्काः) जिनका शुभ अन्नादि है (हवेषु) वे संग्रामों में (देवताता) वा विद्वानों के अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ में (अहिम्) सर्प के समान वर्तमान (वृकम्) चोर को और (रक्षांसि) दुष्ट प्राणियों को (जम्भयन्तः) जम्भाई दिलाते हुए (नः) हम लोगों को (शम्) सुख के लिये (भवन्तु) होवें जिससे (अस्मत्) हम लोगों से (सनेमि) पुराने व्यवहार में (अमीवाः) रोग (युयवन्) अलग हों।

भावार्थ— जो दुष्ट आचार वाले प्राणी, रोग और शत्रुओं को निवार के सब के सुख करने वाले होते हैं, वे ही जगत् पूज्य होते हैं।''

'वाजिनः' पद के पश्चात् 'देवपत्न्यः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'देवपत्न्यः देवानां पत्न्यः'। देवों की पत्नियाँ अर्थात् रक्षिका शक्तियाँ ही देवपत्नी कहलाती हैं। यहाँ शक्तियों से उन शक्तिसम्पन्न पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए, जो किन्हीं देव पदार्थों की रक्षा करने में समर्थ होते हैं और उनके अन्दर ही विद्यमान रहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

पञ्चचत्वारिंशः खण्डः

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।

याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत॥

[ऋ.५.४६.७]

देवानां पत्न्य उशत्योऽवन्तु नः। प्रावन्तु नस्तुजयेऽपत्यजननाय चान्नसंसननाय च। याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते कर्मणि ता नो देव्यः सुहवाः शर्म यच्छन्तु शरणम्। तासामेषाऽपरा भवति॥ ४५॥

इस मन्त्र का ऋषि प्रतिक्षत्र आत्रेय है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति उन सूत्रात्मा वायु रश्मियों से उत्पन्न विशेष प्रकार की ऋषि रश्मियों, जो तीव्र भेदक तरंगों वा कणों के प्रति गमन कर रही होती हैं, से होती है। इसका देवता देवपत्न्यः और छन्द जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न देवकणों की रक्षिका रश्मियाँ गौरवर्ण को उत्पन्न करती हैं और उन देव पदार्थों को दूर-२ तक फैलाने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवानाम्, पत्नीः, उशतीः, अवन्तु, नः, प्र, अवन्तु, नः, तुजये, वाजसातये) 'देवानां पत्न्य उशत्योऽवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजयेऽपत्यजननाय चान्नसंसननाय च' विभिन्न देव कणों अर्थात् संयोज्य कणों की पत्नी अर्थात् रक्षिका रूप प्राणादि रश्मियाँ इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करती हुई उनकी ओर प्रवाहित होती हैं। इससे वे उन देवकणों की नाना प्रकार की क्रियाओं में इन ऋषि रश्मियों के साथ संगत वा व्याप्त होने लगती हैं। इसके कारण उन रश्मियों का वह मिश्रित रूप उन कणों की यजन प्रक्रिया का रक्षण व संवर्धन करता है। [तुजः = वज्रनाम (निघं.२.२०)] वे देवपत्नी संज्ञक रश्मियाँ इन ऋषि रश्मियों से सूक्ष्म वज्र रश्मियाँ उत्पन्न करने के लिए अथवा उन ऋषि रश्मियों के साथ मिलकर वज्ररूप प्राप्त करने के लिए उनकी ओर गमन करती हैं। [वाजः = अन्ननाम (निघं.२.७), बलनाम (निघं.२.९)] वे रश्मियाँ संयोज्य देव कणों के मध्य संयोजक वा संयोज्य रश्मियों एवं उनसे उत्पन्न बलों के सम्यक् विभाजन के लिए भी इन ऋषि रश्मियों की ओर प्रवाहित होती हैं। ध्यान रहे दो कणों के मध्य संयोग की प्रक्रिया में अनेक रश्मियों का प्रादुर्भाव होता है। कौनसी रश्मि कब उत्पन्न होती है और किस रश्मि के साथ उसका संयोग होता है, यह एक अत्यन्त सूक्ष्म विज्ञान है। इस प्रक्रिया में विभिन्न रश्मियों और कणों के मध्य बल का भी उचित विभाजन आवश्यक होता है। इस कार्य में

ये देवपत्नी और ऋषि रश्मियाँ अपनी अनिवार्य भूमिका निभाती हैं।

(याः, पार्थिवासः, याः, अपाम्, अपि, व्रते, ताः, नः, देवीः, सुहवाः, शर्म, यच्छत) 'याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते कर्मणि ता नो देव्यः सुहवाः शर्म यच्छन्तु शरणम्' जो देवपत्नी संज्ञक रश्मियाँ पार्थिव परमाणुओं में विद्यमान होती हैं अथवा जो आपः परमाणुओं में विद्यमान होती हैं, वे सभी अपने नाना प्रकार के [व्रतम् = कर्मनाम (निरु.२.१), अन्नं वै व्रतम् (श.ब्रा.७.५.१.२५), वीर्यं वै व्रतम् (श.ब्रा.१३.४.१.१५)] संयोजक कर्मों और इस प्रक्रिया में उत्पन्न बलों को उत्पन्न करने के लिए ऋषिरूप रश्मियों को सम्यक् रूप से आकृष्ट करती हुई अपना आश्रय देती हैं अर्थात् वे ऋषि रश्मियों के साथ अच्छी प्रकार मिश्रित हो जाती हैं। इससे ही उनके सभी कर्म सम्पादित हो पाते हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक अर्थ किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (देवानाम्) विदुषाम् (पत्नीः) स्त्रियः (उशतीः) कामयमानः (अवन्तु) रक्षन्तु (नः) अस्मानस्माकं वा (प्र, अवन्तु) (नः) अस्मान् (तुजये) बलाय (वाजसातये) (याः) (पार्थिवासः) पृथिव्यां विदिताः (याः) (अपाम्) जलानाम् (अपि) (व्रते) शीले (ताः) (नः) अस्मभ्यम् (देवीः) देदीप्यमानाः (सुहवाः) शोभनाह्वानाः (शर्म) सुखकारकं गृहम् (यच्छत) ददत।

भावार्थः — यथा राजानः पुरुषाणां न्यायं कुर्युस्तथैव स्त्रीणां न्यायं राज्ञ्यः कुर्य्युः।

पदार्थ— हे मनुष्यो! (याः) जो (देवानाम्) विद्वानों वा राजाओं के न्याय की (उशतीः) कामना करती हुई (पत्नीः) स्त्रियां (नः) हम लोगों की वा हमारे सम्बन्धी पदार्थों की (अवन्तु) रक्षा करें और (तुजये) बल और (वाजसातये) संग्राम के लिये (प्र, अवन्तु) अच्छी प्रकार रक्षा करें और (याः) जो (पार्थिवासः) पृथिवी में विदित (अपाम्) जलों के (व्रते) स्वभाव में (अपि) भी (देवीः) प्रकाशमान (सुहवाः) उत्तम आह्वान वाली (नः) हम लोगों को (शर्म) सुखकारक गृह देवें और (ताः) उनको (नः) हम लोगों के लिये आप लोग (यच्छत) दीजिये।

भावार्थ— जैसे राजा लोग पुरुषों का न्याय करें, वैसे ही स्त्रियों के न्याय को रानियाँ करें।''

इसी पद की एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षट्चत्वारिंशः खण्डः =

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥

[ऋ.५.४६.८]

अपि च ग्ना व्यन्तु देवपत्न्यः। इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी। अग्नाय्यग्नेः पत्नी।
अश्विन्यश्विनोः पत्नी। राट् राजतेः। रोदसी रुद्रस्य पत्नी।
वरुणानी च वरुणस्य पत्नी। व्यन्तु देव्यः कामयन्ताम्।
य ऋतुः कालो जायानां य ऋतुः कालो जायानाम्॥ ४६॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्व खण्ड के समान हैं। इसका छन्द विराट् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से देव पदार्थ विविध प्रकार के नीलवर्णों से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उत, ग्नाः, व्यन्तु, देवपत्नीः, इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनी, राट्) 'अपि च ग्ना व्यन्तु देवपत्न्यः इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी अग्नाय्यग्नेः पत्नी अश्विन्यश्विनोः पत्नी राट् राजतेः' [ग्नाः = वाङ्नाम (निघं.१.११)] पूर्व मन्त्र में वर्णित प्राण रश्मियों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की वाक् रश्मियाँ भी देवपत्नी के रूप में विभिन्न देव पदार्थों के अन्दर व्याप्त होती हैं। इनको भिन्न-२ नामों से जाना जाता है। इसके कुछ उदाहरण यहाँ मन्त्र में दिए गए हैं, यथा— इन्द्रतत्त्व की रक्षिका रश्मियों को अर्थात् इन्द्र की पत्नी को इन्द्राणी कहा गया है। अग्नि की रक्षिका रश्मियों अर्थात् अग्नि की पत्नी को अग्नायी कहा गया है। इसी भाँति अश्विनौ की पत्नी अर्थात् इनकी रक्षिका रश्मियों को अश्विनी कहा गया है। ये सभी रश्मियाँ अपने-२ देव पदार्थ को प्रकाशित अर्थात् सक्रिय एवं संरक्षित करती हैं। यद्यपि प्रत्येक देव पदार्थ में अनेक प्रकार की रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, इनमें से कुछ रश्मियाँ पुरुषरूप, तो कुछ स्त्रीरूप व्यवहार करती हैं। देवपत्नी संज्ञक रश्मियाँ स्त्रीरूप रश्मियों की प्रधानता वाली

होती हैं, ऐसा हमारा मत है।

(आ, रोदसी, वरुणानी, शृणोतु, व्यन्तु, देवी:, य:, ऋतु:, जनीनाम्) 'रोदसी रुद्रस्य पत्नी वरुणानी च वरुणस्य पत्नी व्यन्तु देव्य: कामयन्ताम् य ऋतु: कालो जायानां य ऋतु: कालो जायानाम्' रुद्र की पत्नी को रोदसी कहा गया है, उधर 'रोदसी' पद से द्यावापृथिवी का ग्रहण किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि रुद्ररूप तीक्ष्ण तरंगों की रक्षिका के रूप में तीक्ष्ण विद्युत् कणों की तरंगें ही कार्य करती हैं अथवा रोदसी से सूक्ष्म स्तर पर प्राण और अपान रश्मियों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार वरुण की पत्नी को वरुणानी कहा गया है। वरुण के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है— 'स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपम्।' (ऐ.ब्रा.३.४)। इस प्रकार इस तीक्ष्ण अग्निरूपी वरुण की रक्षिका रश्मियों को वरुणानी कहा गया है। यहाँ विभिन्न देवताओं के विषय में यह ध्यातव्य है कि भिन्न-२ स्तर पर सृष्टि के भिन्न-२ चरणों में देवताओं से भिन्न-२ पदार्थों का ग्रहण होता है, न कि सदैव एक ही पदार्थ का। इस कारण पाठक देव एवं देवपत्नियों के विषय को प्रसंगानुसार अपने मस्तिष्क में बिठा लें। ये देवपत्नी संज्ञक रश्मियाँ अन्य नाना प्रकार की स्त्रीरूप रश्मियों, जो ऋतु-२ में उत्पन्न होती हैं अर्थात् आवश्यकतानुसार संयोग के समय चरणबद्ध रूप से प्रकट होती रहती हैं, को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। तदुपरान्त वे पूर्वोक्त ऋषि रश्मियों के साथ मिलकर नाना प्रकार की संयोग प्रक्रियाओं को सम्पादित करती हैं।

यहाँ ऋतुकाल का आशय यही है कि एक क्रमिक शृंखला, जो संयोग प्रक्रिया के अनन्तर उत्पन्न होती है और इस शृंखला के प्रत्येक क्रम के अनुसार कुछ विशिष्ट रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। इन रश्मियों को ही यहाँ जाया भी कहा है, क्योंकि इनके अन्दर नाना प्रकार की रश्मियाँ प्रकट होकर देवपत्नी संज्ञक रश्मियों के सहयोग से अनेक प्रकार के बल एवं क्रियाओं को उत्पन्न करती रहती हैं। यहाँ 'आ शृणोतु' का अर्थ यह है कि वे देवपत्नी संज्ञक रश्मियाँ अपने सब ओर विद्यमान अथवा उत्पन्न रश्मियों को निरन्तर आकर्षित करती रहती हैं अथवा उनके आकर्षण के अनुकूल व्यवहार करती हैं। यहाँ 'य ऋतु: कालो जायानाम्' की पुनरावृत्ति करना इस बात का सूचक है कि बारहवाँ अध्याय यहाँ समाप्त होता है।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)

द्वादशोऽध्यायः समाप्यते।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

= प्रथमः खण्डः =

अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते। अपि वा संप्रत्यय एव स्यात्।
माहाभाग्याद् देवतायाः। सोऽग्निमेव प्रथममाह-
त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः॥ [ऋ.२.१.१]
इति यथैतस्मिन्त्सूक्ते।
नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे॥ [ऋ.२.२८.६]
इति वरुणस्य। अथैषेन्द्रस्य॥ १॥

पूर्व अध्यायों में विभिन्न देव पदार्थों की स्तुति की गई है अर्थात् उन पदार्थों के गुण, कर्म एवं स्वभावों की विवेचना की गई है। अब इन्हीं देव पदार्थों की अतिस्तुति प्रारम्भ करते हैं। यहाँ अतिस्तुति का तात्पर्य उन देव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होना और उन देव पदार्थों के महान् ऐश्वर्य पर दृढ़ विश्वास होना भी है। यहाँ अधिकांश भाष्यकार अतिस्तुति का तात्पर्य देवताओं से बढ़कर स्तुति अर्थात् देवाधिदेव परमात्मा की स्तुति मानते हैं। इस विषय में पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यदि पूर्व की भाँति यहाँ भी अग्नि व वायु आदि देव पदार्थों का वर्णन होता, तब 'देवतायाः' पद का प्रयोग न होकर 'देवतानाम्' पद का प्रयोग होता। इस कारण इन मन्त्रों में केवल परमात्मा की स्तुति ही माननी चाहिए। हमारी दृष्टि में यह तर्क उचित नहीं है। हमने पूर्व में सातवें अध्याय में यह स्पष्ट किया था कि किसी भी वेदमन्त्र के तीन प्रकार के अर्थ अवश्य होते हैं। उन तीन प्रकारों में से भी प्रत्येक प्रकार के एक से अधिक अर्थ हो सकते हैं अर्थात् प्रत्येक मन्त्र के आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक अर्थों के कुल मिलाकर तीन से अधिक अर्थ हो सकते हैं।

इस कारण 'देवतायाः' एकवचनान्त पद को देखकर यह मान लेना कि यहाँ केवल परमेश्वर की ही स्तुति की गई है अर्थात् इन मन्त्रों का केवल आध्यात्मिक अर्थ ही हो सकता है, यह उचित नहीं है। वस्तुतः इसका अर्थ यह है कि किसी मन्त्र में उसके भाष्य के अनुसार जिस-२ देव पदार्थ की स्तुति की जाती है, वह स्तुति व्यापक रूप में होती है, जिससे उस देव पदार्थ का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त हो सके और उस देव पदार्थ के ऐश्वर्य पर पाठकों को दृढ़ विश्वास हो सके। इसके साथ ही यहाँ अतिस्तुति पद से यह संकेत भी

मिलता है कि इन मन्त्रों के प्रभाव से मन्त्रों में वर्णित देव पदार्थ अधिक तेजस्वी होने लगते हैं।

इसके उदाहरण के रूप में जो ऋचा प्रस्तुत की गई है, उसे हम पूर्ण रूप में यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥ (ऋ.२.१.१)

इस मन्त्र का भाष्य हम पूर्व में खण्ड ६.१ में कर चुके हैं। इस मन्त्र को पुनः प्रस्तुत करने का कारण यह है कि ग्रन्थकार यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि इस मन्त्र में अग्नि नामक पदार्थ की अतिस्तुति की गई है। इसका अर्थ यह है कि यहाँ बार-२ अग्नि तत्त्व के गुणों की अनेक प्रकार से विवेचना की गई है। इसके साथ इससे यह भी संकेत मिलता है कि इस छन्द रश्मि के प्रभाव से अग्नि तत्त्व बहुत अधिक तेजस्वी होने लगता है।

अब एक अन्य निगम को प्रस्तुत किया है, जिसे हम सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

अपो सु म्यक्ष वरुण भियसं मत्सम्राळृतावोऽनु मा गृभाय।
दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहो नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे॥ (ऋ.२.२८.६)

इस मन्त्र का ऋषि गार्त्समद अथवा कूर्म है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण एवं अपान रश्मियों के संयोग से उत्पन्न एक विशेष प्रकार की रश्मियों से अथवा कूर्म रश्मियों से होती है। इसका देवता वरुण और छन्द निचृद् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से खण्ड १०.३ में वर्णित वरुण संज्ञक रश्मियाँ, विशेषकर प्राण, अपान एवं व्यान रश्मि समूह तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अपो, सु, म्यक्ष, वरुण, भियसम्, मत्, सम्राट्, ऋतवः, अनु, मा, गृभाय) [म्यक्ष = म्यक्षति गतिकर्मा (निघं.२.१४), भियसम् = भयम् (ऋषि दयानन्द भाष्य), अपो = दूरीकरणे (म.द.य.भा.३४.४६)] इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियों के सहयोग वा सम्बन्ध से वरुण संज्ञक रश्मियाँ तारों के केन्द्रीय भाग में होने वाली संलयन क्रियाओं

के समय असंलयनीय एवं बाधक पदार्थों को अच्छी प्रकार से दूर हटाती हैं और संलयनीय कणों को स्थिरता प्रदान करती हैं। ध्यान रहे कि सृष्टि में कोई भी पदार्थ निरपेक्ष रूप से स्थिर नहीं है, सिवाय ईश्वर और मूल प्रकृति के। यहाँ स्थिरता का तात्पर्य मात्र यही है कि संलयनीय कण संलयन क्रियाओं से विचलित नहीं होते। इस प्रक्रिया में ऋतु रश्मियाँ भी अनुकूल बलों को उत्पन्न करके संयुक्त कणों को उचित घूर्णन गति प्रदान करने में सहायक होती हैं। इन बलों के कारण वे कण परस्पर एक-दूसरे को ग्रहण करने अर्थात् बाँधने में समर्थ होते हैं। यहाँ 'ऋतवः' के स्थान पर 'ऋतावः' छान्दस प्रयोग है।

(दाम, इव, वत्सात्, वि, मुमुग्धि, अंहः, नहि, त्वत्, आरे, निमिषः, चन, ईशे) वे वरुण रश्मियाँ पतनकारी असुरादि पदार्थों के बन्धन से संयोज्य कणों को अच्छी प्रकार से और नाना प्रकार से छुड़ाती हैं। यहाँ 'वत्सः' के विषय में ऋषियों का कथन है— अग्निर्ह वै ब्राह्मणो वत्सः (जै.उ.२.१३.१), अयमेव वत्सो योऽयं (वायुः) पवते (श.ब्रा.१२.४.१.११)। इसका अर्थ यह है कि ये वरुण रश्मियाँ तारों के अन्दर विद्यमान अग्नि और वायु तत्त्व को इस प्रकार के सभी निकटस्थ वा दूरस्थ पातक पदार्थों से मुक्त रखती हैं। वस्तुतः तारों के केन्द्र में वरुण रश्मियों का बन्धन बहुत दृढ़ होता है। [निमिषः = निरन्तरम् (ऋषि दयानन्द भाष्य)] उन वरुण रश्मियों के निकट कोई भी अन्य पदार्थ संयोज्य कणों पर निरन्तर शासन नहीं कर सकता है अर्थात् इन वरुण रश्मियों का बन्धन अपेक्षाकृत दृढ़ होने के कारण संयोग-संलयन की प्रक्रिया में निर्विघ्न रूप से संलग्न रहता है। ऋषि दयानन्द ने इसका आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (अपो) (सु) (म्यक्ष) गमय (वरुण) श्रेष्ठ (भियसम्) भयम् (मत्) मम सकाशात् (सम्राट्) यः सम्यग् राजते सः (ऋतवः) ऋतं सत्यं बहुविधं विद्यते यस्य तत्सम्बुद्धौ (अनु) (मा) माम् (गृभाय) गृह्णीयाः (दामेव) यथा रज्जुः (वत्सात्) (वि) (मुमग्धि) मुञ्च (अंहः) अपराधम् (नहि) (त्वत्) तव सकाशात् (आरे) निकटे दूरे वा (निमिषः) निरन्तरम् (चन) (ईशे)।

भावार्थः — अध्यापका उपदेशका वा प्रथमतः सर्वेषां भयं निस्सार्य विद्याग्रहणं कारयेयुः कुव्यसनानि त्याजयेयुर्यतस्तेषां दूरे समीपे वा कोऽपि धर्मान्निवारयिता न स्यात्।

पदार्थ— हे (वरुण) श्रेष्ठ जन! आप (मत्) मेरे सम्बन्ध से (भियसम्) भय को (अपो, म्यक्ष) दूर कीजिये। हे (ऋतावः) बहुत सत्य को ग्रहण करने वाले (सम्राट्) सम्यक्

प्रकाशमान! आप (मा) मुझ पर (अनु, गृभाय) अनुग्रह करो (वत्सात्) बछड़े से गौ को जैसे वैसे मुझसे (अंहः) अपराध को (सु, वि, मुमुग्धि) सुन्दर प्रकार विशेष कर छुड़ाइये (त्वत्) आपके सम्बन्ध से (आरे) निकट वा दूर (निमिषः) निरन्तर (चन) भी कोई (नहि) नहीं (ईशे) समर्थ होता है।

भावार्थ— अध्यापक और उपदेशक पहिले से सबके भय को निकाल विद्या का ग्रहण करावें, बुरे व्यसन छुड़ावें, जिससे उनके दूर वा समीप में कोई धर्म से रोकने वाला न हो।''

यहाँ भी वरुण देवता अर्थात् वरुण रश्मियों की बार-२ अनेक प्रकार से चर्चा की गई है। भाँति-२ से उसके गुणों का कथन किया गया है। इस कारण इसे भी वरुण की अतिस्तुति कहा गया है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से वरुण रश्मियाँ अधिकाधिक प्रकाशित वा सक्रिय होने लगती हैं, यह भी अतिस्तुति का परिणाम है।

अग्नि और वरुण की अतिस्तुति के पश्चात् 'इन्द्र' की अतिस्तुति का उदाहरण अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= द्वितीयः खण्डः =

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्त्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥ [ऋ.८.७०.५]
यदि त इन्द्र शतं दिवः शतं भूमयः प्रतिमानानि स्युः। न त्वा वज्रिन्।
सहस्त्रमपि सूर्याः। न द्यावापृथिव्यावप्यभ्यश्नुवीतामिति।
अथैषाऽऽदित्यस्य॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि प्रियमेध है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों के एक विशेष आकर्षक रूप से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द निचृत् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीक्ष्ण श्वेतवर्णीय

तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यत्, द्यावः, शतम्, शतम्, भूमीः, उत, स्युः) 'यदि शतं दिवः शतं भूमयः प्रतिमानानि स्युः' जो ये ब्रह्माण्ड में सैकड़ों वा अनेक प्रकार के द्युलोक और असंख्य मात्रा में पृथ्वी लोक विद्यमान हैं, (न, इन्द्र, ते, त्वा, वज्रिन्, सहस्रम्, सूर्याः, अनु, न, जातम्, अष्ट, रोदसी) 'त इन्द्र न त्वा वज्रिन् सहस्रमपि सूर्याः न द्यावापृथिव्यावप्यभ्यश्नुवीतामिति' इसके साथ ही सहस्रों सूर्यलोक भी विद्यमान हैं और द्यु एवं पृथ्वी लोकों के अनेक जोड़े भी विद्यमान हैं, परन्तु ये सभी मिलकर भी वज्र रश्मियों से युक्त इन्द्र तत्त्व की भाँति व्यापकत्व को प्राप्त वा उत्पन्न नहीं कर सकते।

इस मन्त्र में द्युलोक, भूमि और सूर्य को पृथक्-२ भी दर्शाया गया है, इसके साथ ही द्युलोक और पृथ्वी लोक को संयुक्त रूप में भी द्यावापृथिवी नाम से दर्शाया गया है। तब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकरण में द्युलोक और पृथ्वी लोक दोनों को दो-२ बार क्यों दर्शाया है? क्या ब्रह्माण्ड में कई प्रकाशित लोक एवं अनेक अप्रकाशित लोक कहीं स्वतन्त्र रूप से तो विचरण नहीं कर रहे हैं अर्थात् क्या कुछ तारे ऐसे तो नहीं हैं, जिनके साथ कोई ग्रहादि लोक नहीं बँधे हों और कहीं कुछ ऐसे अप्रकाशित लोक तो नहीं हैं, जो किसी तारे के बन्धन से न बँधे हों? हमारी दृष्टि में ऐसे लोकों का अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार यहाँ ब्रह्माण्ड के सभी लोकों को श्रेणीबद्ध किया गया है, जिसमें इस ब्रह्माण्ड की व्यापकता भी दर्शायी गई है। इसी के साथ कहा गया है कि इन्द्र तत्त्व की व्यापकता इन लोकों की व्यापकता से भी अधिक है। ध्यातव्य है कि इस ब्रह्माण्ड में सर्वथा स्वतन्त्र तो कोई भी लोक वा पिण्ड नहीं हो सकता, परन्तु प्रकाशित व अप्रकाशित लोकों के पारस्परिक बन्धन अवश्य हों, ऐसा भी अनिवार्य नहीं है। कहीं दो या दो से अधिक प्रकाशित वा दो या दो से अधिक अप्रकाशित लोकों का भी बन्धन हो सकता है अथवा किन्हीं का बन्धन तो हो सकता है, परन्तु उनकी गति और मार्गों की मर्यादा भंग भी हो सकती है। ऐसा ही संकेत इस ऋचा से प्राप्त हो रहा है।

यहाँ इन्द्र तत्त्व की महिमा का अनेक प्रकार से वर्णन होने तथा इस ऋचा के प्रभाव से इन्द्र तत्त्व के अति सक्रिय होने के कारण इस ऋचा को भी इन्द्र देव की अतिस्तुति का उदाहरण बताया गया है। इन्द्र तत्त्व के पश्चात् अब 'आदित्य' की अतिस्तुति का उदाहरण अगले खण्ड में प्रस्तुत करते हैं।

* * * * *

= तृतीयः खण्डः =

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन।
क्व१स्य पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥

[ऋ.१०.८६.२२]

यदुदञ्चो वृषाकपे। गृहमिन्द्राजगमत। क्व स्य पुल्वघो मृगः।
क्व स बह्वादी मृगः। मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः। कमगमद् देशं जनयोपनः।
सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्। अथैषाऽऽदित्यरश्मीनाम्॥ ३॥

इस मन्त्र के ऋषि वृषाकपि इन्द्र और इन्द्राणी हैं, जिनके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता वरुण है, जो आदित्य लोक के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका छन्द निचृत् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक में नीलवर्णयुक्त तेज का विस्तार होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यत्, उदञ्चः, वृषाकपे, गृहम्, इन्द्र, अजगन्तन) 'यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगमत' जब वृषाकपि वरुण संज्ञक सूर्यलोक का खगोलीय = कॉस्मिक मेघरूप विशाल पिण्ड ऊर्ध्व दिशा अर्थात् केन्द्र की ओर सम्पीडित होने लगता है, उस समय उस सम्पीडन क्रिया में वृषाकपि अर्थात् बलवान् इन्द्र तत्त्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। उस विशाल मेघ में इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण विद्युत् के रूप में विद्यमान रहता है। जब वह मेघ सघन होने लगता है, उस समय वह इन्द्र तत्त्व [गृहाः = गृहा वै दुर्याः (ऐ.ब्रा.१.१३)] दुर्या नामक क्षेत्रों में विशेष रूप से प्रवाहित होता है। यहाँ दुर्या उन मार्गों वा छिद्रों का नाम है, जिनमें से होकर मेघस्थ पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित हो रहा होता है। यहाँ यह संकेत मिलता है कि जब विशाल खगोलीय मेघ का सम्पीडन होता है, तब उस मेघ में कुछ ऐसे कूप वा गुफानुमा मार्ग होते हैं, जिनमें पदार्थ नदी की धाराओं के समान अन्दर की ओर बहने लगता है। इन क्षेत्रों अर्थात् मार्गों में इन्द्र तत्त्व प्रबलता के साथ व्याप्त होने लगता है।

(क्व, स्यः, पुल्वघः, मृगः, कम्, अगन्, जनयोपनः, विश्वस्मात्, इन्द्रः, उत्तरः) 'क्व स्य

पुल्वघो मृगः क्व स बह्वादी मृगः मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः कमगमद् देशं जनयोपनः सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्' यहाँ 'पुलु' शब्द पुरु अर्थात् बहुत का सूचक है। यहाँ इन्द्र को मृग कहा गया है। जब वह इन्द्र तत्त्व उन मार्गों में व्याप्त हो जाता है, तब वह अति तीव्रगामी हो जाता है और वह अनेक पदार्थों का भक्षण करने वाला भी हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि इन मार्गों पर प्रवाहित होते हुए पदार्थ में अनेक विक्षोभभरी संयोग और वियोग की नाना प्रकार की क्रियाएँ होती रहती हैं। इसके साथ ही बाधक असुरादि पदार्थों के नष्ट होने की प्रक्रियाएँ इन्द्र तत्त्व के द्वारा होती रहती हैं। यहाँ 'क्व' पद 'कः' पद का सप्तमी विभक्ति एकवचन है। [कः = प्रजापतिर्वै कः (तै.सं.१.६.८.५; ऐ.ब्रा.२.३८), अन्नं वै कम् (ऐ.ब्रा.६.२१, गो.उ.६.३)] इसका अर्थ यह है कि दुर्या संज्ञक मार्गों में इन्द्र तत्त्व प्रजापति अर्थात् नाना प्रकार की यजन क्रियाओं और संयोज्य कणों में व्याप्त होने लगता है अर्थात् उनकी क्रियाओं के सम्पादन में अपनी भूमिका निभाता है। इसके अतिरिक्त यह इन्द्र तत्त्व जन अर्थात् विभिन्न उत्पन्न कणों के मिश्रण और अमिश्रण की क्रियाओं की प्रधानता वाले क्षेत्र की ओर बहने लगता है। यहाँ इस क्षेत्र का तात्पर्य उस निर्माणाधीन तारे का केन्द्रीय भाग समझना चाहिए। इस प्रकार किसी भी तारे में विभिन्न देवों में इन्द्र तत्त्व ही सबसे श्रेष्ठ और व्यापक भूमिका निभाता है। इसके अभाव में किसी भी तारे का निर्माण नहीं हो सकता।

यहाँ इन्द्र तत्त्व की अतिस्तुति करते हुए भी आदित्य लोक की अनेकधा स्तुति की गई है, जिस कारण यह ऋचा भी अतिस्तुति का एक उदाहरण है और इस ऋचा के प्रभाव से आदित्य लोक में तेजस्विता की मात्रा में वृद्धि होती है।

अब अगले खण्ड में आदित्य रश्मियों की अतिस्तुति में एक निगम को प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= चतुर्थः खण्डः =

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत। यत्रामदद्वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ [ऋ.१०.८६.१]

व्यसृक्षत हि प्रसवाय। न चेन्द्रं देवमसंसत। यत्रामाद्यद् वृषाकपिः।
अर्य ईश्वरः। पुष्टेषु पोषेषु। मत्सखा मम सखा। मदनसखा।
ये नः सखायस्तैः सहेति वा।
सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्। अथैषाऽश्विनोः॥ ४॥

इस मन्त्र का ऋषि और देवता पूर्व मन्त्र के समान समझें। इसका छन्द पंक्ति होने से इसका दैवत और छान्दस प्रभाव पूर्ववत्, परन्तु अपेक्षाकृत कुछ मृदु होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वि, हि, सोतोः, असृक्षत, न, इन्द्रम्, देवम्, अमंसत) 'व्यसृक्षत हि प्रसवाय न चेन्द्रं देवमसंसत' मन्त्र के इस पूर्वार्ध की व्याख्या हम पूर्व में खण्ड १.४ में कर चुके हैं। पाठक उसे पुनः पढ़ लें। (यत्र, अमदत्, वृषाकपिः, अर्यः, पुष्टेषु, मत्, सखा, विश्वस्मात्, इन्द्रः, उत्तरः) 'यत्रामाद्यद् वृषाकपिः अर्य ईश्वरः पुष्टेषु पोषेषु मत्सखा मम सखा मदनसखा ये नः सखायस्तैः सहेति वा सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्' इस प्रक्रिया में उस खगोलीय मेघ के अन्दर वृषाकपि संज्ञक ऋषि रश्मियाँ अति सक्रिय होकर इस सूक्त की छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने लगती हैं। इन रश्मियों के विषय में पूर्व खण्ड १२.२७ पठनीय है। इन्हीं रश्मियों को यहाँ अर्य = ईश्वर कहा है। इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ उस विशाल खगोलीय मेघ से आदित्य लोक के निर्माण की प्रक्रिया में अनेक क्रियाओं के नियन्त्रक की भूमिका निभाती हैं। उन रश्मियों के पुष्ट होने पर इन्द्र अर्थात् सूर्यलोक और उसकी रश्मियाँ इन वृषाकपि संज्ञक रश्मियों के समान तीव्र तेज से युक्त होने लगती हैं।

यहाँ 'सखा' पद का यही अर्थ है कि वृषाकपि संज्ञक रश्मियों के साथ सूर्यलोक और उसकी रश्मियों का अतिनिकट सम्बन्ध जुड़ जाता है और उन रश्मियों के साथ-२ आदित्य रश्मियाँ और आदित्य लोक भी समृद्ध होते जाते हैं। ऐसा वह सूर्यलोक इस ब्रह्माण्ड में सबसे उत्कृष्ट लोक माना जाता है और उसकी रश्मियाँ भी सबसे उत्कृष्ट मानी

गई हैं। यहाँ 'मत्सखा' पद का अर्थ मदनसखा कहा गया है। इसका अर्थ है कि वृषाकपि संज्ञक रश्मियों का आदित्य रश्मियों के साथ विशेष सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध उन रश्मियों के अति सक्रिय स्वरूप से ही है, न कि उनके किसी दुर्बल स्वरूप से। इस ऋचा में आदित्य रश्मियों की अनेकविध स्तुति की गई है। यहाँ इन्द्र पद का अर्थ भी आदित्य और आदित्य रश्मियाँ है। इस कारण यह आदित्य रश्मियों की अतिस्तुति का उदाहरण है। इसके साथ इस छन्द रश्मि के द्वारा आदित्य रश्मियाँ अधिक ऊर्जायुक्त होती हैं, यह अतिस्तुति का परिणाम है।

आदित्य रश्मियों के पश्चात् 'अश्विनोः' अर्थात् अश्विनों की अतिस्तुति का निगम प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

पञ्चमः खण्डः

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥ [ऋ.१०.१०६.६]
सृण्येवेति। द्विविधा सृणिर्भवति। भर्ता च हन्ता च। तथाश्विनौ चापि भर्तारौ।
जर्भरी भर्तारावित्यर्थः। तुर्फरीतू हन्तारौ। नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
नितोशस्यापत्यं नैतोशम्। नैतोशेव तुर्फरी क्षिप्रहन्तारौ।
उदन्यजेव जेमना मदेरू। उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने। सामुद्रे चान्द्रमसे वा।
जेमने जयमने। जेमना मदेरू। ता मे जराय्वजरं मरायु।
एतज्जरायुजं शरीरं शरदमजीर्णम्। अथैषा सोमस्य॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि भूतांश कश्यप है। [कश्यपः = प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत् तद्यदकरोत् तस्मात् कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजा काश्यप्य इति (श.ब्रा.७.४.१.५)। भूतः = देवा ह्येव भूताः (मै.सं.३.८.५)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न देव पदार्थों की अंशभूत ऐसी रश्मियों, जो कूर्म रश्मियों

से उत्पन्न होती हैं, से होती है। इसका देवता अश्विनौ और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अश्विनौ संज्ञक पूर्वोक्त पदार्थ विविध प्रकार के रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सृण्या, इव, जर्भरी, तुर्फरीतू, नैतोश, इव, तुर्फरी, पर्फरीका) 'सृण्येवेति द्विविधा सृणिर्भवति भर्ता च हन्ता च तथाश्विनौ चापि भर्तारौ जर्भरी भर्तारावित्यर्थः तुर्फरीतू हन्तारौ नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका नितोशस्यापत्यं नैतोशम् नैतोशेव तुर्फरी क्षिप्रहन्तारौ' [सृणिः = सृणिरङ्कुशो भवति सरणात् (निरु.५.२८)] सृणि पद के विषय में अध्येता पूर्व खण्ड ५.२८ अवश्य पढ़ें। इस मन्त्र का देवता अश्विनौ होने के कारण इसका प्रधान विषय अश्विन संज्ञक पदार्थ ही हैं। अश्विन संज्ञक पदार्थ कौन-२ से होते हैं, इनके विषय में हम खण्ड १२.१ में लिख चुके हैं। यहाँ 'अश्विनौ' पद का अर्थ द्यावापृथिवी अर्थात् प्रकाशित और अप्रकाशित कण अर्थात् कण और विकिरण ग्रहण करना अधिक उपयुक्त है। यहाँ इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि ये दोनों पदार्थ सृणि नामक वज्र रश्मियों के समान होते हैं। ये वज्र रश्मियाँ दो प्रकार की होती हैं, जिनमें एक प्रकार की वज्र रश्मियाँ वे होती हैं, जो बाधक वा हिंसक पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करने में सक्षम होती हैं और दूसरी वज्र रश्मियाँ वे होती हैं, जो संयोज्य पदार्थों को सब ओर से रोककर यजन प्रक्रिया में भाग लेने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं अर्थात् वे वज्र रश्मियाँ संयोज्य पदार्थों को सब ओर से एकत्रित करके ही निकट लाती हैं और उन संयोज्य कणों को आवश्यक ऊर्जा प्रदान करने में भी सहयोग करती हैं।

इस प्रकार अश्विनौ संज्ञक कण और विकिरण भी दो प्रकार के होते हैं, जिनमें प्रथम प्रकार के पदार्थ वे होते हैं, जो किसी संयोग प्रक्रिया में भाग लेकर उसके ही अंश बन जाते हैं और दूसरे प्रकार के कण और विकिरण ऐसे होते हैं, जो छेदन-भेदन आदि गुणों से युक्त होकर नाना प्रकार के पदार्थों का विखण्डन करने में समर्थ होते हैं, इसी कारण इनकी उपमा सृणि संज्ञक वज्र रश्मियों से की गई है। यहाँ 'अश्विनौ' पद के साथ 'भर्तारौ' पद का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ भर्ता एवं हन्ता दोनों ही समझना चाहिए। इसमें 'हन्ता' पद तिरोहित है।

अब ग्रन्थकार ने 'अश्विनौ' पद की उपमा 'जर्भरी' व 'तुर्फरीतू' से की है, जिनमें जर्भरी वे पदार्थ हैं, जो धारण व पोषण गुणों से युक्त होते हैं तथा तुर्फरीतू वे पदार्थ हैं, जो

अन्य पदार्थों को नष्ट करने में समर्थ होते हैं अर्थात् जिनकी भेदन क्षमता अति प्रबल होती है। इस प्रकार जर्भरी नामक पदार्थ कम ऊर्जा वाले और तुर्फरीतू नामक पदार्थ अति उच्च ऊर्जासम्पन्न होते हैं। यहाँ 'जर्भरी' और 'तुर्फरीतू' दोनों ही पद द्विवचनान्त इस कारण हैं, क्योंकि ये दोनों कण और विकिरण दोनों ही रूपों में उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त ये अश्विनौ संज्ञक पदार्थ 'नितोश' नामक पदार्थ के समान पूर्णतः हिंसक गुणों से युक्त होते हैं। यहाँ 'नितोशः' पद 'नितोशते वधकर्मा' (निघं.२.१९) धातु से व्युत्पन्न होता है। यहाँ 'नितोशः' पद में स्वार्थ में तद्धित का प्रयोग हुआ है। यह पदार्थ दो प्रकार के गुणों से युक्त होता है, जिनमें प्रथम प्रकार के पदार्थ को तुर्फरी कहते हैं, जिसका अर्थ है— तुरन्त ही किसी पदार्थ को नष्ट वा छिन्न-भिन्न करने वाला और दूसरे प्रकार का पदार्थ है— पर्फरीका। इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने 'निरुक्तसम्मर्शः' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

''पर्फरीका 'ञिफला विशरणे' (भ्वादि.) अस्मात् 'पर्फरीकादयश्च' (उ.को.४.२१) ईकाप्रत्ययान्तो निपात्यते।''

इसका अर्थ यह है कि जो पदार्थ अन्य बड़े-२ पदार्थों को फाड़ डालते हैं, उन्हें पर्फरीका कहते हैं। इस प्रकार इस सृष्टि में कुछ कण और विकिरण ऐसे होते हैं, जो अपने प्रहार से अन्य पदार्थों को नष्ट कर देते हैं। कुछ दूसरे कण व विकिरण ऐसे होते हैं, जो विशालकाय पिण्डों वा मेघों को फाड़कर उनके टुकड़े कर देते हैं। इनके प्रहार से पदार्थ नष्ट न होकर कुछ भागों में बँट जाता है, जबकि तुर्फरी संज्ञक कणों वा विकिरणों के प्रहार से पदार्थ छिन्न-भिन्न होकर सूक्ष्म भागों में बदल जाता है। इस प्रकार मन्त्र के इस पूर्वार्ध में कणों और विकिरणों के चार विभाग किए गए हैं। शेष चर्चा अगले भाग में की गई है।

(उदन्यजा, इव, जेमना, मदेरू, ता, मे, जरायु, अजरम्, मरायु) 'उदन्यजेव जेमना मदेरू उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे चान्द्रमसे वा जेमने जयमने जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु एतज्जरायुजं शरीरं शरदमजीर्णम्' [उदनि = उदके (निरु.१०.१२)। रत्नम् = रमयति हर्षयतीति रत्नम् (उ.को.३.१४)] कुछ कण और विकिरण एवं प्रकाशित व अप्रकाशित लोक समुद्री जल एवं विभिन्न चन्द्रमाओं में विद्यमान जल के अन्दर होने वाले नाना प्रकार के सुन्दर रत्नों के समान शोभनीय होते हैं। यह अनुसन्धान का विषय है कि चन्द्रमा पर विद्यमान जल में किस प्रकार के रत्न विद्यमान हैं और यह भी अन्वेषणीय है कि किन

विकिरणों वा कणों की बहुलता में इस प्रकार की सुन्दर दीप्ति विद्यमान होती है। इस प्रकार की दीप्ति वाले कण और विकिरण भी दो प्रकार के होते हैं। इनमें प्रथम प्रकार के कण व विकिरण जेमना अर्थात् अन्य पदार्थों को जीतने अर्थात् नियन्त्रण में करने वाले होते हैं। ये कण व विकिरण अन्य कणों व विकिरणों को अपनी ऊर्जा से नियन्त्रित करके अपने साथ ले जाने में सक्षम होते हैं और दूसरे प्रकार के कण व विकिरण मदेरू कहलाते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे कण व विकिरण अत्यन्त उत्तेजित अवस्था में रहते हैं और वे अन्य कणों व विकिरणों को भी उत्तेजित करते रहते हैं।

इस प्रकार ये कुल छः प्रकार के कण और विकिरण सिद्ध होते हैं। वे सभी कण और विकिरण इस छन्द रश्मि की कारणभूत कूर्म नामक ऋषि रश्मियों के जरायु से उत्पन्न अल्प आयु कण वा पदार्थों को शरत् एवं अजर रूप प्रदान करते हैं। [शरत् = अन्नं वै शरद् (मै.सं.१.६.९), यद् विद्योतते तच्छरदः (रूपम्) (श.ब्रा.२.२.३.८)] इसका अर्थ यह है कि वे उन पदार्थों को दीप्तिमान और संयोजक गुणों से युक्त बनाते हैं। यहाँ द्विवचनान्त पद का प्रयोग इस कारण है, क्योंकि ये सभी गुण अश्विनौ देवता कहाने वाले कण और विकिरण, विद्युत् एवं वायु, प्राण एवं अपान आदि सभी के हो सकते हैं।

इस ऋचा में अश्विनौ संज्ञक कणों और विकिरणों के गुणों की बार-२ स्तुति की गई है। इसी कारण से इसे अतिस्तुति वाली ऋचा कहा गया है।

अश्विनौ के पश्चात् 'सोम' देवता की अतिस्तुति का उदाहरण अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।
तरत्स मन्दी धावति। [ऋ.९.५८.१]
तरति स पापं सर्वं मन्दी यः स्तौति। धावति गच्छत्यूर्ध्वां गतिम्।

धारा सुतस्यान्धसः। धारयाभिषुतस्य सोमस्य मन्त्रपूतस्य वाचा स्तुतस्य। अथैषा यज्ञस्य॥ ६ ॥

इस मन्त्र का ऋषि अवत्सार [अवत्सारः = योऽवतो रक्षकान् सरति प्राप्नोति सः (तु.म.द.ऋ.भा.५.४४.१०)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति नाना प्रकार की संयोग प्रक्रियाओं की रक्षिका रूप रश्मियों में विचरण करने वाली विशेष प्रकार की प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता पवमान सोम तथा छन्द निचृत् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सोम पदार्थ श्वेतवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तरत्, सः, मन्दी, धावति, धारा, सुतस्य, अन्धसः) 'तरति स पापं सर्वं मन्दी यः स्तौति धावति गच्छत्यूर्ध्वां गतिम् धारा सुतस्यान्धसः धारयाभिषुतस्य सोमस्य मन्त्रपूतस्य वाचा स्तुतस्य' [मन्दी = मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः (निरु.४.२४)। अन्धसः = अन्धांसि अन्नानि (निरु.९.३६), अहर्व्वा अन्धः (तां.ब्रा.१२.३.३), अन्धो रात्रिः (तां.ब्रा.९.१.७)] यहाँ सोम का अर्थ है— तारों के अन्दर उत्पन्न विभिन्न कण, जो अग्नि को उत्पन्न करते हैं वा कर सकते हैं। ये पदार्थ प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। ऐसे पदार्थ प्रदीप्त व सक्रिय होकर जब गमन करते हैं, तब सभी पातक पाप संज्ञक पदार्थों को पार करते हुए आशुगामी होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने लगते हैं। वे बहुत तीव्र गति से ऊर्ध्व दिशा अर्थात् केन्द्रीय भाग की ओर बढ़ते हैं। वे पदार्थ प्रकाशित और अप्रकाशित कणों की वेगवती धाराओं, जो सम्पीडित होती हुई आगे बढ़ती हैं, के रूप में आगे बढ़ते हैं। ये धाराएँ विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों के द्वारा शुद्ध होती हुई गमन करती हैं। यहाँ 'तरत्स मन्दी धावति' का इस मन्त्र में दो बार प्रयोग है। इसका अर्थ यह है कि सोम पदार्थ के प्रकाशित और सक्रिय होकर आशुगामी होने की बात को यहाँ विशेष बल दिया गया है। यही सोम पदार्थ की अतिस्तुति है। इसके प्रभाव से तारों के अन्दर यह प्रक्रिया और भी अधिक तीव्र होती है।

सोम देवता के पश्चात् 'यज्ञ' की अतिस्तुति को अगले मन्त्र में दर्शाया गया है।

* * * * *

= सप्तमः खण्डः =

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥ [ऋ.४.५८.३]
चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः। त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि।
द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये। सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि।
त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः। वृषभो रोरवीति।
रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुभिः सामभिः।
यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति। महो देव इति।
एष हि महान्देवो यद्यज्ञः। मर्त्यां आविवेशेति।
एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है, जिसके बारे में हम पूर्व में कह चुके हैं। इसका देवता अग्नि, सूर्य, आपः, गौ एवं घृत है। इसका छन्द भुरिक् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से देवता संज्ञक पदार्थ अपने बाहुरूप बलों के साथ परिपक्व और विस्तृत होने लगते हैं। ग्रन्थकार ने इस ऋचा को यज्ञ की अतिस्तुति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, इस कारण इसका देवता यज्ञ भी है। अतः इसके दैवत प्रभाव से सृष्टि यज्ञ प्रक्रिया विस्तृत होने लगती है। इन देवताओं के विषय में हम मन्त्र के व्याख्यान के समय चर्चा करेंगे। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(चत्वारि, शृङ्गाः) 'चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः' इस सम्पूर्ण सृष्टि यज्ञ के चार शृङ्ग चार वेदों को माना है। शृङ्ग के विषय में ग्रन्थकार का मत है— शृङ्गाणि ज्वलतो नाम (निघं.१.१७), शृङ्गम् = श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा (निरु.२.७)। [शिरः = गायत्रं हि शिरः (श.ब्रा.८.६.२.६), शिरो वै प्राणानां योनिः (श.ब्रा.७.५.१.२२)] चारों वेद संहिताओं में जो भी मन्त्र समूह है, वह सम्पूर्ण सृष्टि के लिए शृङ्ग के समान इस कारण माना है, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि भी इन्हीं छन्द रश्मियों पर आश्रित होती है। किसी भी अनिष्ट पदार्थ को नष्ट करने के लिए यह मन्त्र समूह ही अर्थात् इनमें से कुछ छन्द रश्मियाँ ही अपनी भूमिका निभाती हैं। यह मन्त्र समूह ही

सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा करता है। यह मन्त्र-समूह सम्पूर्ण प्राण तत्त्व की कारणरूप दैवी गायत्री छन्द रश्मियों से उत्पन्न होता है। (त्रयः, अस्य, पादाः) 'त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि' इस सृष्टि यज्ञ के तीन पाद अर्थात् चरण होते हैं। ये चरण हैं— प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन अर्थात् सृष्टि का प्रथम चरण, मध्यम चरण और अन्तिम चरण।

(द्वे, शीर्षे) 'द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये' [प्रायणीयः = प्राण एव प्रायणीयः (काठ.सं. ३४.६), अहरेव प्रायणीयो रात्रिरुदयनीयः (जै.ब्रा.३.३७७), यदवारे तीर्थं तत् प्रायणीयम् (काठ.सं.३४.१६)। उदयनीयः = वागुदयनीयम् (कौ.ब्रा.७.९), यत्पारे तीर्थं तदुदयनीयम् (काठ.सं.३४.१६)] इस सृष्टि यज्ञ के दो शिर कहलाते हैं, वे हैं— प्रायणीय एवं उदयनीय। इसका अर्थ यह है कि रात्रिरूप महाप्रलय और दिनरूपी सृष्टि, इस सृष्टि यज्ञ के दो सिरे हैं। निकटस्थ सिरा यह सृष्टि है, जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं और प्रलयरूपी रात्रि दूसरा सिरा है, जिसे हम कभी नहीं देख पाते हैं। इसी प्रकार प्राण तत्त्व एवं वाक् तत्त्व भी क्रमशः प्रायणीय और उदयनीय रूप में इस सृष्टि यज्ञ के दो सिरे हैं और सम्पूर्ण सृष्टि इन दो के मेल से ही बनती है। (सप्त, हस्तासः, अस्य) 'सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि' गायत्री आदि सातों छन्द रश्मियाँ इस सृष्टि यज्ञ के सात हाथ हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा इस सृष्टि में नाना प्रकार के बल उत्पन्न होते हैं। 'हस्तः' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने' (निरु.१.७)। इसका अर्थ यह है कि ये सातों प्रकार की छन्द रश्मियाँ अतिशीघ्रतापूर्वक किसी पदार्थ का ग्रहण वा हनन करने में समर्थ होती हैं। सृष्टि में ये दोनों कार्य सर्वत्र देखे जा सकते हैं। (त्रिधा, बद्धः, वृषभः, रोरवीति, महः, देवः, मर्त्यान्, आ, विवेश) 'त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः वृषभो रोरवीति रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिः यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति महो देव इति एष हि महान्देवो यद्यज्ञः मर्त्यां आविवेशेति एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय' यह सृष्टि यज्ञ तीन प्रकार से बँधा हुआ है—

१. मन्त्र — इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि विभिन्न छन्द रश्मियों से बनी हुई है। 'मन्त्रः' पद के विषय में ऋषियों ने कहा है— मन्त्रा मननात् (निरु.७.१२), वाग्वै मन्त्रः (श.ब्रा.६.४.१.७)। इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि वाक् तत्त्व से बनी हुई प्रकाशित होती है।

२. ब्राह्मण — [ब्राह्मण = ब्रह्म हि ब्राह्मणः (श.ब्रा.५.१.५.२), ब्रह्म वै हिङ्कारः (ऐ.आ. १.३.१)] यह सृष्टि यज्ञ हिंकार रश्मियों से भी बँधा होता है। सभी छन्द रश्मियाँ एक-दूसरे से 'हिम्' रश्मियों के द्वारा बँधी हुई होती हैं। इसी कारण जगत् को 'हिम्' रश्मिरूप ब्राह्मण से बँधा हुआ कहा गया है।

३. कल्प — इसके विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— प्राणा वै कल्पाः (श.ब्रा.९.३.३.१२)। यह सृष्टि विभिन्न प्राण रश्मियों से भी बँधी हुई है।

ध्यातव्य है कि प्राण और छन्द दोनों एक ही होते हैं। इनका वर्गीकरण केवल सापेक्षता की दृष्टि से किया गया है। यहाँ इस सृष्टियज्ञ को वृषभ कहा है। इसका कारण यह है कि यह सृष्टि ही जीवों के लिए लौकिक तथा पारलौकिक सभी प्रकार के सुखों की वृष्टि करने का एकमात्र साधन है। इस कारण यह सृष्टि और शरीर हेय नहीं हैं, बल्कि इनके सदुपयोग से मनुष्य समस्त लौकिक सुखों को प्राप्त करके परमानन्द को प्राप्त कर सकता है। ऐसा सृष्टियज्ञ रूपी वृषभ निरन्तर शब्द उत्पन्न करता रहता है और इसके शब्द तीनों सवनों में क्रमानुसार भिन्न-२ प्रधानता वाले होते हैं। उदाहरणस्वरूप सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में ऋक् रश्मियों की प्रधानता होती है। उस समय इस सृष्टि की अवस्था प्रायः अप्रकाशित होती है। द्वितीय चरण अर्थात् माध्यन्दिन सवन में इस सृष्टि में यजु रश्मियों की प्रधानता होती है। इसी समय आकाश तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इस सृष्टि के तृतीय सवन में साम रश्मियों की प्रधानता होती है और इसी चरण में आदित्य लोकों की उत्पत्ति होती है। इस विषय में ऋषियों का कथन है— अयं वै लोकः प्रातःसवनम् (श.ब्रा.१२.८.२.८, गो.उ.३.१६), अन्तरिक्षं वै माध्यन्दिनꣳ सवनम् (श.ब्रा.१२.८.२.९), आदित्यानां तृतीयसवनम् (कौ.ब्रा.१६.१, श.ब्रा.४.३.५.१), ।

इस प्रकार यह सृष्टि यज्ञ ऋक् रश्मियों के द्वारा सूक्ष्म दीप्तियों को प्राप्त करता है। यजु रश्मियों के द्वारा नाना प्रकार की यजन क्रियाओं से सम्पन्न होता है और साम रश्मियों के द्वारा यह सर्गयज्ञ बहुलता से प्रकाशित होने लगता है। इस सृष्टियज्ञ रूपी वृषभ को यहाँ महान् देव कहा गया है, क्योंकि यह सृष्टि ही हमें सब प्रकार के सुखों को प्राप्त कराती है। यदि ऐसा नहीं होता, तो परमात्मा सृष्टि की रचना ही न करता। इसी कारण कहा है कि परमात्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि जीवों के भोग और मोक्ष के लिए बनाई है। उस परमात्मा का अपना कोई प्रयोजन नहीं है। यह सम्पूर्ण सृष्टि यज्ञ सभी जीवात्माओं के मरणधर्मा शरीरों

में सब ओर से प्रविष्ट हो रहा है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार विभिन्न यजन क्रियाएँ इस सृष्टि में होती हैं। उसी प्रकार की यजन क्रियाएँ जीवों के शरीर में भी हुआ करती हैं।

यहाँ हमने ग्रन्थकार के अनुसार इस मन्त्र का देवता यज्ञ मानकर यह आधिदैविक भाष्य किया है। वस्तुतः यह हमारा भाष्य नहीं, बल्कि ग्रन्थकार के भाष्य की आर्यभाषा हिन्दी में की गई व्याख्या है। हमने अब तक ग्रन्थ में ऐसा ही किया है। संहिता में इस मन्त्र के जो विभिन्न देवता दिए गए हैं, उनके अनुसार भी इस मन्त्र के अनेक प्रकार के आधिदैविक भाष्य हो सकते हैं, परन्तु विस्तारभय से हम ऐसा नहीं कर रहे हैं। यहाँ सृष्टि यज्ञ की अनेक प्रकार से स्तुति की गई है, इस कारण यह यज्ञ की अतिस्तुति का उदाहरण है।

ऋषि दयानन्द ने इसका आध्यात्मिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (चत्वारि) चत्वारो वेदाः (शृङ्गा) शृङ्गाणीव (त्रयः) कर्मोपासनाज्ञानानि (अस्य) धर्म्मव्यवहारस्य (पादाः) पत्तव्याः (द्वे) अभ्युदयनिःश्रेयसे (शीर्षे) शिरसी इव (सप्त) पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वा कर्म्मेन्द्रियाण्यन्तःकरणमात्मा च (हस्तासः) हस्तवद्वर्त्तमानाः (अस्य) धर्मयुक्तस्य नित्यनैमित्तिकस्य (त्रिधा) श्रद्धापुरुषार्थयोगाभ्यासैः (बद्धः) (वृषभः) सुखानां वर्षणात् (रोरवीति) भृशमुपदिशति (महः) महान् पूजनीयः (देवः) स्वप्रकाशः सर्वसुखप्रदाता (मर्त्यान्) मरणधर्मान् मनुष्यादीन् (आ) समन्तात् (विवेश) व्याप्नोति।

भावार्थः — हे मनुष्या अस्मिन् परमेश्वरव्याप्ते जगति यज्ञस्य चत्वारो वेदा नामाख्यातोप-सर्गनिपाता विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयधर्मार्थकाममोक्षाश्चेत्यादीनि शृङ्गाणि त्रीणि सवनानि त्रयः कालाः कर्म्मोपासनाज्ञानानि मनोवाक्छरीराणि चेत्यादीनि पादाः द्वौ व्यवहारपरमार्थौ नित्य-कार्यौ शब्दात्मानावुदगयनप्रायणीया अध्यापकोपदेशकौ चेत्यादीनि शिरांसि गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि सप्त विभक्तयः सप्त प्राणाः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि शरीरमात्मा चेत्यादयो हस्तास्त्रिषु मन्त्रब्राह्मणकल्पेषूरसि कण्ठे शिरसि श्रवणमनननिदिध्यासनेषु ब्रह्मचर्य्यसुकर्मसुविचारेषु सिद्धोऽयं व्यवहारो महान् सत्कर्तव्यो मनुष्येषु प्रविष्टोऽस्तीति सर्वे विजानन्तु।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जो (महः) बड़ा सेवा और आदर करने योग्य (देवः) स्वप्रकाश-स्वरूप और सब को सुख देने वाला (मर्त्यान्) मरणधर्मवाले मनुष्य आदिकों को (आ)

सब प्रकार से (विवेश) व्याप्त होता है (वृषभः) और जो सुखों का वर्षाने वाला (त्रिधा) तीन श्रद्धा, पुरुषार्थ और योगाभ्यास से (बद्धः) बँधा हुआ (रोरवीति) निरन्तर उपदेश देता है (अस्य) इस धर्म से युक्त नित्य और नैमित्तिक परमात्मा के बोध के (द्वे) दो, उन्नति और मोक्षरूप (शीर्षे) शिरस्थानापन्न (त्रयः) तीन अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञानरूप (पादाः) चलने योग्य पैर (चत्वारि) और चार वेद (शृङ्गा) शृङ्गों के सदृश आप लोगों को जानने योग्य हैं और (अस्य) इस धर्म व्यवहार के (सप्त) पांच ज्ञानेन्द्रिय वा पांच कर्मेन्द्रिय अन्तःकरण और आत्मा ये सात (हस्तासः) हाथों के सदृश वर्त्तमान हैं और उक्त तीन प्रकार से बँधा हुआ व्यवहार भी जानने योग्य है।

भावार्थ— हे मनुष्यो! इस परमेश्वर से व्याप्त संसार में यज्ञ के चार वेद और नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि शृङ्ग हैं। तीन सवन अर्थात् त्रैकालिक यज्ञ कर्म तीन काल कर्म उपासना ज्ञान मन वाणी शरीर इत्यादि पाद हैं। दो व्यवहार और परमार्थ, नित्य कार्य्य शब्दस्वरूप उदगयन और प्रायणीय अध्यापक और उपदेशक इत्यादि शिर हैं। गायत्री आदि सात छन्द सात विभक्तियाँ सात प्राण पाँच कर्म्मेन्द्रिय शरीर और आत्मा इत्यादि हस्त हैं। तीन मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प और हृदय, कण्ठ शिर में श्रवण, मनन निदिध्यासनों में ब्रह्मचर्य्य, श्रेष्ठ कर्म, उत्तम विचारों के बीच सिद्ध यह व्यवहार महान् सत्कर्त्तव्य और मनुष्यों के बीच प्रविष्ट है, यह सब जानें।''

अगले खण्ड में उद्धृत ऋचा में इसी 'यज्ञ' पद का और अधिक निर्वचन किया गया है।

* * * * *

अष्टमः खण्डः

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥ [अथर्व.४.१४.४]

स्वर्गच्छन्त ईजाना वा नेक्षन्ते। तेऽमुमेव लोकं गतवन्तमीक्षन्तमिति।
आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सर्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिर इति।
अथैषा वाचः प्रवह्लितेव॥ ८॥

इस मन्त्र का ऋषि भृगु है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अग्नि की ज्वालाओं में से उत्सर्जित होने वाली कुछ विशेष प्रकार की ऋषि रश्मियों से होती है। ये ऋषि रश्मियाँ किसी पदार्थ के ताप को बढ़ाने में अपनी भूमिका निभाती हैं। इसका देवता अग्नि और छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व खाकी पीले रंग के तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(स्वः, यन्तः, न, अपेक्षन्ते, द्याम्, आ, रोहन्ति, रोदसी) 'स्वर्गच्छन्त ईजाना वा नेक्षन्ते तेऽमुमेव लोकं गतवन्तमीक्षन्तमिति आ द्यां रोहन्ति रोदसी' किसी भी आदित्य लोक में विभिन्न प्रकार के कण आदि पदार्थ परस्पर संगत होते हुए विभिन्न धाराओं के रूप में स्वर्गलोक अर्थात् केन्द्रीय भाग की ओर गमन करते हैं। वे कण आदि पदार्थ उन कण आदि पदार्थों, जो केन्द्रीय भाग में पूर्व ही पहुँचे हुए होते हैं एवं जो उन आने वाले पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे होते हैं, को आकृष्ट नहीं करते हैं। इसका अर्थ यह है कि तारों के अन्दर विभिन्न संयोज्य कण केन्द्रीय भाग की ओर ही प्रवाहित होते रहते हैं, परन्तु विपरीत परिणाम नहीं देखा जाता अर्थात् केन्द्रीय भाग के कण प्रायः बाहर से आने वाले कणों की ओर गमन नहीं करते। इस प्रक्रिया में एक प्रक्रिया यह भी होती है, जिसके द्वारा भारी मात्रा में प्रकाशित और अप्रकाशित कण अर्थात् प्रकाशाणु एवं कुछ सूक्ष्म कण सूर्य से बाहर निकलकर द्युलोक की ओर आरोहण करते हुए सुदूर ब्रह्माण्ड की यात्रा करते रहते हैं। यहाँ दूसरा अर्थ यह भी सम्भव है कि सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर जो पदार्थ प्रवाहित होता है, उसमें प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के पदार्थ होते हैं।

(ये, सुविद्वांसः, विश्वतोधारम्, यज्ञम्, वितेनिरे) 'यज्ञं ये विश्वतोधारं सर्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे' [विद्वांसः = विद्वांसो हि देवाः (श.ब्रा.३.७.३.१०)] उपर्युक्त जो कण विभिन्न धाराओं के रूप में परस्पर संगत होते हुए केन्द्रीय भाग की ओर गमन करते हैं, वे सूर्यलोक

के बाहरी सम्पूर्ण विशाल क्षेत्र में विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मिरूप देवों के द्वारा सम्पूर्ण क्षेत्र में फैलाए जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि सूर्य के तल से जो पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होते हैं, वे विभिन्न धाराओं में गमन करते हुए भी सम्पूर्ण सूर्यलोक में व्याप्त होते हैं। इसके साथ ही केन्द्रीय भाग में होने वाली इनकी यजन प्रक्रिया सम्पूर्ण सूर्य के धारण व पोषण में अपनी भूमिका निभाती है।

इस मन्त्र में भी सृष्टि यज्ञ के एक भाग, जो सूर्यलोकों में सम्पादित होता है, की भाँति-भाँति से व्याख्या की गई है। इस कारण यह मन्त्र भी यज्ञ की अतिस्तुति वाला कहा गया है।

'यज्ञः' पद के पश्चात् अब 'वाक्' पद की पहेली के रूप में अगले खण्ड में एक ऋचा को प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= नवमः खण्डः =

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

[ऋ.१.१६४.४५]

चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनः।
गुहायां त्रीणि निहितानि। नार्थं वेदयन्ते। गुहा गूहतेः। तुरीयं त्वरतेः।
कतमानि तानि चत्वारि पदानि। ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्।
नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः।
मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः।
ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः।
सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके।

पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः। अथापि ब्राह्मणं भवति।
सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि। पशुषु तुरीयम्।
या पृथिव्याꣳ साग्नौ सा रथन्तरे। याऽन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये।
या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु।
ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः।
तस्माद् ब्राह्मणा उभयीꣳ वाचꣳ वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्।
[मै.सं.१.११.५] इति। अथैषाक्षरस्य॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता वाक् और छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वाक् रश्मियाँ अपने बाहुरूप बल से सम्पन्न होती हुई तीव्र रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(चत्वारि, वाक्, परिमिता, पदानि, तानि, विदुः, ब्राह्मणाः, ये, मनीषिणः) 'चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनः' वाक् तत्त्व को चार प्रकार के पदों में मापा जाता है अर्थात् सभी प्रकार की वाक् रश्मियों को चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ये चार प्रकार की वाक् रश्मियाँ ही विद्यमान हैं। इन चारों प्रकार की रश्मियों को मेधावी ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं। मनस् तत्त्व से प्रेरित सूत्रात्मा वायु रश्मियों एवं विभिन्न प्राण रश्मियों रूपी मनीषी से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के बलों के अन्दर ये वाक् रश्मियाँ विद्यमान होती हैं अथवा ये वाक् रश्मियाँ इन बलों को प्राप्त करती हैं। यहाँ बल को ब्राह्मण कहा गया है। 'मनीषा' पद के विषय में पूर्व खण्ड २.२५ व ९.१० पठनीय हैं। यहाँ वाणी को चार पदों में परिमित किया गया है। इससे संकेत मिलता है कि इन चार चरणों के अतिरिक्त अन्य कोई वाणी इस ब्रह्माण्ड में नहीं है। इन चार पदों के विषय में आगे कहा गया है—

(गुहा, त्रीणि, निहिता, न, इङ्गयन्ति, तुरीयम्, वाचः, मनुष्याः, वदन्ति) 'गुहायां त्रीणि निहितानि नार्थं वेदयन्ते गुहा गूहतेः तुरीयं त्वरतेः कतमानि तानि चत्वारि पदानि ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम् नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः

सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः' [गुहा = अन्तरिक्षम् (म.द.ऋ.भा.१.६.५)] वाणी के इन चार चरणों में से तीन चरण आकाश से आच्छादित होकर गुप्त रहते हैं। वे हमारे द्वारा नहीं जाने जा सकते अर्थात् साधारण मनुष्य उन्हें नहीं जान सकता। चौथे चरण को हम बोलते वा सुनते हैं। इस चरण को तुरीय कहा है, क्योंकि यह शीघ्रतापूर्वक सुना और समझा जा सकता है। यहाँ इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि वाणी के चौथे चरण को मनुष्य नामक कण प्राप्त करते हैं अर्थात् वाणी के इस चतुर्थ चरण को मनुष्य नामक कण उत्पन्न करते हैं एवं ये कण वाणी के इस चौथे चरण के द्वारा ही गमन करते हैं। इन कणों के विषय में हम पूर्व में खण्ड ३.७ में लिख चुके हैं। अन्यत्र कहा गया है— मनुष्या वै विश्वे देवाः (काठ.सं. १९.१२)। इसका अर्थ यह है कि आकाश तत्त्व की उत्पत्ति तक वाणी के तीन चरण उत्पन्न होकर उसी में छुपे रहते हैं। इसके पश्चात् जब विभिन्न प्रकार के देव कण आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, तब वाणी का चौथा चरण उत्पन्न होता है। ये चरण कौन-२ से होते हैं, इसको वर्गीकृत करते हुए ग्रन्थकार ने चार प्रकार के मत दिए हैं—

१. आर्षमत - इसके अनुसार 'ओम्', 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' ये चार वाणी के चरण वा पद हैं। इनके विषय में भगवान् मनु का कथन है— 'अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च'। भगवान् मनु का मत होने के कारण इस मत को आर्षमत कहा है। चारों पदों में से 'ओम्', 'भुवः' एवं 'स्वः', ये तीन पद मनुष्य नामक कणों की दृष्टि से परोक्ष सम्बन्ध रखने वाले हैं, परन्तु 'भूः' पद का इन कणों से साक्षात् सम्बन्ध है। इस कारण यहाँ इस पद को मनुष्य नामक कणों द्वारा प्राप्त होने योग्य माना जा सकता है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य नामक कणों में 'भूः' संज्ञक रश्मियों की अन्य तीनों पदों की अपेक्षा प्रधानता होती है।

२. वैयाकरण मत — इस मत के आचार्यों के अनुसार नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात ये चार प्रकार के पद सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान हैं। इस विषय में पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने अपने निरुक्त भाष्य में लिखा है—

"मेधावी ब्राह्मण इन चारों पदों को सम्यक्तया जानते हैं। इनमें से पहले तीन पद बुद्धिगम्य हैं, व्याकरण-विद्या से रहित मनुष्य उनके तत्त्व को नहीं समझ सकते, अपितु सर्वसाधारण मनुष्य वाक् स्वरूप परमेश्वर के चौथे निपात-पद को ही बोलते हैं अर्थात् वे

निपातवत् सिद्ध शब्द की तरह साधन ज्ञान के बिना ही उन शब्दों का प्रयोग करते हैं।''

हम पण्डित जी के मत से सहमत हैं। मनुष्य नामक कणों के साथ वैयाकरण मत की संगति लगना न तो सम्भव है और न ही आवश्यक।

३. याज्ञिक मत — मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण एवं व्यावहारिकी, ये चार वाणी के प्रकार हैं, जिनमें से मन्त्र, कल्प और ब्राह्मण ये तीन प्रकार मेधावी व्यक्ति ही समझ सकते हैं। अन्य व्यक्ति व्यावहारिकी भाषा ही बोलते हैं और उसे ही समझते हैं। इस मत की भी मनुष्य नामक कणों के साथ संगति लगना न सम्भव है और न आवश्यक।

४. नैरुक्त मत — ऋक्, यजु एवं साम मन्त्रों के अतिरिक्त व्यावहारिकी, भाषा का चौथा प्रकार है। इनमें से प्रथम तीन प्रकार वेदज्ञ व्यक्ति ही समझ सकते हैं, सामान्य व्यक्ति व्यावहारिकी भाषा ही बोलते व समझते हैं।

अन्य मत — सर्प की भाँति रेंगने वाले प्राणियों की बोली, पक्षियों की बोली एवं भूमि पर रेंगने वाले छोटे प्राणियों की बोली के अतिरिक्त मनुष्य की व्यावहारिकी भाषा, ये चार प्रकार हैं। इनमें से प्रथम तीन प्रकार की वाक् (भाषा) को मेधावी योगी ही समझ सकते हैं, अन्य तो मानवीय व्यवहार में आने वाली वाणी को ही बोलते व समझते हैं।

आत्मप्रवाद मत — पशुओं की वाणी, वाद्य यन्त्रों की ध्वनि, सिंहादि हिंसक प्राणियों की वाणी और मनुष्यों की सामान्य वाणी, ये चार प्रकार हैं। इनमें से प्रथम तीन प्रकारों को बुद्धिमान् व्यक्ति समझते हैं और लोकव्यवहार की भाषा को सामान्य मनुष्य भी समझ लेते हैं।

इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने किसी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए लिखा है—

''सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि। पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे। याऽन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु। ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः। तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्।''

हमें कुछ पाठभेद से यह प्रकरण मैत्रायणी संहिता १.११.५ में इस प्रकार मिला

है—

"सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवदेषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयꣳ या पृथिव्याꣳ साग्नौ सा रथन्तरे, यान्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये, या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ, अथ पशुषु, ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः, तस्माद् ब्राह्मण उभयीꣳ वाचꣳ वदति यश्च वेद यश्च न।"

इसका आशय इस प्रकार है— इस सृष्टि में जो भी वाणी रची गई है, उसका चार प्रकार से विभाजन माना जाता है। इसमें से पहले तीन प्रकार की वाणी इन तीनों लोकों अर्थात् प्रकाशित लोक, अप्रकाशित लोक एवं अन्तरिक्ष लोक अर्थात् आकाश तत्त्व में विद्यमान होती है, साथ ही चौथी प्रकार की वाणी पशुओं में विद्यमान होती है। पशु के विषय में ऋषियों का कथन है— प्रजा वै पशवः (तै.सं.२.६.४.३), यजमानः पशुः (तै.ब्रा.२.१.५.२)। इसका अर्थ यह है कि चौथी प्रकार की वाणी पशु-पक्षियों और मनुष्यादि प्राणियों की होती है। तीनों लोकों में विद्यमान वाणी वाक् रश्मियों के रूप में होती है किंवा इन तीनों लोकों में जिस भी पदार्थ की सत्ता विद्यमान होती है, वे सभी पदार्थ वाक् रश्मियों से ही निर्मित और संचालित होते हैं। उन्हीं वाक् रश्मियों से इन सभी प्राणियों के शरीर भी निर्मित होते हैं। यहाँ जिस चौथी वाणी की बात की जा रही है, वह इन प्राणियों के द्वारा बोली जाने वाली वाणी है। जो वाणी पृथ्वी आदि लोकों में विद्यमान होती है, वही वाणी अग्नि में भी विद्यमान होती है।

अग्नि और पृथ्वी का सम्बन्ध दर्शाते हुए ऋषियों का कथन है— अग्निगर्भा पृथिवी (श.ब्रा.१४.९.४.२१), आग्नेयी पृथिवी (जै.ब्रा.३.१८६)। इसकी पुष्टि में कुछ अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं— भूरिति वा अग्निः (तै.आ.७.५.२), भूमिः, भूः हीयम् (श.ब्रा. ७.४.२.७), भूरिति वा अयं लोकः (काठ.संक. ४७.४, श.ब्रा.८.७.४.५), भूरितीमाम् असृजताग्निं रथन्तरं त्रिवृतं गायत्रीम् (काठ.सं.६.७)। यहाँ अग्नि और पृथिवी का 'भूः' इस वाक् रश्मि से सम्बन्ध स्पष्ट हो रहा है। इसके साथ ही इन दोनों का रथन्तर साम से भी सम्बन्ध प्रकट हो रहा है। रथन्तर साम का अग्नि और पृथिवी के साथ सम्बन्ध दर्शाने वाले कुछ अन्य आर्ष वचनों को भी हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं— अयं वै (पृथिवी) लोको रथन्तरम् (ऐ.ब्रा.८.२), रथन्तरं हीयम् (पृथिवी) (श.ब्रा.१.७.२.१७), अग्निर्वै रथन्तरम् (ऐ.ब्रा.५.३०)। इसी कारण यहाँ कहा गया है कि जो वाणी पृथिवी में है, वही

अग्नि एवं रथन्तर साम रश्मियों में होती है।

अब दूसरी वाणी के विषय में कहा है कि जो वाणी अन्तरिक्ष में है, वही वायु तत्त्व तथा वामदेव्य साम रश्मियों में भी है। हम यहाँ अन्तरिक्ष और वायु का सम्बन्ध दर्शाने वाले कुछ वचनों को उद्धृत करते हैं— अन्तरिक्षꣳ शान्तिस्तद् वायुना शान्तिः (मै.सं.४.९.२७), अन्तरिक्षꣳ समित्, ताꣳ वायुः समिन्द्धे (मै.सं.४.९.२३), युनज्मि वायुमन्तरिक्षेण ते सह (तै.सं.३.१.६.१-२)। अब हम वायु और वामदेव्य का सम्बन्ध दर्शाने वाला एक आर्षवचन यहाँ उद्धृत करते हैं— वायुर्वामदेव्यम् (जै.ब्रा.१.३३५)। तदनन्तर हम वामदेव्य और अन्तरिक्ष का सम्बन्ध दर्शाने वाले कुछ प्रमाण यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं— अन्तरिक्षꣳ वामदेव्यम् (मै.सं.३.३.५), इदं वा अन्तरिक्षं वामदेव्यम् (जै.ब्रा.१.१४६)।

इस प्रकार आकाश तत्त्व, वायु तत्त्व एवं वामदेव्य रश्मियों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इसी कारण कहा है कि जो वाणी अन्तरिक्ष में होती है, वही वायु और वामदेव्य रश्मियों में भी होती है। इसके उदाहरण के लिए हम 'भुवः' रश्मियों का अन्तरिक्ष आदि से सम्बन्ध दर्शाने वाला प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं— भुव इति व्याहृतिः तदिदमन्तरिक्षं वायुर्देवता जगती छन्दस् सप्तदश स्तोमो वामदेव्यं साम रुद्रा देवतापश्च प्राणभृच्च (जै.ब्रा.३.८७)। तदनन्तर कहा है कि जो वाणी द्युलोक में है अर्थात् आदित्य लोक में है, वही बृहती साम रश्मियों में और वही आकाशीय विद्युत् में है। बृहत्, साम और आदित्य के विषय में ऋषियों का कथन है— आदित्ये बृहत् (साम) (शां.आ.६.२; कौ.उ.४.२), आदित्यो बृहत् (ऐ.ब्रा.५.३०)। अब हम बृहत् और आकाशीय विद्युत् का सम्बन्ध दर्शाने वाला एक आर्ष वचन यहाँ उद्धृत कर रहे हैं— स (प्रजापतिः) बृहदसृजत तत्स्तनयित्नोर्घोषोऽन्वसृज्यत (तां.ब्रा.७.८.१०)। इसी कारण यहाँ कहा गया है कि जो वाणी आदित्य लोक में है, वही वाणी बृहती साम रश्मियों और आकाशीय विद्युत् में होती है।

इन सभी का सम्बन्ध स्पष्ट और विस्तार से जानने के लिए 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' का अध्ययन अनिवार्य है। इसी कारण हम इन सभी आर्ष वचनों की व्याख्या नहीं कर रहे हैं। विज्ञ पाठक इस ग्रन्थ के अब तक किये अध्ययन से 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' के मूल तत्त्वों से अवगत हो चुके होंगे और वे इन सभी वचनों का आशय भी समझ सकते हैं।

यहाँ हमने तीनों लोकों में विद्यमान वाक् तत्त्व की चर्चा की। इसके अनन्तर वाणी

के चौथे विभाग को मनुष्य आदि प्राणियों में बतलाया गया। यहाँ मनुष्य आदि प्राणियों की सामान्य वाणी की ओर ही संकेत है, मेधावी जनों की विशिष्ट वाणी की ओर नहीं। इसलिए उपर्युक्त अज्ञात ब्राह्मण ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है— 'ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्' अर्थात् वाणी के इन उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त जो भी कुछ शेष वाणी रह जाती है, उसे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण समाधि के द्वारा धारण करते हैं अर्थात् उसे प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि प्रकाशित लोक, अप्रकाशित लोक, अन्तरिक्ष, अग्नि, वायु एवं विद्युत् आदि सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान वाक् तत्त्व की चर्चा यहाँ की जा चुकी है, तब फिर ऐसा कौन सा पदार्थ है, जिसकी और जिसमें विद्यमान वाक् तत्त्व की चर्चा शेष रह जाती है और जिसे केवल उच्च कोटि के योगी ही जान सकते हैं। इसके उत्तर में हम कहना चाहेंगे कि इन उपर्युक्त सभी पदार्थों में सबसे सूक्ष्म पदार्थ आकाश तत्त्व ही है। सृष्टि में इससे भी सूक्ष्म मनस्तत्त्व, महत् तत्त्व एवं प्रकृतिरूपी मूल पदार्थ में भी परा और पश्यन्ती रूप में वाक् तत्त्व विद्यमान होता है, उसकी चर्चा यहाँ नहीं की गई है। उस वाणी को ही यहाँ शेष वाणी कहा गया है और उसे ही योगी लोग ग्रहण करते हैं। इसमें भी परा वाणी को ग्रहण करना सर्वाधिक साधनासाध्य और प्रज्ञासाध्य कार्य है।

इसी कारण यहाँ कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष दोनों प्रकार की वाणी बोलते हैं, जिनमें से एक वाणी वह है, जो प्रकृतिरूपी मूल पदार्थ से लेकर उपर्युक्त तीनों लोकों और अग्नि आदि पदार्थों में विद्यमान है और दूसरी वाणी वह है, जो पशु-पक्षियों आदि प्राणियों और मानवीय व्यवहार में उपयोग में आती है। इन सभी वाणियों को समझने वाले को ही यहाँ ब्राह्मण कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण उस मनुष्य को कहते हैं, जो सम्पूर्ण सृष्टि के जड़ पदार्थों और सभी प्राणियों की भाषा व व्यवहार को ठीक-२ जानता है। यह निश्चित ही ज्ञान-विज्ञान की पराकाष्ठा है, जिससे ऊँचा विज्ञान नहीं है, चाहे वह अध्यात्म हो अथवा भौतिक। इसमें से जिस-२ को जितना-२ अधिक ज्ञान होगा, वह उतना-२ अधिक उच्च स्तर वाला ब्राह्मण वा योगी कहलाएगा। वर्तमान वेदवेत्ताओं, ब्रह्मवेत्ताओं और योगी कहलाने वालों को इस कसौटी पर स्वयं को परखने का प्रयास करना चाहिए।

यहाँ जिस अतिरिक्त वाणी, जिसे केवल योगी ही समझ सकते हैं, की चर्चा की

गई है, उसका संकेत ग्रन्थकार महर्षि यास्क ने नहीं किया है, परन्तु उसकी चर्चा करना वैदिक विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमने इसकी चर्चा 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' के पाँचवें अध्याय में विस्तार से की है, जो इस प्रकार है—

"इस विषय में प्रख्यात आर्य विद्वान् पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने भाष्य में लिखा है—

'परावाक् का सिद्धान्त नया नहीं है। देवकी पुत्र भगवान् कृष्ण ने इसका वर्णन साम्बपञ्चाशिका के तीसरे श्लोक में किया है।'

इस प्रकार महद् वेदविज्ञानी योगेश्वर श्रीकृष्ण का मत हमें सर्वथा स्वीकार्य है। जो विद्वान् इस पर भी शंका करें, उनका कोई उपाय नहीं।

परा, पश्यन्ती आदि वाणी के चारों रूपों की चर्चा व्याकरण महाभाष्य के भाष्य प्रदीप में आचार्य कैयट तथा नागेश भट्ट ने भी की है। इन्होंने 'वाक्यपदीयम्' के कई श्लोकों को भी उद्धृत किया है।

हम वाणी के इन चारों स्वरूपों पर कुछ विचार करते हैं—

१. परा — परा वाणी सबसे सूक्ष्म, परन्तु सर्वाधिक प्रकृष्ट तथा सभी वाणियों का उच्चतम मूलस्वरूप है। 'परा' एक अव्यय पद है, जिसका प्रयोग आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोष में कई अर्थों में दर्शाया है, जिसमें जाना, सामना करना, पराक्रम, आधिक्य, पराधीनता, मुक्ति, एक ओर रख देना आदि मुख्य हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस अव्यय का प्रयोग उपरिभावे, दूरार्थे, पृथक्, प्रकृष्टार्थे, दूरीकरणे, पराजयार्थे आदि में किया है। (देखे— वै.को.)

यद्यपि यहाँ हम 'परा' उपसर्ग अव्यय पद की चर्चा नहीं कर रहे हैं, पुनरपि इन अर्थों से 'परा' पद का अर्थ विदित होने से 'परा वाक्' के स्वरूप का भी बोध हो जाता है। संस्कृत व्याकरण का प्रयोग करके किसी भी शब्द के अर्थ का सम्बन्ध व तद्-वाच्य पदार्थ के स्वरूप का बोध कराना ही व्याकरण शास्त्र की वैज्ञानिकता है। इस प्रकार परा वाक् एक ऐसी सूक्ष्म वाणी है, जो सर्वाधिक सूक्ष्म, सर्वतोव्याप्त, अत्यधिक मात्रा में विद्यमान, सबको अपने साथ बाँधने वाली, परन्तु स्वयं सबसे मुक्त एवं सबसे उच्चतम अवस्था वाली है। यह सूक्ष्मतमा होने से कर्णगोचर कदापि नहीं हो सकती। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूक्ष्मतम रूप में व्याप्त रहकर प्रत्येक कण-२ को अपने से समन्वित रखती है।

इसे अत्युत्कृष्ट योगी पुरुष ही अनुभव कर सकते हैं। इसे किसी वैज्ञानिक तकनीक से नहीं जाना जा सकता। हमारे मत में मनुष्य जिस वैखरी वाणी को सुनता है, वह वाणी आत्मा द्वारा परा अवस्था में ही ग्रहण की जाती है।

२. पश्यन्ती — इस शब्द का रूप ही बता रहा है कि यह वाणी परा की अपेक्षा स्थूल तथा यह विभिन्न वर्णों को देखती हुयी अर्थात् उनको उनका स्वरूप प्रदान करती हुई बीजवत् होती है। यह परा वाणी से स्थूल एवं मध्यमा से सूक्ष्म होती है।

या सा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं
वर्णान्तः प्रकटकरणैः प्राण सगत् प्रसूते॥
(साम्बपञ्चाशिका, श्लोक-४)

इस श्लोक की व्याख्या में क्षेमराज ने कहा है— 'तत्र चिज्ज्योतिषि गुणीभूत सूक्ष्मप्राणसगत् पश्यन्तीम्' अर्थात् पश्यन्ती में चिज्ज्योति की प्रधानता और सूक्ष्मप्राण गौण रहता है, उस दशा में भी वर्ण उत्पन्न होते हैं। (देखें— महात्मा भर्तृहरि रचित 'वाक्यपदीयम्' के ब्रह्म काण्ड पर पण्डित शिवशंकर अवस्थी की टीका पृ.सं.४२३-२४) [मित्रावरुणौ = प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ (श.ब्रा.१.८.३.१२), यज्ञो वै मैत्रावरुणः (कौ.ब्रा.१३.२), मनो मैत्रावरुणः (श.ब्रा.१२.८.२.२३), प्राणापानौ मित्रावरुणौ (तां.ब्रा.६.१०.५)। सदनम् = गर्भस्थानम् (म.द.य.भा.१२.३९)] हमारे मत में इस श्लोक का भाव है कि पश्यन्ती वाक् संयोज्य मनस्तत्त्व के आधार किंवा उसी में उत्पन्न होती है। प्राण, अपान व उदानादि रश्मियों का गर्भरूप यही पश्यन्ती वाक् तत्त्व होता है अर्थात् सभी प्राण व छन्द रश्मियाँ इसी वाक् तत्त्व से एवं इसी में उत्पन्न होती हैं। यहाँ 'प्राण सगत् प्रसूते' में प्राण का अर्थ मनस्तत्त्व मानना चाहिए।

परा के अतिरिक्त तीन प्रकार की वाणियों की उत्पति ही यहाँ साम्बपञ्चाशिका के इस श्लोक से होती प्रतीत हो रही है। परा वाणी में तिरेसठ वर्णों का अस्तित्व नहीं होता। क्षेमराज के कथन से यही स्पष्ट होता है कि चेतना जब मनरूप सूक्ष्म प्राण से संयोग करती है अर्थात् जब चेतना की प्रधानता तथा वह सूक्ष्मप्राण गौण होता है, तब इस पश्यन्ती वाक् की उत्पत्ति होती है। यह पश्यन्ती वाक् सभी वर्णों के मूलरूप को समेटे हुए होती है। सम्भवतः इस वाणी को भविष्य में कभी किसी सूक्ष्म तकनीक से ग्रहण किया जा सकेगा, ऐसा हमारा मत है। यहाँ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वाणी का वर्णरूप इस पश्यन्ती अवस्था

में ही मूलरूप में प्रकट हो पाता है। परा वाक् सर्वथा अव्यक्त रूप में होती है। हमारे मत में परा वाणी में भी अक्षरों का संस्कार, सूक्ष्मतम रूप में विद्यमान अवश्य होता है और उसी से मूलरूप पश्यन्ती वाक् की उत्पत्ति होती है किंवा परावाक् ही पश्यन्ती वाक् के रूप में परिवर्तित होती है। ध्यातव्य है कि पश्यन्ती में भी वर्णों का स्पष्ट रूप विद्यमान नहीं होता।

डॉ. शिवशंकर अवस्थी ने 'वाक्यपदीयम्' की टीका पृ.सं.७४ में एक अज्ञातरचित श्लोक उद्धृत किया है—

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा। द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी॥

यह श्लोक कुछ पाठभेद से व्याकरण के भाष्यप्रदीपकार नागेश भट्ट ने भी 'चत्वारि वाक्परिमिता' (ऋ.१.१६४.४५) मन्त्र के व्याख्यान में दिया है।

इसमें पश्यन्ती के स्वरूप की विवेचना में अवस्थी का कथन उचित ही है कि इसमें श्रोता की बुद्धि में अर्थ का द्योतन होता है। जब कोई व्यक्ति कर्ण द्वारा कोई बात सुनता है, तब कानों की तन्त्रिकाओं द्वारा संवेदना मस्तिष्क पुनः मनस्तत्त्व को पहुँचती है। उस संवेदना में वर्णों की विद्यमानता में ही मन के सहयोग से मस्तिष्क वर्णों की पहचान करता है। यदि उन संवेदनाओं में वर्णों का सर्वथा अभाव होता, तो मस्तिष्क वा मनस्तत्त्व वाणी को कदापि नहीं पहचान सकते। वही वाणी पश्यन्ती है, जो कान से तो सुनाई नहीं देती, परन्तु मस्तिष्क के माध्यम से मनस्तत्त्व जिसे अनुभव करता है।

३. मध्यमा — 'साम्बपञ्चाशिका' के उपर्युद्धृत श्लोक की व्याख्या में क्षेमराज लिखते हैं—

'गुणीभूत चित्सूक्ष्मप्राणसगन्मध्यमायाम्' इस पर डॉ. अवस्थी पृष्ठ संख्या ४२४ पर लिखते हैं कि मध्यमा वाणी में चिज्ज्योति गौण तथा सूक्ष्म प्राण प्रधान होता है। इस वाक् को पश्यन्ती से स्थूल व वैखरी से सूक्ष्म माना जाता है। उपर्युक्त अज्ञातरचित श्लोक की व्याख्या में डॉ. अवस्थी का कहना है कि जो वाणी श्रोता के कर्णों द्वारा सुनी जाती है, वह मध्यमा होती है। इससे हमें यह प्रतीत होता है कि कर्णपटल पर जो ध्वनि सुनाई देती है, वह जिस स्वरूप को प्राप्त कर लेती है, वह मध्यमा होती है। मस्तिष्क व कानों के मध्य जिस वाणी का संचरण होता है, वह यही होती है। इसमें वर्णों का रूप पश्यन्ती की अपेक्षा

स्थूल एवं वैखरी की अपेक्षा सूक्ष्म होता है। इसमें चेतन के सानिध्य की भी पश्यन्ती की भाँति अनिवार्यता, परन्तु तदपेक्षा कुछ न्यूनता होती है।

४. वैखरी — यह वह स्थूल वाणी है, जिसे हम बोलते हैं। 'वैखरी' शब्द का निर्वचन आप्टे ने अपने कोष में किया है— 'विशेषेण खं राति' अर्थात् जो विशेषरूपेण आकाश में मिल जाती है। यही वाणी वक्ता व श्रोता के बीच गमन करती है, जो अन्त में श्रोता के मस्तिष्क में जाकर पश्यन्ती का रूप ले लेती है। इसके विषय में उपर्युद्धृत साम्बपञ्चाशिका के श्लोक की व्याख्या में क्षेमराज लिखते हैं— 'स्थूल प्राणसंगाद्वैखर्यां वर्णा जायन्ते' अर्थात् स्थूल प्राण के संग से वैखरी में वर्णों की उत्पत्ति होती है। यहाँ वक्ता के स्वरयन्त्र से विभिन्न आभ्यन्तर व बाह्य प्रयत्नों से जो ध्वनि रूप वर्णों की उत्पत्ति होती है, वही संकेत है। यह ही लोक भाषा है।

अब वाणी के चार रूपों पर सायणाचार्य का मत उद्धृत करते हैं—

'परापश्यन्ती मध्यमा वैखरीति चत्वारीति। एकैव नादात्मिका वाग्मूलाधारादुदिता सती परेत्युच्यते। नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुर्निरूपत्वात् सैव हृदयगामिनी पश्यन्तीत्युच्यते योगिभिर्द्रष्टुं शक्यत्वात्। सैव बुद्धिं गता विवक्षां प्राप्ता मध्यमेत्युच्यते मध्ये हृदयाख्य उदीयमानत्वान्मध्यमायाः। अथ यदा सैव वक्त्रे स्थिता ताल्वोष्ठादिव्यापारेण बहिर्निर्गच्छति तदा वैखरीत्युच्यते॥' (ऋग्वेद भाष्य.१.१६४.४५)

अर्थात् जब कोई मनुष्य वाणी का उच्चारण करता है, तब सर्वप्रथम नादरूप वाक् मूलाधार चक्र में उत्पन्न होकर ऊपर उठने लगती है। यही वाणी का सूक्ष्मतम परारूप है। इसका निरूपण सम्भव नहीं है अर्थात् अति दुष्कर है। जब यही परा वाणी हृदयचक्र में आती है, तब वहाँ यही पश्यन्ती वाक् का रूप ले लेती है। यही वाणी जब बुद्धितत्त्व के सम्पर्क में आती है, तब मध्यमा रूप में प्रकट होकर कण्ठ में स्थित तालु-ओष्ठादि के प्रयत्न से वैखरी का रूप धारण करके बाहर निकलती है।

यहाँ विचारणीय है कि वक्ता व श्रोता दोनों में वाणी के चार रूप पृथक्-२ स्थानों में प्रकट होते हैं। सामान्य व्यक्ति के सुनने व कहने योग्य वाणी वैखरी ही है, यह सुनिश्चित है।''

वक्ता के शरीर में सायणाचार्य्य द्वारा वर्णित वाणी की उत्पत्ति प्रक्रिया हमारी दृष्टि

में चिन्त्य है, श्रोता के द्वारा सुनने की प्रक्रिया तो समीचीन है।

इस प्रकार यहाँ वाणी की अतिस्तुति की गई है। अब अगले खण्ड में 'अक्षर' की अतिस्तुति करने वाली एक ऋचा को उद्धृत किया गया है।

* * * * *

= दशमः खण्डः =

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ [ऋ.१.१६४.३९]
ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन्देवा अधिनिषण्णाः सर्वे।
यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति।
य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति विदुष उपदिशति। कतमत्तदेतदक्षरम्।
ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः। ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते।
नानादेवतेषु च मन्त्रेषु।
एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रति। [कौ.ब्रा.६.१२]
इति च ब्राह्मणम्॥ १०॥

इस मन्त्र का ऋषि पूर्व खण्डवत् समझें। इसका देवता अक्षर तथा छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पदार्थ तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ऋचः, अक्षरे, परमे, वि, ओमन्, यस्मिन्, देवाः, अधि, विश्वे, निषेदुः) 'ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन्देवा अधिनिषण्णाः सर्वे' इस ब्रह्माण्ड में जितनी भी छन्द रश्मियाँ हैं, वे सभी अक्षर रश्मियों अर्थात् अविनाशी रश्मियों के अन्दर विद्यमान हैं और ये रश्मियाँ ही इन सभी छन्द रश्मियों की रक्षा करती हैं। ये रश्मियाँ ही उनका नियन्त्रण करने वाली होती हैं और ये अक्षर रश्मियाँ सभी छन्द रश्मियों से संयुक्त होकर उन्हें समर्थ एवं दीप्तिमती

बनाती हैं। इन्हीं अक्षररूप रश्मियों में सभी प्रकार के देव पदार्थ विद्यमान होते हैं। इन अक्षर रश्मियों के बिना इस सृष्टि में किसी भी जड़ पदार्थ की कोई भी सत्ता नहीं हो सकती। इनके बिना कहीं कोई गति और बल नहीं हो सकता।

(यः, तत्, न, वेद, किम्, ऋचा, करिष्यति, ये, इत्, तत्, विदुः, ते, इमे, सम्, आसते) 'यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति विदुष उपदिशति कतमत्तदेतदक्षरम् ओ३मित्येषा वागिति शाकपूणिः ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मन्त्रेषु' जिस किसी पदार्थ एवं उसकी क्रिया को जब तक ये अक्षर रश्मियाँ प्राप्त नहीं होतीं, तब तक वे पदार्थ विभिन्न छन्द रश्मियों के विद्यमान होने पर भी उनका कोई उपयोग नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए जब किसी संयोग प्रक्रिया में अनेक छन्द वा प्राणादि रश्मियाँ उत्पन्न हो भी जाएँ, तब भी वे छन्द रश्मियाँ बिना अक्षर रश्मियों के कोई भी क्रिया नहीं कर सकतीं। वास्तविकता तो यह है कि बिना अक्षर रश्मियों के किसी ऋचा की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस विषय में वेदवेत्ताओं का कथन है कि जब अक्षर रश्मियाँ प्रकट होती हैं, तभी विभिन्न छन्द रश्मियाँ नाना प्रकार की क्रियाओं में ठहर पाती हैं, अन्यथा वे अदृश्य हो जाती हैं।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न अक्षर रश्मियों में से यहाँ किस अक्षर रश्मि की बात की गई है? इसके उत्तर में ग्रन्थकार महर्षि शाकपूणि के मत को दर्शाते हुए लिखते हैं कि यह अक्षर रश्मि 'ओम्' रश्मि रूपी वाक् है। यही अक्षर अर्थात् अविनाशी रूप है। सभी छन्द रश्मियाँ इसी 'ओम्' रश्मि के सर्वोच्च संरक्षण में विद्यमान रहती हैं और इसी 'ओम्' रश्मि द्वारा सभी छन्द रश्मियों को धारण किया जाता है। विभिन्न देव पदार्थों और विभिन्न छन्द रश्मियों के अन्दर भी यही 'ओम्' रश्मियाँ आत्मारूप होकर विद्यमान रहती हैं और यही रश्मियाँ उनके बाहर विद्यमान रहकर आधार का कार्य करती हैं। यहाँ ग्रन्थकार एक ब्राह्मण ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए लिखते हैं— 'एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रति' अर्थात् यही 'ओम्' रश्मि वेद की सभी ऋचाओं (ऋक्, यजुः और साम) के प्रति अर्थात् उन सबके अभिमुख होकर सदैव विद्यमान रहती है। इस प्रकार इस मन्त्र में 'ओम्' अक्षर रूपी वाक् की अतिस्तुति की गई है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (ऋचः) ऋग्वेदादेः (अक्षरे) नाशरहिते (परमे) प्रकृष्टे (व्योमन्) व्योम्नि

व्यापके परमेश्वरे (यस्मिन्) (देवाः) पृथिवीसूर्यलोकादयः (अधि) (विश्वे) सर्वे (निषेदुः) निषीदन्ति (यः) (तत्) ब्रह्म (न) (वेद) जानाति (किम्) (ऋचा) वेदचतुष्टयेन (करिष्यति) (ये) (इत्) एव (तत्) (विदुः) जानन्ति (ते) (इमे) (सम्) (आसते) सम्यगासते। अयं निरुक्ते व्याख्यातः॥ निरु.१३.१०

भावार्थः — यत्सर्वेषां वेदानां परमं प्रमेयं प्रतिपाद्यं ब्रह्मामरं च जीवाः कार्य्यकारणाख्यं जगच्चाऽस्ति। एषां मध्यात्सर्वाधारो व्योमवद्व्यापकः परमात्मा जीवाः कार्यं कारणञ्च व्याप्यमस्ति। अतएव सर्वे जीवादयः पदार्थाः परमेश्वरे निवसन्ति। ये वेदानधीत्यैतत्प्रमेयं न जानन्ति ते वेदैः किमपि फलं न प्राप्नुवन्ति। ये च वेदानधीत्य जीवान् कार्यं कारणं ब्रह्म च गुणकर्मस्वभावतो विदन्ति ते सर्वे धर्मार्थकाममोक्षेषु सिद्धेषु आनन्दन्ति।

पदार्थ— (यस्मिन्) जिस (ऋचः) ऋग्वेदादि वेदमात्र से प्रतिपादित (अक्षरे) नाशरहित (परमे) उत्तम (व्योमन्) आकाश के बीच व्यापक परमेश्वर में (विश्वे) समस्त (देवाः) पृथिवी सूर्यलोकादि देव (अधि, निषेदुः) आधेयरूप से स्थित होते हैं। (यः) जो (तत्) उस परब्रह्म परमेश्वर को (न, वेद) नहीं जानता वह (ऋचा) चार वेद से (किम्) क्या (करिष्यति) कर सकता है और (ये) जो (तत्) उस परब्रह्म को (विदुः) जानते हैं (ते) (इमे, इत्) वे ही ये ब्रह्म में (समासते) अच्छे प्रकार स्थिर होते हैं।

भावार्थ— जो सब वेदों का परमप्रमेय पदार्थरूप और वेदों से प्रतिपाद्य ब्रह्म अमर और जीव तथा कार्य-कारणरूप जगत् है। इन सभी में से सबका आधार अर्थात् ठहरने का स्थान आकाशवत् परमात्मा व्यापक और जीव तथा कार्य कारणरूप जगत् व्याप्य है, इसी से सब जीव आदि पदार्थ परमेश्वर में निवास करते हैं और जो वेदों को पढ़ के इस प्रमेय को नहीं जानते, वे वेदों से कुछ भी फल नहीं पाते और जो वेदों को पढ़ के जीव, कार्य, कारण और ब्रह्म को गुण, कर्म, स्वभाव से जानते हैं, वे सब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सिद्ध होते आनन्द को प्राप्त होते हैं।''

इसी ऋचा पर शेष चर्चा अगले खण्ड में की गई है।

* * * * *

= एकादशः खण्डः =

आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः। एषगर्भवति। यदेनमर्चन्ति।
प्रत्यृचः सर्वाणि भूतानि। तस्य यदन्यन्मन्त्रेभ्यस्तदक्षरं भवति।
रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते। य एतस्मिन्नधिनिषण्णा इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्- शरीरमत्र ऋगुच्यते। यदेनेनार्चन्ति।
प्रत्यृचः सर्वाणीन्द्रियाणि तस्य यदविनाशिधर्म तदक्षरं भवतीन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते यान्यस्मिन्नधिनिषण्णानीत्यात्मप्रवादाः॥ ११॥

यहाँ पर पूर्व खण्ड में उद्‌धृत ऋचा के विषय में महर्षि शाकपूणि के पुत्र के विचारों को उद्‌धृत किया गया है। इस मत के अनुसार आदित्य ही अक्षररूप है। आदित्य को ऋक् भी कहते हैं, क्योंकि इसको प्रकाशित किया जाता है अर्थात् यह प्रकाशित होता है। इस आदित्य लोक में जो भिन्न-२ उत्पन्न पदार्थ हैं, चाहे वे कण हों अथवा विकिरण वा रश्मियाँ, सभी पृथक्-पृथक् ऋचाओं का रूप होते हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा आदित्य लोक प्रकाशित होता है। उस आदित्य लोक में मन्त्रों से पृथक् जो कुछ भी पदार्थ होता है, वह अक्षररूप होता है। इस कथन से ऋषि यह कहना चाहते हैं कि आदित्य लोक में उसकी अवयवभूत जो छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, उनके अतिरिक्त और उनसे सूक्ष्म जो भी पदार्थ विद्यमान होता है, वह छन्द रश्मियों और आदित्य लोक के सापेक्ष अविनाशी होता है। इससे यह संकेत मिलता है कि सम्पूर्ण आदित्य लोक का आधार वा आत्मा यह अक्षर पदार्थ ही होता है। यह अक्षर पदार्थ 'ओम्' रश्मि रूप वाक् तत्त्व, मनस्तत्त्व एवं सबसे सूक्ष्म कारण पदार्थ प्रकृति है। यहाँ हम ईश्वर की गणना नहीं कर रहे हैं, क्योंकि ईश्वर चेतन तत्त्व होने से किसी भी पदार्थ का उपादान कारण नहीं है। हाँ, वह सबका प्रेरक व नियन्त्रक होने के कारण उत्पादक अवश्य है और इस प्रकार वह सम्पूर्ण सृष्टि का मुख्य निमित्त कारण है, साधारण निमित्त कारण जीवात्मा सिद्ध ही है। इस कारण जीवात्मा की चर्चा सृष्टि प्रक्रिया में कहीं नहीं है और न यह आवश्यक ही है, अस्तु।

ये सभी पदार्थ सूर्यलोक के अन्दर इस प्रकार समाये होते हैं, जैसे दूध के अन्दर घृत और रसगुल्ले के अन्दर खाँड वा जल। इस कारण ऋषि ने सम्पूर्ण आदित्य लोक को ही अक्षर कह दिया है। वैसे भी 'आदित्यः' पद का अर्थ अखण्डनीय ही होता है। यहाँ

विभिन्न रश्मियों को देव इसलिए कहा गया है, क्योंकि सभी रश्मियाँ और सभी विकिरण आदित्य लोक में ही विद्यमान होती हैं। यह महर्षि शाकपूणि के पुत्र द्वारा की गई आधिदैविक व्याख्या है।

अब इसकी आध्यात्मिक व्याख्या को प्रस्तुत किया गया है, जो शरीर एवं आत्मा को लक्ष्य बनाकर की गई है। हमें यह व्याख्या महर्षि शाकपूणि के पुत्र द्वारा ही की गई प्रतीत होती है, जो इस प्रकार है—

यहाँ शरीर को ही ऋक् कहा गया है, क्योंकि इसी के द्वारा चेतन अविनाशी आत्मा के लक्षणों का प्रकाश होता है। इसका अर्थ यह है कि शरीर के अभाव में आत्मा अपने लक्षणों को प्रकट नहीं कर सकता अर्थात् आत्मा का स्वरूप प्रकाशित नहीं हो सकता और न ही शरीर के बिना कोई आत्मा अपने स्वरूप को पहचान सकता है और न वह मोक्ष को ही प्राप्त कर सकता है। यहाँ इन्द्रियों को ही पृथक्-२ ऋचाएँ कहा गया है, जो यहाँ देवरूप होती हैं, क्योंकि ये इन्द्रियाँ भी स्थूल शरीर के द्वारा ही अविनाशी आत्मा के लक्षणों को प्रकाशित करती हैं। वे इन्द्रियाँ शरीर में ही विद्यमान होती हैं। शरीर में विद्यमान अविनाशी आत्मा ही अक्षर कहलाता है, जो कभी नष्ट नहीं होता और न कभी क्षीण ही होता है। यह आध्यात्मिक व्याख्या है। अक्षर किसे कहते हैं, इसकी व्याख्या अगले खण्ड में की गई है।

* * * * *

= द्वादशः खण्डः =

अक्षरं न क्षरति। न क्षीयते वा। वाक् क्षयो भवति। वाचोऽक्ष इति वा।
अक्षो यानस्याञ्जनात्। तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यात्। इति।
अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः। अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः।
न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः।
न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः

प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात्। मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्। को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्। मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति॥ १२॥

अक्षर उस पदार्थ को कहते हैं, जिससे कभी कुछ रिसता नहीं है। इसका अर्थ यह है कि उससे कोई सूक्ष्म पदार्थ नहीं होता, जो उसका अवयव हो। इस कारण अक्षर रूप पदार्थ में से कुछ भी बाहर नहीं रिसता। वस्तुतः अक्षर इकाई मात्र होता है। इसका दूसरा लक्षण बताते हुए कहा कि यह पदार्थ कभी क्षीण नहीं होता अर्थात् यह कभी दुर्बल अथवा मात्रा में न्यून नहीं होता। तीसरा लक्षण बताते हुए लिखा है कि जो वाणी का निवास होता है तथा वाणी जिसके रूप में गमन करती है, उसे अक्षर कहते हैं। इस सृष्टि में जहाँ भी वाक् तत्त्व है, वह अक्षररूप में ही विद्यमान है। बिना अक्षर के वाणी की कल्पना नहीं की जा सकती। चौथा लक्षण बताते हुए लिखा है कि अक्षर वाक् तत्त्व का अक्षरूप होता है। जिस प्रकार किसी रथ का घोड़ा (अक्षर) उस रथ का आधार होता है, यह अक्ष ही उसे सँवारता व गति प्रदान करता है, उसी प्रकार अक्षर भी वाक् तत्त्व को आधार प्रदान करते हैं और इन्हीं के रूप में वाणी गमन भी करती है।

इस अक्षर के स्वभाव वाला दूसरा भी होता है अर्थात् अक्षर स्वर तथा व्यञ्जन दो प्रकार के होते हैं। स्वर रूपी अक्षर के स्वभाव वाला दूसरा अक्षर व्यञ्जन भी होता है। ये स्वर और व्यञ्जन दोनों ही उन गुणों से युक्त होते हैं, जो यहाँ अक्षर के बतलाए हैं। गाड़ी और धुरे की समानता भी यहाँ सिद्ध होती है। जिस प्रकार से कोई भी गाड़ी अक्षर अर्थात् धुरे के आश्रय पर सारे कार्य करती है, उसी प्रकार सभी व्यञ्जन स्वर पर ही आश्रित होकर कार्य करते हैं। यहाँ एक तथ्य यह भी है कि स्वर और व्यञ्जन दोनों ही अक्षररूप हैं। इस कारण स्वर और व्यञ्जन दोनों ही अक्षररूप सिद्ध होते हैं और गाड़ी के रूप में वाक् तत्त्व अक्षरों के आधार पर गमन करता रहता है।

इस प्रकार अक्षर शब्द का अनेक प्रकार से यहाँ निर्वचन किया गया। यह निर्वचन अक्षर के विषय में अनेक रहस्यों का उद्घाटन करता है। इससे किसी मन्त्र के अर्थ के चिन्तन की ऊहा को दर्शाया गया है। जब तक हम अक्षर और पदों के स्वरों के स्वरूप को

यथार्थ रूप में नहीं जानेंगे, तब तक किसी मन्त्र के यथार्थ स्वरूप को और उसमें छुपे विज्ञान को कभी नहीं समझ सकते।

अब आगे लिखते हैं— 'अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः'। मन्त्रार्थ पर चिन्तन श्रुति के अनुसार भी होना चाहिए और शुद्ध तर्कों के अनुसार भी। इसका आशय यह है कि मन्त्रों का अर्थ करने के लिए वेद के अन्य मन्त्रों के प्रमाण अथवा ब्राह्मणादि आर्षग्रन्थों के प्रमाणों का आश्रय अवश्य लेना चाहिए। ध्यान रहे, किसी भी ग्रन्थ का प्रमाण देना मात्र पर्याप्त नहीं है। यदि उन प्रमाणों को भी हम यथार्थ रूप में नहीं जान सके और उनकी परस्पर संगति नहीं लगा सके, तब ऐसे प्रमाण देना नितान्त निरर्थक रहेगा। आचार्य सायणादि भाष्यकारों ने अपने भाष्यों में पर्याप्त संख्या में आर्षग्रन्थों के प्रमाण दिए हैं। इस ग्रन्थ के सभी भाष्यकारों ने अनेक आर्ष प्रमाण प्रस्तुत किए हैं, परन्तु वे प्रमाणों के यथार्थ विज्ञान से प्रायः वंचित रहे हैं। इस कारण उनके ये सभी भाष्य, वेद एवं ब्राह्मण आदि के भाष्य अधिकांशतः दोषपूर्ण, कहीं-२ घृणास्पद और कहीं-२ हास्यास्पद व भयंकर हो गये हैं। इसी कारण ग्रन्थकार ने श्रुति के प्रमाणों के अतिरिक्त वेदादि शास्त्रों के भाष्य करने के लिए, यहाँ तक कि उन प्रमाणों की यथार्थता को समझने के लिए तर्क को भी एक अनिवार्य साधन बताया है। तर्क वास्तविक होने चाहिए, तभी अपेक्षित परिणाम प्राप्त हो सकता है।

वर्तमान विज्ञान की अनुसन्धान प्रक्रिया पर यदि दृष्टिपात करें, तो उसमें भी सुतर्कों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। हम देखते हैं कि एक प्रकार के प्रयोग और प्रेक्षणों से भिन्न-२ स्तरों के वैज्ञानिक भिन्न-२ निष्कर्ष निकालते हैं। इसका कारण उन वैज्ञानिकों की तार्किक विश्लेषण की क्षमता का भिन्न-२ होना ही है। इसलिए आधुनिक विज्ञान में अनेक विरोधी मत एक साथ फलते-फूलते दिखाई देते हैं, जबकि ऐसा होना विज्ञान के मूल स्वरूप के विरुद्ध है। इसी प्रकार भिन्न-२ भाष्यकार भिन्न-२ विचार प्रस्तुत करते दिखाई देते हैं। ध्यान रहे विचारभिन्नता दोषावह नहीं मानी जा सकती, परन्तु एक ही विषय में विरुद्ध विचारों का होना, कम से कम किसी एक को असत्य अवश्य सिद्ध करता है।

श्रुति और तर्क की उपादेयता दर्शाने के पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः'। मन्त्रों वा पदों के निर्वचन प्रकरण के अनुसार ही करने चाहिए, प्रकरण भंग करके नहीं। एक पद अथवा एक मन्त्र

के निर्वचन अथवा भाष्य की संगति पूर्वपद वा मन्त्र एवं आगामी पद वा मन्त्र के साथ अवश्य होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है, तो भाष्यकार द्वारा किया भाष्य वा निर्वचन दोषपूर्ण होता है।

किस व्यक्ति को वेदार्थ का यथार्थ विज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, यह दर्शाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा'। इसका अर्थ यह है कि मन्त्रार्थ उनको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, जो ऋषि नहीं हैं और जो तपस्वी नहीं हैं। ब्रह्म के सानिध्य से अपने मनन-ध्यान के द्वारा जो वेदार्थ का दर्शन कर लेता है, उसे ऋषि कहते हैं और जो व्यक्ति मान-अपमान, सुख-दुःख, राग-द्वेष, अर्थ-काम आदि के बन्धनों से मुक्त होता है, वही तपस्वी कहलाता है। जो तपस्वी होता है, वही वेदभाष्य कर सकता है। इसी बात को भगवान् मनु ने इन शब्दों में व्यक्त किया है— 'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते'। यहाँ ध्यातव्य है कि 'धर्म' और 'विज्ञान' दोनों ही समानार्थक पद हैं। यहाँ भगवान् मनु कहते हैं कि अर्थ और काम में आसक्त व्यक्ति कभी भी वेद के यथार्थ विज्ञान को नहीं समझ सकता। ब्रह्मचर्य परम तप है और अस्तेय व्रत भी तप है। इसलिए अर्थ और काम में आसक्त व्यक्ति अतपस्वी होने के कारण वेदज्ञ नहीं हो सकता। यहाँ काम का तात्पर्य केवल यौनेच्छा नहीं, अपितु धन, यश, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान की सतत चाह भी काम के अन्तर्गत ही आती है। इस कारण इनमें आसक्त व्यक्ति और ईर्ष्या व द्वेषादि विकारों से ग्रस्त व्यक्ति कभी भी वेदविद्या को यथार्थ रूप में प्राप्त नहीं कर सकता। वह वैयाकरण तो हो सकता है, अनेक शास्त्रों को कण्ठस्थ करने वाला भी हो सकता है, प्रवचनपटु भी हो सकता है, परन्तु वह इस विद्या के बल पर कभी भी वेद के यथार्थ को नहीं समझ सकता। इस कारण व्याकरण के मुख्य प्रयोजन वेद की रक्षा करने में वह समर्थ नहीं हो सकता। आज सर्वत्र ऐसा ही देखा जा रहा है।

अब प्रशंसनीय मनुष्य के विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं— 'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात्'। इसका अर्थ यह है कि परम्परागत विद्या प्राप्त करने वालों में अर्थात् परम्परागत वेदविद्या के अध्येताओं में जो वेद के पदों को अधिक गम्भीरतापूर्वक तर्क एवं प्रमाणों से युक्त होकर एवं पूर्ण तपस्वी होकर समझता है, वही व्यक्ति प्रशंसनीय वेदज्ञ होता है। इसका अर्थ यह है कि वेद का अध्येता मन्त्र, छन्द, पद, अक्षर, देवता, ऋषि आदि सभी के गहन विज्ञान को समझने वाला होना चाहिए, वही

वेदज्ञ कहलाता है।

तर्क की महत्ता को दर्शाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहम-भ्यूढम्'। इस अंश का भाष्य पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार आदि प्रायः सभी भाष्यकारों ने यह लिखा है—

''इस 'तर्क' की महत्ता को दर्शाने के लिए यास्काचार्य एक इतिहास देते हैं कि पूर्वकाल में ऋषि लोगों के उठ जाने पर मनुष्य देवजनों से बोले कि अब हमारा कौन ऋषि होगा, जो कि हमें वेदार्थ-दर्शन कराएगा। तब उन देवों ने उन मनुष्यों को तर्क-ऋषि प्रदान किया, जोकि मन्त्रार्थ-चिन्तन-विषयक ऊहापोह है और जिसे उन ऋषियों तथा देवों ने भी प्राप्त किया हुआ था। इसलिए ऐसे तर्क की सहायता से जो कोई भी वेदपाठी जिस किसी तत्त्व-ज्ञान को मन्त्रों में खोजता है, वह तत्त्व-ज्ञान ऋषिदृष्टि ही होता है।''

इस विषय में हमारा मत यह है कि यहाँ यह कथन तर्क की महत्ता को समझाने मात्र के लिए है, न कि यह कोई वास्तविक इतिहास है। ऋषि संसार से विदा हो गए और देवजन विद्यमान रह गए, पुनः मनुष्यों ने देवगणों से वेद को जानने के उपाय के बारे में प्रश्न किया। यह सब काल्पनिक प्रसंग है, जो विषय को स्पष्ट करने के लिए उसी प्रकार कहा गया है, जिस प्रकार हम किसी विषय को समझाने के लिए किसी दृष्टान्त वा कहानी का आश्रय लेते हैं। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या कोई भी व्यक्ति केवल अपनी बुद्धि और तर्क के आधार पर वेद को समझ सकता है अथवा किसी आर्षग्रन्थ का भाष्य कर सकता है? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽ-भ्यूहत्यार्षं तद्भवति'। इसका अर्थ यह है कि वेदभाष्य के विषय में उसी व्यक्ति का तर्क प्रामाणिक हो सकता है, जो अनूचान होवे।

अनूचान को परिभाषित करते हुए लिखते हैं—

ऋषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः (श.ब्रा.१.७.२.३)

अर्थात् जो ऋषियों की बौद्धिक निधि को सुरक्षित करने में समर्थ होता है, उसे अनूचान कहते हैं। ध्यातव्य है कि जिसने ऋषियों के ग्रन्थों को पढ़ा और समझा हो, वही उनकी रक्षा करने में समर्थ हो सकता है। आजकल कुछ लोग वेदाङ्गों और उपाङ्गों को गुरुमुख से

पढ़ने की हठ करते हैं, वे यह आत्मनिरीक्षण कभी नहीं करते कि उन्होंने और उनके अध्यापकों ने इन ग्रन्थों को कितना पढ़ा व समझा है? इस समय जो भी निरुक्त शास्त्र, ब्राह्मण ग्रन्थों अथवा वेदों के भाष्य विद्यमान हैं, उनके प्रायः सभी भाष्यकार परम्परागत शास्त्रों के अध्येता रहे, परन्तु ऋषि दयानन्द के अतिरिक्त और कौन आचार्य ऋषियों की बौद्धिक निधि और वेदों को समझ सका है?

निष्पक्ष और विज्ञ पाठक इस ग्रन्थ के मेरे भाष्य के अध्ययन के साथ-२ अन्य सभी भाष्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन करते जाएँ, वे स्वयं इस तथ्य से अवगत हो सकेंगे कि वेद-वेदाङ्ग और उपाङ्ग आदि शास्त्रों के अध्ययन का क्या अर्थ होता है। इसलिए जो विद्वान् आर्ष ग्रन्थों के विज्ञान को व्यापक रूप से समझने में समर्थ होता है, वह केवल तर्क के आधार पर वेदभाष्य नहीं कर सकता। वेद-भाष्य करने वाले विद्वान् को सम्बन्धित आर्ष ग्रन्थों के प्रमाणों को उपयोग में लेना आवश्यक होता है, परन्तु इनका उपयोग वही कर सकता है, जो उन प्रमाणों के अन्दर छुपे रहस्य को भली-भाँति समझता हो, अन्यथा ये प्रमाण ग्रन्थ के कलेवर-वृद्धि के अतिरिक्त कोई महत्त्व नहीं रखते।

इसी विषय से सम्बन्धित एक ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

त्रयोदशः खण्डः

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः। अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे॥ [ऋ.१०.७१.८]

हृदा तष्टेषु मनसां प्रजवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते समानाख्याना ऋत्विजः। अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः। ओहब्रह्माण ऊहब्रह्माणः। ऊह एषां ब्रह्मेति वा। सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिः। तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम्। तदिदमायुरिच्छता न निर्वक्तव्यम्। तस्माच्छन्दस्सु शेषा उपेक्षितव्याः। अथागमः—

यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति-अनुभवति॥ १३॥

इस मन्त्र का ऋषि बृहस्पति है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता ज्ञान और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न पदार्थों के स्पष्ट भासने योग्य रक्तवर्णीय तेज की उत्पत्ति होने लगती है। यहाँ इस मन्त्र का ग्रन्थकार ने आधिभौतिक अर्थ किया है। पूर्वखण्ड के साथ इस खण्ड की संगति लगाकर इस खण्ड के साथ ही ग्रन्थ का समापन हो रहा है। इस कारण पूर्वखण्ड के साथ संगति लगाने के लिए इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य ही अपेक्षित है, जो इस प्रकार है—

(हृदा, तष्टेषु, मनसः, जवेषु, यत्, ब्राह्मणाः, संयजन्ते, सखायः) 'हृदा तष्टेषु मनसां प्रजवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते समानाख्याना ऋत्विजः' समान ज्ञान वाले ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण जब अपने हृदय की पवित्र भावना से तीक्ष्ण वा सूक्ष्म किए हुए भावों में तथा मन और बुद्धि के द्वारा दूर-दूर तक अर्थात् व्यापक एवं आशुगामिनी चिन्तन प्रक्रिया में जब परस्पर संगत होते हैं अर्थात् पवित्र सात्त्विक भावों से युक्त हृदय और त्वरित एवं दूर-दूर तक व्यापक चिन्तन करने में समर्थ बुद्धि वाले वेदज्ञ ब्राह्मण जब एकत्र होकर परस्पर संवाद करते हैं अर्थात् वेदार्थ तत्त्व पर चिन्तन करते हैं।

(अत्र, अह, त्वम्, वि, जहुः, वेद्याभिः, ओहब्रह्माणः, वि, चरन्ति, उ, त्वे) 'अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः ओहब्रह्माण ऊहब्रह्माणः ऊह एषां ब्रह्मेति वा सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिः तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम् तदिदमायुरिच्छता न निर्वक्तव्यम् तस्मा-च्छन्दस्सु शेषा उपेक्षितव्याः' [त्वः = त्वे अपरे (निरु.१.९), त्वो नेम इत्यर्धस्य त्वोऽपततः (निरु. ३.२०)] वे ऐसे वेदज्ञ ब्राह्मण निश्चय ही वहाँ अर्थात् वेदार्थ-चिन्तन की प्रक्रिया के समय अपने विवेक ज्ञान की प्रवृत्तियों के द्वारा किसी अन्य को सर्वथा त्याग देते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब कुछ ब्रह्मवेत्ता वेद के किसी विषय की चर्चा कर रहे होते हैं और उस समय वेद विषय से अनभिज्ञ कोई व्यक्ति वहाँ आता है, तो वे उस व्यक्ति की उपेक्षा कर देते हैं अर्थात् वेद से और वेद के प्रति अरुचि रखने वाले किसी व्यक्ति के साथ चर्चा में वे अपना समय नष्ट नहीं करते। इसी कारण एकाग्रमना होकर ऐसे वे ऊहासम्पन्न ब्राह्मण वेदार्थ-चिन्तन में व्यापक रूप से विचरते हैं अर्थात् वे वेद की गहराई को समझने की क्षमता रखते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने ऊहा अर्थात् किसी विषय पर गहराई से चिन्तन करने की

क्षमता और अन्त:प्रज्ञा को ब्रह्म कहा है। उधर पूर्वखण्ड में तर्क को ऋषि कहा है।

इस प्रकार ऊहारूपी ब्रह्म और तर्करूपी ऋषि इन दोनों से युक्त व्यक्ति ही वेदार्थ को समझ सकता है और वही वेद-विद्या की गहराइयों में विचरण कर सकता है। वह ऊहा श्रुति अर्थात् श्रवण, मति अर्थात् मनन एवं बुद्धि अर्थात् चिन्तन से जानने योग्य विद्या है। उस ऊहा और वेदविद्या को अपने तप अर्थात् ब्रह्मचर्य और सतत पुरुषार्थ से पार करने की इच्छा करनी चाहिए, क्योंकि अतपस्वी कभी वेद नहीं समझ सकते। केवल जीने की इच्छा करने वाले अर्थात् सांसारिक सुखों की चाहना करने वाले अतपस्वी लोग जो इस वेदविद्या के अधिकारी नहीं हैं, इस कारण इस निर्वचन विद्या अर्थात् वेदार्थ विज्ञान का ऐसे अनधिकारी लोगों को उपदेश नहीं करना चाहिए। ऐसे लोग तर्क और ऊहा करने के न तो अधिकारी हैं और न वे ऐसा करने का प्रयास करके वेद के रहस्यों को समझ सकते हैं। इसलिए जो श्रवण, मनन, चिन्तन और तप आदि से शेष हैं अर्थात् इनसे रहित हैं, उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए, क्योंकि वे वेदार्थ में किसी प्रकार भी सहयोगी नहीं बन सकते।

अब अन्त में ग्रन्थ का समाहार करते हुए एक आगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतिअनुभवति' अर्थात् वेदवेत्ता ब्राह्मण जिस-जिस देवता वाले मन्त्र का निर्वचन करते हैं अथवा जिस-जिस पद का निर्वचन करते हैं, उस मन्त्र वा पद के अर्थ को पूर्ण रूप से साक्षात् कर लेते हैं अर्थात् मन्त्र वा पद में दिए हुए पदार्थ का अपनी बुद्धि और आत्मा से अनुभव कर लेते हैं। यहाँ 'अनुभवति' पद निर्वचन विद्या के फल को दर्शा रहा है। इस प्रकार यह आगम इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में दर्शायी हुई निर्वचन विद्या के फल को दर्शा रहा है और इस पद का दो बार प्रयोग इस अध्याय के साथ-साथ इस ग्रन्थ की समाप्ति का सूचक भी है।

यह ग्रन्थ जिस प्रयोजन के लिए रचा गया है, उस प्रयोजन की सम्पूर्ण पूर्ति इन तेरह अध्यायों में हो जाती है। इस ग्रन्थ के अन्तिम दो खण्ड ग्रन्थ का उपसंहार मात्र ही हैं। तब ऐसा सम्भव नहीं है कि ग्रन्थकार इसके पश्चात् भी १४वाँ अध्याय लिखने के लिए विवश होते। वर्तमान में हमें जो १४ अध्याय वाला निरुक्त प्राप्त होता है, उसमें १४वाँ अध्याय निश्चित ही बाद में किसी ने मिला दिया है। हम यह नहीं कह सकते कि १४वाँ अध्याय इस ग्रन्थ में किसने जोड़ा है, परन्तु १४वें अध्याय के अन्त में 'नमो यास्काय' पाठ यह स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि १४वाँ अध्याय महर्षि यास्ककृत नहीं है। सम्भवत: इसी

कारण प्राचीन भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने इसका भाष्य नहीं किया है और न इसका मूल पाठ ही वहाँ दिया है। आचार्य दुर्ग ने भी इस पर टीका नहीं लिखी है। अन्य कुछ विद्वानों ने भी निरुक्त को १३वें अध्याय तक ही माना है, परन्तु अनेक विद्वानों ने इसका भाष्य किया है। १३वें अध्याय के अन्तिम २ खण्डों के उपसंहारात्मक वचनों और १४वें अध्याय के 'नमो यास्काय' पदों को दृष्टिगत रखते हुए हम इतना तो निश्चित रूप से कह सकते हैं कि १४वाँ अध्याय महर्षि यास्ककृत तो नहीं है। इतने पर भी यह भी निश्चित है कि १४वाँ अध्याय भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अध्याय परिशिष्ट के रूप में महर्षि यास्क के किसी शिष्य वा अनुयायी ने ही बाद में जोड़ा है।

अधिकांश संस्करणों में १३वें और १४वें दोनों अध्यायों को ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में दर्शाया है। हमारी दृष्टि में इस अध्याय के अन्तिम दो खण्डों को देखकर एवं इस सम्पूर्ण अध्याय पर ही विचार करने पर यह अध्याय किसी भी प्रकार से परिशिष्ट सिद्ध नहीं होता, बल्कि यह मूल ग्रन्थ का ही भाग सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ में यदि परिशिष्ट ही मानना है, तो वह अगला १४वाँ अध्याय ही है। इस अध्याय का जिन कुछ भाष्यकारों ने भाष्य किया है, वह पूर्ण नहीं है। अनेक प्रकरणों वा खण्डों वा पदों को दुरूह, असंगत एवं अस्पष्ट कहकर उनकी व्याख्या नहीं की है। हम इस अध्याय की सम्पूर्ण रूप से व्याख्या करने का प्रयास करेंगे।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)
त्रयोदशोऽध्यायः समाप्यते।

इति दैवत-काण्डम्

परिशिष्टम्

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

यह अध्याय महर्षि यास्ककृत नहीं है, बल्कि उनके किसी शिष्य वा अनुयायी द्वारा लिखा हुआ है, यह बात हम पूर्व अध्याय की व्याख्या के अन्त में लिख चुके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अध्याय का लेखक महर्षि यास्क का ही कोई शिष्य हो सकता है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इस अध्याय को बहुत महत्त्वपूर्ण और गम्भीर कहा है और इसका भाष्य भी किया है। स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक एवं पण्डित छज्जूराम शास्त्री आदि कुछ विद्वानों ने भी इसका भाष्य किया है। इस कारण हमने भी इसका भाष्य करना उचित समझा है। इस अध्याय के सभी प्रकरण अपना पृथक्-२ गम्भीर विज्ञान दर्शाते हुए प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अध्याय का लेखक कुछ ऐसे विविध प्रसङ्गों को प्रस्तुत करना चाहता है, जो इस ग्रन्थ में महर्षि यास्क ने प्रस्तुत नहीं किये हैं, विशेषकर मनुष्य के चरम लक्ष्य मोक्ष के विषय में। कुछ सीमा तक इसकी तुलना मुनि कात्यायन से कर सकते हैं, जिन्होंने पाणिनीय सूत्रों को अधिक व्यापक बनाने के लिए वार्तिकों की रचना की थी और व्याकरण को और अधिक विस्तार दिया था। इसी प्रकार यहाँ लेखक ने इस ग्रन्थ के विज्ञान को और अधिक विस्तार देने का प्रयास किया है। मुनि कात्यायन के वार्तिक पाणिनीय सूत्रों में से किसी न किसी सूत्र के साथ संगत हैं, परन्तु यहाँ ऐसी संगति का अन्वेषण करना दुष्कर प्रतीत होता है। पुनरपि हम इन सभी प्रसङ्गों के गम्भीर विज्ञान को समझने का प्रयास करते हैं।

= प्रथमः खण्डः =

व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं च। अथात ऊर्ध्वमार्गगतिं व्याख्यास्यामः।

पूर्व अध्यायों में विभिन्न देव पदार्थों एवं सृष्टि यज्ञ में भाग लेने वाले अन्य अनेक सूक्ष्म पदार्थों की विस्तृत व्याख्या की जा चुकी है। उन यजन प्रक्रियाओं में सम्भावित बाधक पदार्थों को नष्ट करने वाले वज्र आदि पदार्थों की भी विवेचना की जा चुकी है। नाना प्रकार के लोकों के निर्माण की व्याख्या भी ग्रन्थकार ने पूर्व में की है। अब हम इन सभी पदार्थों के उत्कृष्ट मार्ग पर गमन करने एवं जीवात्मा की मोक्ष व भोग के मार्ग पर जाने की प्रक्रिया की वैज्ञानिकता को व्याख्यात करने का प्रयास करते हैं। इसी क्रम में एक ऋचा को प्रस्तुत करते हैं—

सूर्य आत्मा। [ऋ.१.११५.१]
इत्युदितस्य हि कर्मद्रष्टा। अथैतदनुप्रवदन्ति।
अथैतं महान्तमात्मानमेषर्ग्गणः प्रवदति।

इस मन्त्र को खण्ड १२.१६ में व्याख्यात किया गया है। यहाँ सूर्यलोक को अपने मण्डल के सभी लोकों का आत्मा इस कारण भी कहा गया है, क्योंकि इसके अभाव में सभी लोकों के अस्तित्व को संकट उत्पन्न हो सकता है, केवल प्राणियों और वनस्पतियों के अस्तित्व को ही नहीं, अपितु लोकों के भी अस्तित्व को संकट उत्पन्न हो सकता है।

इसे यहाँ उदित पदार्थों का कर्मद्रष्टा कहा गया है। यहाँ पूर्व की अपेक्षा इतना और विशेष कहा गया है, जिसे हम उस खण्ड का परिशिष्ट वा पूरक मान सकते हैं। उधर मन्त्र में इसे प्राण, अपान, व्यान एवं विद्युत् का चक्षु कहा गया है। ऐसी स्थिति में उदित पदार्थ, जिनका द्रष्टा सूर्य लोक है, कौन से हैं? इस विषय में हमारा मत यह है कि सूर्यलोक को जिन पदार्थों का चक्षु कहा है, उन्हीं के उदित होने की यहाँ चर्चा है। इसका अर्थ यह है कि यह सूर्यलोक अपने अन्दर प्राण, अपान, व्यान रश्मियों के साथ-साथ नाना प्रकार के विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों, आयनों एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की निरन्तर हो रही उत्पत्ति एवं उनके नाना प्रकार के क्रियाकलापों का साक्षी है। सूर्य से आने वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं सूक्ष्म विद्युत् कणों का पृथिवी पर निरन्तर आना इस बात का संकेत है कि सूर्यलोक के अन्दर नाना प्रकार की प्राणादि रश्मियों एवं सूक्ष्म विद्युत् कणों की निरन्तर उत्पत्ति हो रही है और उत्पन्न हुए वे पदार्थ नाना प्रकार के कर्मों को निरन्तर सम्पादित कर रहे हैं। ऐसा नहीं है कि ये पदार्थ उत्पन्न होकर एक बार सूर्यलोक को उत्पन्न करके शान्त हो जाते हैं, बल्कि इनकी क्रियाशीलता की सतत अनिवार्यता रहती है।

अब ग्रन्थकार लिखते हैं कि सभी पदार्थों के आत्मा रूप सूर्यलोक, जो निरन्तर आकाश में गमन करता रहता है, को नाना प्रकार की ऋचाओं के समूह निरन्तर प्रकृष्ट रूप से गति एवं तेज प्रदान करते रहते हैं। इसी कारण ऋषियों ने कहा है— ऋचा स्तोमꣳ समर्धय (तै.सं.३.१.१०.१), ऋचि साम गीयते (श.ब्रा.८.१.३.३), ज्योतिस्तद्यद् ऋक् (जै.ब्रा.१.७६)। इन कथनों का तात्पर्य है कि विभिन्न प्रकार की किरणें ऋक् संज्ञक रश्मियों के द्वारा समृद्ध होती हैं और इन किरणों को प्रकाशित करने वाली साम रश्मियाँ ऋक् संज्ञक छन्द रश्मियों में

ही प्रकाशित होती हैं। इस कारण ऋक् संज्ञक छन्द रश्मियों को ज्योतिःस्वरूप कहा गया है।

अब कुछ अन्य ऋचाओं को भी प्रस्तुत करते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः ॥ [ऋ.१.१६४.४६] इति।
अथैष महानात्मात्मजिज्ञासयात्मानं प्रोवाच।
अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः ॥ [ऋ.३.२६.७]
अहमस्मि प्रथमजाः [तै.ब्रा.२.८.८.१] इत्येताभ्याम्॥ १ ॥

इस मन्त्र को खण्ड ७.१८ में व्याख्यात किया गया है। वहाँ इन्द्र आदि पदों से ग्रन्थकार ने पृथिवीस्थानी अग्नि का ही ग्रहण किया है, जिसका वर्णन सातवें अध्याय में है। इस अध्याय के लेखक ने इन्द्र आदि पदों से सूर्य का ग्रहण किया है, जो इस मन्त्र का देवता है। इस कारण इस मन्त्र को यहाँ पुनः उद्धृत करने को हम खण्ड ७.१८ का परिशिष्ट मान सकते हैं। इस कारण हम इसका पुनः भाष्य करते हैं—

आधिदैविक भाष्य— (एकम्, सत्, इन्द्रम्) अपने मण्डल के सभी लोकों को अपने आकर्षण बल से नियन्त्रण में रखने वाले एवं तीक्ष्ण विद्युत् बलों के भण्डार सूर्यलोक को एक होते हुए भी तथा अपने प्रकाश और ऊष्मा आदि गुणों से दूर तक गये हुए को (विप्राः, बहुधा, वदन्ति) विप्र अर्थात् विभिन्न प्रकार की ऋषि रश्मियाँ एवं नाना प्रकार के विकिरण वा अन्य रश्मियाँ सूर्य लोक को नाना प्रकार से प्रकाशित व गतिशील रखते हैं। ध्यातव्य है कि सूर्यलोक अपने अक्ष पर घूर्णन करने के साथ-२ आकाशगंगा के केन्द्र के चारों ओर नृत्य जैसा करते हुए परिक्रमण करता है, इसलिए यहाँ विविध गति से युक्त कहा गया है। (मित्रम्, वरुणम्, अग्निम्, आहुः) वह सूर्यलोक सभी लोकों और उनमें विद्यमान प्राणियों व वनस्पतियों के लिए मित्र के समान हित सम्पादन करने वाला होता है। वह सूर्यलोक प्राणतत्त्व का विशाल भण्डार होने के कारण सबके लिए प्राणरूप होता है। उस सूर्यलोक में तीक्ष्ण अग्नि की ज्वालाएँ निरन्तर उठती रहती हैं। इस कारण वह वरुण रूप भी होता है। इसके साथ ही सूर्य से प्राप्त ऊर्जा के द्वारा सभी पदार्थ नानाविध चेष्टा करते हैं। इस कारण भी उसे व्यानरूप वरुण कहा गया है। वह सूर्यलोक अपने सम्पूर्ण मण्डल में सबका नायक होने के कारण और सबको अपने समान उष्ण एवं प्रकाशित करने का प्रयत्न करने के कारण अग्नि भी कहलाता है।

(अथ, सः, दिव्यः, सुपर्णः, गरुत्मान्) वह सूर्यलोक द्युलोक में स्थित होने एवं नाना प्रकार के देव पदार्थों से निर्मित होने के कारण दिव्य कहलाता है। [पर्णः = गायत्रो वै पर्णः (तै.ब्रा. ३.२.१.१), ब्रह्म वै पर्णः (तै.ब्रा.१.७.१.९), सोमो वै पर्णः (श.ब्रा.६.५.१.१)] वह सूर्य-लोक विभिन्न गायत्री छन्द रश्मि समूहों, नाना प्रकार के बलों एवं सोमतत्त्व से युक्त होने के कारण सुपर्ण कहलाता है। इन्हीं के कारण यह विभिन्न पदार्थों का अच्छी प्रकार से पालन कर पाता है। यह लोक आकाश में विद्यमान विभिन्न सूक्ष्म कणों एवं रश्मियों को निगलता रहता है, इस कारण गरुत्मान् भी कहलाता है।

(अग्निम्, यमम्, मातरिश्वानम्, आहुः) यहाँ अग्नि पद का दूसरी बार प्रयोग यह दर्शाता है कि वह सूर्यलोक प्रधान रूप से ऊष्मा व प्रकाश का रूप है और इन्हीं के स्रोत के रूप में देखा व जाना जाता है। यही सब लोकों को नियन्त्रित करता और स्वयं नियत गति से गतिमान रहता है, इसलिए इसे यम भी कहते हैं। यह लोक अन्तरिक्ष में शयन करता हुआ अथवा अन्तरिक्ष से निरन्तर प्राणतत्त्व को ग्रहण करता हुआ सभी पदार्थों को प्राणत्व प्रदान करने वाला होने से मातरिश्वा कहलाता है। यहाँ 'आहुः' पद का यह अर्थ भी है कि विभिन्न रश्मियाँ इस लोक को इन सभी रूपों में प्रकाशित वा प्रकट करती हैं।

इस मन्त्र का आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक भाष्य हम पूर्व में कर चुके हैं।

इसके पश्चात् कहा है— 'अथैष महानात्मात्मजिज्ञासयात्मानं प्रोवाच'। आत्मा के विषय में ऋषियों का कथन है— आत्मा त्रिष्टुप् (श.ब्रा.६.२.१.२४), आत्मा देवयजनम् (गो.पू.२.१४), आत्मैव वेदिः (श.ब्रा.१२.९.१.११)। यहाँ इस कथन के दो अभिप्राय हैं, उसमें से प्रथम यह है कि इस खण्ड के ऋषि बताना चाहते हैं कि महान् आत्मा अर्थात् उनके आचार्य महर्षि यास्क अथवा उनसे भी पूर्व महर्षि ब्रह्मा, जिन्हें उन्होंने इस खण्ड के अन्त में नमन किया है, ने अपने शिष्यों को पूर्वोक्त सूर्यरूपी आत्मा की जिज्ञासा प्रकट करने पर उस सूर्य के बारे में प्रवचन प्रारम्भ किया—

महान् आत्मा अर्थात् सूत्रात्मा वायु, जो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त रहता है अर्थात् आवश्यक होने पर उचित मात्रा में प्रकट होता रहता है, सूर्य की वेदी अर्थात् केन्द्रीय भाग अथवा सूर्यरूप वेदी में नाना देव पदार्थों के यजन के लिए त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को प्रकाशित वा उत्पन्न करने लगता है। इसी क्रम में निम्नलिखित ऋचा उत्पन्न होती है—

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम॥ (ऋ.३.२६.७)

इस मन्त्र का ऋषि आत्मा है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता अग्नि एवं आत्मा है तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि के परमाणु सूत्रात्मा वायु रश्मियों के प्रभाव से तीक्ष्ण बल से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

आधिदैविक भाष्य— (अग्निः, जातवेदाः, जन्मना, अस्मि) मैं अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ उत्पन्न होते ही विभिन्न उत्पन्न पदार्थों में अग्रणी होती हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी प्राण रश्मियों में सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सर्वप्रथम उत्पन्न होती हैं और वे अन्य सभी रश्मियों में व्याप्त होकर उन्हें अपने-२ कार्यों में अग्रसर करती हैं। वे नाना प्रकार की यजन क्रियाओं में प्राथमिक रूप से आवश्यक होती हैं। (घृतम्, मे, चक्षुः) 'घृम्' रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियों की चक्षुरूप होती हैं। इसका अर्थ यह है कि 'घृम्' रश्मियों की स्थिति सूत्रात्मा वायु रश्मियों की सक्रियता को दर्शाती है। इसका आशय यह है कि जहाँ-२ तेजस्विता है, वहाँ-२ सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ अधिक सक्रिय होती हैं।

(अमृतम्, मे, आसन्) [अमृतम् = अमृतमु वै प्राणाः (श.ब्रा.९.१.२.३२), अमृतमिव हि स्वर्गो लोकः (तै.ब्रा.१.३.७.५)। आसन् = आस्ये (ऋ.द.भा.)] सभी प्रकार की प्राण रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियों के मुख में स्थित होती हैं। इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ विभिन्न प्राण रश्मियों का भक्षण करके आवश्यकतानुसार एक-दूसरे में परिवर्तित करती रहती हैं। इसके साथ ही वे आवश्यकतानुसार भिन्न-२ प्राण रश्मियों को उत्पन्न भी करती रहती हैं। इसके साथ ही स्वर्गलोक अर्थात् सम्पूर्ण सूर्यलोक अथवा उसका केन्द्रीय भाग भी सूत्रात्मा वायु रश्मियों के मुख में विद्यमान होता है। ये रश्मियाँ उनमें होने वाले विभिन्न परिवर्तनों में मुख्य और प्राथमिक भूमिका निभाती हैं। (त्रिधातुः, रजसः, विमानः) [त्रिधातुः = यदस्मिन् (इन्द्रे) त्रीणि वीर्याण्यधत्तां तस्मात् त्रिधातुः (मै.सं.२.४.६)। विमानः = विमानो ह्यसा आदित्यः स्वर्गस्य लोकस्य (मै.सं.३.३.८)] अपने केन्द्रीय भाग को विशेष स्वरूप देने वाले सूर्यलोक को तीन शक्तियों से युक्त इन्द्र तत्त्व विशेष आकार व स्वरूप प्रदान करता है। यहाँ इन्द्र की तीन शक्तियाँ विद्युत् धनावेश, ऋणावेश व उदासीनता मानी जा सकती हैं। (अर्कः, अजस्रः, घर्मः, हविः, नाम, अस्मि) [अर्कः = स एषोऽग्निरर्को

यत्पुरुषः (श.ब्रा.१०.३.४.५), प्राणो वाऽअर्कः (श.ब्रा.१०.४.१.२३)] आदित्य लोक में निरन्तर प्राण रश्मियों की हवि प्रदान की जाती है, ऐसे उस प्रदीप्त और अत्यन्त तप्त सूर्यलोक में नाम अर्थात् विभिन्न छन्दादि रश्मियों के साथ सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ भी हवि का कार्य करती हैं।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (अग्निः) पावक इव (अस्मि) (जन्मना) (जातवेदाः) जातवित्तः (घृतम्) प्रदीप्तम् (मे) मम (चक्षुः) चष्टे नेनेक्ति नेत्रेन्द्रियम् (अमृतम्) अमृतात्मकरसम् (मे) मम (आसन्) आस्ये (अर्कः) वज्रो विद्युद्वा। अर्क इति वज्रनाम॥ निघं.२.२०॥ (त्रिधातुः) त्रयो धातवो यस्मिन्त्सः (रजसः) लोकसमूहस्य (विमानः) विविधं मानं यस्य सः (अजस्रः) निरन्तरं गन्ता (घर्मः) प्रदीप्तो दिवसकरः (हविः) (अस्मि) (नाम) प्रसिद्धौ।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। मनुष्यैर्विद्युद्वत्कार्य्यसिद्धिधारणं रोगविनाशका-ऽऽहारकरणं शत्रुनिवारणं च कर्त्तव्यं येन विद्युत्फलमापतेत्।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जैसे (अग्निः) अग्नि के सदृश (जन्मना) जन्म से (जातवेदाः) ज्ञानयुक्त मैं (अस्मि) वर्त्तमान हूँ (मे) मेरा (चक्षुः) नेत्र इन्द्रिय (घृतम्) प्रकाशमान (मे) मेरे (आसन्) मुख में (अमृतम्) अमृतस्वरूप रस हो जैसे (रजसः) लोक समूह का (विमानः) अनेक प्रकार के मानसहित (त्रिधातुः) तीन धातुओं से युक्त (अर्कः) वज्र वा बिजुली (अजस्रः) निरन्तर चलने वाला (घर्मः) प्रदीप्त सूर्य्य (हविः) हवन सामग्री है वैसे ही (नाम) प्रसिद्ध मैं (अस्मि) हूँ।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। मनुष्यों को चाहिये कि बिजुली के सदृश कार्यसिद्धि का धारण रोग का नाशकारक भोजन करना और शत्रुओं का निवारण करें, तो बिजुली का फल प्राप्त होवे।''

इसके पश्चात् तैत्तिरीय ब्राह्मण को उद्धृत करते हुए कहते हैं— 'अहमस्मि प्रथमजाः'। प्रतीत होता है कि यहाँ 'अहम्' पद सभी देव पदार्थ अर्थात् प्राण रश्मियों में सर्वप्रथम उत्पन्न सूत्रात्मा वायु रश्मियों के लिए है और इसका दूसरा अर्थ यह है कि उपर्युक्त दोनों छन्द रश्मियों से पूर्व 'अहमस्मि प्रथमजाः' इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। यह पूरा

मन्त्र इस प्रकार है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः।
यो मा ददाति स इदेव माऽऽवा अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥

इस मन्त्र की व्याख्या हम अगले खण्ड में करेंगे।

* * * * *

द्वितीयः खण्डः

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्। अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम॥ [ऋ.३.२६.७]
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः।
यो मा ददाति स इदेव माऽऽवा अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥
[तै.ब्रा.२.८.८.१] इति।
स ह ज्ञात्वा प्रादुर्बभूव। एवं तं व्याजहार।
अयं तमात्मानमध्यात्मजमन्तिकमन्यस्मा आचचक्ष्वेति॥ २॥

इनमें से प्रथम मन्त्र का भाष्य हम पूर्व खण्ड में कर चुके हैं। द्वितीय मन्त्र का छन्द भी त्रिष्टुप् और देवता आत्मा है। हमारे मत में इसका ऋषि भी आत्मा है। इस कारण इसका दैवत और छान्दस प्रभाव पूर्व मन्त्र की ही भाँति है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

आधिदैविक भाष्य— (अहम्, अस्मि, प्रथमजाः, ऋतस्य) [ऋतम् = ऋतं वै सत्यं यज्ञः (मै.सं.१.१०.११; काठ.सं.३६.५)] विभिन्न यजन क्रियाओं के साधन रूप पदार्थों में से सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सर्वप्रथम उत्पन्न होती हैं। ध्यान रहे ये साधनरूप पदार्थ अर्थात् प्राण रश्मियाँ भी सृष्टि के आदि में ही उत्पन्न होती हैं। उन सबमें भी सूत्रात्मा वायु प्रथम उत्पन्न होता है। (पूर्वम्, देवेभ्यः, अमृतस्य, नाभिः) यह सूत्रात्मा वायु अपने से पूर्व उत्पन्न अमृत-स्वरूप देव पदार्थों का नाभिरूप होता है। ध्यातव्य है कि 'ओम्' रश्मि एवं विभिन्न व्याहृति

रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियों से भी पूर्व उत्पन्न हो जाती हैं और ये रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियों की अपेक्षा अमृतरूप होती हैं। सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ इन पूर्वोत्पन्न रश्मियों को अपने साथ बाँध लेती हैं। जहाँ भी सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ संयोजन आदि कर्मों को कर रही होती हैं, उस समय ये 'ओम्' रश्मियों के साथ कुछ व्याहृति रश्मियों को भी अपने साथ जोड़ लेती हैं। इस कारण सूत्रात्मा वायु को इनकी नाभि कहा है। ये रश्मियाँ प्राणापान आदि रश्मियों की भी नाभिरूप होती हैं।

(यः, मा, ददाति, सः, इत्, एव, मा, आव) जो पदार्थ मुझे अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियों को अपने साथ धारण किये हुए रहता है, वह पदार्थ ही अन्य पदार्थों के साथ संयुक्त होने में समर्थ होता है। यहाँ 'दाञ् दाने' धातु का अर्थ रखना तथा अव धातु का अर्थ आलिङ्गन करना मानना चाहिए। इस सृष्टि में कोई भी यजन प्रक्रिया बिना सूत्रात्मा वायु के योग के कदापि सम्भव नहीं है। (अहम्, अन्नम्, अन्नम्, अदन्तम्, अद्मि) सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ दो पदार्थों का भक्षण करती हैं अर्थात् उन दोनों ही पदार्थों को अवशोषित वा आच्छादित कर लेती हैं। वे दो पदार्थ इस प्रकार हैं—

१. अन्नरूप पदार्थ अर्थात् जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है अथवा उसे अपने साथ संयुक्त कर लिया जाता है, वह अन्न कहलाता है। इस प्रकार सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ संयोज्य या अवशोष्य पदार्थों को अपने साथ संयुक्त कर लेती हैं। ये पदार्थ सूक्ष्म से लेकर विशाल लोक भी हो सकते हैं। जहाँ-२ जिस-२ स्तर की क्रियाएँ होती हैं, वहाँ-२ उस-२ स्तर की उतनी-२ मात्रा में सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ प्रकट होती रहती हैं।

२. दूसरे प्रकार के पदार्थ वे हैं, जो अन्नरूप पदार्थों को अपने साथ संयुक्त कर लेते हैं, वे अन्नाद कहलाते हैं। उन्हीं को यहाँ 'अन्नमदन्तम्' ऐसा कहा है। ऐसे पदार्थों को भी सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ अपने में समेट लेती हैं। जब दो आयन परस्पर संयुक्त होते हैं अथवा दो विशाल लोक परस्पर किसी प्रकार संयुक्त हो जाते हैं, तब सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ संयुक्त होने वाले और संयुक्त करने वाले दोनों ही प्रकार के पदार्थों को अपने में समेट लेती हैं। यहाँ अन्न शब्द से ऐसे पदार्थों का भी ग्रहण होता है, जिन्हें अवशोषित करके अन्य पदार्थ ऊर्जा प्राप्त करते हैं। इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों को सूत्रात्मा वायु अपने में समेट लेता है।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'स ह ज्ञात्वा प्रादुर्बभूव एवं तं व्याजहार अयं तमात्मानम-ध्यात्मजमन्तिकमन्यस्मा आचचक्ष्वेति'। यहाँ 'सः' इस सर्वनाम पद का प्रयोग उपर्युक्त

ऋचाओं की कारणभूत ऋषि रश्मियों अर्थात् सूत्रात्मा वायु के लिए किया गया है। सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ जब अपने निकट किसी पदार्थ का अनुभव करती हैं, तब वे प्रकट होने लगती हैं। यहाँ पाठकों को यह भ्रम हो सकता है कि जब वे प्रकट ही नहीं हुई हैं, तब वे किसी पदार्थ का अनुभव कैसे कर सकती हैं? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ शाखा-प्रशाखाओं के रूप में किसी पदार्थ को अपने साथ संयुक्त या आवेष्टित कर लेती हैं। सूत्रात्मा वायु रश्मियों की सूक्ष्म प्रशाखाएँ संयोग प्रक्रिया के समय ही प्रकट होती हैं, उन्हीं की यहाँ चर्चा की गयी है। इसके साथ यहाँ अगला वचन 'एवं तं व्याजहार' यह भी संकेत करता है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ संयोज्य पदार्थों के निकट आने पर (सूर्यलोक में होने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं के दौरान) उपर्युक्त छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने लगती हैं। इससे 'प्रादुर्बभूव' एवं 'व्याजहार' दोनों क्रियापदों का सामंजस्य व्यक्त होता है। यह सूत्रात्मा वायु इन उपर्युक्त रश्मियों को उत्पन्न करके अपने और अपने से उत्पन्न निकटस्थ प्राणादि पदार्थों को अन्य सम्मुख उपस्थित पदार्थों से परस्पर संयुक्त करने के लिए एक और ऋचा को उत्पन्न करता है, इसी को यहाँ 'कहना' इस क्रिया से व्यक्त किया है। यह ऋचा अगले खण्ड में दर्शायी गयी है। यहाँ लेखक यह कहना चाहते हैं कि पूर्वोक्त क्रियाओं के सम्पादित होते समय एक अन्य छन्द रश्मि भी उत्पन्न होती है।

* * * * *

= तृतीयः खण्डः =

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

[ऋ.१.१६४.३१; १०.१७७.३]

आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तरिति। अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः। तत्परम्। तद् ब्रह्म। तत्सत्यम्। तत्सलिलम्। तदव्यक्तम्। तदस्पर्शम्। तदरूपम्। तदरसम्। तदगन्धम्। तदमृतम्। तच्छुक्लम्। तन्निष्ठो भूतात्मा। सैषा भूतप्रकृतिरित्येके। तत्क्षेत्रम्। तज्ज्ञानात्क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मजम्।

अथैष महानात्मा त्रिविधो भवति। सत्त्वं रजस्तम इति।
सत्त्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठति। अभितो रजस्तमसी इति। कामद्वेषस्तमः।
इत्यविज्ञातस्य विशुध्यतो विभूतिं कुर्वतः क्षेत्रज्ञपृथक्त्वाय कल्पते।
प्रतिभातिलिङ्गो महानात्मा तमोऽलिङ्गो विद्याप्रकाशलिङ्गस्तमः।
अपि निश्चयलिङ्ग आकाशः॥ ३॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥ (ऋ.१.१६४.३१)

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। हमारे मत में इस प्रसंग में सूत्रात्मा वायु को ही दीर्घतमा कहा जा सकता है। दीर्घतमा ऋषि रश्मियाँ फैलती हुई उत्पन्न होती हैं और ऐसा स्वरूप सूत्रात्मा वायु रश्मियों का भी है। इसका देवता आत्मा प्रतीत होता है और इसका छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से तीक्ष्ण तेज वा बल की उत्पत्ति वा समृद्धि होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(गोपाम्, अनिपद्यमानम्, पथिभिः, आ, च, परा, च, चरन्तम्, अपश्यम्) विभिन्न वाक् रश्मियों द्वारा सुरक्षित विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कण वा रश्मि आदि पदार्थ, जिनको प्राप्त करना अति दुष्कर होता है, वे पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में आगे-पीछे यत्र-तत्र सर्वत्र विभिन्न मार्गों पर यदृच्छया निरन्तर गमन करते रहते हैं। ऐसे उन अनियन्त्रित सूक्ष्म कणादि पदार्थों को इस छन्द रश्मि की कारणभूत सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ परमेश्वर के विज्ञानानुसार देखती अर्थात् आकर्षित करती रहती हैं। यदि सूत्रात्मा वायु रश्मियों का यह आकर्षण न होवे, तो उन कणादि पदार्थों से सृष्टि की उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं हो सकती।

(सः, सध्रीचीः, सः, विषूचीः, वसानः, भुवनेषु, अन्तः, आ, वरीवर्ति) [सध्रीचीः = सः गच्छन्तीः (ऋ.द.भा.)। विषूचीः = विविधा गतिः (ऋ.द.भा.)] वह सूत्रात्मा वायु विभिन्न कण आदि पदार्थों को अपने अक्ष पर घूर्णन गतियों तथा नाना प्रकार के बलों से उत्पन्न विभिन्न प्रकार की गतियों को आच्छादित कर लेता है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी लोक वा कण की प्रत्येक प्रकार की गति में सूत्रात्मा वायु रश्मियों का भी अवश्य योगदान रहता है। ऐसा वह सूत्रात्मा वायु सबकी गतियों को आच्छादित करता हुआ नाना लोक-

लोकान्तरों के बीच निरन्तर विचरण करता रहता है।

अब हम लेखक के द्वारा इस मन्त्र पर की गयी टीका पर विचार करते हैं— 'आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तरिति' अर्थात् विभिन्न लोकों के अन्दर बार-बार आता-जाता रहता है। इसके साथ ही सबमें व्याप्त भी रहता है। व्याप्त होना भी और बार-२ आना-जाना भी यह संकेत करता है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ स्थिर न होकर पदार्थों के अन्दर और बाहर निरन्तर स्पन्दित होती रहती हैं। आना और जाना दोनों क्रियाएँ साथ-२ होने से कोई पदार्थ इनसे खाली नहीं रहता, फिर भी इनमें गति भी बनी रहती है। यहाँ 'भुवन' पद से सूक्ष्मतम कणों से लेकर स्थूलतम लोकों का ग्रहण करना चाहिए। 'अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः' इसी कारण सूत्रात्मा वायु को महान् अर्थात् व्यापक कहा गया है और यह व्यापक वायु सत्त्वलक्षण से युक्त होता है अर्थात् इसमें प्रकाश और बल दोनों की विद्यमानता होती है। इसमें सतोगुण की प्रधानता होती है।

पण्डित भगवद्दत्त जी ने यहाँ आत्मा का अर्थ 'महत्तत्त्व' ग्रहण किया है। यह तत्त्व सूत्रात्मा वायु की अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक होता है। इससे सूक्ष्म और व्यापक कोई भी उत्पन्न पदार्थ इस सृष्टि में नहीं है। बल, प्रकाश एवं क्रिया आदि की उत्पत्ति भी सर्वप्रथम इसी पदार्थ में व्यक्त होती है। हमारी दृष्टि में महत्तत्त्व को सत्त्वलक्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें तीनों ही गुण विद्यमान होते हैं और वस्तुतः तीनों ही गुणों की पृथक्-२ प्रधानता के आधार पर यह तीन प्रकार का होता है। ऐसी स्थिति में आत्मा पद से सत्त्वप्रधान महत्तत्त्व का ग्रहण किया जा सकता है। इससे यह संकेत मिलता है कि सभी पदार्थों में सत्त्वप्रधान महत्तत्त्व का निरन्तर आवागमन होता रहता है। वैदिक रश्मिविज्ञानम् में जिस कालतत्त्व की चर्चा की गई है, वह इस महत्तत्त्व से एक चरण पूर्व उत्पन्न होता है।

'तत्परम् तद् ब्रह्म' सूत्रात्मा वायु अथवा सत्त्वप्रधान महत्तत्त्व अन्य पदार्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है और यह अन्य पदार्थों की अपेक्षा व्यापक भी होता है। 'तत् सत्यम्' ये दोनों पदार्थ अपने स्तर के अन्य पदार्थों की अपेक्षा नित्य होते हैं, जैसे महत्तत्त्व, मनस्तत्त्व अथवा अहंकार की अपेक्षा नित्य होता है। 'तत् सलिलम्' इन्हीं पदार्थों में इनसे स्थूल सभी पदार्थ प्रलय प्रक्रिया के चलते विलीन हो जाते हैं। 'तदव्यक्तम्' इन दोनों ही पदार्थों के विषय में विशेष रूप से स्पष्टतः कुछ नहीं कहा जा सकता। 'तदस्पर्शम्' इनका स्पर्श अविज्ञेय होता है। 'तदरूपम्' इनमें रूप गुण विद्यमान नहीं होता अर्थात् ये दोनों व्यापक जैसे होते हैं।

'तदरसं तदगन्धम्' इनमें रस और गन्ध दोनों गुणों का भी अभाव होता है। 'तदमृतम्' इनमें अन्य किसी प्राण रश्मि की विद्यमानता नहीं होती। 'तच्छुक्लम्' रूपरहित होने पर भी इन दोनों ही पदार्थों का वर्ण अव्यक्त शुक्ल माना गया है। सत्त्वप्रधान महत्तत्त्व का अव्यक्त शुक्ल वर्ण स्वाभाविक है और सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ 'वाक्' रश्मि का रूप होती हैं, जो दैवी गायत्री छन्द रश्मि हैं। इस कारण भी इसका वर्ण श्वेत सिद्ध होता है।

'तन्निष्ठो भूतात्मा' इस महत्तत्त्व के अन्दर सभी उत्पन्न पदार्थों का आत्मरूप स्थित रहता है और सूत्रात्मा वायु रश्मियों में महत्तत्त्व विद्यमान रहता है। 'सैषा भूतप्रकृतिरित्येके' कई आचार्यों के मत में ये पदार्थ सभी उत्पन्न पदार्थों के प्रकृति अर्थात् मूल हैं। 'तत्क्षेत्रम् तज्ज्ञानात्क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मजम्' ये महत्तत्त्व आदि पदार्थ क्षेत्र कहलाते हैं, क्योंकि इनके अन्दर ही सम्पूर्ण सृष्टि का बीजारोपण किया जाता है। इनमें भी मुख्य रूप से महत्तत्त्व को क्षेत्र मानना चाहिए, किन्तु इसका भी क्षेत्र मूल प्रकृति पदार्थ है। इन क्षेत्ररूप पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानकर जीवात्मा क्षेत्रज्ञ स्वरूप को प्राप्त होता है और ऐसा करके वह आत्मारहित अर्थात् शरीररहित होकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

'अथैष महानात्मा त्रिविधो भवति सत्त्वं रजस्तम इति' यह महत्तत्त्व तीन प्रकार का होता है— सत्त्वप्रधान, रजस्प्रधान और तमस्प्रधान। स्मरण रहे कि न्यूनाधिक मात्रा में तीनों गुण सम्पूर्ण महत्तत्त्व में विद्यमान होते हैं। 'सत्त्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठति अभितो रजस्तमसी इति' सृष्टि के पदार्थों में सत्त्वप्रधान महत्तत्त्व मध्य में स्थित होता है और रजस्प्रधान व तमस्प्रधान दोनों ही प्रकार के महत्तत्त्व उसके दोनों ओर स्थित रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक पदार्थ के बल का केन्द्र उसके मध्य में स्थित होता है। 'कामद्वेषस्तमः' काम और द्वेष तमोगुण के लक्षण हैं। शरीरधारी जीवात्मा भी तीन प्रकार के होते हैं, जिनमें से सत्त्वगुणसम्पन्न शुद्ध स्वरूप ब्रह्म में स्थित होते हैं और रजस् व तमस्प्रधान जीव सुख और दुःख दोनों के मध्य नाना योनियों में भटकते रहते हैं। 'इत्यविज्ञातस्य विशुध्यतो विभूतिं कुर्वतः क्षेत्रज्ञपृथक्त्वाय कल्पते' यहाँ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने 'अविज्ञातम्' पद का अर्थ मनुस्मृति १.५ के पद 'अप्रज्ञातम्' के समान अप्रत्यक्ष पदार्थ ग्रहण किया है। इससे हम भी सहमत हैं। यहाँ कथन है कि विशुद्ध रूप से अप्रत्यक्ष पदार्थ ईश्वर और प्रकृति को जानकर नाना प्रकार की विभूतियों को प्राप्त करते हुए यह क्षेत्रज्ञ जीवात्मा शरीर से पृथक् होने में अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है। हमारी दृष्टि में यहाँ विभूति का अर्थ

पातञ्जल योगदर्शन के विभूति पाद में आयी हुई विभूतियाँ ग्रहण करना चाहिए।

'प्रतिभातिलिङ्गो महानात्मा तमोऽलिङ्गो विद्याप्रकाशलिङ्गस्तमः अपि निश्चयलिङ्ग आकाशः' किसी वस्तु को जानना अर्थात् ज्ञान गुण महानात्मा अर्थात् सत्त्वप्रधान महत्तत्त्व का लक्षण है। यद्यपि महत्तत्त्व जड़ पदार्थ है, परन्तु जीवात्मा के सानिध्य में यही ज्ञानप्राप्ति का साधन है। इसलिए सांख्यदर्शनकार ने लिखा है— 'अध्यवसायो बुद्धिः' (सां.द.२.१३) अर्थात् प्रयत्न और दृढ़ संकल्प करने वाला बुद्धितत्त्व ही होता है, परन्तु ये दोनों गुण मूलतः जीवात्मा के ही हैं। इस कारण बुद्धि को इनका साधन मानना ही यहाँ तर्कसंगत है। इस सत्त्वप्रधान महत्तत्त्व में तमोगुण का चिह्न प्रायः नहीं होता। सूत्रात्मा वायु रश्मि के विषय में भी इतना ज्ञातव्य है कि अन्य प्राण एवं छन्द रश्मियों की अपेक्षा संयोज्य रश्मि आदि पदार्थों को खोजने अर्थात् पहचानने का गुण इन्हीं में होता है, परन्तु यह गुण मूल रूप से 'ओम्' रश्मियों से प्राप्त होता है। उन 'ओम्' रश्मियों को यहाँ महानात्मा कह सकते हैं। उनमें तमोगुण का नितान्त अभाव होता है। यहाँ तमोगुण का लक्षण करते हुए लिखा कि उसमें विद्या का प्रकाश किञ्चिदपि नहीं होता। यहाँ 'विद्याप्रकाश' का अर्थ विद्या का अप्रकाश अर्थात् अत्यन्त अभाव समझना चाहिए। इसलिए साम्यावस्था रूप प्रकृति का एक नाम 'तम' भी है, क्योंकि उसे बिल्कुल भी नहीं जाना जा सकता।

अब आकाश का लिङ्ग बताते हुए लिखा कि निश्चय आकाश का लिङ्ग है अर्थात् जिस पदार्थ का स्पष्टता से बोध हो सके, वह पदार्थ आकाश कहलाता है। इससे यह आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट होता है कि जिस आकाश तत्त्व (आकाश महाभूत अर्थात् स्पेस) को आधुनिक विज्ञान किञ्चिदपि नहीं समझ पाया है और किसी तकनीक से समझ ले, इसकी सम्भावना भी नहीं है, उस आकाश तत्त्व को ये ऋषि स्पष्टता से जानने योग्य बता रहे हैं। यहाँ लेखक का कथन यह है कि आकाश से पूर्व उत्पन्न सभी पदार्थों का ज्ञान स्पष्टता से नहीं हो सकता, परन्तु सृष्टि प्रक्रिया में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में आकाश तत्त्व वह पदार्थ है, जिसका ऋषि लोग निश्चयात्मक ज्ञान सहजता से कर लेते थे।

* * * * *

= चतुर्थः खण्डः =

आकाशगुणः शब्दः। आकाशाद्वायुर्द्विगुणः स्पर्शेन।
वायोर्ज्योतिस्त्रिगुणं रूपेण। ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेन।
अद्भयः पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन। पृथिव्या भूतग्रामस्थावरजङ्गमाः।
तदेतदहर्युगसहस्रं जागर्ति। तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नङ्गानि प्रत्याहरति।
भूतग्रामाः पृथिवीमपियन्ति। पृथिव्यपः। आपो ज्योतिषम्। ज्योतिर्वायुम्।
वायुराकाशम्। आकाशो मनः। मनो विद्याम्। विद्या महान्तमात्मानम्।
महानात्मा प्रतिभाम्। प्रतिभा प्रकृतिम्। सा स्वपिति। युगसहस्रं रात्रिः।
तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्तेते। स कालस्तदेतदहर्भवति।
युगसहस्रपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ इति॥ ४॥

पूर्व खण्ड के अन्त में आकाश तत्त्व की चर्चा की गई है। उस आकाश के विषय में यहाँ लिखते हैं— 'आकाशगुणः शब्दः'। उधर महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने शब्द का लक्षण बतलाते हुए लिखा है— 'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिर्निर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः' (महा.अ.१ पा.१ सू. अइउण् आ.२) यहाँ शब्द का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, हम उस पर विचार करते हैं—

१. जिसकी प्राप्ति कानों से हो सके।

२. जिसका ज्ञान बुद्धि से हो सके। कानों के द्वारा प्राप्त शब्द का ज्ञान बुद्धि से ही होता है। शब्द के पृथक्-२ अक्षरों व शब्द के अर्थ का ज्ञान बुद्धि ही करती है, कान नहीं।

३. यह उच्चारण के द्वारा प्रकट होता है। उच्चारण से पूर्व शब्द उस रूप में होता है, जिसे व्यावहारिक रूप से शब्द नहीं कह सकते।

४. शब्द आकाश में रहता है, उसके रहने के लिए अन्य चार भूतों के विद्यमान होने की कोई आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि हम उन चार महाभूतों की अनुपस्थिति में शब्द को सुन नहीं सकते, परन्तु रेडियो तरंगों के रूप में शब्द के गमन करने के लिए आकाश के अतिरिक्त

अन्य किसी महाभूत की कोई आवश्यकता नहीं होती, परन्तु आकाश की अविद्यमानता में कानों से सुनने योग्य शब्द का रहना वा गमन करना सम्भव नहीं है। यद्यपि रेडियो तरंगों को हम कानों से ग्रहण नहीं कर सकते, परन्तु किसी यन्त्र आदि के द्वारा ग्रहण कानों के माध्यम से ही हो सकता है।

शब्द के विषय में महर्षि पाणिनि ने वर्णोच्चारणशिक्षा में लिखा है—

आकाशवायुप्रभवः शरीरात्समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम्॥

इसकी व्याख्या ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार कही है—

"आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होने वाला, नाभि के नीचे से ऊपर उठता हुआ जो मुख को प्राप्त होता है, उसको 'नाद' कहते हैं। वह कण्ठ आदि स्थानों में विभाग को प्राप्त होता हुआ वर्णभाव को प्राप्त होता है, उसको 'शब्द' कहते हैं।

जीवात्मा बुद्धि से अर्थों की संगति करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता, विद्युत्-रूप मन जठराग्नि को ताड़ता, वह वायु को प्रेरणा करता और वायु उरःस्थल में विचरता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है।"

यहाँ यह संकेत मिलता है कि आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होने वाला शब्द का जो प्रारम्भिक रूप है, उसी की ऋषियों ने शब्द संज्ञा की है। यह शब्द प्रारम्भ में मध्यमा और उच्चारण के पश्चात् वैखरी के रूप में प्रकट होता है। इसीलिए शब्द को आकाशदेश में स्थित माना गया है। आकाश की अनुपस्थिति में शब्द की कल्पना सम्भव नहीं है, इसीलिए शब्द को आकाश का गुण कहा गया है। महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में शब्द को आकाश का गुण भी उस रूप में नहीं बताया है, जिस रूप में वायु आदि महाभूतों के गुणों का वर्णन है। अन्य महाभूतों के गुणों का वर्णन करते-करते अन्त में कहा है—

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य (वै.द.२.१.२७)।

वर्तमान विज्ञान ध्वनि को स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं कर पाया है, परन्तु उन्होंने जो भी परिभाषा देने का प्रयास किया है, वह इस प्रकार है—

"Sound is an alteration in pressure, stress, particle displacement or particle velocity, which is propogated in an elastic material, or the super-position of such propogated vibrations. (Definition recommended by American Standard Association)"

-Acoustics by Joseph L. Hunter

इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित ध्वनि वैखरी शब्द के लिए प्रयुक्त है, परन्तु पदार्थ में तनाव (स्ट्रेस) या खिंचाव के रूप में यह मध्यमा वाणी के लिए भी प्रयुक्त माना जा सकता है और इन दोनों का आधार आकाश ही है, क्योंकि आकाश के अभाव में कणों का विस्थापन अथवा किसी पदार्थ में खिंचाव वा तनाव का होना सम्भव नहीं है। वैखरी और मध्यमा से पूर्व की स्थिति को हम शब्द के स्थान पर वाक् कह सकते हैं। यहाँ भी खिंचाव अथवा तनाव होता है, परन्तु वह आकाश से पूर्व उत्पन्न पदार्थों में होता है। उसे पश्यन्ती और परा वाणी कहते हैं। उनका देश आकाश नहीं है और न वे आकाश के गुण हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि अवकाश रूप आकाश की आवश्यकता तो सदैव होती है, परन्तु वह अभाव रूप होता है, इसलिए शब्द को उसका गुण नहीं माना जा सकता। इससे यह स्पष्ट होता है कि जहाँ भी शब्द को आकाश का गुण कहा है, वहाँ महाभूत आकाश ही ग्रहण करना चाहिए।

इस विषय पर हम अन्य दृष्टिकोण से विचार करते हैं। वाक् एवं अन्तरिक्ष का सम्बन्ध दर्शाते हुए महर्षि जैमिनी कहते हैं— वागित्यन्तरिक्षम् (जै.उ.४.२२.११)। इसका अर्थ यह है कि वाक् और आकाश तत्त्व एक ही है। हम वैदिक रश्मिविज्ञानम् में लिख चुके हैं कि आकाश महाभूत सूक्ष्म वाक् रश्मियों से मिलकर बना होता है अर्थात् आकाश महाभूत के अवयव वाक् रूप ही होते हैं। वाक् रश्मियों के स्पन्दन का गुण शब्द ही होता है, जो कण्ठ और मुख से निःसृत होकर सुनने योग्य अवस्था में अभिव्यक्त होता है। उस स्तर पर अन्य कोई गुण प्रकट नहीं हो सकता, इस कारण भी शब्द को आकाश का गुण कहा गया है। अब आकाश का प्रकरण समाप्त करके आगे चलते हैं।

लेखक ने आगे लिखा है— 'आकाशाद्वायुर्द्विगुणः स्पर्शेन'। इसका अर्थ यह है कि

आकाश के पश्चात् वायु तत्त्व उत्पन्न होता है, जिसमें दो गुण होते हैं। एक शब्द गुण जो आकाश का होता है, वह वायु में भी सम्मिलित होता है, क्योंकि वायु आकाश के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त स्पर्श गुण भी होता है। यहाँ स्पर्श गुण यह दर्शाता है कि पदार्थों को परस्पर जोड़ने और बाँधने की प्रक्रिया विशेष रूप से वायु तत्त्व से ही प्रारम्भ होती है। नाना प्रकार की संयोगादि प्रक्रियाओं में इसकी रश्मियों की अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। आकाश और वायु दोनों ही वाक् रश्मियों से मिलकर बने होते हैं। इस कारण दोनों में ही शब्द गुण विद्यमान होता है।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि किस स्तर की वाक् रश्मियाँ आकाश को उत्पन्न करती हैं और किस स्तर की वाक् रश्मियाँ वायु तत्त्व का भाग होती हैं? इस विषय में हम ऋषियों के वचनों को उद्धृत करते हैं— त्रैष्टुभोऽन्तरिक्षलोकः (कौ.ब्रा.८.९), त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षलोके त्रैष्टुभो वायुरध्यूढः (कौ.ब्रा.१४.३), त्रैष्टुभो हि वायुः (श.ब्रा.८.७.३.१२)। यहाँ आकाश और वायु दोनों को ही त्रैष्टुभ कहा है और त्रैष्टुभ अन्तरिक्ष के ऊपर त्रैष्टुभ वायु विद्यमान रहता है, परन्तु अनिवार्यता नहीं है, क्योंकि बिना वायु के भी अन्तरिक्ष का अस्तित्व हो सकता है। उधर हम वैदिक रश्मिविज्ञानम् में कह चुके हैं कि आकाश याजुषी रश्मियों से मिलकर बना होता है। इस कारण यह निष्कर्ष निकलता है कि याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों एवं उनसे लघु रश्मियों से आकाश का निर्माण होता है। उधर याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों एवं इनसे बड़ी रश्मियों से वायुतत्त्व का निर्माण होता है। इनमें याजुषी त्रिष्टुप् रश्मियाँ दोनों ही महाभूतों में विद्यमान होने के कारण दोनों के मध्य सम्पर्क स्थापित करने में सहायक होती हैं। यही से स्पर्श गुण का भी उदय होने लगता है।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'वायोर्ज्योतिस्त्रिगुणं रूपेण' अर्थात् वायु के पश्चात् अथवा वायु से रूप गुण सहित तीन गुणों वाले ज्योति अर्थात् अग्नि महाभूत का निर्माण होता है। इसमें दो गुण आकाश और वायु के क्रमशः शब्द व स्पर्श भी होते हैं। रूप, आकार आदि का बनना अग्नि महाभूत की उत्पत्ति के साथ ही प्रारम्भ होता है।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेन'। अग्नि महाभूत से आपः महाभूत की उत्पत्ति होती है, जिसमें पूर्वोत्पन्न महाभूतों के शब्द, स्पर्श और रूप गुणों के अतिरिक्त रस गुण भी विद्यमान होता है। इससे पूर्व किसी पदार्थ में कोई स्वाद का गुण नहीं होता। यहाँ 'आपः' पद से पानी के अतिरिक्त एटम्स और आयन्स का भी ग्रहण करना

चाहिए।

तदुपरान्त लिखते हैं— 'अद्भ्यः पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन' अर्थात् आपः महाभूत के पश्चात् इससे पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति होती है, जिसमें पूर्वोक्त चारों महाभूतों के गुण तो होते ही हैं, इसके साथ ही गन्ध गुण भी प्रकट हो जाता है। पृथिवी तत्त्व के उत्पन्न होने से पूर्व इस ब्रह्माण्ड में कहीं भी गन्ध गुण का अस्तित्व नहीं होता। पृथिवी महाभूत के उत्पन्न होने के पश्चात् इन सबके मेल से स्थावर और जंगम दोनों ही प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती है। हम सभी प्राणियों और वनस्पतियों का शरीर इन्हीं पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न होता है।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'तदेतदहर्युगसहस्रं जागर्ति'। इसी बात को भगवान् मनु ने करोड़ों वर्ष पूर्व कहा था—

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिरेव च॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ (मनु.१.७२-७३)

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इन श्लोकों की व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

"जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं, उन एक हजार चतुर्युगियों की ब्राह्म दिन संज्ञा रखी हैं और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जाननी चाहिए। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इसको बना ये रखता है, इसी का नाम 'ब्राह्मदिन' लिखा है और हजार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटाके प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है, उसका नाम 'ब्राह्मरात्रि' रखा है अर्थात् सृष्टि के वर्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है।"

इस विषय में अधिक जानकारी के लिए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ पठनीय है।

तदुपरान्त लिखते हैं— 'तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नङ्गानि प्रत्याहरति' अर्थात् जब सृष्टि का अन्तिम समय आता है, तब मानो परमपिता परमात्मा सोता हुआ अपने अङ्गभूत सृष्टि के सभी पदार्थों को अपने अन्दर खींच लेता है। यद्यपि सृष्टि ईश्वर का अङ्ग नहीं है, क्योंकि

ईश्वर तो मुख्य निमित्त कारण है, परन्तु जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में आत्मा अपने सभी क्रियाकलापों को समेट लेता है और स्थूल शरीर पूर्णतः शान्त हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर अपनी चेतना को समेटकर सृष्टि के सभी पदार्थों की ऊर्जा को शान्त कर देता है, जिससे धीरे-२ उन सभी पदार्थों का क्रमशः कारण में लय होने लगता है।

इस क्रम को दर्शाते हुए लिखते हैं— 'भूतग्रामाः पृथिवीमपियन्ति पृथिव्यपः आपो ज्योतिषम् ज्योतिर्वायुम् वायुराकाशम्' अर्थात् पञ्चभूतों के संयोग से बने सभी पदार्थ अर्थात् सभी लोक-लोकान्तर और प्रणियों के शरीर और वनस्पति पृथिवी महाभूत में विलीन हो जाते हैं अर्थात् पृथिवी महाभूत में परिवर्तित हो जाते हैं। आधुनिक विज्ञान की भाषा में मोलिक्यूल्स को पृथिवी महाभूत का परमाणु मानना चाहिए। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि पहले मोलिक्यूल्स में बिखर जाती है। तदुपरान्त पृथिवी के परमाणु आपः के परमाणुओं अर्थात् एटम्स और आयन्स में रूप में बिखर जाते हैं। तदुपरान्त ये परमाणु ज्योतिरूप अग्नि महाभूत के परमाणुओं अर्थात् सूक्ष्मतम मूल कणों और प्रकाशादि के अणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं। तत्पश्चात् अग्नि के परमाणु वायु का रूप धारण कर लेते हैं अर्थात् सभी सूक्ष्म कण और प्रकाशाणु (फोटॉन) आदि अपनी अवयवभूत छन्द रश्मियों में परिवर्तित हो जाते हैं। तदुपरान्त वायु के ये परमाणु अर्थात् छन्द रश्मियाँ पूर्वोक्त आकाश महाभूत में परिवर्तित हो जाती हैं।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'आकाशो मनः मनो विद्याम् विद्या महान्तमात्मानम्' अर्थात् महाभूत मनस्तत्त्व में परिवर्तित हो जाते हैं और फिर मनस्तत्त्व विद्या में रूपान्तरित हो जाता है। सांख्य-प्रक्रिया को दृष्टिगत रखते हुए यहाँ विद्या पद का अर्थ अहंकार तत्त्व प्रतीत होता है और फिर यह अहंकार तत्त्व पूर्वोक्त महानात्मा अर्थात् महत्तत्त्व के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

तदुपरान्त कहते हैं— 'महानात्मा प्रतिभाम् प्रतिभा प्रकृतिम् सा स्वपिति' अर्थात् महत्तत्त्व प्रतिभा नामक पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है। सृष्टि उत्पत्ति क्रम में प्रतिभा नामक पदार्थ किसी अन्य ग्रन्थ में उल्लिखित है, ऐसा हमारी जानकारी में नहीं आया। इस शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस पदार्थ में जड़ता के साथ-२ ज्ञान का भी समावेश होता है और जहाँ से दीप्ति का प्रथम उद्गम होता है, वह पदार्थ प्रतिभा कहलाता है। पूर्वोक्त अन्य सभी पदार्थ नितान्त ज्ञानशून्य जड़ हैं। इससे यह निश्चित होता है कि कालतत्त्व ही प्रतिभा

कहलाता है, जिसके विषय में हम 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' में विस्तार से लिख चुके हैं। तदुपरान्त यह प्रतिभा नामक पदार्थ प्रकृति नामक मूल उपादान कारण में विलीन हो जाता है और यह पदार्थ पूर्ण सुषुप्ति अवस्था में रहता है, जिसके विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' पुस्तक पठनीय है।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'युगसहस्रं रात्रिः तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्तेते स कालस्तदेतदहर्भवति' अर्थात् यह जो प्रकृति रूप महाप्रलय अवस्था होती है, वह एक हजार चतुर्युगियों की रात्रिरूप होती है। इस प्रकार ब्रह्मा का दिन और रात्रि निरन्तर चक्रवत् आते-जाते रहते हैं। जब कालतत्त्व सक्रिय अवस्था में रहता है, तब वह ब्रह्मा का दिन अर्थात् सृष्टिकाल होता है। प्रलयकाल के अन्तर्गत कालतत्त्व अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है, उसका कभी अभाव नहीं होता। प्रलयकाल की गणना उसी के आधार पर होती है और उसी के आधार पर सृष्टि काल पुनः प्रारम्भ हो जाता है। सृष्टिकाल में कालतत्त्व पदार्थों की आयु क्षीण करने के अतिरिक्त विभिन्न पदार्थों की आयु की गणना भी करता है और इसके साथ ही वह प्रत्येक पदार्थ के मूल बल व क्रिया का हेतु भी बना रहता है। इसलिए इसे सक्रिय काल कहा गया है। उधर प्रलय काल में यह कालतत्त्व केवल प्रलय अवधि की गणना करता है। किसी को बल या प्रेरणा प्रदान नहीं करता। इसलिए इस काल को हमने अव्यक्त काल कहा है।

अन्त में एक श्लोक लिखते हैं—

युगसहस्रपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगी पर्यन्त जो अवधि है, उसको ब्रह्मा का दिन कहा गया है। इसी प्रकार एक हजार चतुर्युगी का समय ब्रह्मा की रात्रि का माना गया है। ऐसा अहोरात्र को जानने वाले अर्थात् कालगणना के विशेषज्ञों का मत है।

* * * * *

= पञ्चमः खण्डः =

तं परिवर्तमानमन्योऽनुप्रवर्तते। स्रष्टा द्रष्टा विभक्तातिमात्रोऽहमिति गम्यते। स मिथ्यादर्शनेनेदं पावकं महाभूतेषु।
चिराण्वाकाशाद्वायोः प्राणश्चक्षुश्च वक्तारं च तेजसोऽद्भ्यः स्नेहं पृथिव्या मूर्त्तिः। पार्थिवांस्त्वष्टौ गुणान्विद्यात्। त्रीन्मातृतस्त्रीन्पितृतः।
अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतः। त्वङ्मांसशोणितानि मातृतः। अन्नपानमित्यष्टौ। सोऽयं पुरुषः सर्वमयः सर्वज्ञानोऽपि क्लृप्तः॥ ५॥

सृष्टि-प्रलय रूपी अहोरात्रों के चक्र की चर्चा करते हुए लिखते हैं— 'परिवर्तमान-मन्योऽनुप्रवर्तते' अर्थात् सृष्टि-प्रलय का जो चक्र चलता है, उस चक्र को कोई अन्य पदार्थ अनुकूलतापूर्वक अर्थात् नियमपूर्वक निरन्तर प्रवर्तित करता रहता है। यहाँ अन्य पद यह दर्शाता है कि सृष्टि-प्रलय का चक्र स्वयं अपने आप नहीं चलता। इससे यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जड़ पदार्थ में स्वयं किसी भी प्रकार की गति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसके लिए एक ऐसे पदार्थ की आवश्यकता होती है, जो इससे पृथक् गुण वाला होवे और वह पृथक् गुण वाला पदार्थ परम चेतन तत्त्व ईश्वर ही होता है, क्योंकि इस चक्र को चलाने के लिए न केवल चेतना गुण का होना पर्याप्त है, अपितु सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों की भी आवश्यकता होती है।

इस विषय में पुनः लिखते हैं— 'स्रष्टा द्रष्टा विभक्तातिमात्रोऽहमिति गम्यते' अर्थात् वह परम चेतन तत्त्व अपने शक्तिरूपी हाथों के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ प्रकृति से लेकर विशालतम लोक-लोकान्तरों तक को स्पर्श करता अर्थात् ग्रहण करता है। वह अपने ज्ञानरूपी नेत्रों से सबको देखता और अपने महान् बल के द्वारा विभक्त करने योग्य पदार्थों को विभक्त करता है, ऐसे उस परम चेतन पदार्थ को यहाँ अतिमात्र कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि उस परब्रह्म का कोई माप नहीं हो सकता। जैसाकि कहा गया है—

अणोरणीयान्महतो महीयान् (कठोपनिषद् १.२.२०)

अर्थात् वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है, क्योंकि वह पूर्णतः निरवयव सत्ता है। ऐसा वह ब्रह्म सृष्टि और प्रलय के चक्र को चलाता हुआ ही, विशेषकर सृष्टि को रचते और

संचालित करते हुए ही अहंभाव को प्राप्त होता है अर्थात् वह अभिव्यक्त होता है। यहाँ 'अहम्' पद का यही तात्पर्य है। यह ब्रह्म सृष्टि के अभाव में सर्वथा अव्यक्त ही होता है और उसके अस्तित्त्व का कोई प्रयोजन भी नहीं हो सकता है। इस कारण सृष्टि-प्रलय के चक्र के साथ 'अहम्' पद की संगति यहाँ लगाई गई है।

तदुपरान्त लिखते हैं— 'स मिथ्यादर्शनेनेदं पावकं महाभूतेषु चिराणु'। अब तीसरे तत्त्व की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि वह तीसरा तत्त्व चिर अणु है अर्थात् नित्य है और सूक्ष्म है, साथ में वह स्वभावतः पवित्र है तथा परब्रह्म की अपेक्षा वह प्रत्यक्ष है। इसी के लिए यहाँ 'इदम्' सर्वनाम पद का प्रयोग हुआ है। जब वह स्वभाव से पवित्र जीवात्मा मिथ्यादर्शन के कारण भ्रान्त हो जाता है अर्थात् अविवेक में फँस जाता है, तब ऐसे उस जीवात्मा को वह परब्रह्म सृष्टि-प्रलय के चक्र में उसके कर्मों के अनुकूल नाना योनियों और देशों में प्रवर्तित करता रहता है। यहाँ 'अनुप्रवर्तते' पद की अनुवृत्ति माननी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जीवात्मा स्वभाव से पवित्र होते हुए भी अविवेक के कारण ही भ्रान्त होता है और फिर प्रकृति के बन्धन में फँस जाता है। यह सब ईश्वर के नियमानुसार ही होता है। यहाँ 'चिराणु' पद का अर्थ नितान्त सूक्ष्म भी मानना चाहिए।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'आकाशाद्वायोः प्राणश्चक्षुश्च वक्तारं च तेजसोऽद्भ्यः स्नेहं पृथिव्या मूर्त्तिः पार्थिवांस्त्वष्टौ गुणान्विद्यात्'। उस जीवात्मा को महाभूतों से क्या-२ प्राप्त होता है, इसके विषय में चर्चा करते हैं कि चिराणु आकाश तत्त्व में वायु उत्पन्न होता है। यहाँ चिराणु पद का प्रयोग दो स्थानों पर समझना चाहिए। इसका एक प्रयोग तो हम जीवात्मा के विशेषण के रूप में कर चुके हैं और दूसरा विशेषण यहाँ आकाश के रूप में प्रयुक्त हुआ है। चिराणु आकाश का तात्पर्य यह है कि आकाश अन्य महाभूतों की अपेक्षा सूक्ष्म भी होता है और चिरकाल तक विद्यमान भी रहता है। उस आकाश से ही वायु उत्पन्न होता है और फिर इस वायु से ही शरीरधारी जीवात्मा प्राणों को प्राप्त करता है अर्थात् प्राणतत्त्व वायु महाभूत का ही भाग है। तेज अर्थात् अग्नि महाभूत से चक्षु अर्थात् देखने की शक्ति प्राप्त करता है। इसके साथ ही बोलने की शक्ति भी अग्नि तत्त्व से ही प्राप्त करता है। कोई भी प्राणी बिना अग्नि महाभूत के सहयोग के देखने में समर्थ नहीं हो सकता।

तदुपरान्त लिखते हैं कि जलतत्त्व से प्राणियों में स्नेह गुण उत्पन्न होता है। बिना जलतत्त्व के किसी भी प्राणी का जीवन सम्भव नहीं है। किसी भी शरीर की उत्पत्ति भी

सम्भव नहीं है, क्योंकि बिना आयनों के संयोग के कोई भी स्थूल पदार्थ नहीं बन सकता। यदि शरीर उत्पन्न होने के पश्चात् आप: तत्त्व समाप्त हो जाए, तब भी शरीर तुरन्त नष्ट हो जायेगा। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है— वागेवाऽग्निः (श.ब्रा.३.२.२.१३)। इसके पश्चात् कहा कि पृथिवी तत्त्व से सभी मूर्तिमान पदार्थ उत्पन्न होते हैं अर्थात् सभी पृथिव्यादि लोक और हमारे शरीर व वनस्पति आदि पृथिवी महाभूत के उत्पन्न होने के पश्चात् ही उत्पन्न होते हैं। इनमें से पृथिवी महाभूत में आठ गुण जानने चाहिए। यहाँ आठ गुण वे हैं, जो जीवात्मा को शरीर धारण करने पर प्राप्त होते हैं, जिनका वर्णन करते हुए लिखते हैं— 'त्रीन्मातृतस्त्रीन्पितृत: अस्थिस्नायुमज्जान: पितृत: त्वङ्मांसशोणितानि मातृत: अन्नपानमित्यष्टौ सोऽयं पुरुष: सर्वमय: सर्वज्ञानोऽपि क्लृप्त:'।

इनमें से तीन गुणों को जीवात्मा माता से प्राप्त करता है। वे तीन गुण हैं— त्वचा, मांस और रक्त के गुण अर्थात् इन तीनों ही पदार्थों में माता का प्रभाव होता है। तीन गुण पिता से प्राप्त होते हैं, वे तीन गुण हैं— अस्थि, स्नायु और मज्जा के गुण। इसका अर्थ यह है कि ये तीनों ही पदार्थ पिता से प्रभावित होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य गुण खाद्य एवं पेय पदार्थ (पृथिवी तत्त्व) से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इन आठों ही पदार्थों के गुण पार्थिव ही कहे गये हैं, क्योंकि ये पृथिवी महाभूत से ही उत्पन्न होते हैं। जब कोई पुरुष इन पञ्चमहाभूतों एवं इससे पूर्वोत्पन्न ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब वह सम्पूर्ण ज्ञान एवं आनन्दमय होने में समर्थ हो जाता है। इसके साथ ही इस जीवात्मा का सामर्थ्य है कि वह अपने कर्मानुसार सभी प्राणियों के शरीरों को प्राप्त कर सकता है और उन शरीरों के माध्यम से प्राप्त होने योग्य ज्ञान को भी प्राप्त कर सकता है।

* * * * *

षष्ठ: खण्ड:

पूर्व खण्ड में जीव के आवागमन की संकेतमात्र चर्चा की थी। अब उसे विस्तार देते हुए लिखते हैं—

स यद्यनुरुध्यते तद्भवति। यदि धर्ममनुरुध्यते तद् देवो भवति।

**यदि ज्ञानमनुरुध्यते तदमृतो भवति। यदि काममनुरुध्यते संच्यवते।
इमां योनिं सन्दध्यात्। तदिदमत्र मतम्। श्लेष्मा रेतसः सम्भवति।
श्लेष्मणो रसः। रसाच्छोणितम्। शोणितान्मांसम्। मांसान्मेदः।
मेदसः स्नावा। स्नाव्नोऽस्थीनि। अस्थिभ्यो मज्जा। मज्जातो रेतः।
तदिदं योनौ रेतः सिक्तं पुरुषः सम्भवति। शुक्रातिरेके पुमान् भवति।
शोणितातिरेके स्त्री भवति। द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति।
शुक्रभिन्नेन यमो भवति। शुक्रशोणितसंयोगान्मातृपितृसंयोगाच्च।
तत्कथमिदं शरीरं परं संयम्यते। सौम्यो भवति। एकरात्रोषितं कललं भवति।
पञ्चरात्राद् बुद्बुदाः। सप्तरात्रात्पेशी। द्विसप्तरात्रादर्बुदः।
पञ्चविंशतिरात्रः स्वस्थितो घनो भवति। मासमात्रात्कठिनो भवति।
द्विमासाभ्यन्तरे शिरः सम्पद्यते। मासत्रयेण ग्रीवाव्यादेशः।
मासचतुष्केण त्वग्व्यादेशः। पञ्चमे मासे नखरोमव्यादेशः।
षष्ठे मुखनासिकाक्षिश्रोत्रं च सम्भवति। सप्तमे चलनसमर्थो भवति।
अष्टमे बुद्ध्याध्यवस्यति। नवमे सर्वाङ्गसम्पूर्णो भवति।
मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नाना योनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा॥
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः।
साङ्ख्यं योगं समभ्यस्येत् पुरुषं वा पञ्चविंशकम्॥ इति।
ततश्च दशमे मासे प्रजायते। जातश्च वायुना स्पृष्टस्तन्न स्मरति जन्ममरणम्।
अन्ते च शुभाशुभं कर्म॥ ६॥**

इस खण्ड में जीव की गति और भ्रूण के विकास की चर्चा है, जिसका अर्थ सामान्य ही है और यह आयुर्वेद का विषय है। इस कारण हम यहाँ पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार का भाष्य यथावत् उद्धृत करते हैं—

"वह मनुष्य जैसी कामना करता है, वैसा बन जाता है। यदि वह धर्म की कामना करता है, तो देव बन जाता है, यदि ज्ञान की कामना करता है तो मुक्त हो जाता है और यदि विषयवासना की कामना करता है तो मनुष्य-योनि से पतित हो जाता है और फिर चिरकाल के पश्चात् इस मनुष्ययोनि को संयुक्त करता है।

'अनो रुध कामे' यह धातु धातुपाठ में दिवादिगणी पठित है, जिसका अर्थ यह है कि 'अनु' पूर्वक 'रुध' धातु कामना अर्थ में प्रयुक्त होती है।

गर्भ-स्थिति — मनुष्ययोनि से संयुक्त होने के बारे में यह मत है—

रेतस् से श्लेष्मा पैदा होता है, श्लेष्मा से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से चर्बी, चर्बी से स्नायुएँ, स्नायुओं से हड्डियाँ, हड्डियों से मज्जा और मज्जा से वीर्य पैदा होता है। वह वीर्य स्त्री के गर्भाशय में सिक्त किया हुआ पुरुष बन जाता है। वीर्य की अधिकता में पुरुष होता है, रज की अधिकता में स्त्री होती है, रज और वीर्य इन दोनों के समान होने पर नपुंसक होता है और वीर्य के भेद से जोड़ा पैदा होता है।

वैद्यक-ग्रन्थों में अन्न के परिपाक का पहला रूप इसे माना है, परन्तु यहाँ यास्काचार्य रस से भी पूर्व श्लेष्मा और रेतस्, इन दो रूपों को और मानते हैं। ये दोनों रूप 'रस' के ही स्थूल रूपान्तर जान पड़ते हैं, इसे वैद्य लोग विचारें।

गर्भ-वृद्धिक्रम — वीर्य रज के संयोग से और माता-पिता के संयोग से किस प्रकार यह शरीर अन्तिम संगठन में लाया जाता है?

उत्तर— गर्भाधान के पश्चात् पहले यह सौम्य (रसीय) अवस्था में होता है, फिर एक रात्रि के पश्चात् कलल (वीर्य रज का मिश्रण) अवस्था में होता है, पाँच रात्रियों के बाद पेशी (मांसबोटी) के रूप में आ जाता है, चौदह रात्रियों के बाद (अर्बुद) लोथड़ा सा बन जाता है, पच्चीस रात्रियों में अपनी द्रव सी अवस्था में रहता हुआ घन हो जाता है, एक मास में कठिन हो जाता है, दो मासों में सिर बन जाता है, तीन मासों में गर्दन की बनावट जान पड़ती है, चार मासों में त्वचा की बनावट और पाँचवें मास में नख तथा रोमों की बनावट दीख पड़ती है, छठे मास में मुख, नासिका, चक्षु और श्रोत्र, ये सब बन जाते हैं, सातवें मास में हिलने-जुलने के योग्य होता है, आठवें महीने में बुद्धि से काम लेता है और नवम मास में सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण हो जाता है। उस समय उस जीव की क्या अवस्था होती है और

वह अत्यन्त दु:ख में पड़ा हुआ क्या-२ सोचता है, उसे 'मृतश्चाहं' आदि तीन श्लोकों में बतलाया गया है, जो कि इस प्रकार है—

मैं मरा और फिर पैदा हुआ, मैं पैदा हुआ और फिर मरा एवं मैंने जिन नाना प्रकार की सहस्रों योनियों में निवास किया, वहाँ मैंने अनेक प्रकार के भोजन खाये, नानाविध स्तन पीये, अनेक मातायें देखीं और अनेक पिता तथा मित्र देखे और अब मातृगर्भ में संयुक्त हुआ तथा नीचे मुख करके पड़ा हुआ मैं जीव पीड़ित हो रहा हूँ। हे प्रभु! मुझे इस पिञ्जरे से शीघ्र बाहर निकाल कि मैं सांख्य तथा योग का अभ्यास करूँ अथवा पच्चीसवें पुरुष-तत्त्व का अभ्यास करूँ।

गर्भोपनिषद् में गर्भस्थ जीव का यह विलाप अत्यन्त रोमांचकारी शब्दों में दिया हुआ है, पाठकों के विचारार्थ उसे यहाँ उल्लिखित कर देता हूँ, जो कि इस प्रकार है—

आहारा विविधा भुक्ता: पीता नानाविधा: स्तना:।
जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुन: पुन:॥ १॥

यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्।
एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिन:॥ २॥

अहो दु:खौदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्।
यदि योन्या: प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्॥ ३॥

अशुभ-क्षयकर्तारं फलमुक्ति-प्रदायकम्।
यदि योन्या: प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये नरायणम्॥ ४॥

अशुभ-क्षयकर्तारं फलमुक्ति-प्रदायकम्।
यदि योन्या: प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे॥ ५॥

अशुभ-क्षयकर्तारं फलमुक्ति-प्रदायकम्।
यदि योन्या: प्रमुच्येऽहं ध्याये ब्रह्म सनातनम्॥ ६॥

फिर वह जीव दशम मास में पैदा होता है और पैदा होते ही जब वायु से संस्पृष्ट हुआ कि वह उस जन्म-मरण को स्मरण नहीं करता और यहाँ तक कि अन्त में गत शुभाशुभ कर्म को भी नहीं याद करता।

गर्भोपनिषद् में इस विस्मृति का वर्णन इस प्रकार किया है— 'अथ योनिद्वारं सम्प्राप्तो यन्त्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि, न च शुभाशुभं कर्म विन्दति।' "

* * * * *

= सप्तमः खण्डः =

एतच्छरीरस्य प्रामाण्यम्। अष्टोत्तरं सन्धिशतम्। अष्टाकपालं शिरः सम्पद्यते। षोडश वपापलानि। नव स्नायुशतानि। सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणाम्। अर्धचतस्रो रोमाणि कोट्यः। हृदयं ह्यष्टकपालानि। द्वादशकपालानि जिह्वा। वृषणौ ह्यष्टसुपर्णौ। तथोपस्थगुदपायु।

इसका अर्थ सामान्य है। इसके लिए भी हम पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार का भाष्य यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"यह शरीर का प्रमाण है— मनुष्य-शरीर में १०८ सन्धियाँ हैं, आठ कपालों वाला शिर बनता है, १६ पल (१६ माषे = १ कर्ष। ४ कर्ष = १ पल। अतः १७ छटांक ४ माशे) चर्बी होती है, ९०० स्नायु होती हैं, १०७ पुरुष के मर्मस्थल हैं, साढ़े चार करोड़ रोम हैं, ८ पल (८ छ. २ तो. ८ मा.) हृदय होता है, १२ पल (१२ छ. ४ तो.) जिह्वा होती है और दोनों अण्डकोष आठ सुवर्ण (१ सुवर्ण = १६ माशे, अतः २ छ. ८ माशे) हैं तथा उपस्थेन्द्रिय और पायु, ये दोनों क्रमशः मूत्र और पुरीष के द्वार हैं।"

एतन्मूत्रपुरीषम् कस्मात्।
आहारपानसिक्तत्वात्। अनुपचितकर्माणावन्योन्यं जयेते, इति।

तदुपरान्त लिखते हैं— ये मूत्र और पुरीष के द्वार हैं। इन्हें पुरीष एवं मूत्र क्यों कहते हैं? क्योंकि इनमें आहार एवं जल का भाग मिश्रित होता है। यहाँ इन दोनों ही अंगों के अनुपचित अवस्था अर्थात् मल व मूत्र का वेग प्रबल न हो, तब वे दोनों एक-दूसरे को नियन्त्रित किए रहते हैं। यहाँ यही अर्थ प्रतीत हो रहा है। यहाँ अन्य भाष्यकार या तो भाष्य

कर नहीं पाये हैं अथवा अधूरा छोड़ गये हैं। इस विषय में कोई आयुर्विज्ञानी ही अधिक समझ सकता है। हाँ, प्रसंग इन दोनों अंगों का ही है, इतना तो निश्चित है।

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।

शरीर-शास्त्र के वर्णन के पश्चात् जीव के साथ अगले जन्म में क्या-क्या जाता है, इसकी चर्चा करते हुए लिखते हैं— 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च'।

विद्या, कर्म और प्रज्ञा ये तीनों जीव के साथ जाते हैं। अब हम इस पर विचार करते हैं— विद्या किसी जीव के साथ कैसे जाती है, किसी के मन में भी यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। हम यह जानते हैं कि विद्या (यथार्थ ज्ञान) अर्थात् प्रकृति और पुरुष का विवेक, इन दोनों का पृथक्-पृथक् साक्षात्कार, पुरुष में भी आत्मा और परमात्मा का भेद एवं प्रकृति से बने पदार्थों का विवेक ही विद्या कहलाता है और ऐसी विद्या मुक्ति का साधन कही गई है। जैसाकि यजुर्वेद में कहा है— विद्ययाऽमृतमश्नुते (यजु.४०.१४)। इस प्रकार जिस व्यक्ति को इस जन्म में जितना-२ विवेक हो जाता है, उतने-२ विवेक का फल और उसके संस्कार उसे अगले जन्म में भी प्राप्त होते हैं। उधर जो मनुष्य शुभ वा अशुभ जो भी कर्म करता है, उस-उस का परिणाम और उसके संस्कार उसे अगले जन्म में प्राप्त होते हैं। इस विषय में भगवान् कपिल कहते हैं— कर्माकृष्टेर्वानादितः (सां.द.३.६२) अर्थात् अनादि काल से जीवों के कर्म के आकर्षण से प्रकृति में सृष्टि बनाने की प्रवृत्ति होती है अर्थात् पूर्व सृष्टि में जीवों के शेष रहे कर्मों का फल देने के लिए ही ईश्वर सृष्टि का निर्माण करता है, यह आशय समझना चाहिए। विद्या और कर्म के समान ही पूर्वजन्म की प्रज्ञा भी हमें इस जन्म में प्राप्त होती है। इस प्रकार जो मनुष्य विवेकख्याति प्राप्त कर चुका है, उसे अगले जन्म में योग सिद्ध करने में सहजता रहेगी। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के कर्मों की जो प्रवृत्ति हुआ करती है, प्रायः वैसी ही प्रवृत्ति उसे अगले जन्म में भी प्राप्त होने की सम्भावना रहेगी। इसी प्रकार से कोई प्रतिभावान व्यक्ति अगले जन्म में भी प्रतिभावान ही हो, इसकी सम्भावना बहुत अधिक रहेगी।

महत्यज्ञानतमसि मग्नो जरामरणक्षुत्पिपासाशोकक्रोधलोभमोहमदभयमत्सर-हर्षविषादेर्ष्यासूयात्मकैर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः सोऽस्मादार्जवं जवीभावानां तन्निर्मुच्यते।

घोर अन्धकार में डूबा हुआ जरा, मृत्यु, भूख-प्यास, शोक, क्रोध, लोभ, मोह, भय, अहंकार, मत्सर, हर्ष, दु:ख, ईर्ष्या एवं असूया आदि रूप वाले द्वन्द्वों से दबा हुआ यह जीव इन द्वन्द्वों के तीव्र भावों से युक्त इस शरीर से सरलतापूर्वक मुक्त हो जाता अर्थात् मुक्त हो सकता है। यहाँ जितने द्वन्द्वों वा भावों की गणना की गयी है, वे कुछ न कुछ मात्रा में सभी जीवों में पाये जाते हैं, लेकिन धरती के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य में ये भाव सबसे अधिक पाये जाते हैं, विशेषकर लोभ, मद, ईर्ष्या एवं असूया आदि में मनुष्य अन्य सभी प्राणियों में अग्रणी है। इसके साथ ही अन्य कुछ भाव यथा— भूख-प्यास, शोक, क्रोध, मोह आदि भी अन्य प्राणियों में मनुष्य की अपेक्षा न्यून वा सन्तुलित ही पाये जाते हैं। फिर मनुष्य में ऐसा क्या है, जो उसे सर्वश्रेष्ठ प्राणी सिद्ध करता है? और जिसके लिए यहाँ कहा गया है कि मनुष्य बड़ी सरलता से इन तीव्र भावों को त्यागकर मुक्त हो जाता है। इसका मुख्य कारण यही है कि यदि मनुष्य चाहे, तो विवेक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तदनुसार कर्म भी कर सकता है और सभी प्राणियों में प्रज्ञावान भी यही हो सकता है। इन तीनों के द्वारा वह इस शरीर से वा इन भावों से मुक्त हो सकता है।

सोऽस्मात् पापात् महाभूमिकावच्छरीरान्निमेषमात्रैः प्रक्रम्य प्रकृतिरधिपरीत्य तैजसं शरीरं कृत्वा कर्मणोऽनुरूपं फलमनुभूय तस्य संक्षये पुनरिमँल्लोकं प्रतिपद्यते॥ ७॥

वह जीव इन उपर्युक्त पापों से युक्त अर्थात् पापिष्ठ शरीर को महाभूमिका अर्थात् नाटकीय ढंग निमेष मात्र में प्रकृति पदार्थ से आवृत होकर तैजस शरीर को प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि शरीर त्यागते समय जीवात्मा अग्नि तत्त्व अथवा प्राणों के तेज से तेजस्वी होकर अपने कर्मानुसार फल को भोगकर उन कर्मों का नाश करके अर्थात् उस शरीर में भोगने योग्य कर्मों के फलों को भोगकर पुनः पूर्ववत् इस लोक को प्राप्त करता है। ध्यातव्य है कि कोई भी प्राणी किसी भी शरीर में पूर्व जन्मों के सभी कर्मों के फलों को नहीं भोग सकता। भोगने के लिए जो कर्म शेष रह जाते हैं, उन्हें तथा इस जन्म में किए गये नवीन संचित कर्मों को भोगने के लिए ही वह अगला जन्म लेता है। केवल मुक्तात्मा इसका अपवाद होता है, परन्तु यहाँ मुक्ति की चर्चा नहीं है। यदि मुक्ति की चर्चा होती, तो 'अस्मिँल्लोकम्' के स्थान पर' 'अमुष्मिँल्लोकम्' ऐसा पाठ होना चाहिए था।

विशेष— अनेक संस्करणों में 'अस्मापान्नम्' पाठ है, परन्तु आचार्य दुर्ग ने यहाँ 'अस्मात् पापात्' पाठ माना है। हमारी दृष्टि में यही पाठ उचित है, इस कारण हमने इसका ही ग्रहण किया है।

* * * * *

= अष्टमः खण्डः =

अथ ये हिंसामाश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेपिरे चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति। धूम्राद्रात्रिम्। रात्रेरपक्षीयमाणपक्षम्। अपक्षीयमाणपक्षाद् दक्षिणायनम्। दक्षिणायनात्पितृलोकम्। पितृलोकाच्चन्द्रमसम्। चन्द्रमसो वायुम्। वायोर्वृष्टिम्। वृष्टेरोषधयश्च। एतद्भूत्वा तस्य संक्षये पुनरेवेमँल्लोकं प्रतिपद्यते॥ ८॥

जो जीव हिंसा का आश्रय लेकर ज्ञान को त्यागकर महान् तप करते हैं तथा दीर्घकाल तक वेदोक्त वैदिक कर्मों को करते रहते हैं, तब उन जीवों की गति क्या होती है, इसको यहाँ दर्शाया गया है। यहाँ हिंसा पद मारने अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, बल्कि 'हन हिंसागत्योः' धातु से व्युत्पन्न हिंसा पद का अर्थ क्रियाशीलता ग्रहण करना चाहिए। वेदों में लौकिक व्यवहार का ज्ञान तथा पारमार्थिक ज्ञान दोनों ही विद्यमान हैं और ये दोनों ही कर्म वेदोक्त हैं। मान लीजिए कोई किसान कृषि, पशुपालन आदि कर्म करता है, तब निश्चित ही उसका कर्म वेदोक्त है, परन्तु यदि वह कृषि कर्म के साथ आध्यात्मिक विज्ञान को प्राप्त नहीं करता और इसके लिए सृष्टि विज्ञान को भी प्राप्त नहीं करता, तब उसे नाना योनियों में भटकना पड़ता है। यहाँ तप का अर्थ द्वन्द्वों का सहन मानना चाहिए और कोई साधारण कृषक भी निश्चित रूप से घोर तप करता है। अब ऐसे जीव सर्वप्रथम धूम को प्राप्त करते हैं। यहाँ धूम के विषय में महर्षि जैमिनी का कथन है— स यत् (मृतं शरीरम्) धुनोति तस्माद् धुनः धुनो ह वै नामैषः तं धूम इति परोक्षमाचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः (जै.ब्रा.१.४९)। इसके पहले कि हम इस कथन पर विचार करें, हमें यह जानना आवश्यक है कि मृत्यु के समय जीवात्मा की स्थिति क्या होती है। इस विषय में पूर्व खण्ड में हम लिख चुके हैं कि उस समय जीवात्मा

तैजस शरीर धारण कर लेता है। इस विषय में प्रश्नोपनिषत्कार का कथन है—

तेजो ह वा उदानः ... यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति॥' (प्रश्नोपनिषत् ३.९,१०)

इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार के संकल्प-विकल्प वाला चित्त होता है, उसी के साथ वह आत्मा के पास आ जाता है और सभी प्राण भी जीवात्मा के निकट एकत्र होने लगते है। उस समय सभी प्राण तेजःस्वरूप प्राण के साथ युक्त होकर जीवात्मा के साथ संयुक्त हो जाते हैं। तदुपरान्त वह जीवात्मा अपने चित्त के संकल्पों के अनुसार आगामी लोक को प्राप्त करता है। इसी बात को पूर्व खण्ड में जीवात्मा के तैजस रूप प्राप्त करने के रूप में कहा गया है। अब हम महर्षि जैमिनी के उपर्युक्त कथन पर विचार करते हैं—

जब जीवात्मा शरीर छोड़ने वाला होता है, तब जीवात्मा, जो सभी प्राण शक्तियों के साथ विद्यमान होता है, मोहवश शरीर को छोड़ना नहीं चाहता है। इस कारण जीवात्मा के शरीर छोड़ते समय सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के उस भाग, जहाँ से वह अपनी यात्रा प्रारम्भ करने वाला होता है, को कँपाने लगता है। इसका अर्थ यह है कि ऐसा जीवात्मा सहजता से शरीर नहीं छोड़ता है, भले ही उसके साथ आकस्मिक गम्भीर दुर्घटना क्यों न घटी हो और बाहरी रूप से हमें यह अनुभव क्यों न हुआ हो कि उसका शरीर तत्काल छूट गया है। इस कम्पन क्रिया के होने में अन्य जो भी कारक, चाहे वे कोई भी रश्मि आदि पदार्थ हों, धूम कहलाते हैं। इस कम्पन क्रिया को प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी देव पदार्थ अर्थात् प्राणादि रश्मियों के कार्य परोक्ष ही होते हैं। यह प्रथम चरण है।

द्वितीय चरण रात्रि को कहा है कि जीवात्मा रात्रि अवस्था को प्राप्त करता है। रात्रि के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं— रात्रिरपानः (ऐ.आ.२.१.५) अर्थात् सूक्ष्म शरीर सहित जीवात्मा समष्टि अपान के सम्पर्क में आता है और वह अपान उस सूक्ष्म शरीर को शरीर से बाहर निकालता है। यहाँ अपान को रात्रि कहने से यह भी संकेत मिलता है कि जो जीवात्मा शरीर को छोड़ते समय अशान्त और तनावयुक्त था, अपान प्राण उसे बाहर निकालकर अपेक्षाकृत सन्तुलित स्थिति प्रदान करता है।

अब तृतीय चरण के विषय में लिखते हैं कि यह चरण अपक्षीयमाण पक्ष का होता है। इसको अपर पक्ष भी कहते हैं। स्थूल रूप में कृष्ण पक्ष, जिसमें चन्द्रमा का आकार

निरन्तर क्षीण होता जाता है, ही अपक्षीयमाण पक्ष वा मास का अपर पक्ष कहलाता है। उत्तर भारत में कृष्ण पक्ष को मास का प्रथम पक्ष मानने की जो अन्ध परम्परा चल रही है, वह उचित नहीं है। इस अपर पक्ष के विषय में कहा गया है— अपरपक्षः कुहूः (तै.सं.३.४.९.६) तथा 'कुहूः' के विषय में कहा है— या कुहूः सानुष्टुप् (ऐ.ब्रा.३.४७, ४८)। इसका अर्थ यह है कि इस चरण में जीवात्मा आकाश में विद्यमान अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त हो जाता है अर्थात् उनके साथ यात्रा करने लगता है। अनुष्टुप् रश्मियों के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है— वृषा वै त्रिष्टुब्योषानुष्टुप् (ऐ.आ.१.३.५)। इस कारण इन छन्द रश्मियों की प्रवृत्ति त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त होने की होती है। यहाँ कहा गया है कि जीव अपक्षीयमाण पक्ष से दक्षिणायन में गमन करता है। दक्षिणा के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— त्रिष्टुब् दक्षिणा (श.ब्रा.८.३.१.१२)। इसका अर्थ यह है कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ गमन करता हुआ सूक्ष्म शरीर सहित जीव त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों पर सवार हो जाता है, इसी को यहाँ दक्षिणायन में जाना कहा है। यहाँ चतुर्थ चरण पूर्ण होता है।

यहाँ से आगे की गति का वर्णन करते हुए जीव के पितृलोक में जाने की बात कही है। पिता के विषय में ऋषियों का कथन है— ऋतवो वै दिशः प्रजननः (गो.उ.६.१२), उशन्तो हि पितरः (मै.सं.१.१०.१८), षड् वा ऋतवः ऋतवः पितरः (श.ब्रा.२.४.२.२४)। इन सबका तात्पर्य यह है कि त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ गमन करता हुआ जीव आकाश में विद्यमान विभिन्न ऋतु रश्मियों को प्राप्त करता है। इन रश्मियों में कामना अर्थात् आकर्षण शक्ति विद्यमान होती है। इसके साथ ही ये ऋतु रश्मियाँ दिक् रश्मियों को भी जन्म देती हैं। इस प्रकार ये रश्मियाँ जीव की आगे की दिशा तय करने में विशेष भूमिका निभाती हैं। ये ऋतु रश्मियाँ सन्धि का कार्य करती हैं, जहाँ से जीव कर्मानुसार शरीर प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होता है। इस प्रकार ऋतु रश्मियाँ एक ऐसी माध्यमिक स्थिति है, जहाँ से पूर्व के चार चरण जीव को किसी शरीर से पृथक् करते हैं और अब आगामी चार चरण उस जीव को किसी अन्य शरीर में प्रविष्ट कराने का मार्ग तय करते हैं। यह पञ्चम चरण है।

अब छठे चरण की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि पितृलोक से जीव चन्द्रमा में जाता है। चन्द्रमा के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— एष (चन्द्रमा) वै रेतः (श.ब्रा. ६.१.२.४) अर्थात् ऋतु रश्मियों से जीव पुरुष के रेतस् में प्रविष्ट हो जाता है। उधर महर्षि

जैमिनी का कथन है— चन्द्रमा उदानः (जै.उ.४.२२.९)। इससे यह प्रतीत होता है कि जीव उदान रश्मियों के माध्यम से ही पुरुष के रेतस् में प्रविष्ट हो जाता है। अब सातवें चरण की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि जीव चन्द्रमा से वायु में प्रविष्ट होता है। इसका अर्थ यह है कि जीवयुक्त रेतस् वायु अर्थात् प्राण रश्मियों के माध्यम से आगे की यात्रा प्रारम्भ करता है। इन प्राण रश्मियों में प्राणापान आदि रश्मियाँ सम्मिलित हैं। इन पर सवार होकर ही वह डिम्ब से संयुक्त होने के लिए निकल पड़ता है।

इसे ही स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जीव वायु अर्थात् प्राणापानादि रश्मियों के साथ गमन करते हुए वृष्टि रूप को प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह है कि जीवयुक्त रेतस् की डिम्ब पर वृष्टि जैसी होती है। उधर वृष्टि के विषय में कहा गया है— अन्नं वृष्टिः (गो.पू.४.४)। इसका अर्थ यह है कि जीवयुक्त शुक्राणु किसी डिम्ब का अन्नरूप धारण कर लेता है अर्थात् उसके साथ संयुक्त होने योग्य हो जाता है।

अब अन्तिम चरण की चर्चा करते हुए कहते हैं कि वह जीव वृष्टि से ओषधियों में प्रविष्ट होता है। ओषधियों के विषय में कहा गया है— ओषधयः खलु वै वाजः (तै.ब्रा. १.३.७.१), जगत्य ओषधयः (श.ब्रा.१.२.२.२) अर्थात् उस निषेचन प्रक्रिया के समय नाना प्रकार की छन्द और प्राण रश्मियों की भूमिका होती है। इनमें भी जगती छन्द रश्मियों की विशेष भूमिका होती है।

इस प्रकार नाना रूपों वा स्थानों में भ्रमण करता हुआ जीव अपनी यात्रा को विराम देता हुआ और इन सभी नौ चरणों को त्याग कर गर्भ में स्थापित हो जाता है और फिर यथासमय इस लोक में अपने कर्मानुसार जन्म लेता है। ध्यातव्य है कि जीव की यह सम्पूर्ण यात्रा सर्वनियन्ता परमेश्वर के नियन्त्रण में ही होती है। कोई भी जीव स्वतः यह यात्रा नहीं कर सकता। 'ओम्' रश्मियों के माध्यम से ईश्वर ही सभी रश्मियों को नियन्त्रित करके जन्म-मरण के चक्र को चलाता है।

* * * * *

= नवमः खण्डः =

अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति। अर्चिषोऽहः। अह्न आपूर्यमाणपक्षम्। आपूर्यमाणपक्षादुदगयनम्। उदगयनाद् देवलोकम्। देवलोकादादित्यम्। आदित्याद्वैद्युतम्। वैद्युतान्। मानसम्।
मानसः पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसम्भवन्ति। ते न पुनरावर्तन्ते।
शिष्टा दन्दशूका यत इदं। न जानन्ति। तस्मादिदं वेदितव्यम्।
अथाप्याह॥ ९॥

यहाँ भी हिंसा का अर्थ पूर्वोक्तानुसार वेदविहित कर्म ही मानना चाहिए। इस प्रकार यहाँ लिखते हैं कि जो मनुष्य सकामता से युक्त वेदोक्त कर्मों को त्यागकर और शुद्ध ज्ञान का आश्रय लेकर महान् तप तपते हैं। इसके साथ ही वे उस ज्ञान के अनुसार निरन्तर कर्म करते रहते हैं, वे अर्चि अर्थात् प्रकाश को प्राप्त करते हैं। यहाँ तप का तात्पर्य योगाभ्यास समझना चाहिए। उस योगाभ्यास में जब धारणा, ध्यान और समाधि एक विषय में हो जाती है, उस स्थिति के विषय में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं— त्रयमेकत्र संयमः (यो.द.३.४)। इसका फल दर्शाते हुए अगले सूत्र में लिखते हैं— तज्जयात् प्रज्ञालोकः (यो.द.३.५)। इसका भाष्य करते हुए महर्षि व्यास लिखते हैं— 'तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोको यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथेश्वरप्रसादात्समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति' अर्थात् उस संयम के जय होने से समाधि से उत्पन्न हुई बुद्धि का प्रकाश होता है। जैसे-जैसे संयम स्थिरता को प्राप्त होता है, वैसे-वैसे ईश्वर कृपा से समाधिविषयिणी बुद्धि प्रकाश करने वाली होती है। इसी ज्ञान के प्रकाश की अवस्था को यहाँ अर्चि कहा है।

तदुपरान्त अगले चरण में जीव अहन् को प्राप्त होते हैं। 'अहन्' के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है— अहरेव प्राणः (ऐ.आ.२.१.५)। इसका अर्थ यह है कि प्रज्ञा-लोक से सम्पन्न वह जीव प्राण रश्मियों के द्वारा आकर्षित होकर एवं उन पर आरूढ़ होकर आगे की यात्रा करता है। स्मरण रहे प्राणतत्त्व सत्त्व गुण प्रधान होता है और समाधि के द्वारा प्रकाशमान जीव भी सत्त्व गुण सम्पन्न ही होता है।

अब अगले चरण के विषय में लिखते हैं कि प्राण रश्मियों के माध्यम से वह जीव आपूर्यमाण पक्ष (शुक्ल पक्ष) को प्राप्त होता है। पूर्व पक्ष के विषय में ऋषियों का कथन है— अहर्वै पूर्वपक्षः (जै.ब्रा.२.९८), पूर्वपक्षो राका (तै.सं.३.४.९.६), त्रिष्टुप् राका (मै.सं. ४.३.५)। इसका अर्थ यह है कि प्राण रश्मियों में प्रतिष्ठित जीव तीव्र तेज और बलयुक्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों पर सवार हो जाता है। यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की प्राण रश्मियों के साथ संगति सहज होती है, इसलिए पूर्व पक्ष को त्रिष्टुप् एवं प्राण दोनों के रूप में ही कहा गया है।

तदुपरान्त अगले चरण के रूप में लिखते हैं कि त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से वह जीव उदगयन अर्थात् उत्तरायण में प्रवेश करता है। उत्तर दिशा के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— आनुष्टुभैषा (उत्तरा) दिक् (श.ब्रा.१३.२.२.१९) अर्थात् तदुपरान्त वह जीव अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त हो जाता है। जैसाकि हम पूर्व खण्ड में भी लिख चुके हैं कि त्रिष्टुप् और अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का परस्पर निकट सम्बन्ध होता है। अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के पश्चात् जीव अगले चरण की यात्रा पर निकल पड़ता है और देव लोक में प्रतिष्ठित हो जाता है। देव के विषय में महर्षि जैमिनी का कथन है— स्तोमा देवाः (जै.ब्रा.१.९०)। इसका अर्थ यह है कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ गमन करता हुआ जीव कुछ गायत्री छन्द रश्मि समूहों में प्रविष्ट हो जाता है। यहाँ स्तोम पद का अर्थ गायत्री छन्द मानना चाहिए, जैसा कि कहा गया है— गायत्रीमात्रो वै स्तोमः (कौ.ब्रा.१९.८)। हमारे मत में यहाँ स्तोम से त्रिवृत् स्तोम (तीन गायत्री छन्द रश्मियों का समूह) का ही ग्रहण करना चाहिए। इस स्तोम के विषय में ऋषियों का कथन है— त्रिवृदेव भर्गः (गो.पू.५.१५), त्रिवृतैव ब्राह्मणः श्रेष्ठतां गच्छति (जै.ब्रा.२.१३२), त्रिवृता ब्रह्मवर्चसेन...ज्योतिरदधुः (जै.ब्रा. १.६६)। इन सब कथनों का तात्पर्य है कि त्रिवृत् स्तोम रश्मियाँ जीव को ब्रह्मलोक की ओर ले जाने वाली होती हैं।

ये त्रिवृत् रश्मियाँ जीव को आदित्य के साथ संयुक्त कर देती हैं। आदित्य के विषय में महर्षि जैमिनी का कथन है— आदित्यो निवित् (जै.उ.३.१.४.२)। निवित् रश्मियाँ ही मास रश्मियाँ कहलाती हैं। इसके विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' के दसवें अध्याय का प्रथम खण्ड पठनीय है। मास रश्मियों के विषय में कहा गया है— मासा देवा अभिद्यवः (गो.पू.५.२३)। इसका अर्थ यह है कि मास रश्मियाँ उस जीव के सूक्ष्म शरीर को और भी

अधिक प्रकाशमान कर देती हैं। उसके पश्चात् अगले चरण में वह जीव विद्युत् में प्रवेश करता है। विद्युत् के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— विद्युद्वाऽअपां ज्योतिः (श.ब्रा.७.५.२.४९) अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियों में जो तेज विद्यमान होता है, वह विद्युत् का ही तेज होता है। प्राण और अपान का संयुक्त रूप भी विद्युत् कहलाता है। इस कारण मास रश्मियों में प्रतिष्ठित जीव प्राणापान के युग्म में प्रतिष्ठित हो जाता है, जिससे वह जीव और भी ज्योतिर्मय मार्ग को प्राप्त कर लेता है।

तदुपरान्त अगले चरण में जीव मनस्तत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाता है। स्मरण रहे कि इस यात्रा में वह क्रमशः पूर्व पूर्व पदार्थों का त्याग करता चला जाता है। इस प्रकार इस चरण में उसका सूक्ष्म शरीर भी मात्र मनस्तत्त्व के रूप में ही शेष रहता है और प्राण वा इन्द्रियादि पदार्थ क्रमशः छूटते चले जाते हैं। ब्रह्म के विषय में ऋषियों का कथन है— मनो ब्रह्म (गो.पू.२.११), मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा (श.ब्रा.१४.६.१.७), तस्य (पुरुषस्य) मन एव ब्रह्मा (कौ.ब्रा.१७.७)। इन वचनों से यह संकेत मिलता है कि मन ही मनुष्य को ब्रह्मलोक में ले जाने का अन्तिम साधन होता है। यद्यपि मन ही मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाला भी है, परन्तु योगनिष्ठ पुरुष इस प्रकार की यात्रा करता हुआ जब केवल अपने विशुद्ध मन के साथ अकेला रह जाता है, तब वह मन 'ओम्' रश्मियों में प्रतिष्ठित होकर जीव को ब्रह्मलोक की ओर ले जाता है। मनस्तत्त्व का 'ओम्' रश्मियों से कितना निकट सम्बन्ध है, इसको दर्शाते हुए महर्षि जैमिनी का कथन है— वागिति मनः (जै.उ.४.२२.११) अर्थात् 'ओम्' रश्मियाँ मनोरूप ही हैं। 'ओम्' रश्मियों का ब्रह्म से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, इस कारण ये रश्मियाँ ही जीव को ब्रह्म से मिलाने का अन्तिम एवं अनिवार्य साधन होती हैं। इस समय उस जीव को मानस पुरुष कहा है अर्थात् उसके साथ केवल अत्यन्त शुद्ध सात्त्विक मनस्तत्त्व ही होता है। उसके पश्चात् परा 'ओम्' रश्मि उस आत्मा को मनस्तत्त्व से भी मुक्त करके ब्रह्मलोक को प्राप्त कराती है।

मुक्ति में वह जीव अव्याहत गति से विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है, ऐसा ऋषि दयानन्द का मत है। मुक्ति में जीव का सूक्ष्म शरीर नहीं रहता, तब वह मुक्ति का आनन्द कैसे भोगता है, इसका समाधान ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश के नवम समुल्लास में लिखा है—

''**प्रश्न**— फिर वह सुख और आनन्द भोग कैसे करता है?

उत्तर— उसके सत्य सङ्कल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिकसङ्ग नहीं रहता। जैसे—

श‍ृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयँश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहङ्कारो भवति॥

–शतपथ कां.१४

मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के सङ्कल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिये घ्राण, सङ्कल्प-विकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिये बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त और अहङ्कार के अर्थ अहङ्काररूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और सङ्कल्पमात्र शरीर होता है। जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।

प्रश्न— उसकी शक्ति कै प्रकार की और कितनी है?

उत्तर— मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन २४ चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव हैं। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्तिरूप भोग करता है।''

[सत्यार्थ प्रकाश (आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट), पेज १६१-१६२]

ऐसा जीव पुनः शरीर धारण नहीं करता। यहाँ शरीर धारण नहीं करने का तात्पर्य मुक्ति को अनन्त सिद्ध करना नहीं मानना चाहिए। इस विषय में पाठकों को सत्यार्थ-प्रकाश का नवम समुल्लास पढ़ना चाहिए।

पूर्व खण्ड और इस खण्ड में जीवों की दो प्रकार की गतियाँ वर्णित की गयी हैं। तीसरी गति और बतलाते हुए यहाँ लिखा है कि जो वेदोक्त कर्म भी नहीं करते और जो विवेक ज्ञान को भी प्राप्त नहीं होते, वे दन्दशूक अर्थात् हिंसक विषैले जीव सर्प, बिच्छू,

कीट-पतंग वा हिंसक योनियों को प्राप्त होते हैं। वे अन्धकारमयी योनियाँ होती हैं, उन्हें पाप-पुण्य आदि का कुछ भी विवेक नहीं होता। इस कारण से सब मनुष्यों को चाहिए कि वे वेदादि शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करके विवेक को प्राप्त करें और वेदविहित कर्म ही करें, वेद-विरुद्ध कभी नहीं। इस विषय में और भी कहा है, जिसे अगले खण्ड में प्रस्तुत किया है।

* * * * *

= दशमः खण्डः =

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥ [ऋ.१०.८२.७]
न तं विद्यया विदुषो यमेवं विद्वांसो वदन्त्यक्षरं ब्रह्मणस्पतिम्।
अन्यद्युष्माकमन्तरम्। अन्यदेषामान्तरं बभूवेति। नीहारेण प्रावृतास्तमसा।
जल्प्या चासुतृप उक्थशासः। प्राणं सूर्यं यत्पथगामिनश्चरन्ति अविद्वांसः।
क्षेत्रज्ञमनुप्रवदन्ति अथाहो विद्वांसः। क्षेत्रज्ञोऽनुकल्पते।
तस्य तपसा महाप्रमादमेति। अथाप्तव्यो भवति। तेनासन्ततमिच्छेत्।
तेन सख्यमिच्छेत्। एष हि सखा श्रेष्ठः सञ्जानाति भूतं भवद्भविष्यदिति।
ज्ञाता कस्मात्? ज्ञायतेः। सखा कस्मात्? सख्यतेः। सह भूतेन्द्रियैः शेरते।
महाभूतानि सेन्द्रियाणि। प्रज्ञया कर्म कारयतीति। तस्य यदापः प्रतिष्ठा।
शीलमुपशमः। आत्मा ब्रह्म। इति। स ब्रह्मभूतो भवति।
साक्षिमात्रो व्यवतिष्ठते। अबन्धो ज्ञानकृतः।
अथात्मनो महतः प्रथमं भूतनामधेयान्यनुक्रमिष्यामः॥ १०॥

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥ [ऋ.१०.८२.७]

आध्यात्मिक भाष्य— (न, तम्, विदाथ, यः, इमाः, जजान) 'न तं विद्यया विदुषो यमेवं

विद्वांसो वदन्त्यक्षरं ब्रह्मणस्पतिम्' वेदविद्या एवं तदनुकूल गहन योगाभ्यास के अभ्यासी विद्वान् जिस चेतन सत्ता को अक्षर रूप मानते हैं अर्थात् उसे अविनाशी और अव्यय मानते हैं, इसके साथ ही उसे ब्रह्मणस्पति अर्थात् विशाल से विशालतम लोकों का रक्षक व पालक तथा सूक्ष्म प्राणों का भी प्राण अर्थात् रक्षक मानते हैं, उस परम तत्त्व को वे विद्वान् केवल शास्त्रों के पढ़ने से प्राप्त विद्या के बल पर यथार्थ रूप में नहीं जान सकते। इसका अर्थ यह है कि केवल पढ़ने-पढ़ाने से हमें ईश्वर का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिए सतत योगाभ्यास भी अनिवार्य है। (अन्यत्, युष्माकम्, अन्तरम्, बभूव) 'अन्यद्युष्माकमन्तरम् अन्यदेषामान्तरं बभूवेति' इसी प्रकार एक अन्य चेतन तत्त्व जो तुम्हारे अन्दर निवास करता है और तुम्हारे से पृथक् है, इसी प्रकार वह इन सभी प्राणियों के अन्दर निवास करता हुआ भी उनसे पृथक् है। उस जीवात्म तत्त्व को भी केवल बुद्धि बल से नहीं जाना जा सकता। ऐसे लोग जो उस परम तत्त्व को नहीं जानते, (नीहारेण, प्रावृताः, जल्प्याः, च, असुतृपः, उक्थशासः, चरन्ति) 'नीहारेण प्रावृतास्तमसा जल्प्या चासुतृप उक्थशासः' वे अज्ञानान्धकार से गहन रूप से आच्छादित होते हैं। वे अपने ही प्राण पोषण से तृप्ति का अनुभव करने वाले व्यर्थ बातें करने वाले होते हैं। वे लोग वाणी मात्र से ही ईश्वर अथवा जीवात्मा के यशोगान के गीत गाते रहते हैं।

टिप्पणी — इस मन्त्र में शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की निन्दा नहीं है, बल्कि यहाँ यह कहा गया है कि जो मनुष्य शास्त्रों को स्थूल रूप से ही पढ़ता व जानता है, उनके गम्भीर रहस्यों को समझने में सक्षम नहीं होता है तथा शास्त्रों के अनुकूल लोकव्यवहार नहीं करता है, वह कभी भी आत्मा वा परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। जो यहाँ योगाभ्यास की बात कही गयी है, वह योगाभ्यास भी पाँच यमों की नींव पर ही खड़ा रह सकता है। ये सभी यम लोकव्यवहार में ही परिलक्षित होते हैं। इस कारण इस मन्त्र की व्याख्या में जो 'विद्यया' पद विद्यमान है, उस विद्या से पातञ्जल योगदर्शन की विद्या का ग्रहण नहीं करना चाहिए, बल्कि शास्त्रों का पाठमात्र करने और इसी प्रकार के प्रवचन करने को ही यहाँ विद्या कहा गया है। उधर जो लोग काम-क्रोधादि विकारों से ग्रस्त रहते हुए ध्यान-साधना का आडम्बर करते हैं, वे अपने लोक-परलोक दोनों को ही नष्ट करते हैं।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'प्राणं सूर्यं यत्पथगामिनश्चरन्ति अविद्वांसः क्षेत्रज्ञमनुप्र-वदन्ति अथाहो विद्वांसः'। जो लोग प्राणविद्या एवं सूर्य अर्थात् स्वतः प्रकाशस्वरूप परमेश्वर

को नहीं जानते हैं, वे यत्पथगामी होते हैं अर्थात् यत्र-तत्र नाना योनियों में भटकते रहते हैं। यहाँ ईश्वर को सूर्य इस कारण कहा है, क्योंकि सूर्य प्रकाश का सबसे बड़ा स्रोत होता है। इसी प्रकार ईश्वर भी न केवल भौतिक प्रकाश का मूल स्रोत (मुख्य निमित्त कारण) होता है, अपितु सम्पूर्ण विज्ञान प्रकाश का भी वही मूल स्रोत है। इसके अनन्तर कहा है कि जो वास्तविक विद्वान् होते हैं, वे प्राण एवं परमेश्वर के यथार्थ विज्ञान को जानते हैं। ऐसे विद्वानों को क्षेत्रज्ञ कहा गया है, क्योंकि वे सम्पूर्ण सृष्टि विद्या के ज्ञाता होते हैं। यहाँ सृष्टि को क्षेत्र कहा गया है। क्षेत्र पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष की व्याख्या में कहा है— क्षयति नश्यति निवासहेतुर्भवतीति क्षेत्रम् (उ.को.४.१७१)। क्योंकि सृष्टि क्षीण होती है, नष्ट होती है और सभी जीव इसी में रहते हैं, इस कारण इसे क्षेत्र कहते हैं।

इस क्षेत्रज्ञ के विषय में लिखते हैं— 'क्षेत्रज्ञोऽनुकल्पते तस्य तपसा महाप्रमादमेति अथाप्तव्यो भवति'। ऐसे क्षेत्रज्ञ विद्वान् नाना प्रकार की विभूतियों से सम्पन्न और समर्थ होते हैं। उनके लिए कुछ भी जानना और प्राप्त करना शेष नहीं रहता। वे अपने महान् तप के द्वारा अप्रमाद को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उनके जीवन में कभी प्रमाद नहीं आने पाता। स्वाध्याय, साधना एवं परोपकार आदि पुण्य कर्मों में वे सदैव संलग्न रहते हैं। ऐसी स्थिति को प्राप्त योगिजन सभी के द्वारा प्राप्त करने योग्य होते हैं। इस कारण सुख और शान्ति की इच्छा करने वाले प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वे ऐसे आप्त जनों की निरन्तर खोज करते रहें। इस विषय में पुनः कहा है— 'तेनासन्ततमिच्छेत् तेन सख्यमिच्छेत् एष हि सखा श्रेष्ठः सञ्जानाति भूतं भवद्भविष्यदिति' अर्थात् मनुष्यों को चाहिए कि ऐसे आप्त पुरुषों के साथ निरन्तर मेल करने की इच्छा करे। उनके सानिध्य में रहने और उनसे मित्रता करने की इच्छा करे। ऐसा आप्त पुरुष भूत, भविष्य और वर्तमान का सम्यक् ज्ञाता होता है। इसीलिए ऐसा पुरुष ही श्रेष्ठतम सखा होता है।

इस विषय में महर्षि पतञ्जलि का भी कथन है— परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् (यो.द.३.१६)। इसका भाष्य करते हुए महर्षि व्यास लिखते हैं— 'धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः तेन परिणाम-त्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु संपादयति' अर्थात् धर्म-लक्षण-अवस्था इन तीनों परिणामों में संयम करने से योगियों को अतीत-अनागत का ज्ञान होता है। धारणा-ध्यान-समाधि इन तीनों का एक विषय में होना 'संयम' पूर्व में कहा गया। उस संयम के द्वारा तीनों

परिणामों के साक्षात् करने से अतीत अनागत का ज्ञान योगी उनमें सम्पादन करता है।

तदुपरान्त 'ज्ञाता' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ज्ञाता कस्मात्? ज्ञायतेः' अर्थात् जो यथार्थ तत्त्व को जानता है, वह ज्ञाता कहलाता है। इसलिए आप्त पुरुष को ज्ञाता कहते हैं। स्मरण रहे कि शब्द मात्र से किसी पदार्थ का बोध ज्ञाता होने का प्रमाण नहीं है, बल्कि उस ज्ञानपूर्वक जीवन जीने का जिसका स्वभाव बन गया है, उसे ही ज्ञाता कह सकते हैं। उदाहरण के लिए कोई भी व्यक्ति जानता है कि अग्नि का गुण जलाना है, पुनरपि वह किसी पदार्थ को गर्म करने के लिए अग्नि का प्रयोग करना नहीं जानता अथवा जलते हुए अग्नि में हाथ डालकर स्वयं जल जाता है। तब इसका अर्थ यह हुआ कि उसे अग्नि के जलाने के धर्म का वास्तविक बोध नहीं है, बल्कि यों ही किसी के कहने वा सुनने से उसने मान लिया है और ऐसा ही वह दूसरों को सुना देता है। वर्तमान में यज्ञ, योग, वेद एवं ईश्वर अथवा मोक्ष के विषय में जो भी प्रवचन वा लेखन हो रहा है, उसके प्रवचनकर्त्ता वा लेखक वास्तव में यथार्थ ज्ञाता नहीं हैं, बल्कि पढ़े वा सुने हुए को केवल उसी प्रकार पढ़ा वा सुना रहे हैं, जिस प्रकार से डाकिया पत्रों का इधर से उधर वितरण करता रहता है। यहाँ यथार्थ ज्ञाता को ही सखा बनाने की बात कही गयी है, डाकिये अथवा कलाकारों को नहीं। आज संसार में वास्तविक प्रवचनकर्त्ता नगण्य हैं, कलाकार ही अपनी कलाओं का प्रदर्शन कर रहे हैं।

अब सखा पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सखा कस्मात् सख्यतेः सह भूतेन्द्रियैः शेरते महाभूतानि सेन्द्रियाणि प्रज्ञया कर्म कारयतीति'। सखा पद का निर्वचन खण्ड ७.३० में भी किया गया है, पाठक उस निर्वचन को भी पढ़ लेवें। यहाँ सखा पद के अर्थ को विस्तार देते हुए लिखा है कि जो वाणी, कर्म और ज्ञान से साथ दे, उसे सखा कहते हैं। अब क्योंकि हम आप्त पुरुष को सखा बनायें, ऐसा कहा गया है, तब इसका यह अर्थ है कि हम वाणी, कर्म और ज्ञान से उस आप्त पुरुष के समान बनने का यत्न करें, तभी हम उसके सखा होंगे और वह हमारा सखा हो सकेगा। दूसरा निर्वचन करते हुए लिखा है कि जो सदैव भूत और इन्द्रियों के साथ सोता है, वह सखा कहलाता है। इसका अर्थ यह है कि जिसकी इन्द्रियाँ सदैव उसकी आज्ञानुवर्तिनी होती हैं, जो कभी चंचल नहीं होती। इसी प्रकार पञ्चमहाभूतों पर भी जो विजय पा लेता है, वही सखा कहलाता है। इसी बात को यहाँ इन्द्रियों और भूतों के साथ सोना कहा गया है। उसके आत्मा, मन, इन्द्रियाँ और कर्म सभी में पूर्ण सन्तुलन और

एकता होती है। ऐसे ही आप्त सखा के विषय में कहा गया है— 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्'।

अब इन्द्रियों और भूतों का सम्बन्ध बताते हुए लिखते हैं कि महाभूत उसकी इन्द्रियों के साथ समन्वित होते हैं। इसका अर्थ यह है कि उसकी इन्द्रियाँ निर्मल होकर सभी महाभूतों का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होती हैं। जिन पदार्थों को अतीन्द्रिय माना जाता है, उसका ज्ञान योगस्थ मन के द्वारा हो जाता है और मन भी स्वयमेव एक इन्द्रिय कहलाता है। पुनः इसी सखा के विषय में लिखते हैं कि वह जीवन में प्रत्येक कार्य अपनी प्रज्ञा से ही करवाता है अर्थात् उसका प्रत्येक कार्य बुद्धिपूर्वक ही होता है।

उसके पश्चात् फिर इसी आप्त सखा के विषय में लिखते हैं— 'तस्य यदापः प्रतिष्ठा' अर्थात् उस पुरुष की सद्गुणों, सत्कर्मों और सद्ज्ञान में प्रतिष्ठा होती है। इसका अर्थ यह है कि आप्त पुरुष सदैव विज्ञान और तदनुकूल कर्मों में ही रमण करते हैं। पुनः कहा— 'शीलमुपशमः' अर्थात् उसका स्वभाव शान्त होता है, उसमें कभी व्यग्रता, उग्रता वा काम-क्रोधादि विकारों का भाव नहीं देखा जा सकता, बल्कि वह सदैव आनन्दित व स्थिरचित्त रहता है। पुनः कहा— 'आत्मा ब्रह्म इति स ब्रह्मभूतो भवति' अर्थात् उसका आत्मा बहुत महान् होता है। इस कारण वह ब्रह्मस्वरूप ही माना गया है अर्थात् आप्त पुरुष सदैव ब्रह्म में ही विचरण करते हैं। उनका प्रत्येक कर्म और ज्ञान ब्रह्म द्वारा निर्धारित मर्यादाओं के अनुकूल ही होता है। ध्यातव्य है कि कोई भी जीवात्मा कभी भी, यहाँ तक कि मोक्ष में भी न तो ब्रह्म बन सकता है और न अपना अस्तित्व नष्ट करके उसमें विलीन ही हो सकता है, परन्तु वह ब्रह्म के अनेक गुणों से युक्त होकर अनेक दृष्टि से ब्रह्म के समान अवश्य हो जाता है। जैसे गर्म करने पर लोहा अग्नि के वर्ण का होकर अग्नि के समान हो जाता है, परन्तु कभी भी वह अपने स्वरूप को त्यागकर अग्नि में परिवर्तित नहीं हो सकता। यह बात विशेषरूपेण मस्तिष्क में बिठा लेनी चाहिए कि कोई भी चेतन पदार्थ (आत्मा वा परमात्मा) सर्वथा निर्विकार होने से न तो किसी अन्य पदार्थ में विलीन ही हो सकता है और न किसी का अंश ही हो सकता है। अंश-अंशी जैसे सम्बन्ध केवल जड़ पदार्थों में ही सम्भव हैं।

पुनः इसी प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं— 'साक्षिमात्रो व्यवतिष्ठते' अर्थात् वह पुरुष सभी सांसारिक कर्मों को वेदानुकूल मर्यादाओं के अन्तर्गत करते हुए केवल साक्षिमात्र ही रहता है। इसका अर्थ यह है कि वह प्रत्येक कर्म को ज्ञानपूर्वक तथा पूर्ण

निष्काम भाव से करता है। इस कारण उसकी फलों में आसक्ति नहीं होती। इसे ही यहाँ उसका साक्षिमात्र होना कहा है। ऐसा जीव ही मुक्ति को प्राप्त कर पाता है। इसी विषय को समाप्त करते हुए लिखते हैं— 'अबन्धो ज्ञानकृतः' अर्थात् ज्ञान को धारण करता हुआ आप्तपुरुष पूर्ण निष्काम भाव से जीवन जीने के कारण शरीर और इन्द्रियों से बँधा हुआ होने पर भी उनसे मुक्त ही होता है। ऐसे ही पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं। इसी बात को भगवान् कृष्ण इस प्रकार कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता २.४७)

प्रसंग के अनुसार हमने यह आध्यात्मिक भाष्य किया है। अब हम इस मन्त्र का आधिदैविक भाष्य करते हैं—

इसका ऋषि भौवन विश्वकर्मा है, जिसके विषय में हम खण्ड १०.२७ में लिख चुके हैं। इसका देवता विश्वकर्मा और छन्द पाद निचृत् त्रिष्टुप् है। विश्वकर्मा के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है— अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवतऽएष हीदꣳ सर्वं करोति (श.ब्रा. ८.१.१.७)। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से वायु रश्मियाँ तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होने लगती हैं। हमारे मत में वायु रश्मियों में भी सर्वप्रथम सूत्रात्मा वायु रश्मियों का ही ग्रहण करना चाहिए, तदुपरान्त प्राणादि रश्मियों का। इनके तेजस्वी और बलवान् होने से पदार्थ के संयोजन और संघनन की प्रक्रिया तेज होने लगती है।

(उक्थशासः, च, असुतृपः) [उक्थम् = पशव उक्थानि (ऐ.ब्रा.४.१, गो.उ.६.७), विडुक्थानि (तां.ब्रा.१८.८.६)। शासः = वज्रः शासः (श.ब्रा.३.८.१.५)] विट् संज्ञक छन्द रश्मियाँ जब कभी तीक्ष्ण रूप धारण कर लेती हैं, उस समय वे असु अर्थात् प्राण रश्मियों को आक्रान्त करके तीव्र तेज से युक्त कर देती हैं अथवा उन्हें तृप्त करके शान्त कर देती हैं। [यहाँ 'तृप तर्पणे' और 'तृप संदीपने' दोनों ही धातुओं का प्रयोग मान सकते हैं।] (नीहारेण, प्रावृताः, जल्प्या, चरन्ति) [नीहारः = वैद्युतस्य नीहारः (वत्सः) (तै.आ.१.१०.७), नीहारमूष्मणा (प्रीणामि) (मै.सं.३.१५.८)] ऐसी वे रश्मियाँ जो तीव्र वैद्युत क्षेत्र से प्रकृष्ट रूप से आच्छादित होकर अव्यवस्थित छन्द रश्मियों साथ विचरण करती हैं अथवा उन अनिष्ट वा अव्यवस्थित छन्द रश्मियों को अवशोषित (भक्षण) कर लेती हैं, (न, तम्, विदाथ, यः, इमाः, जजान) तब वे रश्मियाँ उन सूत्रात्मा वायु रश्मियों, जो इन सभी रश्मियों को उत्पन्न

करती हैं, को प्राप्त नहीं कर पाती हैं (अन्यत्, युष्माकम्, अन्तरम्, बभूव) और दूसरी रश्मियाँ सभी रश्मियों और उपर्युक्त अनिष्ट स्थिति में विद्यमान छन्द रश्मियों के अन्दर भी व्याप्त होती हैं अर्थात् 'ओम्' रश्मियों को प्राप्त नहीं कर पाती हैं। इसका अर्थ यह है कि उन छन्द रश्मियों में 'ओम्' रश्मि और सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ विद्यमान होने पर भी वे विभिन्न कणों के संयोजन में उनका उपयोग नहीं कर पाती हैं।

भावार्थ— सृष्टि में अत्यन्त उच्च ताप की अवस्था में और कुछ अनिष्ट रश्मियों की विद्यमानता में संयोजन वा संलयन प्रक्रिया बाधित हो जाती है। ऐसी सभी प्रक्रियाओं के लिए उचित ताप, दाब और अनुकूल रश्मियों का होना अनिवार्य है।

अन्त में कहा है— 'अथात्मनो महतः प्रथमं भूतनामधेयान्यनुक्रमिष्यामः'। इसके अनन्तर उस महान् आत्मा अर्थात् परमात्मा के भूतवाची नामों का वर्णन किया जायेगा। इसके लिए अगला खण्ड पठनीय है।

* * * * *

एकादशः खण्डः

हंसः। घर्मः। यज्ञः। वेनः। मेधः। कृमिः। भूमिः। विभुः। प्रभुः। शम्भुः। राभुः। वधकर्मा। सोमः। भूतम्। भुवनम्। भविष्यत्। आपः। महत्। व्योम। यशः। महः। स्वर्णीकम्। स्मृतीकम्। स्वृतीकम्। सतीकम्। सतीनम्। गहनम्। गभीरम्। गह्वरम्। कम्। अन्नम्। हविः। सद्म। सदनम्। ऋतम्। योनिः। ऋतस्य योनिः। सत्यम्। नीरम्। हविः। रयिः। सत्। पूर्णम्। सर्वम्। अक्षितम्। बर्हिः। नाम। सर्पिः। अपः। पवित्रम्। अमृतम्। इन्दुः। हेम। स्वः। सर्गाः। शम्बरम्। अम्बरम्। वियत्। व्योम। बर्हिः। धन्व। अन्तरिक्षम्। आकाशम्। आपः। पृथिवी। भूः। स्वयम्भूः। अध्वा। पुष्करम्। सगरः। समुद्रः। तपः। तेजः। सिन्धुः। अर्णवः। नाभिः। वृक्षः। ऊर्ध्वः। तत्। यत्। किम्। ब्रह्म। वरेण्यम्। हंसः। आत्मा। भवति। वधन्ति। अध्वानम्। यद्वाहिष्या। शरीराणि।

अव्ययं च संस्कुरुते। यज्ञः। आत्मा। भवति। यदेनं तन्वते। अथैतं महान्तमात्मानमेतानि सूक्तान्येता ऋचोऽनुप्रवदन्ति॥ ११॥

अब हम इन सभी नामों की क्रमश: व्याख्या करते हैं—

१. हंसः — यह पद 'हन हिंसागत्योः' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह परमात्मा सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने, कर्मानुसार जीवों को दण्ड देने और समय पर सृष्टि का प्रलय करने के कारण 'हंस' कहलाता है।

२. घर्मः — यह पद 'घृ क्षरणदीप्त्योः' धातु से व्युत्पन्न होता है तथा निघण्टु ३.१७ में इसे यज्ञवाची माना गया है। वह ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि का प्रकाशक और पदार्थों का नियमानुसार क्षरण करने के कारण 'घर्म' कहलाता है।

३. यज्ञः — यह पद 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ईश्वर विभिन्न देव पदार्थों अर्थात् वाक्, मन, प्राण, छन्द आदि सूक्ष्म पदार्थों से लेकर सूक्ष्म कणों वा खगोलीय पिण्डों, मेघों का विज्ञानानुसार उपयोग करके एवं उन्हें संगत करके सब जीवों के कल्याणार्थ दान कर देता है अर्थात् जीवों की भलाई के लिए सृष्टि की रचना करता है। इस कारण वह ईश्वर 'यज्ञ' कहलाता है।

४. वेनः — यह पद 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ईश्वर सभी गतिमानों में सबसे अधिक गतिमान होने, सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करने और सभी पदार्थों में कान्ति का भाव उत्पन्न करने अर्थात् उनमें आकर्षण आदि बल और दीप्ति उत्पन्न करने के कारण 'वेन' कहलाता है। यहाँ उसे सभी गतिमानों में सर्वाधिक गतिमान इसलिए कहा है, क्योंकि वह ब्रह्म सर्वव्यापक होने से सर्वत्र सबसे पूर्व गया हुआ ही होता है।

५. मेधः — यह पद 'मेधृ संगमे' धातु से व्युत्पन्न होता है। सृष्टि में होने वाली सभी प्रकार की संयोजन क्रियाओं में उस ईश्वर की सर्वत्र मुख्य भूमिका होने के कारण वह ईश्वर 'मेध' कहलाता है।

६. कृमिः — यह पद 'क्रमु पादविक्षेपे' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ईश्वर सृष्टि के प्रत्येक सूक्ष्मतम पदार्थ से लेकर विशालतम लोकों की गति का मूल कारण होने के कारण 'कृमि'

कहलाता है।

७. भूमिः — यह पद 'भू सत्तायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता है। सृष्टि के सभी पदार्थों की सत्ता का मुख्य निमित्त कारण ईश्वर ही है और सभी पदार्थ ईश्वर में ही स्थित होते हैं, इस कारण ईश्वर का नाम 'भूमि' है।

८. विभुः — यह पद वि पूर्वक 'भू सत्तायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ईश्वर अनेक प्रकार के कार्यों का कर्त्ता होने के कारण सृष्टि में विविध रूपों में विद्यमान और व्यापक होता है। इस कारण उसे 'विभु' कहते हैं।

९. प्रभुः — यह पद प्रपूर्वक 'भू सत्तायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ईश्वर सभी पदार्थों में सबसे अधिक सामर्थ्यवान होने से 'प्रभु' कहलाता है।

१०. शम्भुः — यह पद शम् पूर्वक 'भू सत्तायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ईश्वर सब जीवों का कल्याणसाधक होने तथा सम्पूर्ण सृष्टि को व्यवस्थित, संतुलित और सर्वसुखसाधिका रूप में रचता है, इस कारण 'शम्भु' कहलाता है।

११. राभुः — यह पद 'रभ राभस्ये' धातु से 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्' (उ.को. १.१) उण् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। ईश्वर स्वयं आनन्दस्वरूप और सब जीवों को आनन्द प्रदान करने वाला होने से 'राभु' कहलाता है।

१२. वधकर्मा — [वध = वध बलनाम (निघं.२.९), वज्रनाम (निघं.२.२०)] यह पद 'हन हिंसागत्योः' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह परब्रह्म सृष्टि के सभी बलों का मूल कारण होने एवं समय पर सभी पदार्थों का विनाश करने वाला होने से 'वधकर्मा' कहलाता है।

१३. सोमः — परमेश्वर सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करने और अपने अनन्त बल से सबको प्रेरित करने के कारण 'सोम' कहलाता है।

१४. भूतम् — [भूतम् = अयं वै (पृथिवी) लोको भूतम् (तै.ब्रा.३.८.१८.५)] वह ईश्वर समस्त पृथिवी आदि अप्रकाशित लोकों का निर्माता, नियन्त्रक और स्वामी होने से भूत कहलाता है। इसके साथ ही वह ईश्वर भूतकाल का स्वामी होने से भी 'भूत' कहलाता है।

१५. भुवनम् — [भुवनम् = यज्ञो वै भुवनम् (तै.ब्रा.३.३.७.५), भुवनस्य = भूतानाम् (निरु.३.१२)] वह परमेश्वर सभी उत्पन्न पदार्थों का निवास स्थान है एवं प्रत्येक संयोजन

क्रिया में उपयोग में आने वाले सभी बल उसी के द्वारा उत्पन्न और उसी में कार्य करते हैं, इस कारण वह परमेश्वर भुवन कहलाता है। परिशेष न्याय से वर्तमान काल का स्वामी होने के कारण भी ईश्वर 'भुवन' कहलाता है।

१६. भविष्यत् — [भविष्यत् = असौ (द्युलोकः) भविष्यत् (तै.ब्रा.३.८.१८.६)] वह परमेश्वर समस्त प्रकाशित लोकों का स्वामी, नियन्त्रक, निर्माता और आधार होने के कारण साथ ही भविष्यत् काल का भी अधिष्ठाता होने के कारण 'भविष्यत्' कहलाता है।

१७. आपः — जो सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्याप्त है, इस कारण से वह ब्रह्म 'आपः' कहलाता है।

१८. महत् — वह ब्रह्म सबसे अधिक महान् होने से 'महत्' कहलाता है।

१९. व्योम — व्योम के विषय में कहा गया है— व्योमन् व्यवने (निरु.११.४०), व्योम अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), व्योम दिङ्नाम (निघं.१.६)। वह ब्रह्म सम्पूर्ण अन्तरिक्ष और दिशाओं को व्याप्त करके सबका रक्षक होने से 'व्योम' कहलाता है।

२०. यशः — यह पद 'अशूङ् व्याप्तौ संघाते च' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह परमेश्वर सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त होकर उसके संघात से सृष्टि की रचना करता है, इसलिए 'यश' कहलाता है।

२१. महः — सर्वोत्कृष्ट पूजनीय होने के कारण वह ईश्वर 'महः' कहलाता है।

२२. स्वर्णीकम् — निघण्टु में जलवाची नामों में 'सर्णीकम्' पद विद्यमान है, जो 'सृ गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। ईश्वर में सभी लोक व कण आदि पदार्थ निरन्तर सरकते हुए गतिमान रहते हैं। इस कारण वह 'स्वर्णीकम्' कहलाता है।

२३. स्मृतीकम् — यह पद 'स्मृ प्रीतिचलनयोः' धातु से 'कीकन्' प्रत्यय एवं तुगागम होकर व्युत्पन्न होता है। वह ब्रह्म सभी जीवों के प्रति प्रीति करने वाला होने तथा सभी पदार्थों की गति का कारण होने से 'स्मृतीकम्' कहा जाता है।

२४. स्वृतीकम् — यह पद 'स्वृ शब्दोपतापयोः' धातु से 'स्मृतीकम्' पद की भाँति व्युत्पन्न होता है। वह ब्रह्म शब्दरूप वैदिक छन्दों के माध्यम से भाषा व ज्ञान के साथ ऊष्मा का मूल निमित्त कारण होने से 'स्वृतीकम्' कहलाता है। प्रकृतिरूपी साम्यावस्था, जो नितान्त शीतल

व शान्त होती है, में शब्द की उत्पत्ति करके साम्यावस्था भंग करने व कालान्तर में सूक्ष्मतम अग्नि के उत्पन्न करने का कारण वह ब्रह्म ही है।

२५. सतीकम् — यह पद 'सद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से पूर्ववत् 'कीकन्' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। वह ब्रह्म इस सृष्टि के सभी पदार्थों को गति देता, उन्हें समय आने पर छिन्न-भिन्न करके शिथिल वा नष्ट कर देता है, इस कारण उसे 'सतीकम्' कहा है।

२६. सतीनम् — [सतीनम् = सत्+ङीप्+नी+ड (आप्टे कोष)] वह ब्रह्म सभी उत्पन्न वा नित्य पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें आधार प्रदान करता है। इसके साथ ही वह सभी पदार्थों को 'ओम्' रश्मियों के माध्यम से सदैव विज्ञानपूर्वक मार्ग दिखाता रहता है, इस कारण उसे 'सतीनम्' कहते हैं।

२७. गहनम् — यह पद 'गाहू विलोडने' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह परमेश्वर प्रलयकाल आने पर सम्पूर्ण सृष्टि में भारी उथल-पुथल करके क्रमशः नष्ट कर देता है, इस कारण 'गहनम्' कहाता है। प्रलयकाल के अतिरिक्त भी सृजन वा विनाश की क्रियाएँ इस सृष्टि में सतत चलती रहती हैं।

२८. गभीरम् — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द उणादि-कोष ४.३६ की व्याख्या में लिखते हैं— 'गम्यते प्राप्यते ज्ञायते वा स गभीरः'। वह परमेश्वर योगिजनों द्वारा जाना व प्राप्त किया जाता है तथा उसकी ओर योगियों द्वारा जाया जाता है। इस कारण उस ब्रह्म को 'गभीर' कहते हैं।

२९. गह्वरम् — यह पद भी 'गाहू विलोडने' धातु से व्युत्पन्न होता है। उणादि सूत्र 'छित्वरछत्वर...' (उ.को.३.१) से यह पद निपातित है। इसका अर्थ भी उपर्युक्त 'गहनम्' की भाँति समझें।

३०. कम् — वह ईश्वर सब प्राणों का प्राण तथा अनन्त सुखस्वरूप व सुखप्रदाता होने से 'कम्' कहलाता है।

३१. अन्नम् — उस ब्रह्म की उपासना ही आत्मा का भोजन है और इसी से योगिजन आत्मबल प्राप्त करते हैं, इस कारण वह ईश्वर 'अन्न' कहलाता है।

३२. हविः — [हविः = यजमानो हविः (काठ.सं.६.४, क.सं.४.३)] वह परब्रह्म सम्पूर्ण

सर्गयज्ञ का यजमान होने के कारण हवि कहलाता है, जो निरन्तर 'ओम्' रश्मियों की हवि देता रहता है। 'ओम्' रश्मियाँ उसी ब्रह्म से ऊर्जा प्राप्त करती हैं, इस कारण उस ब्रह्म को भी 'हवि' कहते हैं।

३३. सद्म — वह ब्रह्म सभी उत्पन्न वा अनुत्पन्न नित्य पदार्थों का निवास स्थान होने के कारण 'सद्म' कहलाता है।

३४. सदनम् — सृष्टि के सभी पदार्थ उस ब्रह्म में उत्पन्न होते, सक्रिय वा निष्क्रिय रहते व अन्त में नष्ट होकर उसी में समा जाते हैं अर्थात् उससे बाहर किसी पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना भी सम्भव नहीं है। इस कारण वह ब्रह्म 'सदन' कहलाता है।

३५. ऋतम् — यह पद 'ऋ गतिप्रापणयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ब्रह्म सर्वज्ञ व सर्वव्यापक होने के कारण 'ऋत' कहलाता है। उस ब्रह्म द्वारा उत्पन्न गति विज्ञानपूर्वक व नियमबद्ध होती है।

३६. योनिः — वह ब्रह्म सभी पदार्थों का उत्पत्ति व निवास स्थान होने के कारण 'योनि' कहलाता है।

३७. ऋतस्य योनिः — वह ईश्वर सृष्टि उत्पत्ति, संचालन एवं प्रलय के सभी नियमों का कारण होने से 'ऋतस्य योनिः' कहलाता है। सम्पूर्ण सृष्टि पूर्णतः नियमबद्ध होकर काम करती है, फिर भले ही उन नियमों को हम जान पायें अथवा नहीं।

३८. सत्यम् — जो सभी नित्य पदार्थों आत्मा एवं प्रकृति में ही नित्य विद्यमान है, इस कारण वह ब्रह्म 'सत्य' कहलाता है।

३९. नीरम् — यह पद 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'स्फायितञ्चिवञ्चि.' (उ.को.२.१३) सूत्र से रक् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। वह ब्रह्म सृष्टि के प्रत्येक सूक्ष्मतम वा विशालतम लोकों को शुद्ध अर्थात् निर्बाध गति से वहन करता है। इस कारण उसे 'नीर' कहते हैं।

४०. हविः — वह ब्रह्म जीवों के शुभाशुभ कर्मों को ग्रहण करके उनके अनुसार उन्हें फल प्रदान करता है। इस कारण उसका नाम 'हवि' है।

४१. रयिः — [रयिः = वीर्यं वै रयिः (श.ब्रा.१३.४.२.१३)] वह ब्रह्म अनन्त तेज और बलसम्पन्न होने तथा सबको तेज व बल प्रदान करने के कारण 'रयि' कहलाता है।

४२. सत् — वह ब्रह्म भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों में नित्य विद्यमान रहने से 'सत्' कहलाता है।

४३. पूर्णम् — वह ईश्वर ज्ञान, बल आदि की दृष्टि से अनन्त होने के कारण 'पूर्ण' कहलाता है, क्योंकि वह सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता।

४४. सर्वम् — यह पद 'सृ गतौ' धातु से 'सर्वनिघृष्व.' (उ.को.१.१५३) सूत्र से निपातित है। सभी प्रकार की गतियाँ, उनके आधार, उनके कारण एवं गतिशील पदार्थ सभी ईश्वर में ही निवास व गति करते हैं। उसके बाहर किसी गति वा पदार्थ का अस्तित्व नहीं रह सकता। इस कारण उस ब्रह्म को 'सर्व' कहा गया है।

४५. अक्षितम् — यह पद नञ् पूर्वक 'क्षि क्षये' धातु से व्युत्पन्न होता है। उस ईश्वर में कभी किसी भी प्रकार की क्षीणता वा न्यूनता नहीं होती। इस कारण से उसे 'अक्षित' कहा है।

४६. बर्हिः — यह पद 'बृहि वृद्धौ शब्दे च' धातु से 'बृंहेर्नलोपश्च' (उ.को.२.१११) सूत्र से इसि प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। सृष्टि में सभी प्रकार की वृद्धि आदि क्रियाएँ उसी ब्रह्म में और उसके कारण ही होती हैं। इस कारण उसे 'बर्हिः' कहते हैं।

४७. नाम — यह पद 'मन अभ्यासे' धातु से 'नामन्सीमन्' (उ.को.४.१५२) सूत्र से निपातित है। [नाम = नामेति वाङ्नाम (म.द.ऋ.भा.३.५.६)] ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म में ही बार-२ वाक् रश्मियाँ निरन्तर उत्पन्न होती रहती हैं, इसी कारण उस ब्रह्म को 'नाम' कहा गया है। महर्षि ऐतरेय महीदास ने 'नाम' के विषय में लिखा है— नामानि (प्राणस्य) दामानि (ऐ.आ. २.१.६) अर्थात् प्राण रश्मियों की बन्धक शक्तियों को 'नाम' कहते हैं। हम इससे अवगत हैं कि 'ओम्' अथवा व्याहृति रश्मियाँ ही प्राण रश्मियों का बल हैं, इस कारण भी 'नाम' पद वाक् रश्मियों का ही वाचक सिद्ध होता है।

४८. सर्पिः — यह पद 'सृप्लृ गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। सृष्टि के सभी पदार्थ ब्रह्म के अन्दर ही और ब्रह्म के द्वारा प्राप्त बल के कारण सर्पिलाकार गमन करते हैं, इस कारण उस ब्रह्म को 'सर्पि' कहते हैं। ज्ञातव्य है कि इस सृष्टि में जितनी भी गतियाँ हो रही हैं, उनमें अधिकांश गतियाँ सर्पिलाकार ही होती हैं।

४९. अपः — [अपः = अपः कर्मनाम (निघं.२.१), अपः प्रजननकर्म (निरु.११.३१)] इस

सृष्टि में जितने भी उत्पत्ति कर्म हो रहे हैं, उन सबका मूल कारण ब्रह्म ही है, क्योंकि वही प्राणवत् वर्तमान रहकर सभी कर्मों को सम्पादित करता है। इस कारण उस ब्रह्म को ही 'अपः' कहते हैं।

५०. पवित्रम् — उस ब्रह्म में न तो कभी कोई विकार आ सकता है और न ही उसके साथ कोई अन्य पदार्थ मिश्रित हो सकता है, इस कारण ब्रह्म का एक नाम 'पवित्र' भी है।

५१. अमृतम् — अविनाशी होने के कारण वह ईश्वर अमृत' कहलाता है।

५२. इन्दुः —'उन्दी क्लेदने' धातु से 'उन्देरिच्चादेः' (उ.को.१.१२) सूत्र से उ प्रत्यय होकर 'इन्दुः' पद व्युत्पन्न होता है अथवा 'इन्धी दीप्तौ' धातु से इसी उणादि-सूत्र से उ प्रत्यय हो सकता है। वह ब्रह्म सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ को अपनी ऊर्जा व तेज से ऐसे संसिक्त करता है, जैसे वर्षा का जल भूमि को एवं सूर्य का प्रकाश विभिन्न पदार्थों को, इसलिए ब्रह्म को 'इन्दु' कहते हैं।

५३. हेम — यह पद 'हि गतौ वृद्धौ परितापे च' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ब्रह्म सभी मनुष्यों को शुभकर्मों एवं वेद की प्रेरणा देने वाला और नाना प्रकार के पदार्थों की वृद्धि का हेतु होने से 'हेम' कहलाता है।

५४. स्वः — [स्वः = सुवरिति व्यानः (तै.आ.७.५.३)] वह ब्रह्म व्यानरूप होकर इस जगत् में नाना प्रकार के पदार्थों से विविध प्रकार की चेष्टाएँ कराता है। इस कारण 'स्वः' कहलाता है।

५५. सर्गाः — यह पद 'सृज विसर्गे' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ब्रह्म नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करके जीवों के उपभोग के लिए त्याग देता है, इसलिए ईश्वर सर्ग कहलाता है। यहाँ 'सर्गाः' बहुवचनान्त पद का प्रयोग यह दर्शाता है कि वह ईश्वर दिन-रात की भाँति सृष्टि-प्रलय के चक्र को निरन्तर चलाता रहता है अर्थात् अनन्त बार सृष्टि रचना करता है। इसके साथ ही नाना प्रकार की सृष्टि रचने के कारण भी यहाँ बहुवचनान्त प्रयोग है।

५६. शम्बरम् — यह पद शम् पूर्वक 'वृञ् वरणे' धातु से अथवा 'शम्ब सम्बन्धने' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ईश्वर सहज और स्वाभाविक रूप से सृष्टि के सब पदार्थों को आच्छादित व नियोजित करता है। साथ ही वह अपने साथ सबको बाँधे रखता है। इसलिए

'शम्बर' कहलाता है।

५७. अम्बरम् — यह पद 'अम्बर सम्भरणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ब्रह्म प्रकृति के सूक्ष्म अवयवों को एकत्र करके उसके संघात से सृष्टि की रचना करता है। इस कारण वह 'अम्बर' कहलाता है।

५८. वियत् — यह पद विपूर्वक 'यमु उपरमे' धातु से व्युत्पन्न होता है। ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी किसी पदार्थ के गमनागमन में बिल्कुल भी बाधक नहीं होता, इस कारण ईश्वर को 'वियत्' कहते हैं।

५९. व्योम — यह पद विपूर्वक 'अव रक्षणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि में विविध प्रकार से व्याप्त होकर उसे नाना प्रकार से नियन्त्रित करता है। इस कारण उसे 'व्योम' कहते हैं।

६०. बर्हिः — इसके विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— बर्हिः परिबर्हणात् (निरु.८.८)। वह ईश्वर सब ओर से अत्यन्त बढ़ा हुआ होता है अर्थात् अनन्त होता है। इस कारण ब्रह्म को 'बर्हिः' कहते हैं।

६१. धन्व — यह पद 'धवि गत्यर्थः' धातु से व्युत्पन्न होता है। उस ब्रह्म से उत्पन्न 'ओम्' रश्मियाँ निरन्तर सर्वत्र गमन करती रहती हैं। इस कारण उसे 'धन्व' कहते हैं।

६२. अन्तरिक्षम् — अन्तरिक्ष के विषय में ग्रन्थकार ने पूर्व में खण्ड २.१० में लिखा है— 'अन्तरिक्षं कस्मात् अन्तरा क्षान्तं भवति अन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा'। वह ब्रह्म सभी प्राणियों व वनस्पतियों के शरीरों, पृथिव्यादि लोकों तथा विभिन्न लोकों के मध्य विद्यमान होने से 'अन्तरिक्ष' कहलाता है।

६३. आकाशम् — यह पद आङ् पूर्वक 'काशृ दीप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। सृष्टि के सभी प्रकाशित लोक आदि पदार्थ उस ब्रह्म के कारण और उसी में प्रकाशित होते हैं। इसके साथ ही सब सत्य विद्याओं का प्रकाश भी सृष्टि के आदि में उस ब्रह्म द्वारा किया जाता है। इस कारण उसे 'आकाश' कहते हैं।

६४. आपः — यह पद 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि को अपने में व्याप्त करके उसे प्राणवत् बल प्रदान करता रहता है। इस कारण उसे 'आपः'

कहते हैं।

६५. पृथिवी — [पृथिवी = प्रथनात् पृथिवीत्याहुः (निरु.१.१४), पृथिव्यामिमे लोकाः (प्रतिष्ठिताः) (जै.उ.१.१०.२)] उस ब्रह्म का विस्तार अनन्त होने तथा सभी लोक उसी में प्रतिष्ठित होने के कारण वह ब्रह्म 'पृथिवी' कहलाता है।

६६. भूः — वह परमेश्वर प्राणों का भी प्राण होने और समस्त पृथिव्यादि अप्रकाशित लोकों का निर्माता, नियन्त्रक और स्वामी होने के कारण 'भूः' कहलाता है।

६७. स्वयम्भूः — उस ब्रह्म की सत्ता का अन्य कोई कारण नहीं होता, बल्कि वह स्वयं अपने आप ही होता है। इस कारण उस ब्रह्म का नाम 'स्वयम्भू' है।

६८. अध्वा — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए उणादि-कोष की व्याख्या में ऋषि दयानन्द लिखते हैं— 'अत्ति भक्षयतीति अध्वा' (उ.को.४.११७)। वह ब्रह्म प्रलयकाल में सबका भक्षण कर लेता है अर्थात् सभी पदार्थ सूक्ष्मतम रूप में परिवर्तित होकर अदृश्य हो जाते हैं। इस कारण वह ब्रह्म 'अध्वा' कहलाता है। इसके साथ ही सृष्टि के सभी पदार्थ उसी में गमन करते हैं, इस कारण भी वह 'अध्वा' कहलाता है।

६९. पुष्करम् — यह पद 'पुष पुष्टौ' या 'पुष धारणे' धातुओं से उणादि सूत्र 'पुषः कित्' (उ.को.४.४) से करन् प्रत्यय और वह भी कितवत् होकर व्युत्पन्न होता है। वह ईश्वर सभी जड़-चेतन पदार्थों को पोषण प्रदान करने के कारण 'पुष्कर' कहलाता है।

७०. सगरः — यह पद सह पूर्वक 'गॄ निगरणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ईश्वर प्रलयकाल में सबको निगल लेता है, इस कारण 'सगर' कहलाता है।

७१. समुद्रः — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

'समुद्रः कस्मात् समुद्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि'।

सभी प्राण रश्मियाँ उस ब्रह्म में ही गमन करती हैं और उसी को लक्ष्य करके गमन करती हैं अर्थात् उसी ब्रह्म से ही सतत ऊर्जा प्राप्त करती हैं तथा उस ब्रह्म में सभी उत्पन्न पदार्थ सहजतया क्रियाशील रहते हैं, इस कारण उसे समुद्र कहते हैं।

७२. तपः — यह पद 'तप ऐश्वर्ये' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि का नियन्त्रक होने से सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली होता है। इस कारण उसे 'तपः' कहते हैं।

७३. तेजः — यह पद 'तिज निशाने' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह धातु निघण्टु १.१७ के अनुसार जलाने अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। वह ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों को भी तीक्ष्ण व सूक्ष्म बनाने वाला तथा सभी प्रकार के प्रकाश का कारण होता है, इसलिए उसका नाम 'तेज' है।

७४. सिन्धुः — [सिन्धुः = तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः (जै.उ.१.२९.९)] वह ब्रह्म ही सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थों को अपने बल से विज्ञानपूर्वक व्यवस्था में बाँधे रखता है, इस कारण उसे 'सिन्धु' कहते हैं।

७५. अर्णवः — [अर्णवः = प्राणो वाऽअर्णवः (श.ब्रा.७.५.२.५१)] वह ब्रह्म प्राणों का भी प्राण होने के कारण सम्पूर्ण प्राण ऊर्जा के विशाल समुद्र के समान होने से 'अर्णवः' कहलाता है।

७६. नाभिः — यह पद 'नह बन्धने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस सृष्टि के सभी पदार्थ उस ब्रह्म के बल के द्वारा ही एवं उस ब्रह्म से बँधे रहते हैं। इस कारण उसे 'नाभि' कहते हैं।

७७. वृक्षः — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने खण्ड २.६ में लिखा है— 'वृत्वा क्षां तिष्ठतीति'। उधर 'क्षा' का निर्वचन करते हुए लिखा है— क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः (निरु. २.६)। वह ब्रह्म सब जीवात्माओं के निवास हेतु सभी लोकों को आच्छादित करके स्थिरता से विद्यमान रहता है। इस कारण उस ब्रह्म को 'वृक्ष' कहते हैं।

७८. ऊर्ध्वः — वह ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट रूप में सब पदार्थों के ऊपर अपनी प्रभुता से विराजमान है, इस कारण उसे 'ऊर्ध्व' कहते हैं।

७९. तत् — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष १.१३२ में लिखा है— 'तनते विस्तृतो भवतीति तत्'। वह ब्रह्म सर्वत्र फैला हुआ सर्वाधिक विस्तार वाला होने से 'तत्' कहलाता है।

८०. यत् — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष १.१३२ में लिखा है— 'यजति सर्वैः संगतो भवतीति यत्'। वह ब्रह्म सृष्टि के सब पदार्थों के साथ संगत होकर उनका यजन करता है। इस कारण वह 'यत्' कहलाता है।

८१. किम् — इस पद का निर्वचन करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष ४.१५९ की

व्याख्या में लिखा है— 'कायति शब्दयतीति किम्'। वह ब्रह्म सृष्टि के आदि में वेद का उपदेश करता है तथा प्रकृति के अक्षररूप अवयवों को परस्पर संयुक्त करके नाना शब्दरूप रश्मियों को उत्पन्न करता है, इसलिए 'किम्' कहलाता है।

८२. **ब्रह्म** — सबसे महान् होने से उसका नाम ब्रह्म है।

८३. **वरेण्यम्** — जो सबको आच्छादित करने वाला और सर्वश्रेष्ठ होने के कारण सबके लिए वरणीयतम होता है, उसका नाम 'वरेण्य' है।

८४. **हंसः** — वह ब्रह्म अपनी सत्प्रेरणा के द्वारा जीवात्माओं की पाप करने की प्रवृत्ति को नष्ट करके विवेक प्रदान है, इस कारण 'हंस' कहलाता है।

८५. **आत्मा** — यह पद 'अत सातत्यगमने' धातु से व्युत्पन्न होता है। वह ब्रह्म निरन्तर सबमें व्याप्त और सबको सम्पूर्ण रूप से जानने वाला होने से 'आत्मा' कहलाता है।

८६. **भवन्ति** — पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने यहाँ 'भवति' पाठ माना है, जबकि पण्डित छज्जूराम शास्त्री, स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक और पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने 'भवन्ति' पाठ माना है। हम भी 'भवन्ति' पाठ को ही स्वीकार कर रहे हैं। 'भवन्ति' पद की व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष ३.५० में लिखा है— 'भवन्ति पदार्था यस्मिन् स भवन्तिः'। सृष्टि के सभी पदार्थ उस ब्रह्म में ही उत्पन्न होते व निवास करते हैं। इसलिए उसको 'भवन्ति' कहते हैं। यहाँ विसर्ग का लोप छान्दस समझना चाहिए।

८७. **वधन्ति** — यह पद भवन्ति पद की भाँति उपर्युक्त सूत्र से ही व्युत्पन्न हो सकता है और इसमें भी विसर्ग का लोप पूर्ववत् समझना चाहिए। इसमें 'बध बन्धने' अथवा 'बध संयमने' धातु का प्रयोग है, जिसमें बकार के स्थान पर वकार का प्रयोग छान्दस है। सृष्टि के सभी पदार्थ विभिन्न प्रकार के बलों द्वारा अन्ततः ईश्वर के बल से ही बँधे हुए होते हैं। इस कारण ब्रह्म को 'वधन्ति' कहा गया है।

८८. **अध्वानम्** — योगसाधना द्वारा मुक्ति को प्राप्त जीव उस ब्रह्म में ही गमन करते हैं, इस कारण उस ब्रह्म को 'अध्वानम्' कहते हैं। बद्ध जीव भी जब विभिन्न योनियों में गमन करते हैं, तब उनका आधाररूप मार्ग ब्रह्म ही होता है। यहाँ द्वितीया विभक्ति का प्रयोग छान्दस है।

८९. **यद्वाहिष्ठ्या** — वह ब्रह्म यजनशील पदार्थों को वहन करने में श्रेष्ठतम होता है अर्थात्

याजक बलों में 'ओम्' रश्मि का ही बल सर्वश्रेष्ठ होता है। इस कारण उसे 'यद्वाहिष्ठ्या' कहते हैं। यहाँ लिङ्ग-व्यत्यय है। प्रायः सभी संस्करणों में 'यद्वाहिष्या' पद है, परन्तु पण्डित छज्जूराम शास्त्री ने 'यद्वाहिष्ठ्या' पद स्वीकार किया है। हमें भी यही पाठ अधिक उचित प्रतीत होता है।

९०. शरीराणि — [शरीराणि = शरीरे आदित्ये (निरु.१२.३७)] सभी आदित्य लोक उसी में आश्रित होने एवं उसी में नष्ट हो जाने के कारण 'शरीराणि' पद भी ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यहाँ बहुवचन का प्रयोग छान्दस समझना चाहिए।

९१. अव्ययं च संस्कुरुते — वह ब्रह्म प्रकृति और जीवात्मा एवं काल जैसे अव्यय पदार्थों को अच्छी प्रकार धारण करता है। इस कारण उसी ब्रह्म के लिए इस वाक्य का प्रयोग हुआ है। धारक गुणों का अनेक पदों में उल्लेख होने के उपरान्त भी यहाँ धारक गुण के उल्लेख का कारण यह है कि वह ब्रह्म प्रत्यक्ष रूप से केवल प्रकृति, जीवात्मा एवं काल तत्त्व इन अव्यय पदार्थों को ही धारण करता है। अन्य पदार्थ दूसरे पदार्थों द्वारा धारण किये जाते हैं।

९२. यज्ञः — यज्ञ के विषय में लिखा है— वागु वै यज्ञः (श.ब्रा.१.१.४.११)। वह ब्रह्म मूल वाक् तत्त्व, 'ओम्' रश्मियों का प्रत्यक्ष उत्पादक होने तथा उनका अधिष्ठान होने के कारण तथा इन वाक् रश्मियों को परस्पर संगत करने के कारण 'यज्ञ' कहलाता है।

९३. आत्मा — आत्मा के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं— आत्मा लोकं पृणा (श.ब्रा.८.७.२.८)। वह ब्रह्म सभी लोकों को पूर्ण रूप से भरे हुए है और वे सभी लोक उसमें सतत गमन करते हैं। इस कारण उस ब्रह्म को 'आत्मा' कहा है।

९४. भवति — यह पद 'भू प्राप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। भू धातु से 'अमेरतिः' (उ.को. ४.६०) उणादि सूत्र से अति प्रत्यय होकर 'भवतिः' पद व्युत्पन्न होता है, जिसके विसर्ग का छान्दस लोप होने से 'भवति' पद प्राप्त होता है। वह ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् में सर्वत्र प्राप्त होने के कारण 'भवति' कहलाता है।

९५. यदेनं तन्वते — जो इस सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करके विस्तार करता है, इसलिए 'यदेनं तन्वते' वाक्य उस ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'तन्वते' क्रियापद 'तनु विस्तारे' धातु से निपातित है। यहाँ यह अर्थ भी प्रतिभासित होता है कि सम्पूर्ण जगत् उस ब्रह्म का शरीर है और वह ब्रह्म उस शरीर में समाया है।

इन सभी नामों पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि इनमें से अधिकांश पद अन्तरिक्ष, जल एवं यज्ञ के वाचक हैं। उधर उस ब्रह्म के अनेक गुणों में से अन्तरिक्ष के समान व्यापकता, जल के समान संयोजक व वियोजक और यज्ञ के समान याजक गुण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य नामों पर विचार करें, तब गति, व्याप्ति एवं बल आदि अर्थ वाले पदों की यहाँ प्रधानता है। वस्तुतः सृष्टि रचने के लिए इन तीन गुणों का होना अपेक्षाकृत अधिक अनिवार्य है। इस कारण इन अर्थों वाली धातुओं का प्रयोग यहाँ बहुलता से हुआ है। ये सभी अन्य जड़ पदार्थों के भी नाम हैं, परन्तु प्रसंग को दृष्टिगत रखते हुए हमने उनका केवल ईश्वरपरक अर्थ ही किया है।

अन्त में कहा है— 'अथैतं महान्तमात्मानमेतानि सूक्तान्येता ऋचोऽनुप्रवदन्ति'। उस परब्रह्म के अनेक नामों का उल्लेख करने के पश्चात् आगामी सूक्तों और ऋचाओं के द्वारा उस ब्रह्म का वर्णन करते हैं। यह वर्णन अगले खण्ड से प्रारम्भ किया जायेगा।

* * * * *

द्वादशः खण्डः

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥

[ऋ.९.९६.५]

सोमः पवते। सोमः सूर्यः प्रसवनात्।
जनिता मतीनां प्रकाशकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।
दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।
पृथिव्याः प्रथनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।
अग्नेर्गतिकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।
सूर्यस्य स्वीकरणकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।
इन्द्रस्यैश्वर्यकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।

विष्णोर्व्याप्तिकर्मणामादित्यरश्मीनाम्। इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्— सोम आत्माप्येतस्मादेव। इन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः।
अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूतम आत्मा। इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ १२॥

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥ (ऋ.९.९६.५)

इस मन्त्र का ऋषि प्रतर्दनो दैवोदासिः है। इसका अर्थ यह है कि इसकी उत्पत्ति तीक्ष्ण प्रकाश वा विद्युत् तरंगों से उत्पन्न हिंसक रश्मियों से होती है। इसका देवता पवमान सोम तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सोमतत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सोमः, पवते) 'सोमः पवते सोमः सूर्यः प्रसवनात्' विभिन्न लोकादि पदार्थों की उत्पत्ति करने के कारण सूर्यलोक को ही 'सोम' कहा गया है। इसके साथ ही सब लोकों को अपने आकर्षण बल से प्रेरणा व गति देने के कारण भी सूर्यलोक को 'सोम' कहा गया है। इस सूर्य के केन्द्रीय भाग में ही प्रकाश आदि अणुओं की उत्पत्ति के साथ ही अनेक पदार्थों की भी उत्पत्ति निरन्तर होती रहती है। इस कारण भी उसे 'सोम' कहते हैं। ऐसा वह सूर्यलोक अपने मण्डल के सभी लोकों की उत्पत्ति के समय उनको शुद्ध स्वरूप एवं आकार प्रदान करने में भी सहयोग करता है। वह इन लोकों में स्थित विभिन्न पदार्थों को शुद्ध करने और सबको गति प्रदान करने में प्रत्यक्ष वा परोक्ष सहयोग करता है। (जनिता, मतीनाम्) 'जनिता मतीनां प्रकाशकर्मणामादित्य-रश्मीनाम्' वह सूर्यलोक नाना प्रकार की प्रकाश रश्मियों को भी उत्पन्न करता है, जिससे वह सूर्यलोक सब लोकों में तेजस्वी दिखाई देता है। मति के विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— मतय इति मेधाविनाम (निघं.३.१५)। इससे यह भी संकेत मिलता है कि सूर्य के प्रकाश की रश्मियाँ मस्तिष्क के लिए उपयोगी होती हैं। सूर्य के प्रकाश में सत्त्वगुण की प्रधानता होने के कारण भी यह बुद्धिवर्धक होता है। यह बात विचारणीय है कि क्या दिवाचर प्राणी रात्रिचर प्राणियों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् होते हैं। हमारे मत में ऐसा होना चाहिए।

(दिवः, जनिता) 'दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्' सूर्यलोक विभिन्न पदार्थों का ज्ञान कराने वाली अर्थात् उनको प्रकाशित करने वाली रश्मियों को उत्पन्न करता है। इनके अभाव

में हम किसी भी पदार्थ को नहीं देख सकते। सूर्य से अनेक प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति होती है, सबमें कुछ न कुछ मात्रा में प्रकाश अवश्य होता है, परन्तु दृश्य प्रकाश के अतिरिक्त अन्य कोई भी तरंगें वस्तुओं को हमें दिखाने में असमर्थ होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दृश्य प्रकाश की तरंगों को ही यहाँ द्योतन कर्म वाली रश्मि कहा गया है। (पृथिव्याः, जनिता) 'पृथिव्याः प्रथनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्' सूर्य से उत्पन्न होने वाली किरणें निरन्तर सूर्य के आकार को फैलाती रहती हैं, अन्यथा यह सूर्य अपने ही प्रबल गुरुत्वाकर्षण बल के कारण सिकुड़ कर विकृत हो जाये। सूर्य की विकिरणों का दबाव ही गुरुत्वाकर्षण के दबाव को सन्तुलित रखता है। सूर्य की किरणें ही ऊष्मा प्रदान करके पदार्थ को फैलाने में सहायक होती हैं। इसी कारण हर पदार्थ ऊष्मा से फैलने लगता है। यही सूर्य रश्मियों का प्रथन कर्म है।

(अग्नेः, जनिता) 'अग्नेर्गतिकर्मणामादित्यरश्मीनाम्' सूर्य की रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों को ऊर्जा प्रदान करके उन्हें निरन्तर सम्यक् गति प्रदान करती रहती हैं। सूर्य की गुरुत्वीय तरंगें भी विभिन्न लोकों को गति प्रदान करती हैं। इस कारण सूर्य को अग्नि का उत्पादक कहा है। इसके साथ ही सूर्य की किरणें ऊष्मा उत्पन्न करने वाली होने से भी अग्नि की उत्पादिका कही जाती हैं।

(जनिता, सूर्यस्य) 'सूर्यस्य स्वीकरणकर्मणामादित्यरश्मीनाम्' सूर्यलोक ऐसी रश्मियों, जो अन्य पदार्थों को ग्रहण करके अर्थात् उठाकर दूर ले जाती हैं, को भी उत्पन्न करने वाला होता है। जल का वाष्पन, मेघों का बनना आदि क्रियाएँ इन किरणों के कारण ही सम्भव होती हैं। ये किरणें सूर्य अर्थात् विभिन्न रासायनिक एवं भौतिक क्रियाओं की उत्पादिका भी होती हैं। इस कारण भी इन्हें सूर्य की उत्पादिका कहा है। ये किरणें विभिन्न सूक्ष्म कणों के द्वारा अवशोषित होकर उन्हें ऊर्जा प्रदान करके नाना क्रियाओं के लिए प्रेरित करती हैं। इन प्रेरक रश्मियों को भी सूर्य कहा गया है। (जनिता, इन्द्रस्य) 'इन्द्रस्यैश्वर्यकर्मणामादित्यरश्मीनाम्' सूर्य ऐश्वर्य कर्म वाली रश्मियों को उत्पन्न करता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य अपनी किरणों एवं गुरुत्वीय तरंगों के माध्यम से सभी लोकों और सूक्ष्म कणों पर शासन करता है अर्थात् उन्हें उचित रीति से नियन्त्रित रखता है। (उत, जनिता, विष्णोः) 'विष्णोर्व्याप्तिकर्म-णामादित्यरश्मीनाम्' सूर्य की किरणें जिस भी पदार्थ से सम्पर्क करती हैं, उसमें वे पूर्णतः व्याप्त हो जाती हैं। ये किरणें सभी लोकों और लोकस्थ पदार्थों को व्याप्त करती हैं। इसलिए

सूर्य को विष्णु का उत्पादक कहा है। विष्णु के विषय में ऋषियों का कथन है— यज्ञो वै विष्णुः (श.ब्रा.१.१.३.१; कौ.ब्रा.४.२; तां.ब्रा.९.६.१०)। सूर्य की रश्मियाँ सभी लोकों और अन्तरिक्ष में होने वाली यजन क्रियाओं में भी व्याप्त होती हैं। इस कारण भी सूर्य को विष्णु का उत्पादक कहा है।

इस विषय में लेखक का कथन है— 'अथाध्यात्मम् सोम आत्माप्येतस्मादेव इन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूतम आत्मा इत्यात्मगतिमाचष्टे'। इसी प्रकार सोम आत्मा को भी कहते हैं। यहाँ आत्मा का अर्थ शरीर भी माना जा सकता है। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— आत्मा वै तनूः (श.ब्रा.७.३.१.२३)। शरीर में ही सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और शरीर के द्वारा ही आत्मा सभी प्रकार की विभूतियों को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इस प्रकार यहाँ आत्मा की गति को कहा गया है। अब हम इसका आध्यात्मिक भाष्य करते हैं—

१. आध्यात्मिक भाष्य—

(सोमः, पवते) [सोमः = सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः (श.ब्रा.५.१.२.१०)] सत्य अर्थात् सत्य-विद्या के द्वारा आत्मा पवित्र होकर मोक्षमार्ग पर गमन करता है। यहाँ 'पूङ् पवने' धातु गति अर्थ में प्रयुक्त है, जैसा कि ग्रन्थकार ने निघण्टु २.१४ में लिखा है— 'पवते गतिकर्मा'। (जनिता, मतीनाम्) यह सोम अर्थात् सत्य प्रज्ञा को उत्पन्न करने वाला होता है। (जनिता, दिवः) उस सत्यविद्या के कारण उत्पन्न पवित्र प्रज्ञा मनुष्य के अन्दर देवत्व का भाव उत्पन्न करती है और वह व्यक्ति ज्ञान के आलोक से आलोकित हो उठता है। (जनिता, पृथिव्याः) [पृथिवी = पृथिव्येव भर्गः (गो.पू.५.१५), पृथिवी होता (मै.१.९.१)] उस सत्य के कारण उत्पन्न प्रज्ञा व्यक्ति को आत्मयजन का होता बना देती है, जिससे उसके सभी दुःख, दुर्गुण, दुर्व्यसन एवं अज्ञान जैसे विकार दग्ध होने लगते हैं।

(जनिता, अग्नेः) तदुपरान्त उसके अन्दर [अग्निः = आत्मैवाग्निः (श.ब्रा.६.७.१.२०), अग्निरेव ब्रह्म (श.ब्रा.१०.४.१.५)] आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान की अग्नि प्रज्वलित होने लगती है, जिससे उसका सम्पूर्ण अविवेक दग्ध हो जाता है। (जनिता, सूर्यस्य) इसके कारण वह योगी पुरुष ज्ञान की दृष्टि से सूर्यवत् तेजस्वी होने लगता है। वह दूसरों के लिए आदर्श प्रेरक बन जाता है। (जनिता, इन्द्रस्य) इस अवस्था को प्राप्त पुरुष अति ऐश्वर्यवान् हो जाता है। सभी मनुष्यों, यहाँ तक कि अन्य सभी प्राणियों के अन्दर उसके प्रति प्रीति का भाव उत्पन्न

होने लगता है। वह अपनी सभी इन्द्रियों और मन को सम्पूर्ण रूप से जीत लेता है। (उत, जनिता, विष्णोः) अन्त में वह सर्वव्यापक विष्णु परमात्मा के धाम को प्राप्त कर लेता है अर्थात् उस पद को प्राप्त करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

२. आध्यात्मिक भाष्य—

(सोमः, पवते) सकल जगत् का उत्पादक और प्रेरक सोम परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टि को अपने व्यवस्थित नियमों के द्वारा शुद्ध करता रहता है और गति प्रदान करता है। (जनिता, मतीनाम्) [मतिः = वाग्वै मतिर्वाचा हीदं सर्वं मनुते (श.८.१.२.७)] वह ईश्वर मनस्तत्त्व एवं वाक् रश्मियों को उत्पन्न करता है। (जनिता, दिवः) वह ईश्वर विभिन्न प्राणों एवं आकाश तत्त्व को उत्पन्न करता है। इसके साथ ही वही द्युलोक का उत्पादक है। (जनिता, पृथिव्याः) उसी ने पृथिव्यादि अप्रकाशित लोकों को उत्पन्न किया है और वही इन लोकों को दूर-२ तक फैलाता है। (जनिता, अग्नेः) उसी ने अग्नि महाभूत अर्थात् सूक्ष्म कणों और प्रकाशादि के अणुओं को उत्पन्न किया है। (जनिता, सूर्यस्य) वही सूर्यादि प्रकाशित लोकों को उत्पन्न करता है। (जनिता, इन्द्रस्य) उसी ने विद्युत् एवं सभी प्रकार के बलों को उत्पन्न किया है। (उत, जनिता, विष्णोः) सम्पूर्ण सृष्टि में होने वाली विभिन्न यजन क्रियाओं को वही सम्पादित करता है अर्थात् वह सर्ववित् और सर्वकर्त्ता है, जैसा कि महर्षि कपिल ने कहा है— 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता' (सां.द.३.५६)।

* * * * *

= त्रयोदशः खण्डः =

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्। श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥ [ऋ.९.९६.६]

ब्रह्मा देवानामिति।

एष हि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।

पदवीः कवीनामिति।

एष हि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामादित्यरश्मीनाम्।

ऋषिर्विप्राणामिति।
एष हि ऋषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।
महिषो मृगाणामिति।
एष हि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।
श्येनो गृध्राणामिति। श्येन आदित्यो भवति। श्यायतेर्गतिकर्मणः।
गृध्र आदित्यो भवति। गृध्यतेः स्थानकर्मणः। यत एतस्मिंस्तिष्ठति।
स्वधितिर्वनानामिति। एष हि स्वयं कर्माण्यादित्यो धत्ते।
वनानां वननकर्मणामादित्यरश्मीनाम्। सोमः पवित्रमत्येति रेभन्निति।
एष हि पवित्रं रश्मीनामत्येति स्तूयमानः। एष एवैतत्सर्वमक्षरम्।
इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्— ब्रह्मा देवानामिति।
अयमपि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामिन्द्रियाणाम्।
पदवीः कवीनामिति।
अयमपि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामिन्द्रियाणाम्। ऋषिर्विप्राणामिति।
अयमपि ऋषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणाम्।
महिषो मृगाणामिति।
अयमपि महान्भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणाम्।
श्येनो गृध्राणामिति। श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः।
गृध्राणीन्द्रियाणि। गृध्यतेर्ज्ञानकर्मणः। यत एतस्मिंस्तिष्ठन्ति।
स्वधितिर्वनानामिति। अयमपि स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते।
वनानां वननकर्मणामिन्द्रियाणाम्। सोमः पवित्रमत्येति रेभन्निति।
अयमपि पवित्रमिन्द्रियाण्यत्येति। स्तूयमानोऽयमेवैतत्सर्वमनुभवति।
इति आत्मगतिमाचष्टे॥ १३॥

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।

श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥ [ऋ.९.९६.६]

इस मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द पूर्ववत् हैं। इस कारण इसका दैवत और छान्दस प्रभाव भी पूर्ववत् समझें।

आधिदैविक भाष्य— (ब्रह्मा, देवानाम्) 'ब्रह्मा देवानामिति एष हि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्' वह सोमसंज्ञक सूर्यलोक सब देवों में ब्रह्मा के समान होता है अर्थात् वह सब लोकों में सबसे महान् होता है। इस सूर्यलोक को ब्रह्मा इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह विभिन्न देव पदार्थों की विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं में अग्रणी भूमिका निभाता है। इसके साथ ही यह अपनी रश्मियों में भी सर्वत्र अपनी अनिवार्य भूमिका निभाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य की किरणों का स्वरूप एवं उनकी ऊर्जा इस बात पर निर्भर करती है कि वह सूर्य किन पदार्थों से मिलकर बना है और उसका आकार-प्रकार किस प्रकार का है? यहाँ देव पदार्थों से तात्पर्य सभी वायव्य, आग्नेय, जलीय एवं पार्थिव अणु हैं, इन सबकी नाना क्रीड़ाओं में सूर्य की प्रत्यक्ष वा परोक्ष भूमिका रहती है।

(पदवीः, कवीनाम्) 'पदवीः कवीनामिति एष हि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामादित्य-रश्मीनाम्' [कविः = कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा (निरु.१२.१३)] यह सूर्यलोक ध्वनि उत्पन्न करती हुई एवं आँखों से न देखी जा सकने वाली अपनी किरणों के मार्ग को जानता है। सूर्य जड़ पदार्थ है, इसलिए उसमें जानने जैसी कोई क्रिया नहीं हो सकती, तब यहाँ उसे किरणों के मार्ग को जानने वाला कैसे कहा गया है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि सूर्यलोक के तल से जब कोई किरण उत्सर्जित होकर अन्तरिक्ष में गमन करती है, तभी उसकी उत्पत्ति के समय विभिन्न छन्दादि रश्मियों की भूमिका उस किरण की दिशा और उसके स्वरूप को निर्धारित कर देती है। यहाँ सूर्य की किरणों को ध्वनि उत्पन्न करने वाली कहा है। इसका अर्थ यह है कि प्रकाशाणुओं से सूक्ष्म ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, भले ही हम उन्हें न सुन सकें। (ऋषिः, विप्राणाम्) 'ऋषिर्विप्राणामिति एष हि ऋषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्' [विप्रः = विविधानि पदार्थानि प्रान्ति ते किरणाः (तु.म.ऋ.भा. १.६२.४)] आदित्य लोक विभिन्न विकिरणों का ऋषि अर्थात् प्राणरूप होता है। [यहाँ 'ऋषिणः' पद 'ऋषि गतौ' धातु से 'श्यास्त्याहृञविभ्य इनच्' (उ.को.२.४७) सूत्र से इनच् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है।]

यह आदित्य लोक अपनी किरणों के नाना प्रकार के व्यापन कर्मों में सदैव व्याप्त

रहता है। यहाँ गति का अर्थ व्याप्ति माना गया है। हम सूर्य की किरणों के द्वारा जो भी कर्म देखते हैं, उनसे ही हमें सूर्य का बोध होता है। इसी कारण किरणों के व्यापन कर्मों में सूर्य को गतिशील अर्थात् व्यापनशील कहा गया है। (महिषः, मृगाणाम्) 'महिषो मृगाणामिति एष हि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामादित्यरश्मीनाम्' यह सूर्यलोक अन्वेषण करने के विभिन्न साधनों में से प्रमुख साधन मृग अर्थात् आदित्य रश्मियों का महान् स्रोत होता है। लोक में हम सबसे अधिक ज्ञान चक्षु इन्द्रिय से ही प्राप्त करते हैं और उस चक्षु इन्द्रिय का साधन प्रकाश की किरणें होती हैं। प्रकाश की किरणों के अनेक स्रोत हो सकते हैं, परन्तु उन सब स्रोतों में सबसे महान् स्रोत सूर्य ही होता है।

(श्येनः, गृध्राणाम्) 'श्येनो गृध्राणामिति श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः गृध्र आदित्यो भवति गृध्यतेः स्थानकर्मणः यत एतस्मिंस्तिष्ठति' निरन्तर तीव्र गतिशील होने के कारण वह सूर्यलोक श्येन कहलाता है। इसके साथ ही वह सूर्यलोक अपनी कक्षा की स्थिति को स्थिर बनाये रखता है अर्थात् उसकी कक्षा निश्चित ही होती है। इस कारण उसे गृध्र भी कहते हैं। यहाँ इच्छा अर्थ वाली गृध धातु को स्थान अर्थात् स्थिति कर्म वाली माना गया है। वह सूर्य अपनी स्थिति से कभी विचलित नहीं होता। इस प्रकार पृथिवी आदि अन्य लोक भी स्थिर कक्षाओं में गतिशील होते हैं, परन्तु सूर्यलोक उन सबमें अधिक गतिशील होने के कारण गृधों में श्येन कहलाता है।

(स्वधितिः, वनानाम्) 'स्वधितिर्वनानामिति एष हि स्वयं कर्माण्यादित्यो धत्ते वनानां वननकर्मणामादित्यरश्मीनाम्' [स्वधितिः = वज्रनाम (निघं.२.२०)] सूर्यलोक पदार्थों का विभाजन एवं सेवन अर्थात् संयोजन कर्म करने वाली रश्मियों का वज्ररूप है। इस प्रकार सूर्य की किरणों के इन कर्मों को वह स्वयं ही धारण करने वाला होता है। सूर्य के अन्दर भी विभिन्न प्रकार की संयोजक और विभाजक क्रियाएँ सतत चलती रहती हैं और सूर्य की किरणें भी इन्हीं कर्मों को अन्तरिक्ष एवं पृथिव्यादि लोकों के अन्दर करती रहती हैं। इस कारण ही सूर्य को अपनी किरणों के कर्मों को धारण करने वाला कहा गया है। सूर्य के बाहरी तल से जब उसकी किरणें अन्तरिक्ष में उत्सर्जित होती हैं, उस समय सूर्य के तल पर विद्यमान विभिन्न छन्दादि रश्मियों के द्वारा उन किरणों की ऊर्जा निर्धारित होती है और उस ऊर्जा से ही उन रश्मियों के गुणधर्म निर्धारित हो जाते हैं।

(सोमः, पवित्रम्, अति, एति, रेभन्) 'सोमः पवित्रमत्येति रेभन्निति एष हि पवित्रं

रश्मीनामत्येति स्तूयमानः एष एवैतत्सर्वमक्षरम्' [पवित्रम् = रेभः स्तोतृनाम (निघं.३.१६), अन्तरिक्षं वै पवित्रम् (काठ.सं.२६.१०), पवित्रं वै वायुः (तै.ब्रा.३.२.५.११)। रेभन् = रेभति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)] सोम अर्थात् सूर्य की किरणें पवित्र अर्थात् आकाश महाभूत एवं वायु महाभूत आदि का अतिक्रमण करती हुई निरन्तर गमन करती रहती हैं। यहाँ 'रेभन्' पद यह दर्शाता है कि सूर्य की किरणें प्रकाश के साथ-साथ ध्वनि से भी युक्त होती हैं। वायु एवं आकाश तत्त्व भी रश्मियों से ही बने होते हैं। उन रश्मियों का उल्लंघन करती हुई सूर्य की रश्मियाँ निर्बाध अपनी यात्रा करती रहती हैं। इस प्रकार ये सूर्य की किरणें अथवा किसी भी प्रकाश आदि की तरंगें अपनी ऊर्जा को अक्षीण रखने में समर्थ होती हैं। इसलिए उन्हें यहाँ अक्षर कहा गया है। हमारी दृष्टि में किरणों की ऊर्जा भी कुछ न कुछ मात्रा में क्षीण अवश्य होती है, परन्तु उसकी क्षीणता प्रायः नगण्य होती है। इसी कारण इन्हें 'अक्षर' कहा है।

आध्यात्मिक भाष्य— (ब्रह्मा, देवानाम्) 'ब्रह्मा देवानामिति अयमपि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामिन्द्रियाणाम्' इस शरीर में आत्मा ही देवों का ब्रह्मा होता है, क्योंकि यह उन देवों अर्थात् इन्द्रियों से महान् और उनके ऊपर अधिष्ठित होता है। यहाँ इन्द्रियों को ही देव कहा गया है, क्योंकि ये ही नाना प्रकार से ज्ञान का प्रकाश करती हैं और जीवात्मा के सानिध्य में रहकर नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करती हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में परब्रह्म परमात्मा ही ब्रह्मा होता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण चराचर जगत् और प्रकृति तथा जीवात्मा आदि सब पदार्थों से बढ़कर महान् और उनके ऊपर अधिष्ठित होता है। यहाँ इन्द्रियों का अर्थ नाना प्रकार के बल हैं। इन्द्रियों के विषय में कहा गया है— इन्द्रियं वै वीर्यं बृहत् (मै.१.११.९)। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि में कार्य कर रहे व्यापक मूल बल ही इन्द्रिय कहलाते हैं, क्योंकि वे मूल बल ही नाना प्रकार के देव पदार्थों के द्वारा नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं। इन सब बलों का मूल कारण और केन्द्र परमात्मा ही है, इसलिए उसे देवों का ब्रह्मा कहा है।

(पदवीः, कवीनाम्) 'पदवीः कवीनामिति अयमपि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामिन्द्रि-याणाम्' वह आत्मा कवि अर्थात् नाना इन्द्रियों के कर्मों को जानता ही नहीं, अपितु उनका प्रेरक भी होता है और यही उन बलों को उत्पन्न भी करता है। यहाँ इन्द्रियों को कवि इस कारण कहा है, क्योंकि ये इन्द्रियाँ भौतिक साधनों से दिखाई नहीं देती तथा ये सभी इन्द्रियाँ शब्द भी उत्पन्न करने वाली होती हैं। ध्यातव्य है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति भी सत्त्वगुण प्रधान वाक् रश्मियों से ही होती है। इस कारण इन्हें 'कवि' कहा जाता है। इन्द्रियाँ आत्मा का

साधन मात्र हैं, वास्तविक कर्त्ता जीवात्मा ही होता है, इसलिए वह सभी इन्द्रियों के कर्मों को जानता है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में परमात्मा भी सभी कविरूपी इन्द्रियों के कर्मों का मुख्य हेतु और उनका ज्ञाता होता है। इन्द्रियों के विषय में ऋषियों का कथन है— इन्द्रियं वै पशवः (तै.सं.२.२.७.१; मै.सं.२.२.८)। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न छन्द रश्मियाँ ही यहाँ इन्द्रिय कही गयी हैं। काठक संहिता में कहा गया है— इन्द्रियं वै वाक् (काठ.सं.३१.१५)। इससे भी हमारे मत की पुष्टि हो रही है। ये छन्द रश्मियाँ ही सम्पूर्ण सृष्टि के कार्यों का सम्पादन करती हैं और इन रश्मियों के मार्गों और गतियों को वह परब्रह्म परमात्मा ही सुनिश्चित करता है और जानता है।

(ऋषिः, विप्राणाम्) 'ऋषिर्विप्राणामिति अयमपि ऋषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रि-याणाम्' वह आत्मा विप्रों का ऋषि है। यहाँ इन्द्रियों को विप्र इस कारण कहा है, क्योंकि ये आत्मा के द्वारा कराये जा रहे सभी कर्मों में व्याप्त होती हैं। आत्मा इन इन्द्रियों को गति प्रदान करने के कारण 'ऋषि' कहलाता है। उधर सृष्टि में परमात्मा भी सभी विप्रों का ऋषि है। विप्र के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं— देवा विप्राः (श.ब्रा.६.३.१.१६) अर्थात् सभी देव पदार्थ विप्र कहलाते हैं, क्योंकि वे सृष्टि के सभी कर्मों में व्याप्त होते हैं अर्थात् सभी कर्म उन्हीं के द्वारा उन्हीं में सम्पादित होते हैं। इन देवों को इन्द्रिय भी कहते हैं, क्योंकि सभी प्रकार का बल इन्हीं में विद्यमान होता है। इसलिए इन्द्रिय के विषय में लिखा है— प्राणा इन्द्रियाणि (काठ.सं.८.१; तां.ब्रा.२.१४.२), प्रजा वा इन्द्रियम् (तै.सं.६.५.८.४)। इसका अर्थ यह है कि सभी उत्पन्न देव पदार्थ इन्द्रिय हैं और उनके अन्दर जो बल विद्यमान है, वह भी इन्द्रिय है। ईश्वर इन सबका अधिष्ठाता और गतिप्रदाता होने से 'ऋषि' कहलाता है।

(महिषः, मृगाणाम्) 'महिषो मृगाणामिति अयमपि महान्भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रि-याणाम्' शरीर में आत्मा मृगों में महान् होता है। यहाँ मृग इन्द्रियों को कहा गया है, क्योंकि ये निरन्तर विषयों को खोजती रहती हैं, लेकिन आत्मा इस अन्वेषण कर्म में भी इन्द्रियों की अपेक्षा महान् होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ अपना अन्वेषण आत्मा की विद्यमानता में ही कर सकती हैं। इस कारण विषयों में विचरने वाला आत्मा ही होता है। उधर इस सृष्टि में परब्रह्म भी सभी अन्वेषकों में सबसे महान् होता है। सृष्टि में सारे कण प्राण और छन्द रश्मियों के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। इन रश्मियों में ज्ञान नहीं होता, उनको ज्ञान और प्रयोजनपूर्वक गति देने का कार्य 'ओम्' रश्मियाँ करती हैं। 'ओम्' रश्मियाँ ईश्वर से साक्षात् उत्पन्न होने के

कारण ज्ञानयुक्त होती हैं और ईश्वर ही इनको ज्ञान देने वाला होता है। इसलिए उसको 'महिषः' अर्थात् महान् कहा है।

(श्येनः, गृध्राणाम्) 'श्येनो गृध्राणामिति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः गृध्राणीन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञानकर्मणः यत एतस्मिंस्तिष्ठन्ति' आत्मा सभी गृध्रों में 'श्येन' है, क्योंकि आत्मा ही सभी इन्द्रियों के ज्ञान का कारण है। यहाँ 'श्यैङ् गतौ' धातु को ज्ञानार्थक माना है। इन्द्रियों को यहाँ 'गृध्र' कहा गया है, क्योंकि ये ज्ञानपूर्वक विषयों में विचरण करती हैं। आत्मा की चेतना के कारण सभी इन्द्रियाँ चेतन की भाँति व्यवहार करते हुए ज्ञान और प्रयोजनपूर्वक अपने विषयों में विचरती हैं। यहाँ इन्द्रियों को ज्ञान में स्थित हुआ कहा है। सृष्टि में कार्यरत सभी प्रकार के बल और उनकी आधार प्राणादि रश्मियाँ 'गृध्र' कहलाती हैं। इसका कारण यह है कि सभी रश्मियाँ परमात्मा के ज्ञान द्वारा ही कार्य करती हैं। इसलिए परमात्मा को यहाँ 'श्येन' कहा गया है, क्योंकि वह सम्पूर्ण ज्ञान का मूल स्रोत है।

(स्वधितिः, वनानाम्) 'स्वधितिर्वनानामिति अयमपि स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते वनानां वननकर्मणामिन्द्रियाणाम्' विभिन्न विषयों और उनके ज्ञान का विभाजन करने के कारण इन्द्रियों को 'वन' कहा गया है। उन वनरूप इन्द्रियों में जीवात्मा अपने ज्ञान और कर्मों को धारण कराता है। इस कारण जीवात्मा को 'स्वधिति' कहा है। जीवात्मा इन्द्रियों को सतत अपने सानिध्य में रखकर ज्ञानगति व कर्मगति बनाये रखता है। इन्द्रियाँ केवल ज्ञान का विभाजन करने के लिए ही नहीं हैं, बल्कि ये ज्ञान का सेवन अर्थात् उपयोग भी करती हैं। उधर सृष्टि में सभी छन्द व प्राणादि रश्मियाँ विज्ञानपूर्वक नाना प्रकार के कर्मों को सम्पादित करती हैं और ज्ञान के रूप में परमात्मा ही उनके अन्दर रहता है। इस कारण परमात्मा को 'स्वधिति' कहा गया है।

(सोमः, पवित्रम्, अति, एति, रेभन्) 'सोमः पवित्रमत्येति रेभन्निति अयमपि पवित्रमिन्द्रियाण्यत्येति स्तूयमानोऽयमेवैतत्सर्वमनुभवति' [पवित्रम् = प्राणोदानौ पवित्रे (श.ब्रा.१.८.१.४४), प्राणापानौ पवित्रे (तै.ब्रा.३.३.४.४)] आत्मारूपी सोम शरीर को प्रकाशमान करता हुआ प्राणादि रश्मियों का अतिक्रमण करने वाला होता है, क्योंकि वह उनसे भी अधिक ज्ञान के प्रकाश वाला तथा उन प्राणों के प्रकाश का भी कारण होता है। यह आत्मा इन्द्रियों और प्राणों के ऊपर अधिष्ठित होकर पवित्रतम होता है। जब वह आत्मा परमात्मा की स्तुति करता हुआ प्राण एवं इन्द्रियादि पदार्थों से स्वयं को पृथक् एवं पवित्र अनुभव कर लेता है, उस समय वह अपने स्वरूप को साक्षात् अनुभव करने लगता है। योगसिद्ध पुरुष के आत्मा की यही गति है

और इससे ही वह परमात्मा को भी प्राप्त कर लेता है। उधर सृष्टि में परमात्मा प्राणतत्त्व और अन्तरिक्ष आदि पदार्थों से पृथक् और उनका अतिक्रमण करके महानतम होता है। वह सृष्टि के सभी बलों का अतिक्रमण करके सबसे अधिक बलवान् होता है और मानो सृष्टि के सभी पदार्थों के द्वारा स्तुत होता हुआ सब पदार्थों को अपने नियमों के अन्तर्गत वा उनके अनुकूल उत्पन्न करता है।

इस प्रकार लेखक ने आत्मा की गति अर्थात् स्वरूप की चर्चा की है।

* * * * *

= चतुर्दशः खण्डः =

तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥

[ऋ.९.९७.३४]

वह्निरादित्यो भवति। स तिस्रो वाचः प्रेरयत्यृचो यजूंषि सामानि।
ऋतस्यादित्यस्य कर्माणि ब्रह्मणो मतानि।
एष एवैतत्सर्वमक्षरम्। इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्— वह्निरात्मा भवति।
स तिस्रो वाच ईरयति प्रेरयति विद्यामतिबुद्धिमताम्।
ऋतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतानि। अयमेवैतत्सर्वमनुभवति।
इति आत्मगतिमाचष्टे॥ १४॥

तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥ (ऋ.९.९७.३४)

इस मन्त्र का ऋषि पराशर शाक्त है। पराशर के विषय में ग्रन्थकार ने पूर्व में कहा है— इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते परा शातयिता यातूनाम् (निरु.६.३०)। [शक्तिः = कर्मनाम (निघं. २.१)] असुरादि पदार्थों को नष्ट करने वाली तीक्ष्ण क्रियाओं के समय जो इन्द्र तत्त्व

उत्पन्न होता है, उसी से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता पवमान सोम और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सोम तत्त्व प्रखर रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करता है।

आधिदैविक भाष्य— (तिस्रः, वाचः, ईरयति, प्र, वह्निः) 'वह्निरादित्यो भवति स तिस्रो वाचः प्रेरयत्यृचो यजूंषि सामानि' यहाँ 'ईरयति' पद 'ईर क्षेपे' धातु से निष्पन्न होता है। वह आदित्य लोक अपने परितः एवं दूर-दूर तक विद्यमान ऋक्, यजु एवं साम छन्द रश्मियों को प्रेरित अर्थात् प्रभावित करता है। इसके साथ ही वह सूर्यलोक इन तीनों प्रकार की छन्द रश्मियों को सुदूर अन्तरिक्ष में फेंकता भी रहता है और सूर्य के अन्दर भी ये रश्मियाँ इधर से उधर गमन करती रहती हैं। यहाँ 'वह्निः' पद का अर्थ आदित्य किया गया है। (ऋतस्य, धीतिम्, ब्रह्मणः, मनीषाम्) 'ऋतस्यादित्यस्य कर्माणि ब्रह्मणो मतानि' तीनों प्रकार की वाणियाँ अर्थात् ऋक्, यजु एवं साम छन्द रश्मियाँ आदित्य लोक एवं इसकी रश्मियों के नाना प्रकार के कर्मों को प्रेरित करती हैं। आदित्य लोक एवं आदित्य रश्मियों के गुण, कर्म, स्वभाव इस बात पर निर्भर करते हैं कि उनके अन्दर किस-२ प्रकार की रश्मियाँ कितनी-२ मात्रा में विद्यमान हैं। [ब्रह्म = विद्युद् ह्येव ब्रह्म (श.ब्रा.१४.८.७.१), अयमग्निर्ब्रह्म (श.ब्रा. ९.२.१.१५)। मनः = यन्मनः स इन्द्रः (गो.उ.४.११)] वे ऋक्, यजु एवं साम रश्मियाँ विद्युत् के अन्दर मनस्तत्त्व की तीक्ष्णता अर्थात् विद्युत् की तीक्ष्णता एवं बलशीलता को प्रेरित करती हैं। ये रश्मियाँ प्रत्येक वस्तु को प्रभावित करती हैं।

(गावः, यन्ति, गोपतिम्) इन तीनों प्रकार की छन्द रश्मियों से प्रेरित होकर विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अपने पालक व रक्षक सूर्यलोक को प्राप्त होती हैं। इसका अर्थ यह है कि सूर्य के अन्दर विभिन्न प्रकार की किरणों को उत्पन्न करने, उनको सम्पूर्ण सूर्यलोक में व्याप्त करने, साथ ही उन्हें विभिन्न लोकों में फैलाने आदि कर्मों में इन छन्द रश्मियों की भूमिका होती है। (पृच्छमानाः, सोमम्, यन्ति) इन तीनों छन्द रश्मियों के कारण सोमतत्त्व को खोजने वाले प्राण सोमतत्त्व को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार सूर्यलोक के अन्दर धनावेशित कण सन्तुलित अवस्था को बनाए रखने के लिए ऋणावेशित कणों को प्राप्त करते हैं, जिससे सम्पूर्ण लोक में सन्तुलन बना रहता है। किसी भी प्रकार का आवेशित कण समान मात्रा परन्तु विपरीत आवेश वाले कण की इच्छा सदैव रखता है और इन दोनों कणों को मिलाने में तीनों प्रकार की छन्द रश्मियों की प्रत्यक्ष वा परोक्ष भूमिका होती है। (मतयः, वावशानाः)

सूर्यलोक के अन्दर अपने अनुकूल वाक् रश्मियों को चाहने वाले पदार्थ उन्हें प्राप्त करते रहते हैं। सारांशतः सूर्य में अथवा सम्पूर्ण सृष्टि में विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित करने के लिए इन तीनों ही छन्द रश्मियों की भूमिका होती है।

यहाँ कहा गया है— 'एष एवैतत्सर्वमक्षरम्'। इस प्रकार यह आदित्य लोक अक्षर रूप बना रहता है अर्थात् आदित्य लोक में ऊर्जा के उत्पादन की प्रक्रिया अविराम चलती रहती है, क्योंकि ऋक्, यजु व साम तीनों प्रकार की रश्मियाँ निरन्तर प्रकट होकर अपनी-२ भूमिका निभाती रहती हैं।

आध्यात्मिक भाष्य— (तिस्रः, वाचः, ईरयति, प्र, वह्निः) 'वह्निरात्मा भवति स तिस्रो वाच ईरयति प्रेरयति विद्यामतिबुद्धिमताम्' शरीर के अन्दर आत्मा तीनों प्रकार की वाणियों को प्रेरित करता है। किनकी वाणियों को प्रेरित करता है, इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि विद्यावान् की वाणी को प्रेरित करता है। इसका अर्थ यह है कि जिस मनुष्य को जीवात्मा, परमात्मा एवं प्रकृति तथा सृष्टि का यथावत् बोध हो गया हो, ऐसे विवेकख्याति प्राप्त पुरुषों का आत्मा सम्पूर्ण वेद वाणी को यथावत् प्राप्त कर लेता है और इनके माध्यम से ब्रह्म भी इन आत्माओं को निरन्तर प्रेरित करता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति योगी होता है, उसे वेद का यथार्थ स्वरूप अवश्य विदित होना चाहिए, यदि ऐसा नहीं है, तब उसे अपनी साधना की स्वयं समीक्षा करनी चाहिए। दूसरे पुरुष हैं— मतिमान् अर्थात् ऐसे पुरुष, जिन्हें विवेकख्याति तो प्राप्त नहीं हुई है, परन्तु वे प्रज्ञासम्पन्न अवश्य होते हैं। जो लौकिक अथवा पारलौकिक वेदोक्त मार्ग पर अग्रसर हो रहे होते हैं, उन्हें भी वेदवाणी निरन्तर प्रेरित करती रहती है अथवा कर सकती है। तीसरे प्रकार के पुरुष हैं— बुद्धिमान्। इस प्रकार के मनुष्य प्रज्ञावानों की अपेक्षा न्यून बुद्धि वाले होते हैं और इनकी बुद्धि उनके समान पवित्र भी नहीं होती है अर्थात् इन्हें साधारण बुद्धि वाला कह सकते हैं। इस प्रकार के मनुष्यों को भी वेदवाणी ही उचित मार्ग के लिए प्रेरित कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य मात्र को सन्मार्ग पर चलाने के लिए वेद की ऋचाएँ ही मूल प्रेरक का काम करती हैं। अन्य सभी प्रेरक जो वेदानुकूल होवें, वे वेद की सहायता से ही सत्प्रेरणा दे सकते हैं। वेदविरुद्ध कोई भी प्रेरणा मनुष्य को पूर्ण सुख कभी नहीं दे सकती। आज संसार में वेदविरुद्ध मत और वेद से अनभिज्ञ नीतिनिर्धारक सम्पूर्ण मानव ही नहीं, बल्कि प्राणिमात्र के लिए दुःख का कारण बने हुए हैं।

(ऋतस्य, धीतिम्, ब्रह्मणः, मनीषाम्) 'ऋतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतानि' यहाँ 'ऋत' आत्मा को कहा गया है और 'ब्रह्म' पद से ब्राह्मण एवं परब्रह्म परमात्मा दोनों का ही ग्रहण होता है। वेदवाणी प्रत्येक आत्मा के कर्मों को प्रेरित करती है। यह बात हम पूर्व में भी लिख चुके हैं कि प्रत्येक मनुष्य वेदवाणी से प्रेरित होकर ही सन्मार्ग पर चल सकता है, तब यहाँ इसी विचार की पुनरावृत्ति क्यों हुई है, यह प्रश्न स्वाभाविक है। हमारी दृष्टि में यहाँ आत्मा का तात्पर्य शरीर ग्रहण करना चाहिए और वह शरीर किसी भी प्राणी का हो सकता है। शरीर के अन्दर जो भी क्रियाएँ होती हैं, उन सभी क्रियाओं को करने में भी तीनों प्रकार की छन्द रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है। यों तो सृष्टि की प्रत्येक क्रिया में इनकी भूमिका होती है, परन्तु यहाँ केवल शरीर की ही चर्चा है। वेदवाणी वेद के पारंगत ब्राह्मण के विचारों और सिद्धान्तों को भी प्रभावित व प्रेरित करती है। कोई भी सच्चा ब्राह्मण वेद की वाणी को सम्पूर्ण रूप में समझने और तदनुकूल आचरण करने से ही बनता है। वेदवाणी परब्रह्म परमात्मा के मत अर्थात् सृष्टि के सिद्धान्त समझने की भी प्रेरणा करती है। वेद के बिना सृष्टि को यथार्थ रूप में नहीं समझा जा सकता।

(गावः, यन्ति, गोपतिम्, पृच्छमानाः) मृत्यु के समय जब इन्द्रियाँ जीवात्मा को चाहती हुई उसको प्राप्त करती हैं अर्थात् उसके निकट आकर एकत्र होती हैं, उस समय भी शरीर के अन्दर वैदिक छन्द रश्मियों की भूमिका होती है। इस विषय में पूर्व खण्ड ७ और ८ अवश्य पठनीय हैं। (सोमम्, यन्ति, मतयः, वावशानाः) वेदवाणी को चाहने वाली इन्द्रियाँ अर्थात् वेदानुकूल चलने वाली इन्द्रियों के कारण जीवात्मा सोमस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

तदुपरान्त कहा— 'अयमेवैतत्सर्वमनुभवति इति आत्मगतिमाचष्टे' अर्थात् ऐसा करता हुआ वह इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का अनुभव भी करता है। इस प्रकार यहाँ आत्मा की गति को कहा गया है।

* * * * *

⁼ पञ्चदश: खण्ड: ⁼

सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः।
सोमः सुतः पूयते अज्यमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः सं नवन्ते॥

[ऋ.९.९७.३५]

एत एव सोमं गावो धेनवो रश्मयो वावश्यमानाः कामयमाना आदित्यं यन्ति।
एवमेव सोमं विप्रा रश्मयो मतिभिः पृच्छमानाः कामयमाना आदित्यं यन्ति।
एवमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमानः। एतमेवार्काश्च त्रिष्टुभश्च सन्नवन्ते।
तत एतस्मिन्नादित्य एकं भवन्ति। इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्— एत एव सोमं गावो धेनव इन्द्रियाणि वावश्यमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्ति। एवमेव सोमं विप्रा इन्द्रियाणि मतिभिः पृच्छमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्ति।
एवमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमानः। इममेवात्मा च सप्त ऋषयश्च सन्नवन्ते।
तान्येतस्मिन्नात्मन्येकं भवन्ति। इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ १५॥

सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः।
सोमः सुतः पूयते अज्यमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः सं नवन्ते॥ (ऋ.९.९७.३५)

इस मन्त्र के ऋषि, देवता व छन्द पूर्ववत् समझें।

आधिदैविक भाष्य— (सोम्, गावः, धेनवः, वावशानाः) 'एत एव सोमं गावो धेनवो रश्मयो वावश्यमानाः कामयमाना आदित्यं यन्ति' [धेनुः = आपो वै धेनवः, आपो हीदं सर्वं हिन्वन्ति (कौ.ब्रा.१२.१)] पूर्व खण्डोक्त वाक् रश्मियाँ एवं आपः अर्थात् नाना प्रकार की प्राण रश्मियाँ अथवा सूक्ष्म तन्मात्राएँ सोम रश्मियों को चाहती हुई आदित्य लोक को प्राप्त करती हैं। यहाँ यह प्रकट होता है कि विभिन्न प्रकार की छन्द एवं प्राण रश्मियाँ अथवा सूक्ष्म कण, जो सूर्य के बाहर अन्तरिक्ष में विद्यमान होते हैं, ये सोम रश्मियों के साथ संयोग करके सूर्यलोक की ओर गमन कर जाते हैं। इसी प्रकार सूर्यलोक में विभिन्न तन्मात्राएँ सोम रश्मियों

के साथ संयोग करके केन्द्रीय भाग की ओर गमन करने लगते हैं। सूर्य के अन्दर धनावेशित और संलयनीय कण ऋणावेशित कणों के साथ गमन करते हुए सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर गमन करने लगते हैं।

(सोमम्, विप्राः, मतिभिः, पृच्छमानाः) 'एवमेव सोमं विप्रा रश्मयो मतिभिः पृच्छमानाः कामयमाना आदित्यं यन्ति' विभिन्न प्रकार की विप्र अर्थात् ऋषि रश्मियाँ स्वयं से उत्पन्न विभिन्न वाक् रश्मियों के साथ सोमतत्त्व को खोजती हुई उसे प्राप्त करके आदित्य के केन्द्रीय भाग की ओर गमन करती हैं।

(सोमः, सुतः, पूयते, अज्यमानः) 'एवमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमानः' इसी प्रकार उन रश्मियों से प्रेरित सोम पदार्थ केन्द्र की ओर प्रक्षिप्त किया जाता हुआ उन छन्द रश्मियों के द्वारा पवित्र करके गतिशील बनाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि वे छन्द रश्मियाँ धनावेशित कणों को पृथक् करके केन्द्रीय भाग की ओर भेजती रहती हैं। (सोमे, अर्काः, त्रिष्टुभः, सम्, नवन्ते) 'एतमेवार्काश्च त्रिष्टुभश्च सन्नवन्ते' अर्क अर्थात् विभिन्न संयोज्य वा संलयनीय कण त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों पर सवार होकर इस सोम पदार्थ को ही अर्थात् ऋणावेशित कणों की धाराओं की ओर ही अच्छी प्रकार आकर्षित होते हुए गमन करते हैं।

तदुपरान्त कहा है— 'तत एतस्मिन्नादित्य एकं भवन्ति'। उसके कारण अथवा तदुपरान्त इस आदित्य लोक के केन्द्र में दोनों ही प्रकार के पदार्थ एक लय से गति करने लगते हैं।

भावार्थ— सूर्य के बाहर अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न प्राण रश्मियाँ एवं कुछ धनावेशित कण (आग्नेय कण) विभिन्न लघु वा बृहत् छन्द रश्मियों एवं ऋणावेशित कणों के साथ गमन करते हुए सूर्यलोक में प्रविष्ट होते रहते हैं। उधर सूर्यलोक के अन्दर विभिन्न धनावेशित कणों की धाराएँ ऋणावेशित कणों की धाराओं के साथ गमन करती हुई केन्द्रीय भाग को प्राप्त होती हैं। कुछ रश्मियाँ इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों को पृथक्-२ रखने में सहायक होती हैं, पुनरपि दोनों प्रकार के पदार्थ केन्द्रीय भाग में एक लय में गति करते हुए केन्द्रीय भाग में विद्यमान रहते हैं।

आध्यात्मिक भाष्य— (सोमम्, गावः, धेनवः, वावशानाः) 'एत एव सोमं गावो धेनव इन्द्रियाणि वावश्यमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्ति' ज्ञानपूर्वक गमन करती हुई ये इन्द्रियाँ

सोम अर्थात् आत्मा को चाहती हुई उसे प्राप्त कर लेती हैं। इसका अर्थ यह है कि श्रेय मार्ग पर गमन करती हुई इन्द्रियाँ ही आत्मा को प्राप्त करती हैं अर्थात् आत्मा के अनुकूल विचरती हैं। (सोमम्, विप्राः, मतिभिः, पृच्छमानाः) 'एवमेव सोमं विप्रा इन्द्रियाणि मतिभिः पृच्छ-मानानि कामयमानान्यात्मानं यन्ति' इसी प्रकार प्रज्ञावान् पुरुष की इन्द्रियाँ उस प्रज्ञा के साथ शान्तिविधायक परमात्मा को चाहती हुई उसे प्राप्त कर लेती हैं। इसका अर्थ यह है कि वे इन्द्रियाँ आत्मा के द्वारा नियन्त्रित होकर परमात्मा के ज्ञान के प्रकाश में विचरती हुई आत्मा को परमात्मा की ओर ले जाती हैं।

(सोमः, सुतः, पूयते, अज्यमानः) 'एवमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमानः' इसी प्रकार वह जितेन्द्रिय आत्मा परमात्मा की ओर गमन करता हुआ शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। स्वभाव से आत्मा पवित्र होता है, परन्तु वह इन्द्रियों की चंचलता के कारण प्रेय मार्ग पर जाता हुआ अशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। परन्तु जब आत्मा इन्द्रियों को जीत लेता है, तब वह शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करके परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। (सोम, अर्काः, त्रिष्टुभः, सम्, नवन्ते) 'इममेवात्मा च सप्त ऋषयश्च सन्नवन्ते' [त्रिष्टुप् = त्रयाणां शारीरवा-चिकमानसानां सुखानां स्तम्भनम् (तु.म.द.य.भा.२४.१२)] शारीरिक, वाचिक और मानसिक सुख पाने की इच्छाओं को निरुद्ध करते हुए सात ऋषि अर्थात् [सप्तऋषयः = षडिन्द्रियणि विद्या सप्तमी (निरु.१२.३७)] पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि सहित आत्मा की ओर सम्यक् रूप से आकृष्ट होती हैं अर्थात् आत्मनियन्त्रित होकर पावन मार्ग पर गमन करती हैं।

अन्त में कहा—

'तान्येतस्मिन्नात्मन्येकं भवन्ति'।

फिर वे सभी आत्मा में स्थित हो जाती हैं अर्थात् चित्त की सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं अर्थात् आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस प्रकार आत्मा की योगमार्ग पर गति का वर्णन किया गया है।

* * * * *

= षोडश: खण्ड: =

अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा। वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः॥ [ऋ.९.९७.४०]
अत्यक्रमीत्समुद्र आदित्यः परमे व्यवने वर्षकर्मणा जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा। वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः। इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्— अत्यक्रमीत्समुद्र आत्मा परमे व्यवने ज्ञानकर्मणा जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा। वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः। इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ १६ ॥

अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः॥ [ऋ.९.९७.४०]

इसके ऋषि व देवता पूर्ववत् हैं तथा छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसका दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् होता है।

आधिदैविक भाष्य— (अक्रान्, समुद्रः, प्रथमे, विधर्मन्, जनयन्, प्रजा, भुवनस्य, राजा) 'अत्यक्रमीत्समुद्र आदित्यः परमे व्यवने वर्षकर्मणा जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा' सब लोकों का प्रकाशक और नियन्त्रक सूर्यलोक उन सबका राजा है। वह सब लोकों के ऊपर विराजमान होकर विशाल एवं विविध धर्मों वाले अन्तरिक्ष में नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करता रहता है। यहाँ अन्तरिक्ष को विविध धर्मों वाला इस कारण कहा है, क्योंकि सूर्य एवं पृथिवी लोक के मध्य स्थित अन्तरिक्ष नाना प्रकार के पदार्थों के कारण विभिन्न क्षेत्रों में विभक्त होता है। इस अन्तरिक्ष में सर्वत्र समान प्रकार का पदार्थ नहीं होता। इस पदार्थ से क्रिया करके सूर्य की किरणें नाना पदार्थों को उत्पन्न करती रहती हैं। यहाँ विधर्मा अन्तरिक्ष को व्यवन कहा है। इससे यह संकेत मिलता है कि अन्तरिक्ष लोक सूर्य एवं पृथिव्यादि लोकों को आच्छादित करके उनकी रक्षा करने में भी सहायक होता है। अन्तरिक्ष में विद्यमान पदार्थ इन लोकों को धारण करने में सहायक होता है। इसलिए अन्तरिक्ष को 'व्यवन' कहा है।

(वृषा, पवित्रे, अधि, सानो, अव्ये, बृहत्, सोमः, वावृधे, सुवानः, इन्दुः) 'वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः' [सानु = समुच्छ्रितं भवति समुन्नुन्नमिति वा (निरु. २.२४)। इन्दुः = इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा (निरु.१०.४१), यज्ञनाम (निघं.३.१७)। पवित्रम् = अन्तरिक्षं वै पवित्रम् (काठ.सं.२६.१०)] सूर्यलोक के ऊपर स्थित आकाश में उत्पन्न होती हुई विशाल ज्वालाओं के शिखरों पर प्रेरक व अत्यन्त व्यापक सोमतत्त्व निरन्तर अपनी वृष्टि करता रहता है। ये ज्वालाएँ ही यहाँ अव्य कही गयी हैं, क्योंकि ये निरन्तर गति करती हुई सम्पूर्ण सूर्यलोक को कान्तियुक्त बनाती हैं। निरन्तर सोम की वृष्टि होने के कारण ये रक्षित भी होती रहती हैं। यहाँ सोम को इन्दु इस कारण कहा है, क्योंकि यह निरन्तर सूर्य को सींचता और तेजस्विता प्रदान करता है। यहाँ सोम का अर्थ मरुद् रश्मियों के अतिरिक्त ऋणावेशित पदार्थ भी है, जिसकी सूर्य पर निरन्तर वृष्टि होती रहती है।

आध्यात्मिक भाष्य— (अक्रान्, समुद्रः, प्रथमे, विधर्मन्, जनयन्, प्रजा, भुवनस्य, राजा) 'अत्यक्रमीत्समुद्र आत्मा परमे व्यवने ज्ञानकर्मणा जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा' यहाँ समुद्र आत्मा को कहा गया है, क्योंकि आत्मा कर्मानुसार विभिन्न योनियों में आता-जाता रहता है और सभी इन्द्रियाँ उसी की चेतना की सीमा के अन्तर्गत गतिशील अर्थात् क्रियाशील रहती हैं। वह आत्मा उत्कृष्ट हृदयाकाश में विराजमान रहता हुआ सब इन्द्रियों वा शरीर का राजा होकर ज्ञानपूर्वक विविध कर्म करता हुआ प्रजाओं को उत्पन्न करता है। इसका अर्थ यह है कि वह कर्मानुसार विभिन्न शरीरों को प्राप्त करता रहता है।

(वृषा, पवित्रे, अधि, सानो, अव्ये, बृहत्, सोमः, वावृधे, सुवानः, इन्दुः) 'वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः' सबका प्रेरक और ज्ञानप्रकाशक इन्दु संज्ञक परमात्मा आत्मा के द्वारा किये जा रहे पवित्र कर्मों में आनन्द की वृष्टि करता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब जीवात्मा परमात्मा को साक्षी मानकर पवित्र कर्म करता है, तब परमात्मा की कृपा से वह निरन्तर विद्या का प्रकाश एवं तज्जन्य आनन्द को प्राप्त करता है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद १.१०.२ के भाष्य में 'सानोः' पद का अर्थ करते हुए लिखा है— 'पर्वतस्य शिखरात् संविभागात् कर्मणः सिद्धेर्वा'। इसी आधार पर हमने सानु का अर्थ कर्म किया है। इस प्रकार यहाँ भी आत्मा की गति का वर्णन है।

* * * * *

= सप्तदशः खण्डः =

महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद् गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः॥ [ऋ.९.९७.४१]
महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद् गर्भोऽवृणीत। देवानामाधिपत्यम्।
अदधादिन्द्रे पवमानः ओजः। अजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुरादित्यः।
इन्दुरात्मा॥ १७॥

महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद् गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः॥ [ऋ.९.९७.४१]

इसके ऋषि व देवता पूर्ववत् एवं छन्द आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् होने से इसका दैवत और छान्दस प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक प्रकाश को उत्पन्न करता है।

आधिदैविक भाष्य— (महत्, तत्, सोमः, महिषः, चकार, अपाम्, यत्, गर्भः, अवृणीत, देवान्) 'महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद् गर्भोऽवृणीत देवानामाधिपत्यम्' अन्तरिक्ष में विद्यमान व्यापक सोमतत्त्व अनेक महान् कर्मों को जन्म देता है। इन कर्मों का वर्णन करते हुए यहाँ कहा गया है कि यह सोम पदार्थ प्राणतत्त्व एवं विभिन्न सूक्ष्म तन्मात्राओं के गर्भ को आच्छादित कर लेता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यादि लोकों अथवा कॉस्मिक मेघों के निर्माण की प्रक्रिया में मध्यभाग में प्राणतत्त्व की प्रधानता होती है और बाहरी भाग में सोमतत्त्व की। मध्यभाग में तीव्र ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं। यह सोमतत्त्व देव पदार्थों अर्थात् प्राण रश्मियों के आधिपत्य को भी धारण करता है अर्थात् प्राण रश्मियाँ मरुद् रश्मियों को अथवा धनावेशित पदार्थ ऋणावेशित पदार्थ को नियन्त्रित कर लेता है।

(अदधात्, इन्द्रे, पवमानः, ओजः, अनयत्, सूर्ये, ज्योतिः, इन्दुः) 'अदधादिन्द्रे पवमानः ओजः अजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुरादित्यः' यह सोमतत्त्व इन्द्र अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों में [पवमानः = अयं वायुः पवमानः (श.ब्रा.२.५.१.५), यज्ञमुखं वै पवमानः (मै.सं.३.८.१०)] संयोजक बलों से विशेष युक्त बलवान् वायु रश्मियों को उत्पन्न करता है, जिससे विद्युत् तरंगों में विशेष बल उत्पन्न होता है। सोम रश्मियों के कारण आदित्य लोक सूर्य अर्थात् अपने केन्द्रीय भाग में विशेष ज्योति को उत्पन्न करता है अर्थात् सूर्य के केन्द्रीय भाग में अत्यन्त तीक्ष्ण

ऊष्मा और विद्युत् चुम्बकीय बलों की उत्पत्ति होने लगती है। यहाँ संकेत मिलता है कि सूर्य में भले ही विद्युत् धनावेशित कणों का संलयन होता हो, परन्तु उसमें इलेक्ट्रॉन्स की भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य भूमिका होती है।

भावार्थ— खगोलीय मेघों के केन्द्रीय भागों में आग्नेय कणों (धनावेशित कणों) एवं बाहरी भागों में वाक् रश्मियों (सोम्य कणों = ऋणावेशित कणों) की प्रधानता होती है। सूर्य के केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन यद्यपि आग्नेय अर्थात् धनावेशित कणों का होता है, परन्तु इसमें सोम्य कणों (ऋणावेशित कणों) की भी परोक्ष भूमिका अनिवार्य होती है।

यहाँ 'इन्दु' का अर्थ आत्मा भी किया है। इस कारण हम इसका आध्यात्मिक भाष्य भी कर रहे हैं।

आध्यात्मिक भाष्य— (महत्, तत्, सोमः, महिषः, चकार, अपाम्, यत्, गर्भः, अवृणीत, देवान्) [गर्भः = इन्द्रियं वै गर्भः (तै.ब्रा.१.८.३.३)। सोमः = सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः (श.ब्रा. ५.१.२.१०), सोमो वै ब्राह्मणः (तां.ब्रा.२३.१६.५)] योग के पाँच यमों में से सत्य एक महान् यम माना जाता है। यह सत्य जीवन में महान् कर्मों को सम्पादित करता है। सत्यसिद्ध योगी अपनी सभी इन्द्रियों को आच्छादित अर्थात् नियन्त्रित करके अनेक दिव्य गुणों को धारण कराता है। इसी कारण कहा गया है— 'न हि सत्यात् परो धर्मः'। इसके अतिरिक्त भगवान् श्रीराम ने कहा है— 'सत्यमेवेश्वरो लोके' (वाल्मीकीय रामायण)। (अदधात्, इन्द्रे, पवमानः, ओजः, अनयत्, सूर्ये, ज्योतिः, इन्दुः) [इन्द्रः = मन एवेन्द्रः (श.ब्रा.१२.९.१.१३), यन्मनः स इन्द्रः (गो.उ.४.११)। सूर्यः = यः सुवति ऐश्वर्यं ददाति ऐश्वर्यहेतून् प्रेरयति सः प्राणः (म.द.य.भा.१.३)] सत्य का पालक जीवात्मा मन में महान् तेजस्वी बल को उत्पन्न करता है और उसका प्राण भी विशेष तेज और बल से युक्त होकर जीवन को पवित्र और ओजस्वी बना देता है अर्थात् सत्य किसी भी जीवात्मा के लिए सबसे बड़ा तप है और सबसे बड़ा बल है।

* * * * *

= अष्टादशः खण्डः =

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार। देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान॥ [ऋ.१०.५५.५]
विधुं विधमनशीलम्। दद्राणं दमनशीलम्।
युवानं चन्द्रमसं पलित आदित्यो गिरति।
सद्यो म्रियते स दिवा समुदिता। इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्- विधुं विधमनशीलम्। दद्राणं दमनशीलम्।
युवानं महान्तं पलित आत्मा गिरति। रात्रौ म्रियते। रात्रिः समुदिता।
इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ १८॥

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान॥ [ऋ.१०.५५.५]

इसका ऋषि बृहदुक्थ वामदेव्य है। [उक्थम् = अन्नमुक्थानि (कौ.ब्रा.११.८), वागुक्थम् (ष.ब्रा.१.५)। वामदेव्यम् = प्राणो वै वामदेव्यम् (श.ब्रा.९.१.२.३८), अन्तरिक्षं॰ वामदेव्यम्' (मै.सं.३.३.५)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अन्तरिक्षस्थ प्राण रश्मियों से उत्पन्न संयोज्य स्वभाव वाली कुछ विशेष रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र एवं छन्द पाद निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न वा समृद्ध करता है।

आधिदैविक भाष्य— (विधुम्, दद्राणम्, समने, बहूनाम्, युवानम्, सन्तम्, पलितः, जगार) 'विधुं विधमनशीलम् दद्राणं दमनशीलम् युवानं चन्द्रमसं पलित आदित्यो गिरति' [चन्द्रमाः = अथैष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः (श.ब्रा.१.६.४.१३), चन्द्रमा एव (संवत्सरस्य) द्वारपिधानः (श.ब्रा.११.१.१.१)। समनम् = संग्रामनाम (निघं.२.१७)। पलितः = पालयिता (तु.निरु. ४.२६)] कँपाने वाले और दमनशील संग्राम में इन्द्र अर्थात् सूर्यलोक अनेक युवा होते हुए अर्थात् तोड़-फोड़ करते हुए सूर्यलोक को आच्छादित करने वाले आसुर मेघों को निगल जाता है। वह सूर्य सब लोकों का पालक, परन्तु आच्छादक आसुर मेघों का अवशोषक वा विनाशक है। जब विशाल कॉस्मिक मेघ का विखण्डन होता है, उस समय ग्रह आदि लोक

उससे बाहर प्रक्षिप्त कर दिये जाते हैं। उस समय आसुर मेघ और सूर्य के मध्य महान् संग्राम होता है और पृथिवी आदि लोकों को सूर्य (मध्यभाग) से दूर फेंक दिया जाता है। उस समय आसुर मेघ का बहुत बड़ा भाग सूर्य के बाहरी भाग में समा जाता है और वह सूर्य को धारण करने में उपयोगी होता है। यहाँ उस आसुर मेघ को युवा इसलिए कहा गया है, क्योंकि वह मेघ इन लोकों को पृथक्-पृथक् भी करता है और साथ ही उनको आकार प्रदान करने व धारण करने में भी उपयोगी होता है।

(देवस्य, पश्य, काव्यम्, महित्वा, अद्य, ममार, सः, ह्यः, समान) 'सद्यो म्रियते स दिवा समुदिता' [काव्यम् = त्रयी वै विद्या काव्यं छन्दः (श.ब्रा.८.५.२.४)] इस छन्द रश्मि की उत्पादिका ऋषि रश्मियों की प्रेरणा व प्रभाव से आदित्य लोक ऋक्, यजु एवं साम तीनों प्रकार की छन्द रश्मियों से विशेष प्रभावित होने लगता है अर्थात् वे रश्मियाँ विशेष मात्रा में प्रकट होने लगती हैं। ऐसा देव अर्थात् 'ओम्' रश्मियों के अथवा विभिन्न प्राण रश्मियों के व्यापक प्रभाव के कारण होता है। [दिवा = दिव्यन्तरिक्षे (म.द.ऋ.भा. १.१६३.६), व्युष्टिर्वै दिवा (तां.ब्रा.८.१.१३)। व्युष्टिः = विशिष्टप्रतापः (तु.म.द.ऋ.भा.४.१४.४)] यह ऋक्, यजु एवं साम रश्मियों का ही खेल है। आदित्यलोक आसुर मेघ की प्रबलता में तत्काल मृतवत् हो जाता है और जब अन्तरिक्ष में प्रकाश एवं ऊष्मा की मात्रा विशेष रूप से बढ़ जाती है, तब वह तत्काल उदित व प्रकट भी हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि आसुर मेघ जब सूर्य को अथवा कॉस्मिक मेघ को प्रबल रूप से आच्छादित कर लेता है, तब वह आदित्य लोक अदृश्य हो जाता है और तीव्र प्रकाश व ऊष्मा के प्रकट होने पर आसुर मेघ दूर हट जाता है वा छिन्न-भिन्न हो जाता है।

आध्यात्मिक भाष्य— (विधुम्, दद्राणम्, समने, बहूनाम्, युवानम्, सन्तम्, पलितः, जगार) 'विधुं विधमनशीलम् दद्राणं दमनशीलम् युवानं महान्तं पलित आत्मा गिरति' दुर्बल आत्मा को कँपाने अर्थात् विचलित करने वाले एवं नाना विकारों से आत्मा को दबाने वाले विचारों के साथ संघर्ष करता हुआ आत्मा ऐसे विचारों को उत्पन्न करने वाले चञ्चल युवा मन को निगल जाता है। इसका अर्थ यह है कि जब आत्मा साधना के द्वारा बलवान् हो जाता है, तब उसे चञ्चल मन विचलित नहीं कर पाता। यहाँ मन को युवा इस कारण कहा है, क्योंकि यह सतत संकल्प-विकल्प के द्वारा परमात्मा के प्रति याजक वा विभाजक विचारों को उत्पन्न करता रहता है। यहाँ आत्मा को पलित इस कारण कहा है, क्योंकि यह सभी इन्द्रियादि का

पालक है। मन की चञ्चलता अत्यधिक बलवती होने के कारण ही इसे कँपाने वा दबाने वाला कहा गया है।

(देवस्य, पश्य, काव्यम्, महित्वा, अद्य, ममार, सः, ह्यः, समान) 'रात्रौ म्रियते रात्रिः समुदिता' हे मनुष्यो! उस महादेव परमात्मा के महान् काव्य वेद को देखो, समझो एवं तदनुकूल आचरण करो। उसे महती ऋतम्भरा प्रज्ञा से देखो, यहाँ 'महित्वा' पद का प्रयोग इस अर्थ में ही विशेष है, क्योंकि सामान्य बुद्धि बल से वेद के मर्म को नहीं समझा जा सकता। वह महान् ब्रह्म प्रलयरात्रि में मर जाता है अर्थात् सृष्टि को मूल कारण प्रकृति में विलीन करके मानो स्वयं शान्त हो जाता है। प्रलयरात्रि के व्यतीत होने पर पुनः सम्यक् रूपेण प्रकट हो जाता है अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि को प्रकट कर देता हैं। यहाँ 'व्यतीत होने पर' इस वाक्यांश का अध्याहार किया है। यहाँ वेद को ब्रह्म का काव्य कहने के दो कारण हैं—

१. सम्पूर्ण वेद छन्दोबद्ध है।

२. सृष्टि में व्याप्त वेद की ऋचाओं को तथा उनमें छिपे हुए गम्भीर विज्ञान को सामान्य बुद्धि वा केवल मेधा के बल पर देखा व समझा नहीं जा सकता।

* * * * *

एकोनविंशः खण्डः

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥

[ऋ.१.१६४.१५]

सहजातानां षण्णामृषीणामादित्यः सप्तमः।
तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वाद्भिः सह सम्मोदन्ते।
यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि तेभ्यः पर आदित्यः।
तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति। इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्— सहजातानां षण्णामिन्द्रियाणामात्मा सप्तमः। तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वान्नेन सह सम्मोदन्ते। यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा। तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति। इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ १९॥

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥ (ऋ.१.१६४.१५)

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। इसका देवता विश्वेदेवा और छन्द जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से गौर वर्ण का तेज उत्पन्न होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य— (साकञ्जानाम्, सप्तथम्, आहुः, एकजम्, षट्, इत्, यमाः, ऋषयः, देवजाः, इति) 'सहजातानां षण्णामृषीणामादित्यः सप्तमः' साथ-२ उत्पन्न हुए छह ऋषियों के पश्चात् आदित्य सातवाँ पदार्थ है। यहाँ इन पदार्थों के विषय में ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में कुछ भी नहीं कहा है, जबकि ऋषि भाष्य के हिन्दी अनुवादकों ने सातवाँ पदार्थ महत्तत्त्व को बतलाया है। हमारी दृष्टि में महत्तत्त्व सातवाँ पदार्थ कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रकृति के पश्चात् काल और तदुपरान्त महत्तत्त्व ही उत्पन्न होता है। पण्डित भगवद्दत्त जी ने अपने भाष्य में आचार्य सायण को उद्धृत करते हुए छह ऋतुओं को छह पदार्थ और सातवाँ पदार्थ आदित्य को बतलाया है। हमारी दृष्टि में यह उचित नहीं है, क्योंकि ऋतु रश्मियों एवं आदित्य लोक अथवा आदित्य रश्मियों के मध्य कई चरण और भी होते हैं। सम्भवतः 'सहजातानाम्' पद को देखकर उन्हें ऐसा भ्रम हुआ है कि सभी ऋतु रश्मियाँ साथ-साथ उत्पन्न होती हैं, इस कारण उन्हीं का ग्रहण कर लिया जाये। वस्तुतः यह उचित नहीं है। सभी ऋतुओं के उत्पन्न होने का एक क्रम होता है और उस क्रम में आदित्य आता ही नहीं है। इस कारण यहाँ 'सह' पद का अर्थ नितान्त साथ-२ मानना तर्कसंगत नहीं है, बल्कि कुछ ऐसे चरणों जो तीव्र गति से उत्पन्न होते हैं, उनको सहजात मानना उचित प्रतीत होता है।

इस दृष्टि से प्रथम पदार्थ महत्तत्त्व, तदुपरान्त अहंकार, मनस्तत्त्व, प्राण रश्मियाँ, आकाश तत्त्व एवं छन्द रश्मियाँ (वायु) ये छह तत्त्व उत्पन्न होकर सातवाँ पदार्थ अग्नि

महाभूत ही होता है, उसे ही यहाँ आदित्य कहा है। इनकी उत्पत्ति की प्रक्रिया अति तीव्र होती है। इसी कारण इनको साथ-२ उत्पन्न होने वाला कहा गया है। इसके पश्चात् जो क्रियाएँ होती हैं, उनकी गति अपेक्षाकृत मन्द होती है। यहाँ तक की उत्पत्ति प्रक्रिया को मनुष्य नेत्रों एवं भौतिक तकनीक के द्वारा नहीं देख सकता। इस कारण भी ये सभी पदार्थ उसके लिए साथ-२ उत्पन्न हुए जैसे होते हैं। इन सभी पदार्थों को यहाँ ऋषि कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ये सभी पदार्थ सृष्टि में उत्पन्न व्यापक वा गतिशील होते हैं। इनको देवज भी कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ये सभी देव से अत्यन्त प्रेरित होते हैं। यहाँ देव का तात्पर्य कालतत्त्व है। इसके लिए अथर्ववेद १९.५३.२ में कहा गया है— 'स ईयते प्रथमो नु देवः'।

इन छह पदार्थों को यम भी कहा गया है, क्योंकि ये छह पदार्थ ही सारी सृष्टि को नियन्त्रित करते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि इन्हीं की रश्मियों का खेल है। यहाँ 'इत्' शब्द इस बात का सूचक है कि ये छह पदार्थ ही यम अर्थात् नियामक हैं, अन्य सभी नियम में हैं। यहाँ सर्वोच्च नियामक परमात्मा एवं कालतत्त्व की चर्चा नहीं की गयी है, क्योंकि वे सृष्टि के उपादान कारण नहीं हैं।

(तेषाम्, इष्टानि, विहितानि) 'तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वाद्भिः सह सम्मोदन्ते यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि तेभ्यः पर आदित्यः तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति' उन पदार्थों के सभी यजन कर्म, आकर्षण कर्म, बाधक पदार्थों का अतिक्रमण करना, गमनागमन एवं व्यापन कर्म, विज्ञानयुक्त प्रकाशन कर्म एवं आकर्षक पदार्थों की ओर नमन कर्म, ये सभी क्रियाएँ विभिन्न संयोज्य पदार्थों के साथ सम्यक् रूप से एवं प्रचुर मात्रा में होती रहती हैं। इन सभी कर्मों में इनकी ही भूमिका होती है। ध्यातव्य है कि इन पदार्थों का तात्पर्य आदित्य को छोड़कर अन्य छह पदार्थ ही हैं। ये सभी सात पदार्थ ज्योतिरूप हैं अर्थात् उन सबमें अपना-अपना और अपने-२ स्तर पर प्रकाश होता है। इनसे परे आदित्य लोक होता है, जिसमें महत् से लेकर अग्नि के परमाणुओं तक सभी पदार्थ एकीभूत हो जाते हैं। ध्यातव्य है कि सातवाँ आदित्य संज्ञक पदार्थ अग्नि का परमाणु है और यहाँ जिस आदित्य पद का प्रयोग है, वह सूर्यादि तारे के लिए है।

(धामशः, स्थात्रे, रेजन्ते, विकृतानि, रूपशः) मन, प्राण आदि पदार्थ नाना विकारों को प्राप्त करके नाना रूपों के साथ अविचल प्रकृति पदार्थ में स्थान-स्थान पर कम्पन अर्थात् गति

करते हैं, परन्तु प्रकृति सदैव अविचल ही रहती है। परमात्मा प्रकृति के भी सापेक्ष अर्थात् निरूपेक्ष रूप से अविचल ही होता है।

ध्यातव्य— यहाँ छह पदार्थों से गायत्री से लेकर त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों तक का ग्रहण करके भी व्याख्या की जा सकती है और सातवें पदार्थ आदित्य का अर्थ जगती छन्द रश्मियाँ भी हो सकता है, क्योंकि जगती के विषय में ऋषियों का कथन है— जागतो वा एष य एष (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.२५.४), जगती सर्वाणि छन्दांसि (श.ब्रा.६.२.१.३०), जगत्यादित्यानां पत्नी (गो.उ.२.९), आदित्या जगतीं समभरन् (जै.उ.१.१८.६)।

आध्यात्मिक भाष्य— (साकञ्जानाम्, सप्तथम्, आहुः, एकजम्, षट्, इत्, यमाः, ऋषयः, देवजाः, इति) 'सहजातानां षण्णामिन्द्रियाणामात्मा सप्तमः' साथ-साथ उत्पन्न छह इन्द्रियों के अतिरिक्त शरीर के अन्दर सातवाँ पदार्थ आत्मा होता है। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन सम्मिलित है। मन तथा इन्द्रियाँ ये छह पदार्थ यम और ऋषि दोनों ही स्वरूपों में माने जाते हैं। इनको यम इस कारण कहा जाता है, क्योंकि मन और इन्द्रियाँ ही मुक्ति के पथ पर जाने का प्रयत्न करने वाले आत्मा के मार्ग में अवरोध खड़ा करते हैं। उसे मार्ग से विचलित करने का प्रयास करते हैं। इन्हें ऋषि इस कारण कहा जाता है, क्योंकि ये निरन्तर क्रियाशील व चंचल रहते हैं। इनको देवज भी कहा गया है, क्योंकि ये काल तत्त्व रूपी देव से उत्पन्न होते हैं। यहाँ 'इत्' का प्रयोग यह बतलाता है कि दस इन्द्रियों में से केवल ज्ञानेन्द्रियाँ और ग्यारहवीं इन्द्रिय मन ही आत्मा के बाधक बनने का प्रयत्न करते हैं, अन्य इन्द्रियाँ इनकी प्रेरणा से ही बाधक बन सकती हैं।

(तेषाम्, इष्टानि, विहितानि) 'तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वान्नेन सह सम्मोदन्ते यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति' [अन्नम् = अन्नं व्रतम् (तां.ब्रा.२३.२७.२), अन्नं हि व्रतम् (श.ब्रा.६.६.४.५), अन्नं ब्रह्म (तै.आ.९.२; तै.उ.३.२)] उन छह इन्द्रियों के द्वारा होने वाले नाना प्रकार के यजन कर्म, परमात्मा के प्रति उनके आकर्षण, सभी दुरितों को लाँघने की क्षमता, निरन्तर गतिशीलता, ज्ञान का प्रकाश करने का सामर्थ्य तथा ब्रह्म के प्रति उनका नम्रीभाव आदि के कारण वे निवृत्ति मार्ग पर चलते हुए ब्रह्म के आनन्द में विचरण करते हैं अर्थात् वे आत्मा को ईश्वर की ओर ले जाने वाले होते हैं। जहाँ ये सात अर्थात् छह इन्द्रियाँ एवं सातवाँ आत्मा है, उनसे परे एक और आत्मा है, जिसे ब्रह्म कहते हैं। मुक्ति में जाकर ये सभी उस परमात्मा में ही

निवास करते हैं। ध्यान रहे कि मुक्ति में आत्मा के साथ मन और इन्द्रियाँ नहीं जाते, क्योंकि वे प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। मुक्ति का सुख भोगने के लिए आत्मा का कारण शरीर आत्मा के साथ ही सदा रहता है, जिसकी चर्चा हम पूर्व में भी कर चुके हैं।

(धामशः, स्थात्रे, रेजन्ते, विकृतानि, रूपशः) मुक्ति से भिन्न मार्ग पर चलने वाले जीवात्मा के विभिन्न इन्द्रियादि पदार्थ नाना विकारों को प्राप्त करते हुए नाना रूपों अर्थात् शरीरों को धारण करते हुए स्थिर कारण प्रकृति में नाना स्थानों पर जन्म लेते रहते हैं। यहाँ 'रेजन्ते' पद का अर्थ नाना योनियों में भटकना ही है। यह आत्मा की गति का वर्णन हुआ।

* * * * *

विंशः खण्डः

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्॥
[ऋ.१.१६४.१६]

स्त्रिय एवेति। ताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारिण्यः। ता अमुं पुंशब्दे।
निराहारः प्राण इति पश्यन्कष्टान्न विजानात्यन्धः।
कविर्यः पुत्रः स इमा जानाति। यः स इमा जानाति स पितुष्पितासत्।
इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ २०॥

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्॥ [ऋ.१.१६४.१६]

आध्यात्मिक भाष्य— (स्त्रियः, सतीः, तान्, उ, मे, पुसः, आहुः) 'स्त्रिय एवेति ताः शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धहारिण्यः ता अमुं पुंशब्दे निराहारः प्राण इति' शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ स्त्रीरूप होती हुई प्राणरूप पुरुष के नाम से भी जानी जाती हैं। यहाँ प्राण को निराहार कहा है। इसका अर्थ यह है कि प्राण इन गुणों को ग्रहण नहीं करते हैं, पुनरपि इन्द्रियों को प्राण भी कहते हैं। इस विषय में कहा गया है—

प्राणा इन्द्रियाणि (तां.ब्रा. २.१४.२; काठ.सं.८.१)। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इन्द्रियों को प्राण कैसे कह सकते हैं? इस विषय में हमारा मत यह है कि जिस समय पृथक्-२ महाभूतों की उत्पत्ति हो रही होती है, उस समय सत्त्व प्रधान पदार्थ से विभिन्न इन्द्रियों की भी उत्पत्ति क्रमानुसार होती रहती है। इन्द्रियाँ और प्राण दोनों रश्मिरूप ही होते हैं और इनका उपादान कारण भी वाग्युक्त मनस्तत्त्व ही होता है। जिस प्रकार प्राण सम्पूर्ण शरीर को बल प्रदान करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी प्राणों से बल प्राप्त करके शरीर को बल प्रदान करती हैं। प्राणों का बल इन्द्रियों के द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। प्राण इन्द्रियों को बल प्रदान करने के कारण पुरुष कहलाता है और इन्द्रियाँ प्राणों से बल ग्रहण करने के कारण स्त्री कहलाती हैं। उधर ये इन्द्रियाँ शरीर को बल प्रदान करने के कारण पुरुष रूप भी होती हैं। (पश्यत्, अक्षण्वान्, न, वि चेतत्, अन्धः) पश्यन्कष्टान्न विजानात्यन्धः' इन्द्रियों और प्राणों के इस सम्बन्ध को तत्त्वदर्शी ही जानता है, अन्धः अर्थात् सामान्य बुद्धि वाला एवं तामसी बुद्धि वाला नहीं जान सकता। वस्तुतः प्राणों और इन्द्रियों की संरचना में ऐसा सूक्ष्म भेद है, जिसका स्पष्ट वर्णन करना भी दुष्कर है।

(कविः, यः, पुत्रः, सः, ईम्, आचिकेत) 'कविर्यः पुत्रः स इमा जानाति' [पुत्रः = वरो हि पुत्रः (काठ.सं.९.१४)] जो क्रान्तदर्शी अर्थात् अतीन्द्रिय पदार्थों को भी देखने में समर्थ होता है, वह कवि कहलाता है और वह क्रान्तदर्शी ही पुत्ररूप होता है अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष होता है, क्योंकि वह इन सब इन्द्रियों और प्राणों के रहस्य को यथावत् जानता है। (यः, ता, विजानात्, सः, पितुः, पिता, असत्) 'यः स इमा जानाति स पितुष्पितासत्' जो इन सबको जानता है, वह पिताओं का पिता कहलाता है। इसी कारण भगवान् मनु का कथन है— 'अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः' (मनु.२.१५३) अर्थात् अज्ञानी मनुष्य वृद्ध होते हुए भी बालक की तरह होता है और ऋचाओं का ज्ञान प्रदान करने वाला बालक होते हुए भी पिता के समान होता है।

इस प्रकार यहाँ भी आत्मा की गति का वर्णन है अर्थात् आत्मा अपने विवेक और कर्मों के आधार पर किस-२ अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

* * * * *

= एकविंशः खण्डः =

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परि भुवः परि भवन्ति विश्वतः॥
[ऋ.१.१६४.३६]

सप्तैतानादित्यरश्मीनयमादित्यो गिरति। मध्यस्थानोर्ध्वशब्दः।
यान्यस्मिंस्तिष्ठन्ति तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्ययन्ति।
परिभुवः परि भवन्ति सर्वाणि कर्माणि वर्षकर्मणा। इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्— सप्तेमानीन्द्रियाण्ययमात्मा गिरति। मध्यस्थानोर्ध्वशब्दः।
यान्यस्मिंस्तिष्ठन्ति तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्ययन्ति।
परिभुवः परिभवन्ति सर्वाणीन्द्रियाणि ज्ञानकर्मणा।
इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ २१ ॥

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परि भुवः परि भवन्ति विश्वतः॥ [ऋ.१.१६४.३६]

इस मन्त्र के ऋषि और देवता दोनों पूर्ववत् हैं और छन्द निचृद् जगती है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से तीक्ष्ण गौर वर्ण की उत्पत्ति होती है।

आधिदैविक भाष्य— (सप्त, अर्द्धगर्भाः, भुवनस्य, रेतः, विष्णोः, तिष्ठन्ति, प्रदिशा, विधर्मणि) 'सप्तैतानादित्यरश्मीनयमादित्यो गिरति मध्यस्थानोर्ध्वशब्दः यान्यस्मिंस्तिष्ठन्ति' सात पदार्थ अर्धगर्भरूप होते हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में महत्तत्त्व, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्मभूत इन सात पदार्थों को ही अर्धगर्भ कहा है। हमारी दृष्टि में महत्, अहंकार, मनस्तत्त्व, प्राणतत्त्व, आकाश, वायु एवं अग्नि ये सात पदार्थ अथवा सात छन्द रश्मियाँ आदि पदार्थ भी अर्धगर्भ कहे जाते हैं। इन्हीं से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होती है, इस कारण ये सभी लोकों के बीज भी कहे जाते हैं। यहाँ भाष्यकार लेखक ने सात आदित्य रश्मियों को अर्धगर्भ कहा है। ये सभी पदार्थ कालतत्त्व की प्रेरणा से आदित्य लोक के विविध धारक और पोषक कर्मों में स्थित होते हैं। यहाँ 'मध्यस्थानोर्ध्वशब्दः' से यह संकेत मिलता है कि ये सभी सातों पदार्थ समूह आदित्य लोक के उत्कृष्टतम मध्यभाग में विशेष रूप से विद्यमान

होते हैं। यहाँ 'मध्यस्थानोर्ध्वशब्दः' में शब्द पद 'शब्द आविष्कारे भाषणे च' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस कारण इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि आदित्य लोक का मध्यस्थान उत्कृष्ट रूप में प्रकट होता है। यद्यपि सम्पूर्ण आदित्य लोक ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण सृष्टि में ही ये पदार्थ विद्यमान हैं, परन्तु आदित्यलोक के केन्द्रीय भागों में इनकी अपेक्षाकृत प्रचुरता होती है। यहाँ 'विधर्मणि' पद इस बात का सूचक है कि आदित्यलोक में नाना प्रकार के धारण बल विद्यमान होते हैं, जो विभिन्न कणों का परस्पर संलयन करते हैं। यहाँ 'प्रदिशा' पद यह दर्शाता है कि ये सभी प्रकार की क्रियाएँ परमात्मा के विशेष निर्देशन में ही होती हैं।

(ते, धीतिभिः, मनसा, ते, विपश्चितः, परि, भुवः, परि, भवन्ति, विश्वतः) 'तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्ययन्ति परिभुवः परि भवन्ति सर्वाणि कर्माणि वर्षकर्मणा' वे सभी सातों पदार्थों के विभिन्न समूह अपनी धारण क्रियाओं से एवं दीपन गुण से विज्ञानपूर्वक नाना परिवर्तनों के साथ सब ओर क्रियाशील रहते हैं। वे आदित्य लोक में चारों ओर से अर्थात् सभी दिशाओं में होने वाली प्रत्येक क्रियाओं में सर्वोपरि विद्यमान होते हैं। यहाँ भाष्यकार के 'वर्षकर्मणा' पद से यह ज्ञात होता है कि ये सभी पदार्थ सभी स्थूल पदार्थों पर अपनी वृष्टि करते रहते हैं।

आध्यात्मिक भाष्य— (सप्त, अर्द्धगर्भाः, भुवनस्य, रेतः, विष्णोः, तिष्ठन्ति, प्रदिशा, विधर्मणि) 'सप्तेमानीन्द्रियाण्ययमात्मा गिरति मध्यस्थानोर्ध्वशब्दः यान्यस्मिंस्तिष्ठन्ति' [भुवनम् = भुवनस्य भूतानाम् (निरु.३.१२), यज्ञो वै भुवनम् (तै.ब्रा.३.३.७.५)] मन, बुद्धि एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इन सातों का समूह अर्धगर्भ कहलाता है, क्योंकि ये ही प्राणी के जन्म का बीज होते हैं और इनमें ही प्राणी के संस्कार छुपे रहते हैं। इन इन्द्रियों के अनुसार ही प्राणियों के शरीर का विकास होता है। इस कारण भी ये गर्भ कहलाते हैं। ये अपने विभिन्न धर्मों में स्थित होते हुए परमात्मा के नियन्त्रण वा निर्देशन में विष्णुरूप आत्मा में ठहर जाते हैं अर्थात् वैसा शरीर प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ आत्मा का अर्थ शरीर भी ग्रहण करना चाहिए।

(ते, धीतिभिः, मनसा, ते, विपश्चितः, परि, भुवः, परि, भवन्ति, विश्वतः) 'तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्ययन्ति परिभुवः परिभवन्ति सर्वाणीन्द्रियाणि ज्ञानकर्मणा' वेदवित् पुरुष की वे इन्द्रियाँ अपने मन और बुद्धि के साथ सब ओर से समर्थ होकर श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करती हैं अर्थात् ऐसे जीवात्मा श्रेष्ठ लोकों में जन्म लेते हैं। यह आत्मा की गति कही गयी है।

* * * * *

= द्वाविंशः खण्डः =

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।

[ऋ.१.१६४.३७]

न हि विजानन् बुद्धिमतः परिवेदयन्ते। अयमादित्यः। अयमात्मा॥ २२॥

न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। [ऋग्वेद १.१४६.३७]

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्ववत् और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से तीक्ष्ण रक्त-वर्णीय तेज उत्पन्न होता है।

आधिदैविक भाष्य— (न, विजानामि, यदिव, इदम्, अस्मि, निण्यः, सन्नद्धः, मनसा, चरामि) 'न हि विजानन् बुद्धिमतः परिवेदयन्ते अयमादित्यः' [आदित्यः = तदसौ वा आदित्यः प्राणः (जै.उ.४.२२.९), प्राण आदित्यः (तां.ब्रा.१६.१३.२)] इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियाँ पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं होती हैं अर्थात् वे स्पष्ट जानने योग्य नहीं होती हैं। यहाँ दीर्घतमा इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मि है, जिसकी तुलना सूत्रात्मा वायु से करना अपेक्षाकृत अधिक उचित है। इस प्रकार यहाँ कहा गया है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ जो सम्पूर्ण आदित्य लोक में व्याप्त होती हैं, उन्हें और उनकी शाखा-प्रशाखाओं को जानना सर्वथा दुष्कर है। ये छिपी हुई रहती हैं और मनस्तत्त्व के साथ बँधी हुई सर्वत्र विचरती रहती हैं। इनके कारण आदित्य आदि लोक पिण्डाकार स्वरूप में रहते हैं।

आध्यात्मिक भाष्य— (न, विजानामि, यदिव, इदम्, अस्मि, निण्यः, सन्नद्धः, मनसा, चरामि) 'न हि विजानन् बुद्धिमतः परिवेदयन्ते अयमादित्यः' आत्मा का जो स्वरूप होता है, उसे पूर्ण रूप से स्वयं आत्मा भी नहीं जानता है। वह मन की चञ्चलता, संकल्प-विकल्प, अनेक प्रकार की वृत्तियों में बँधा हुआ और वास्तविकता से छिपा हुआ नाना योनियों में विचरता है। केवल सिद्धयोगी ही अपने आत्मस्वरूप को पहचान सकता है।

* * * * *

= त्रयोविंशः खण्डः =

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥
[ऋ.१.१६४.३८]

अपाञ्चयति प्राञ्चयति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आदित्यो मर्त्येन चन्द्रमसा सह।
तौ शश्वद्गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा।
पश्यत्यादित्यं न चन्द्रमसम्। इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्— अपाञ्चयति प्राञ्चयति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आत्मा मर्त्येन मनसा सह। तौ शश्वद्गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा।
पश्यत्यात्मानं न मनः। इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ २३॥

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥ [ऋ.१.१६४.३८]

इसके ऋषि और देवता पूर्ववत् तथा छन्द पंक्ति होने से नीलवर्ण की उत्पत्ति वा समृद्धि होती है। साथ ही यजन प्रक्रिया तेज होती है।

आधिदैविक भाष्य— (अपाङ्, प्राङ्, एति, स्वधया, गृभीतः, अमर्त्यः, मर्त्येन, सयोनिः) 'अपाञ्चयति प्राञ्चयति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आदित्यो मर्त्येन चन्द्रमसा सह।' आदित्य लोक अपनी धारणा शक्ति के द्वारा चन्द्रमा, जो अपनी कलाओं के द्वारा घटते-२ अदृश्य भी हो जाता है, इसलिए उसे यहाँ मर्त्य भी कहा है, को साथ लेकर ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ अर्थात् विशाल कक्षा में गमन करता रहता है। यहाँ सूर्य को अमर्त्य कहा गया है। इसका कारण यह है कि सूर्य चन्द्रमा की भाँति कभी क्षीणता को प्राप्त नहीं होता। यहाँ दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि प्रलय प्रक्रिया में चन्द्रमा का विनाश सूर्य से पहले होता है। चन्द्रमा को आदित्य लोक का सयोनि कहने का कारण यह है, क्योंकि इन दोनों की उत्पत्ति एक ही विशाल कॉस्मिक मेघ से होती है। यहाँ 'गृभीतः' पद यह बतलाता है कि सूर्य ही सब लोकों को अपने आकर्षण बल से थामे रखता है।

(ता, शश्वन्ता, विषूचीना, वियन्ता, नि, अन्यम्, चिक्युः, न, नि, चिक्युः, अन्यम्) 'तौ शश्वद्गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा पश्यत्यादित्यं न चन्द्रमसम्' वे दोनों सूर्य और चन्द्र निरन्तर गमन करने वाले, व्यापक आकाश में गमन करने वाले, बहु प्रकार की गतियों से गमन करने वाले, नाना रूपों में प्राप्त होने वाले अर्थात् भिन्न-२ प्रभाव दर्शाने वाले होते हैं। इनमें से मनुष्य सूर्यलोक को देखता है, चन्द्रमा को नहीं। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को जो भी प्रकाश दिखाई देता है, वह सूर्य का ही प्रकाश होता है। चन्द्रमा में जो भी प्रकाश होता है, वह सूर्य का ही होता है, चन्द्रमा का अपना नहीं। यह बात पृथक् है कि यत्किञ्चित् मात्रा में प्रत्येक पदार्थ में प्रकाश अवश्य होता है, भले ही वह अदृश्यता की सीमा में हो।

आध्यात्मिक भाष्य— (अपाङ्, प्राङ्, एति, स्वधया, गृभीतः, अमर्त्यः, मर्त्येन, सयोनिः) 'अपाञ्चयति प्राञ्चयति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आत्मा मर्त्येन मनसा सह' अविनाशी आत्मा विनाशी शरीर के साथ उत्थान और पतन के रास्ते पर निरन्तर चलता रहता है। आत्मा शरीर को उसके कर्मों के संस्कारों के बन्धन से जकड़े रहता है। इसके साथ ही यह आत्मा विनाशी सूक्ष्म शरीर के साथ कर्मों के बन्धन के द्वारा उसे जकड़कर उत्कृष्ट और निम्न योनियों में जाता-आता रहता है। यहाँ सूक्ष्म शरीर को विनाशी इसलिए कहा है, क्योंकि प्रलय काल में इसका भी विनाश हो जाता है।

(ता, शश्वन्ता, विषूचीना, वियन्ता, नि, अन्यम्, चिक्युः, न, नि, चिक्युः, अन्यम्) 'तौ शश्वद्गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा पश्यत्यात्मानं न मनः' वे दोनों आत्मा और सूक्ष्म शरीर सतत साथ-२ गमन करते रहते हैं और एक योनि में आत्मा और स्थूल शरीर भी मृत्युपर्यन्त सतत गमन करते रहते हैं। वे दोनों अर्थात् आत्मा और शरीर अपनी सीमा के अन्दर सर्वत्र गमन करते रहते हैं। वे विविध योनियों में गमन करते रहते हैं। इन दोनों में से आत्मसाक्षात्कार के समय योगी आत्मा को देखता है, मन को नहीं। वह आत्मा योग के विभिन्न चरणों को पार करते हुए अन्त में आनन्दमय कोष में जाकर स्वयं एवं परमात्मा के दर्शन करता है। इस प्रकार यहाँ आत्मा की गति कही गयी है।

* * * * *

═ चतुर्विंशः खण्डः ═

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः। सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः॥ [ऋ.१०.१२०.१]
तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमादित्यं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णो दीप्तिनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनिति। रिणातिः प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा।
अनुमदन्ति यं विश्व ऊमाः। इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्— तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमव्यक्तं यतो जायत उग्रस्त्वेषनृम्णो ज्ञाननृम्णः। सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनिति।
रिणाति प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा।
अनुमदन्ति यं सर्व ऊमाः। इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ २४॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः॥ [ऋ.१०.१२०.१]

इसका ऋषि बृहद्दिव आथर्वण है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राणतत्त्व से उत्पन्न विशेष आकर्षण और प्रकाशशील रश्मि विशेष से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज को समृद्ध करता है।

आधिदैविक भाष्य— (तत्, इत्, आस, भुवनेषु, ज्येष्ठम्, यतः, जज्ञे, उग्रः, त्वेषनृम्णः) 'तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमादित्यं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णो दीप्तिनृम्णः' [नृम्णम् = बलनाम (निघं.२.९), अन्नं वै नृम्णम् (कौ.ब्रा.२७.४)] उत्पन्न सभी भूतों और लोकों में आदित्य लोक सबसे ज्येष्ठ है, जहाँ से उग्र दीप्ति और बल उत्पन्न होते हैं और जिसमें दीप्तिमान संयोज्य कण भी उत्पन्न होते रहते हैं। (सद्यः, जज्ञानः, नि, रिणाति, शत्रून्, अनु, यम्, विश्वे, मदन्ति, ऊमाः) 'सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनिति रिणातिः प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा अनुमदन्ति यं विश्व ऊमाः' [निरिणाति = नित्यं हिनस्ति (म.द.ऋ.भा.१.६१.१३)। ऊमाः = रक्षादिकर्मकर्त्तारः (म.द.य.भा.३३.८०), कमनीयाः (म.द.ऋ.भा.३.६.८)] सद्य प्रादुर्भूत आदित्य लोक शत्रुरूप असुर पदार्थों को निरन्तर नष्ट करने लगता है और आकर्षण व दीप्ति

आदि गुणों को उत्पन्न करने लगता है, जिसकी उत्पत्ति के पश्चात् उसके द्वारा रक्षित, प्रकाशित एवं आकर्षित सभी लोक एवं प्राणी सर्वत्र आनन्दित व संतुलित रहते हैं, क्योंकि उन सबको सूर्यलोक निरन्तर ऊर्जा प्रदान करता रहता है।

भावार्थ— इस सृष्टि में जो भी पदार्थ मूल उपादानभूत प्रकृति पदार्थ से उत्पन्न होते हैं, उनमें महत्तत्व सर्वप्रथम उत्पन्न पदार्थ है और आदित्य लोक सबसे अन्त में उत्पन्न होता है। इन सभी उत्पन्न पदार्थों में आदित्यलोक सबसे श्रेष्ठ और उग्र दीप्ति व बल से युक्त होता है। यह बाधक असुरादि पदार्थों को निरन्तर नष्ट करता हुआ विभिन्न लोकों व प्राणियों को ऊर्जा प्रदान करता है।

आध्यात्मिक भाष्य— (तत्, इत्, आस, भुवनेषु, ज्येष्ठम्, यतः, जज्ञे, उग्रः, त्वेषनृम्णः) 'तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमव्यक्तं यतो जायत उग्रस्त्वेषनृम्णो ज्ञाननृम्णः' योगी पुरुष का आत्मा सभी लोकों में और सभी प्राणियों में ज्येष्ठ होता है और सामान्य मनुष्यों के लिए वह अव्यक्त भी होता है। इसका अर्थ यह है कि वे उसके गुण, कर्म, स्वभावों को वाणी से व्यक्त नहीं कर सकते। उसकी योगज शक्तियाँ ऐसी होती हैं, जिनको सामान्य मनुष्य नहीं जान सकता। इस कारण उन्हें व्यक्त भी नहीं कर सकता। यह आत्मा उत्पन्न होते ही अर्थात् उसका योग सिद्ध होते ही उसके अन्दर प्रचण्ड ज्ञानबल उत्पन्न हो जाता है और वह ब्रह्मतेज से युक्त हो जाता है।

(सद्यः, जज्ञानः, नि, रिणाति, शत्रून्, अनु, यम्, विश्वे, मदन्ति, ऊमाः) 'सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनिति रिणाति प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा अनुमदन्ति यं सर्व ऊमाः' उसका योगज ज्ञानबल उत्पन्न होते ही काम-क्रोधादि सभी दुरितों को नष्ट करने लगता है और सभी भूतों के प्रति उसके अन्दर प्रीति का भाव उत्पन्न होकर वह समदर्शी हो जाता है। उसके द्वारा ज्ञान से रक्षणीय वा रक्षित सभी प्राणी, विशेषकर मनुष्य अनुकूलता से आनन्दित होते हैं। इस प्रकार यहाँ आत्मा की गति को कहा गया है।

* * * * *

= पञ्चविंशः खण्डः =

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्॥

[ऋ.१.८४.१६]

क आदित्यो धुरि गा युङ्क्ते। रश्मीन्कर्मवतो भानुमतो दुराधर्षान्।
असून्य सुनवन्तीषूनिषुणवन्ति मयोभूनि सुखभूनि।
य इमं सम्भृतं वेद कथं स जीवति। इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्- क आत्मा धुरि गा युङ्क्ते।
इन्द्रियाणि कर्मवतो भानुमतो दुराधर्षान्।
असून्यसुनवन्तीषूनिषुणवन्ति मयोभूनि सुखभूनि।
य इमं सम्भृतं वेद चिरं जीवति। इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ २५॥

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्॥ [ऋ.१.८४.१६]

इस मन्त्र का ऋषि राहूगण गोतम है। इसके विषय में पूर्ववत् समझें। इसका देवता इन्द्र एवं छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य— (कः, अद्य, युङ्क्ते, धुरि, गाः) 'क आदित्यो धुरि गा युङ्क्ते' [अद्य = अस्मिन् द्यवि (निरु.१.६)] यहाँ 'कः' पद का अर्थ प्राण रश्मियाँ समझना चाहिए। प्राण तत्त्व का भण्डार आदित्य लोक अपने अक्ष में विभिन्न वाक् रश्मियों को संयुक्त वा विनियुक्त करता है अथवा आदित्यलोक के अक्ष पर घूर्णन करने के लिए विभिन्न वाक् रश्मियों को अनेक प्रकार की प्राण रश्मियाँ नियुक्त करती हैं। वस्तुतः किसी भी लोक वा कण के अक्ष पर घूर्णन करने के लिए कुछ विशेष प्रकार की छन्द व प्राण रश्मियाँ उत्तरदायिनी होती हैं। (ऋतस्य, शिमीवतः, भामिनः, दुर्हृणायून्) 'रश्मीन्कर्मवतो भानुमतो दुराधर्षान्' ऋत अर्थात् प्राणतत्त्व की नाना क्रियाओं से युक्त तेजस्वी किरणें तीक्ष्ण रश्मियों को इस कार्य में नियुक्त करती हैं। इसका अर्थ यह है कि आदित्य लोक के ध्रुव प्रदेशों में अत्यन्त तीक्ष्ण रश्मियों की

प्रधानता होती है। वे रश्मियाँ आदित्य लोक की घूर्णन गतियों को संतुलित व संचालित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

(आसन्, इषून्, हृत्स्वसः, मयोभून्) 'असून्य सुनवन्तीषूनिषुणवन्ति मयोभूनि सुखभूनि' [हृत् = हृत्सु हृदयानि (निरु.९.३३), हृदयं वै स्तोमभागाः (श.ब्रा.८.६.२.१५)। हृत्स्वसः = हृत्स्वस्यन्ति बाणान् तान् (म.द.भा.)] इस प्रक्रिया में इन्द्र तत्त्व की इषुरूप नाना प्रकार की तीक्ष्ण रश्मियाँ आकाशतत्त्व के साथ विभिन्न घूर्णन कराने वाली रश्मियों का विशेष रूप से संतुलन बिठाते हुए गमन करती हैं अथवा प्रकट होती रहती हैं। जब कोई लोक अपने अक्ष पर घूर्णन करता है, उस समय असुर पदार्थ भी इसमें बाधा खड़ी करने का प्रयास करता है, वैसी स्थिति में ये रश्मियाँ उस पदार्थ के हृदयरूपी तीक्ष्ण भागों पर प्रहार करके उसे दूर हटाती हैं, जिससे कोई भी लोक वा कण आकाश से इस प्रकार संतुलन बिठाता है कि उसकी घूर्णन गति सहज हो जाती है। (यः, एषाम्, भृत्याम्, ऋणधत्, सः, जीवात्) 'य इमं सम्भृतं वेद कथं स जीवति' जो आदित्य इन सब रश्मियों को सम्यक् रूप से धारण करके स्थित होता है, वह कैसे जीता है अर्थात् वह इन प्राणादि रश्मियों के विविध रूपों के प्रभाव के अनुसार ही अपनी आयु भर घूर्णन करता रहता है। यहाँ 'कथम्' पद को सर्वनाम माना है और 'कः' का अर्थ प्राण ग्रहण करके भी अर्थ किया है।

भावार्थ— सभी लोक एवं कण अपने अक्ष पर निरन्तर घूर्णन करते रहते हैं। इस घूर्णन के लिए कुछ विशेष प्रकार की छन्द एवं प्राण रश्मियाँ उत्तरदायिनी होती हैं। इन लोकों के ध्रुव प्रदेशों में अत्यन्त तीक्ष्ण रश्मियों की प्रधानता होती है। वे रश्मियाँ इन लोकों के घूर्णन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये रश्मियाँ आकाश के साथ सन्तुलन बिठाकर बाधक पदार्थों को नियन्त्रित करते हुए इन लोकों को घूर्णन कराती रहती हैं।

आध्यात्मिक भाष्य— (कः, अद्य, युङ्क्ते, धुरि, गाः) 'क आत्मा धुरि गा युङ्क्ते' जीवात्मा प्राणों के साथ विभिन्न इन्द्रियों को अपनी धुरी में जोड़ता है अर्थात् अपनी धारणा शक्ति से आत्मा प्राणों और इन्द्रियों को अपने साथ संयुक्त कर लेता है। (ऋतस्य, शिमीवतः, भामिनः, दुर्हृणायून्) 'इन्द्रियाणि कर्मवतो भानुमतो दुराधर्षान्' वह जीवात्मा सतत कर्म करने वाली, प्रकाशयुक्त एवं प्रचण्ड चंचलता से युक्त इन्द्रियों को अपने साथ जोड़े रखता है। इसका आशय यही है कि इन्द्रियों के सतोगुण-रजोगुण प्रधान होने के उपरान्त भी आत्मा उनको इतनी दृढ़ता से अपने साथ बाँधे रखता है कि मुक्ति होने से पूर्व तक भले ही लाखों

योनियों में जन्म लेना पड़े, वे इन्द्रियाँ आत्मा के साथ ही रहती हैं।

(आसन्, इषून्, हृत्स्वसः, मयोभून्) 'असून्यसुनवन्तीषूनिषुणवन्ति मयोभूनि सुखभूनि' [इषुः = वीर्यं वा इषुः (श.ब्रा.६.५.२.१०)] सुख चाहने वाला जीवात्मा अपने हृदयरूपी आकाश में विशेष तेज उत्पन्न करके इन्द्रियों की चंचलता को समाप्त करने में समर्थ होता है। इसका अर्थ यह है कि जब जीवात्मा आत्मज्ञान से आलोकित हो जाता है, तब वह आत्मसुखाभि-लाषी जीव अपनी इन्द्रियों को पूर्णतः वश में कर लेता है। (यः, एषाम्, भृत्याम्, ऋणधत्, सः, जीवात्) 'य इमं सम्भृतं वेद चिरं जीवति' जो आत्मा इस इन्द्रिय समूह को अपने ज्ञान के नेत्रों के द्वारा अच्छी प्रकार से धारण करता हुआ विद्यमान होता है, वह दीर्घजीवी होता है अर्थात् उसके द्वारा धारण किया हुआ शरीर इस संसार में अधिक दिन तक रहता है अथवा वह शरीर से मुक्त होकर अति दीर्घकाल पश्चात् पुनः शरीर धारण करता है। इस प्रकार यह आत्मा की गति कही गई है।

* * * * *

षड्विंशः खण्डः

क ईषते तुज्यते को बिभाय को मंसते सन्तमिन्द्रं को अन्ति।
कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधि ब्रवत्तन्वे३ को जनाय॥

[ऋ.१.८४.१७]

क एव गच्छति। को ददाति। को बिभेति। को मंसते सन्तमिन्द्रम्।
कस्तोकायापत्याय महते च नो रणाय रमणीयाय दर्शनीयाय॥ २६॥

क ईषते तुज्यते को बिभाय को मंसते सन्तमिन्द्रं को अन्ति।
कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधि ब्रवत्तन्वे३ को जनाय॥ [ऋ.१.८४.१७]

इस मन्त्र के ऋषि व देवता पूर्ववत् हैं। इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् है।

आधिदैविक भाष्य— (कः, ईषते, तुज्यते, कः, बिभाय) 'क एव गच्छति को ददाति को

बिभेति' इस सृष्टि में कौन गमन करता हुआ भी व्याप्त होता है, यह साधारण अर्थ है। विशेष यह है कि प्राणतत्त्व गमन करते हुए भी सर्वत्र व्याप्त होता है। कौन देता है अर्थात् प्राणतत्त्व ही सभी देने वाली क्रियाओं को करता है। सभी प्रकार की संयोजन और विभाजन क्रियाओं को करता है। सभी प्रकार की संयोजन और विभाजन क्रियाएँ प्राणतत्त्व के द्वारा ही सम्भव होती हैं। यहाँ 'कः' पद का अर्थ अन्न भी है। इसका अर्थ यह है कि सभी प्रकार की संयोजन व वियोजन क्रियाएँ संयोज्य कणों द्वारा ही एवं संयोज्य कणों के लिए ही होती हैं। ये अन्नसंज्ञक अर्थात् संयोज्य कण ही कम्पन करने वाले होते हैं। इस सृष्टि में जो पदार्थ संयोज्य नहीं होता, वह कम्पन नहीं करता। जब दो या दो से अधिक पदार्थ परस्पर मिलते हैं, उस समय कम्पन करते हुए ही मिलते हैं। (कः, मंसते, सन्तम्, इन्द्रम्, कः, अन्ति) 'को मंसते सन्तमिन्द्रम्' कौन इन्द्रतत्त्व के समीप होते हुए निरन्तर प्रकाशित रहता है अर्थात् वह प्राणतत्त्व ही विद्युत् को भी प्रकाशित करता रहता है। इसके साथ ही संयोज्य कण विद्युत् आवेश के कारण निरन्तर प्रकाशित रहते हैं।

(कः, तोकाय, कः, इभाय, उत, राये, अधि, ब्रवत्, तन्वे, कः, जनाय) 'कस्तोकायापत्याय महते च नो रणाय रमणीयाय दर्शनीयाय' [रायः = पशवो वै रायः (श.ब्रा.३.३.१.८)] प्रजा की उत्पत्ति के लिए अर्थात् सृष्टि में अनेक पदार्थों की उत्पत्ति के लिए और उन पदार्थों के व्यापक विस्तार के लिए अथवा उनकी समृद्धि के लिए नाना प्रकार की छन्द रश्मियों अथवा सूक्ष्म कणों वा विकिरणों के अतिसर्ग के लिए नाना स्तरों पर उत्पन्न होने वाले नाना जन अर्थात् पदार्थों के विस्तृत गमनागमन के लिए प्राणतत्त्व ही इन सब पदार्थों को निर्देशित व प्रेरित करता रहता है। इस प्राणतत्त्व के कारण ही इस सृष्टि में विभिन्न संयोजन, संघर्षण आदि क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। इसके कारण ही सम्पूर्ण सृष्टि जीवों के रमण के लिए और ज्ञान से उसके दर्शन के लिए उपलब्ध होती है। अगर प्राणतत्त्व न हो, तो इस सृष्टि में कुछ भी उत्पन्न न हो सके, यदि उत्पन्न हो भी जाये, तो कदापि किसी को बिना प्राण के दिखाई न दे सके।

* * * * *

= सप्तविंशः खण्डः =

को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्त्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः।
कस्मै देवा आ वहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः॥

[ऋ.१.८४.१८]

क आदित्यं पूरयति [= पाठान्तर- **पूजयति] हविषा च घृतेन च।**
स्त्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिरिति। कस्मै देवा आवहानाशु होमार्थान्।
को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः कल्याणदेवः। इत्यधिदैवतम्।
अथाध्यात्मम्। क आत्मानं पूरयति हविषा च घृतेन च।
स्त्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिरिति। कस्मै देवा आवहानाशुहोमार्थान्।
को मंसते वीतिहोत्रः सुप्रज्ञः कल्याणप्रज्ञः।
इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ २७॥

को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्त्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः।
कस्मै देवा आ वहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः॥ [ऋ.१.८४.१८]

इस मन्त्र के ऋषि व देवता पूर्ववत् हैं। इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से इसका दैवत एवं छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् है।

आधिदैविक भाष्य— (कः, अग्निम्, ईट्टे, हविषा, घृतेन) 'क आदित्यं पूरयति हविषा च घृतेन च' [हविः = मासा हवींषि (श.ब्रा.११.२.७.३)] विभिन्न प्राण रश्मियाँ अग्नि के भण्डार सूर्यलोक को मास रश्मियों एवं 'घृम्' रश्मियों के द्वारा निरन्तर पूर्ण करती रहती हैं। 'घृम्' रश्मियाँ तेज की उत्पत्ति का कारण होती हैं और मास रश्मियाँ यजन प्रक्रिया को समृद्ध करती हैं। (स्त्रुचा, यजातै, ऋतुभिः, ध्रुवेभिः) 'स्त्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिरिति' [स्त्रुक् = वाग्वै स्त्रुक् (श.ब्रा.६.३.१.८), गौर्वै स्त्रुचः (तै.ब्रा.३.३.५.४)। ऋतुः = अग्नयो वा ऋतवः (श.ब्रा.६. २.१.३६)] वे प्राण रश्मियाँ ही विभिन्न प्रकार की वाक् रश्मियों एवं अग्नि के नाना प्रकार के नियत परमाणुओं के द्वारा आदित्य लोक में यजन करती हैं।

(कस्मै, देवाः, आवहान, आशु, होम) 'कस्मै देवा आवहानाशु होमार्थान्।' [कः =

प्रजापतिर्वै कः (तै.सं.१.६.८.५; ऐ.ब्रा.२.३८; गो.उ.१.२२)] प्राणरूपी देव पदार्थ ही नाना प्रकार के हवनीय पदार्थों को त्वरित गति से आदित्य रूपी प्रजापति को प्राप्त कराते हैं। ये हवनीय पदार्थ ही आदित्य लोक के केन्द्रीय भाग में नाना प्रकार के यजन कर्म करते हैं। (कः, मंसते, वीतिहोत्रः, सुदेवः) 'को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः कल्याणदेवः' [होत्रा = यज्ञनाम (निघं.३.१७)] सब पदार्थों का उत्तम प्रकाशक प्राणतत्त्व ही आदित्यलोक एवं सम्पूर्ण सृष्टि में होने वाली विभिन्न यजन क्रियाओं को ज्ञानपूर्वक प्रकाशित करता है।

आध्यात्मिक भाष्य— (कः, अग्निम्, ईट्टे, हविषा, घृतेन) 'क आत्मानं पूरयति हविषा च घृतेन च' [घृतम् = विद्याप्रकाशः (तु.म.द.ऋ.भा.५.११.३)। हविः = अन्तःकरणम् (म.द. ऋ.भा.६.१६.४७)] कौन आत्मा को अन्तःकरण और विद्या के प्रकाश से युक्त वा पूर्ण करता है? प्रजापति परमात्मा ही आत्मा को कर्मानुसार अन्तःकरण और विद्या का प्रकाश प्रदान करता है। (स्रुचा, यजातै, ऋतुभिः, ध्रुवेभिः) 'स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिरिति' [स्रुक् = कर्म (तु.ऋ.द.भा.)। ऋतुः = ऋतवो वै देवाः (श.ब्रा.७.२.४.२६)] कौन आत्मा को उसके कर्मानुसार वेद की ऋचाओं और नाना प्रकार के अचल दिव्य गुणों से युक्त करता है? प्रजापति परमात्मा ही जीवात्मा को कर्मानुसार इन सबसे युक्त करता है।

(कस्मै, देवाः, आवहान, आशु, होम) 'कस्मै देवा आवहानाशुहोमार्थान्' दिव्यगुणों वाले विद्वान् मनुष्य को नाना प्रकार के यज्ञ साधन और यज्ञीय भावना किसलिए शीघ्रतापूर्वक प्राप्त कराते हैं अथवा वह परमात्मा किस लिए ऐसे पदार्थों को जीवों को उपलब्ध कराता है? इसका उत्तर यहीं उपलब्ध है कि यह सब 'कम्' अर्थात् सुख के लिए उपलब्ध कराता है। (कः, मंसते, वीतिहोत्रः, सुदेवः) 'को मंसते वीतिहोत्रः सुप्रज्ञः कल्याणप्रज्ञः' कौन कल्याणकारी सर्वोपकारी देव आत्मा के भावों को पूर्ण रूप से जानता है? प्रजापति परमात्मा ही यह सब करता और जानता है। यहाँ भी आत्मा की गति को कहा गया है।

* * * * *

= अष्टाविंशः खण्डः =

त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥ [ऋ.१.८४.१९]
त्वमङ्ग प्रशंसीर्देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्योऽस्ति मघवन् पाता वा पालयिता वा जेता वा सुखयिता वा।
इन्द्र ब्रवीमि ते वचः स्तुतियुक्तम्॥ २८॥

त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥ [ऋ.१.८४.१९]

इसके ऋषि व देवता पूर्ववत् हैं। इसका छन्द आर्ची त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् होता है, परन्तु इससे प्रकाश की मात्रा अपेक्षाकृत कुछ अधिक होती है।

आध्यात्मिक भाष्य— (त्वम्, अङ्ग, प्र, शंसिषः, देवः, शविष्ठ, मर्त्यम्) 'त्वमङ्ग प्रशंसीर्देवः शविष्ठ मर्त्यम्' [शवस् = बलनाम (निघं.२.९)] हे सर्वशक्तिमान् सकलसुखदाता सबके मित्र परमेश्वर! आप हम मनुष्यों को प्रशंसित करो अर्थात् हमें भी अपना ज्ञान और आत्मबल प्रदान करो। वह बलवत्तम परमेश्वर दिव्य गुणों का दाता है, वह अपने सखा मनुष्य को नाना सद्गुणों से युक्त करके प्रशंसित करता है। (न, त्वत्, अन्यः, मघवन्, अस्ति, मर्डिता) 'न त्वदन्योऽस्ति मघवन् पाता वा पालयिता वा जेता वा सुखयिता वा' हे परमेश्वर! तुझसे अन्य कोई भी धनवान्, पालक, जयशील और सुखप्रदाता नहीं है, क्योंकि आप ही सर्वशक्तिमान् तथा सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामी हैं।

(इन्द्र, ब्रवीमि, ते, वचः) 'इन्द्र ब्रवीमि ते वचः स्तुतियुक्तम्' हे इन्द्र अर्थात् परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर! मैं स्तुतिपरक वचनों वा ऋचाओं से आपकी स्तुति करता हूँ अथवा वह परमेश्वर इन्द्रियों के स्वामी जितेन्द्रिय मनुष्य को उसके अन्तःकरण में धर्मानुकूल उपदेश वा प्रेरणा करता है।

* * * * *

= एकोनत्रिंशः खण्डः =

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥
[ऋ.४.४०.५] [ऐ.ब्रा.४.२०]

हंस इति। हंसाः सूर्यरश्मयः। परमात्मा परं ज्योतिः। पृथिवी व्याप्तेति।
व्याप्तं सर्वं व्याप्तं वननकर्मणानभ्यासेनादित्यमण्डलेनेति। त्ययतीति लोकः।
त्ययतीति हंसः। त्ययन्त्ययतीति। हंसाः। [परमहंसाः] [परमात्मा]
सूर्यरश्मिभिः प्रभूतगभीतवसतीति। त्रिभिर्वसतीति वा। रश्मिभिर्वसतीति वा।
वह्निर्वसतीति वा। सुवर्णरेताः पूषा गर्भाः।
रिभेति रिभन्ता वनकुटिलानि कुटन्ता रिभन्तान्तरिक्षा चरति।
अथान्तरिक्षा चरदिति दिवि। भुवि गमनं वा।
सुभानुः सुप्रभूतो होतादित्यस्य गता भवन्ति। अतिथिर्दुरोणसत्।
सर्वे दुरोणसद् द्रवं सर्वे रसा विकर्षयति। रश्मिर्विकर्षयति।
वह्निर्विकर्षयति। वननं भवति।
अश्वगोजा अद्रिगोजा धरित्रिगोजा सर्वे गोजा ऋतजा बहुशब्दा भवन्ति।
निगमो निगमव्यति। भवत्यृषि निर्वचनाय॥ २९॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥ [ऋ.४.४०.५] [ऐ.ब्रा.४.२०]

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है, जिसके बारे में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता सूर्य और छन्द निचृद् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व गौर वर्ण के तेज को उत्पन्न करते हुए ऊर्जा के अवशोषण और उत्सर्जन की क्रियाओं को समृद्ध करता है।

आधिदैविक एवं आध्यात्मिक भाष्य— (हंसः, शुचिषत्, वसुः, अन्तरिक्षसत्, होता, वेदिषत्) 'हंस इति हंसाः सूर्यरश्मयः परमात्मा परं ज्योतिः पृथिवी व्याप्तेति व्याप्तं सर्वं व्याप्तं

वननकर्मणानभ्यासेनादित्यमण्डलेनेति त्ययतीति लोकः त्ययतीति हंसः त्ययन्त्ययतीति हंसाः [परमहंसाः] [परमात्मा] सूर्यरश्मिभिः प्रभूतगभीतवसतीति त्रिभिर्वसतीति वा रश्मिभिर्वसतीति वा वह्निर्वसतीति वा सुवर्णरेताः पूषा गर्भाः रिभेति रिभन्ता वनकुटिलानि कुटन्ता रिभन्तान्तरिक्षा चरति अथान्तरिक्षा चरदिति दिवि भुवि गमनं वा सुभानुः सुप्रभूतो होतादित्यस्य गता भवन्ति' हंस अर्थात् सूर्य की रश्मियाँ वा सूर्यलोक एवं सर्वोत्कृष्ट ज्योतियुक्त परमात्मा इस कारण हंस कहलाते हैं, क्योंकि इनका प्रभाव अति व्यापक होता है। आदित्य लोक 'शोचिषः' कहलाता है, क्योंकि यह तीक्ष्ण व पवित्र ज्वालाओं में स्थित होता है। उसके बाहरी तल पर सतत ऊँची-२ ज्वालाएँ उठती रहती हैं। यह अपनी कक्षा में विशुद्ध रूप से अर्थात् निर्बाध रूप से स्थित रहता हुआ गमन करता है। उधर परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र शुद्ध रूप में स्थित होता है। इसका अर्थ यह है कि परमात्मा का किसी भी अन्य पदार्थ के साथ कभी कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध वा मिश्रण नहीं हो सकता। इस प्रकार उसका सदैव ही शुद्ध स्वरूप बना रहता है।

सूर्यलोक सम्पूर्ण पृथिव्यादि अप्रकाशित लोकों और अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है। इसी प्रकार परमात्मा भी सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है। आदित्य लोक अपने वनन कर्म अर्थात् नियन्त्रण कर्म के द्वारा सबको सतत व्याप्त करता है। यहाँ अनभ्यास पद बार-बार न होने के अर्थ में प्रयुक्त है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि आदित्य लोक के नियन्त्रक बल बार-बार उत्पन्न वा सक्रिय नहीं होते, उनकी तीव्रता में उतार-चढ़ाव नहीं होता, बल्कि वह बल सतत समान रूप से कार्य करता है। यहाँ वनन कर्म का तात्पर्य यह भी है कि आकर्षण बल प्रतिकर्षण बल उत्पन्न करने वाले सभी पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके दूर कर देता है। यहाँ 'व्याप्तम्' पद का दो बार प्रयोग करने का अर्थ यह है कि आदित्यलोक के वनन कर्म भी उसकी रश्मियों की भाँति सबको व्याप्त करते हैं, उधर परमात्मा अपने पालन आदि अनेक कर्मों के द्वारा निरन्तर सम्पूर्ण सृष्टि को व्याप्त करता है।

यहाँ 'त्ययति' इस क्रियापद का प्रयोग है। निरुक्त की दुर्ग टीका के गुर्जर पाठ में यहाँ 'त्यजति' क्रियापद का प्रयोग है। हमारी दृष्टि में यहाँ 'त्यजति' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह आदित्य लोक पृथिव्यादि लोकों को अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त करता है अर्थात् उन्हें त्यागकर अपने से दूर कर देता है। यह अनेक कणों और विकिरणों का भी उत्सर्जन करता रहता है। परमपिता परमात्मा रूपी हंस सम्पूर्ण सृष्टि को रचकर जीवों के कल्याण के लिए दान कर देता है। उस परमात्मा के तीव्रगामी और तीक्ष्ण बल नाना प्रकार के पदार्थों के

विभाजन आदि कर्म करते रहते हैं। यहाँ 'हंसा:' एवं 'परमहंसा:' पद उन कर्मों वा उन कर्मों को करने वाली रश्मियों के लिए ही प्रयुक्त होता प्रतीत होता है। यद्यपि परमहंस शब्द का परमात्मा के लिए प्रयुक्त होना अधिक उचित है, परन्तु बहुवचन में प्रयोग होने के कारण इससे परमात्मा के हंसन कर्म अर्थात् हंसवत् वेग और भेदन कर्मों का ग्रहण करना ही हमने यहाँ उचित समझा है।

परमात्मा सूर्य की रश्मियों के साथ प्रत्येक पदार्थ में बहुत गम्भीरता से बसा हुआ है। परमात्मा सूर्य की रश्मियों जैसे सूक्ष्म पदार्थों से भी अति सूक्ष्म है, फिर इसकी तुलना सूर्य रश्मियों के अन्य पदार्थों में बसने से क्यों की गई है? यह प्रश्न स्वाभाविक है। वस्तुत: मनुष्य सूर्य की किरणों से सूक्ष्म किसी पदार्थ को देखने में असमर्थ होता है। किसी भी तकनीक से प्रकाशाणु की अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थों को देखना सम्भव नहीं है। सूर्य का कोई प्रकाशाणु जब किसी सूक्ष्म कण पर गिरता है, तब वह उस कण में पूर्णत: समा जाता है। इस प्रकार वह बिखरकर और सूक्ष्म पदार्थों में परिणत होकर उस कण में व्याप्त हो जाता है। इसलिए यहाँ मानव की दृष्टि से समझने योग्य उदाहरण के द्वारा ही ईश्वर की व्यापकता दर्शायी गई है। यहाँ 'प्रभूत' पद से यह अर्थ भी ग्रहण हो सकता है कि सूर्य का प्रकाशाणु किसी कण की जितनी गहराई में जाकर व्याप्त होता है, ईश्वर की व्याप्ति उससे भी बहुत सूक्ष्म और गहरी होती है। सबके पुष्टिकर्त्ता आदित्य लोकों के गर्भ अर्थात् केन्द्रीय भाग सुन्दर प्रकाश तरंगों के बीजरूप होते हैं। वे गर्भ अर्थात् केन्द्रीय भाग प्राण, अपान एवं व्यान इन तीन मुख्य प्राण रश्मियों, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् एवं जगती इन तीन छन्द रश्मियों एवं ऊष्मा के कारण अथवा उनमें बसे हुए होते हैं। यदि इनकी कमी हो जाए, तो आदित्य लोकों की सभी उत्पादन आदि क्रियाएँ बन्द हो जायें।

उधर परमात्मा सबका पोषक और गर्भ के समान उत्पत्ति एवं निवासस्थान के समान होता है, उसी में सृष्टि के विभिन्न पदार्थों के शोभनीय नाना प्रकार के बीज उत्पन्न होते हैं वा निवास करते हैं। नाना पदार्थों के बीजरूप आदित्य लोक एवं विभिन्न कण भी ईश्वर में ही बसते हैं। वह परब्रह्म प्रकृति के सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों, विभिन्न प्राण, छन्द एवं 'ओम्' रश्मियों के द्वारा एवं अग्नितत्त्व के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि में बसता है। मनुष्य ईश्वर को प्रत्यक्ष देख वा अनुभव नहीं कर सकता, बल्कि वह सृष्टि में ईश्वर के द्वारा हो रहे कार्यों को देखकर ही ईश्वर का अनुमान करता है। इसलिए यहाँ ईश्वर को इन पदार्थों के द्वारा सृष्टि में

बसने वाला कहा गया है। यहाँ 'रिभेति रिभन्ता वनकुटिलानि कुटन्ता रिभन्तान्तरिक्षा चरति' के स्थान पर आचार्य दुर्ग ने 'रिफिरिति रिफता चमकुटिलानि कुटन्ता रेफन्तान्तरिक्षं चरेदर्थेति' गुर्जरपाठ स्वीकार किया है।

यहाँ 'रेभ' धातु स्तुति अर्थ में प्रयुक्त है, क्योंकि निघण्टु ३.१५ में 'रेभः' पद स्तोता नाम के लिए प्रयुक्त है तथा 'रेभति' को निघं.३.१३ में अर्चतिकर्मा कहा गया है। इसी तरह 'रिहति' को भी अर्चतिकर्मा कहा गया है। आदित्य लोक ध्वनि उत्पन्न करने एवं संसार को प्रकाशित करने के कारण रिभन्ता कहलाता है। कुटिल गतियों से युक्त नाना विभाजनादि कर्म करने वाली रश्मियों से निर्मित होने के कारण यह आदित्य लोक ही 'कुटन्ता' कहा गया है। ऐसा सबको प्रकाशित करता हुआ आदित्य लोक अन्तरिक्ष में खूब विचरता है। उधर परमात्मा जो सभी प्रकाशित लोकों के भी प्रकाश का कारण है तथा सब सत्य विद्याओं का भी स्रोत है, ऐसा वह ईश्वर ज्ञान और प्रकाश से सबको प्रकाशित करने के कारण 'रिभन्ता' कहा गया है। विभिन्न रश्मियों को कुटिल मार्गों पर चलाने वाला वह ईश्वर सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश में विचरता अर्थात् व्याप्त रहता है। यहाँ 'रिभन्ता' एवं 'कुटन्ता' पदों को द्विवचन मानकर एवं वकार का लोप करके एक साथ ईश्वर और आदित्य लोक दोनों का ही ग्रहण किया जा सकता है।

'अन्तरिक्षा' पद को शिष्टों का साधु प्रयोग मानना चाहिए अथवा यहाँ 'अन्तरिक्ष एवं आचरति' ऐसा समझना चाहिए। 'अन्तरिक्षाचरत्' का तात्पर्य यह है कि वह आदित्यलोक द्युलोक और पृथिवी लोक में गमन करता है। यहाँ द्युलोक में विचरण करना आदित्य लोक के लिए संगत होता है और पृथिव्यादि लोकों में विचरना अथवा सूक्ष्म कणों में से होकर गमन करना आदित्य रश्मियों के लिए संगत होता है। यहाँ इससे एक संकेत यह भी मिलता है कि सूर्यलोक प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के कणों में गमन करता है अर्थात् सूर्य के बाहरी भाग में दोनों प्रकार के कणों का एक विशाल भण्डार होता है, आदित्य लोक उन्हीं को साथ लेकर अन्तरिक्ष में गमन करता है। उधर परमात्मा अन्तरिक्षस्थ सभी प्रकाशित-अप्रकाशित कणों व लोकों में व्याप्त होकर उन्हें जानता है। तदुपरान्त कहा— 'सुभानुः सुप्रभूतो होतादित्यस्य गता भवन्ति' आदित्य की रश्मियाँ सुन्दर प्रकाशयुक्त और प्रभूत मात्रा में होता कर्म करती हुई सर्वत्र गयी हुई होती हैं अर्थात् वे सर्वत्र गमन और व्याप्ति से युक्त होकर नाना प्रकार के संयोग-वियोग आदि क्रियाओं में ऊर्जा के उत्सर्जन व

अवशोषण आदि क्रियाओं को सम्पन्न कराती हैं।

(अतिथिः, दुरोणसत्) 'अतिथिर्दुरोणसत् सर्वे दुरोणसद् द्रवं सर्वे रसा विकर्षयति रश्मिर्विक-र्षयति वह्निर्विकर्षयति वननं भवति' आदित्य लोक के अन्दर अतिथिरूप अग्नि दुरोण अर्थात् गृह में निवास करता है। सूर्य के अन्दर उत्पन्न होने वाला अग्नि अतिथि कहलाता है। यह सूर्य के केन्द्रीय भाग में उत्पन्न होता है, इस केन्द्रीय भाग को ही यहाँ दुरोण कहा गया है। उस केन्द्रीय भाग में विद्यमान सम्पूर्ण द्रव्य सभी रसों को खींचता रहता है। यहाँ रस उन कणों वा रश्मियों को कहा गया है, जो सूर्य के केन्द्रीय भाग में स्थित पदार्थों के द्वारा सन्धि क्षेत्र से निरन्तर अपनी ओर आकर्षित किये जाते रहते हैं। यह आकर्षण रश्मियों के द्वारा किया जाता है अर्थात् रश्मियाँ इस आकर्षण में साधन का कार्य करती हैं। केन्द्रीय भाग में विद्यमान अत्यधिक ऊष्मा भी इस कार्य में अपनी भूमिका निभाती है और इस आकर्षण प्रक्रिया में विभाजन की क्रिया भी चलती रहती है। इसका अर्थ यह है कि संलयनीय कणों का आकर्षण होता रहता है और जो कण संलयन योग्य नहीं होते, उन्हें छानकर बाहर ही छोड़ दिया जाता है। यहाँ अतिथि परमात्मा को भी कहा गया है, क्योंकि परमात्मा सृष्टि के हर पदार्थ, प्रकृति एवं जीवात्माओं में सतत व्याप्त रहता है और सबको यथावत् जानता भी है, वह परमात्मा जीवों की हृदय गुहा में निवास करता है अर्थात् जीवात्मा परमात्मा को वहीं साक्षात् करता है।

(नृषत्) वह आदित्य लोक मरुत् रश्मियों में विराजमान रहता है। सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में मरुत् रमिश्याँ व्याप्त हैं, इस कारण अन्तरिक्ष में विद्यमान सूर्य को 'नृषत्' कहा गया है। परमात्मा इन मरुत् रश्मियों के अन्दर व बाहर व्याप्त होने से 'नृषत्' कहा गया है। (वरसत्) [वरः = वर इव वै सूर्यो लोकः (जै.ब्रा.२.९९), वरो वरयितव्यो भवति (निरु.१.७)] वह सूर्यलोक आच्छादित करने योग्य अपने सघन केन्द्रीय भाग के ऊपर स्थित होता है अर्थात् उसके केन्द्रीय भाग के प्रबल आकर्षण बल के कारण सूर्यलोक अपना आकार बनाए रखता है। [वरः = सर्वं वै वरः (श.ब्रा.२.२.१.४)] ईश्वर सभी पदार्थों में विद्यमान रहने से 'वरसत्' कहा जाता है। (ऋतसत्) [ऋतम् = ब्रह्म वा ऋतम् (श.ब्रा.४.१.४.१०)] वह आदित्य लोक और उसकी रश्मि आदि पदार्थ ब्रह्म में स्थित होते हैं और परमपिता परमात्मा अपने महान् बल के साथ सर्वत्र व्याप्त होता है। (व्योमसत्) सूर्यलोक अपनी रक्षक और आच्छादक व्योम रश्मियों के मध्य स्थित होता है। उधर परमात्मा रक्षण और व्यापन आदि गुणों के साथ

सम्पूर्ण अवकाशरूप आकाश में स्थित होता है।

(अब्जाः) वह आदित्य लोक सूक्ष्म तन्मात्राओं वा प्राणों में और उनके अन्दर स्थित होता है। [अपः = अपः प्रजननकर्म (निरु. ११.३१)] उधर परमात्मा अपने उत्पत्ति आदि कर्मों के साथ अनादि काल से विद्यमान है। (गोजाः) 'अश्वगोजा अद्रिगोजा धरित्रिगोजा सर्वे गोजा' वह आदित्य लोक अश्वगोजा अर्थात् आशुगामी तरंगों की विद्यमानता में उत्पन्न होता है। [अद्रिः = मेघनाम (निघं.१.१०)] वह आदित्य लोक विशाल खगोलीय मेघ में विद्यमान विभिन्न कणों व तरंगों से उत्पन्न होता है। वह आदित्य लोक 'धरत्रिगोजा' भी कहलाता है, क्योंकि वह धारणा शक्ति से सम्पन्न सूत्रात्मा वायु एवं बृहती छन्द रश्मियों के मध्य उत्पन्न होता है। 'सर्वे गोजा' का तात्पर्य यह है कि उस आदित्यलोक में सभी प्रकार की तरंगें और कण विद्यमान होते हैं अर्थात् वह उन्हीं से उत्पन्न होता है। परब्रह्म परमात्मा अनादि, अजन्मा और अविनाशी है, परन्तु वह इन सभी पदार्थों में होने वाली नाना प्रकार की क्रियाओं के द्वारा स्वयं को अभिव्यक्त करता है, इसी को उसका उत्पन्न होना कहा गया है।

(ऋतजा, अद्रिजा, ऋतम्) 'ऋतजा बहुशब्दा भवन्ति' [ऋतम् = ऋतमित्येष (सूर्यः) वै सत्यम् (ऐ.ब्रा.४.२०), ओमित्येतदेवाक्षरमृतम् (जै.उ.३.३६.५)। अद्रिः = अद्रिरसि श्लोककृत् (काठ.सं.१.५)] 'ओम्' रश्मियों से उत्पन्न विभिन्न वाक् रश्मियों से निर्मित विशाल खगोलीय मेघ से यह आदित्य लोक उत्पन्न होता है। उधर परमात्मा 'ओम्' रश्मियों के रूप में अभिव्यक्त होकर विभिन्न मेघों से नाना सूर्यों को प्रकट करता है और ऐसा करके वह स्वयं इन लोकों के रूप में अभिव्यक्त होता है और अनेक प्रकार के शब्द एवं छन्द रश्मियाँ 'ओम्' रश्मियों से ही उत्पन्न होती हैं।

तदुपरान्त कहा है— 'निगमो निगमव्यति'। हमारे मत में यहाँ 'निगमव्यति' के स्थान पर 'निगमव्येति' मानना चाहिए। यहाँ निगम शब्द से तव्यत् प्रत्यय होकर प्रत्यय के आदि तकार का लोप छान्दस जानना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि मन्त्र निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कराने वाले होते हैं अर्थात् उनको नित्य और निश्चयात्मक अर्थों के लिए जानना चाहिए।

तदुपरान्त कहा— 'भवत्यृषि निर्वचनाय' अर्थात् मन्त्रद्रष्टा ऋषि उन मन्त्रों के निर्वचन के लिए होते हैं अर्थात् मन्त्रों के पदों का निर्वचन ऋषि ही कर सकते हैं, सामान्य पुरुष नहीं।

* * * * *

= त्रिंशः खण्डः =

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ [ऋ.१.१६४.२०]
द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्त्तारौ। दुष्कृतं पापं परिसारकमित्याचक्षते।
सुपर्णा सरूपतां सखायेत्यात्मानं परमात्मानं प्रत्युत्तिष्ठति।
शरीर एव तज्जायते वृक्षम्। वृक्षं शरीरम्। वृक्षे पक्षौ प्रतिष्ठापयति।
तयोरन्यद् भुक्तवान्नमनश्नन्नन्यां सरूपतां सलोकतामश्नुते।
य एवं वेद। अन्नमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति। इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ ३०॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ [ऋ.१.१६४.२०]

इसका ऋषि दीर्घतमा, देवता विश्वेदेवा और छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ यजनशील हो उठते हैं तथा नीलवर्ण की उत्पत्ति होने लगती है।

आध्यात्मिक भाष्य— (द्वा, सुपर्णा, सयुजा, सखायाः) 'द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्त्तारौ दुष्कृतं पापं परिसारकमित्याचक्षते सुपर्णा सरूपतां सखायेत्यात्मानं परमात्मानं प्रत्युत्तिष्ठति' दो सुपर्ण अर्थात् सृष्टि में प्रतिष्ठित ऐसी चेतन सत्ताएँ, जो अपने-२ धर्म को धारण करती तथा अपनी क्रियाओं को शोभन रीति से करने में समर्थ होती हैं, विद्यमान होती है। यहाँ आत्मा और परमात्मा दोनों को ही अपने-अपने धर्म का सुन्दर रीति से पालन करने में समर्थ कहा है, तब प्रश्न यह उठता है कि संसार के सभी प्राणी और मनुष्य योनि में दुरात्मा भी क्या अपने धर्म का निर्वहण करने में समर्थ हो सकते हैं? इसके उत्तर में हमारा तथा भाष्यकार का निश्चित मत है कि हाँ, ऐसा अवश्य हो सकता है। जीवात्मा मूल रूप से पवित्र होता है, परन्तु अविद्या, स्वार्थ आदि भावों के कारण वह अधर्माचरण में प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार विभिन्न कीट-पतंगादि मनुष्येतर प्राणी शरीर की क्षमता और अन्तःकरण की कलुषता आदि के कारण ज्ञान से विहीन हो जाते हैं, अनेक योनियों में भटकते हुए जब भी वे वाञ्छित योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, तब वे भी मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ सुकृत को परिभाषित

करते हुए भाष्यकार लिखते हैं कि जो दुष्कृत अर्थात् पाप को सब ओर से बाहर निकालता है अथवा निकालने में समर्थ होता है, उसे सुकृत कहते हैं। वे दोनों चेतन तत्त्व सुपर्ण कहलाते हैं, क्योंकि वे अपने-अपने स्तर से सुन्दर पालनादि कर्मों को करने में समर्थ होते हैं। ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि का पालन करता है और जीव अपने शरीर, समाज वा परिवार आदि का। वे दोनों चेतन गुण के कारण समान रूप वाले होकर सखा कहलाते हैं। उनमें से एक आत्मा कहलाता है और दूसरा परमात्मा कहलाता है, जिसे यहाँ इन शब्दों में व्यक्त किया है कि एक आत्मा के रूप में और एक परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

(समानम्, वृक्षम्, परि, सस्वजाते) 'शरीर एव तज्जायते वृक्षम् वृक्षं शरीरम् वृक्षे पक्षौ प्रतिष्ठापयति' वे दोनों एक ही वृक्ष पर आश्रय पाते हैं, वह वृक्ष ही उनका शरीर है। [पक्षः = परिग्रहः (म.द.ऋ.भा. ६.४७.१९)] वे दोनों अपने-अपने परिग्रह से उस शरीररूपी वृक्ष में प्रतिष्ठित रहते हैं। यहाँ प्राणियों का आत्मा अपने शरीररूपी वृक्ष में प्रतिष्ठित रहता है और परमात्मा इस ब्रह्माण्ड रूपी शरीर में प्रतिष्ठित रहता है।

(तयोः, अन्यः, पिप्पलम्, स्वादु, अत्ति) 'तयोरन्यद् भुक्तवान्नमनश्नन्नन्यां सरूपतां सलोकता-मश्नुते य एवं वेद' उनमें से एक अपने पवित्र स्वरूप के अनुसार धर्माचरण करता हुआ अन्न अर्थात् कर्मों का फल भोगता हुआ या भोगकर कर्मफलभोग से सर्वथा रहित परमात्मा के समान रूप अर्थात् उसके कुछ गुण, कर्म, स्वभावों और उसके सामीप्य को प्राप्त कर लेता है। ऐसा कब होता है, इसके विषय में कहा है कि जो इस तथ्य को जानता है, जो इस मन्त्र में बताया गया है, वह इस परमपद को प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानने और परमात्मा के सख्य को प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करता रहे। यहाँ महर्षि दयानन्द ने 'पिप्पलम्' पद का अर्थ करते हुए लिखा है—'परिपक्वं फलं पापपुण्यजन्यं सुखदुःखात्मकं भोगं वा'। हमने यहाँ इसी अर्थ का ग्रहण किया है। (अनश्नन्, अन्यः, अभि, चाकशीति) 'अन्नमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' जीव के अतिरिक्त दूसरा चेतन तत्त्व अर्थात् परमात्मा किसी प्रकार का फल न भोगता हुआ जीवात्मा के कर्मों का द्रष्टा व फलप्रदाता होता है।

आधिदैविक भाष्य— (द्वा, सुपर्णा, सयुजा, सखायाः, समानम्, वृक्षम्, परि, सस्वजाते) दो ऐसे तत्त्व जो सृष्टि के रचना व पालनादि कर्मों को सुन्दर रूप से सम्पादित करते हैं और जो परस्पर मित्रभाव से वर्तते हुए साथ-२ जुड़े रहते हैं, वे मन एवं वाक् तत्त्व हैं। वे सृष्टि के

मूल उपादान प्रकृति पदार्थ रूपी वृक्ष के साथ समान रूप से जुड़े रहते हैं। यहाँ प्रकृति को वृक्ष इस कारण कहा है, क्योंकि यही प्रकृति पदार्थ छिन्न-भिन्न होकर अर्थात् विकार को प्राप्त होकर सृष्टि का कारण बनता है। वाक् तत्त्व मनस्तत्त्व में उत्पन्न होते स्पन्दन का रूप ही होता है, इस कारण इन्हें सयुजा सखा माना है। इनके सम्बन्ध को दर्शाते हुए ऋषि लिखते हैं— अथो द्वे एव धुरौ मनश्चैव वाक् च मनसो हि वाक् प्रजायते (जै.ब्रा.१.३२०), मनसा वा अग्रे कीर्तयति तद्वाचा वदति (शां.आ.७.२), मनसा हि वाग्धृता (तै.सं.६.१.७.२), वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम् (ऐ.ब्रा.५.२३)। इन दोनों ही पदार्थों का आधार प्रकृति पदार्थ ही होता है।

(तयोः, अन्यः, पिप्पलम्, स्वादु, अत्ति, अनश्नन्, अन्यः, अभि, चाकशीति) उनमें से एक [पिप्पलम् = पा+अलच्, पृषो. (आ.को.)। स्वादुः = प्रजा वै स्वादुः (जै.ब्रा.२.१४४), प्रजा स्वादु (ऐ.आ.१.३.४), मिथुनं वै स्वादु (ऐ.आ.१.३.४)] अर्थात् मनस्तत्त्व प्रजा अर्थात् अपने से उत्पन्न पदार्थों के साथ क्रिया करता है एवं मनस्तत्त्व में ही नाना प्रकार के यजन कर्म हुआ करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रकृति से उत्पन्न मनस्तत्त्व ही विकृत होकर आगामी सृष्टि का निर्माण करता है। उधर दूसरा पदार्थ वाक् तत्त्व मनस्तत्त्व का ही स्पन्दित होता हुआ रूप होता है। यह वाक् तत्त्व द्रव्यरूप न होकर कर्मरूप होता है। इस कारण यह पदार्थों का निमित्त कारण होता है, उपादान कारण नहीं। इसलिए वाक् तत्त्व को यहाँ द्रष्टा वा प्रेरक मात्र कहा गया है। वस्तुतः वाक् तत्त्व मनस्तत्त्व से पृथक् नहीं है और स्पन्दित होता हुआ मनस्तत्त्व ही वाक् तत्त्व है।

यहाँ मनस्तत्त्व एवं वाक् तत्त्व के अतिरिक्त वाक् एवं प्राण के युग्म का भी ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु मन एवं वाक् का ग्रहण करना सर्वाधिक उपयुक्त है।

आधिभौतिक भाष्य— (द्वा, सुपर्णा, सयुजा, सखायाः, समानम्, वृक्षम्, परि, सस्वजाते) राजा एवं प्रजा दोनों ही किसी सुराष्ट्र में समान रूप से अपने पालन आदि धर्मों का सम्यक् प्रकार से निर्वहण करते हैं। वे दोनों राष्ट्र हित के लिए परस्पर अच्छी प्रकार से संगत रहते हैं। इसके साथ ही वे मित्रवत् वर्तमान होकर राष्ट्ररूपी वृक्ष के साथ समान रूप से जुड़े रहते हैं। वृक्ष का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— वृक्षो व्रश्चनात् वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा (निरु.२.६)। यहाँ राज्य को वृक्ष इस कारण कहा है, क्योंकि राज्य अपने विधान के द्वारा सम्पूर्ण भूमि अर्थात् राष्ट्र को व्याप्त वा आच्छादित करता है। यहाँ स्पष्ट है कि राजा और

प्रजा दोनों का ही समान रूप से दायित्व है कि वे राज्य की उन्नति के लिए समान रूप से पुरुषार्थ करें।

(तयोः, अन्यः, पिप्पलम्, स्वादु, अत्ति, अनश्नन्, अन्यः, अभि, चाकशीति) उन दोनों अर्थात् राजा और प्रजा में से प्रजा राज्य के विधान के अनुसार अपने कर्मों का यथायोग्य फल प्राप्त करती है, परन्तु राजा प्रजा के फलभोग में द्रष्टा बनकर निर्लेप भाव से दण्ड वा पारितोषिक प्रदान करता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या राजा स्वयं अपराध करने पर दण्डनीय नहीं होता? इसके उत्तर में हम कहना चाहेंगे कि हाँ, अवश्य दण्डनीय होता है। राजा और अधिक दण्डनीय होता है, परन्तु जिस समय वह दण्ड पाता है, उस समय वह राजा न रहकर एक अपराधी मात्र होता है। यदि राजा स्वयं को ही दण्ड देता है, तब उस समय राजा दो रूपों में कार्य करता है। एक रूप में वह राजा होता है और उसका दूसरा रूप अपराधी का होता है। राजा का रूप अपराधी रूप को दण्ड देता है और वह राजारूप स्वयं साक्षी मात्र ही रहता है।

* * * * *

एकत्रिंशः खण्डः

आ याहीन्द्र पथिभिरीळितेभिर्यज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व।
तृप्तां जुहुर्मातुळस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव॥

[ऋ.खिल ७.५५.८]

आगमिष्यन्ति शक्रो देवताः।
तास्त्रिभिस्तीर्थेभिः शक्रप्रतरैरीळितेभिस्त्रिभिस्तीर्थैः।
यज्ञमिमं नो यज्ञभागम्। अग्नीषोमभागाविन्द्रो जुषस्व।
तृप्तामेवं मातुलयोगकन्याभागं सर्तृकेव सा। या देवतास्ताः।
तत्स्थाने शक्रं निदर्शनम्॥ ३१॥

आ याहीन्द्र पथिभिरीळितेभिर्यज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व।

तृप्तां जुहुर्मातुळस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव॥ [ऋ.खिल ७.५५.८]

इस मन्त्र का देवता इन्द्र प्रतीत होता है तथा इसका छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य— (आयाहि, इन्द्र, पथिभिः, ईडितेभिः) 'आगमिष्यन्ति शक्रो देवताः तास्त्रिभिस्तीर्थैभिः शक्रप्रतरैरीळितेभिस्त्रिभिस्तीर्थैः' इन्द्र अर्थात् सूर्यलोक में विभिन्न शक्तिशाली इन्द्र रश्मियाँ सब ओर से गमन करती हुई व्याप्त होती हैं। वे रश्मियाँ देवता स्वरूप अर्थात् नाना प्रकार के बल, प्रकाश, क्रियाओं आदि से युक्त होती हैं। वे तीन तीर्थों के साथ अर्थात् दुर्बल हो चुकी छन्द रश्मियों को तारने वाली तीन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ गमन करती हैं। त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को इन्द्र का वज्र भी कहा गया है— त्रिष्टुबिन्द्रस्य वज्रः (ऐ.ब्रा.२.२)। वे इन्द्र रश्मियाँ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को भी तारने वा अपने साथ संयुक्त करके उन्हें अधिक सक्रिय बनाने वाली तथा इन्द्र रश्मियों के मार्गों पर गमन करने वाली तीन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ गमन करती हैं। अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ सम्बन्ध दर्शाते हुए महर्षि ऐतरेय महीदास लिखते हैं— वृषा वै त्रिष्टुप् योषानुष्टुप् (ऐ.आ.१.३.५)। इसके अतिरिक्त भी कहा गया है— अनुष्टुप् छन्दसां प्रतिष्ठा (तै.सं.२.५.१०.३)। (यज्ञम्, इमम्, नः, भागधेयम्, जुषस्व) 'यज्ञमिमं नो यज्ञभागम् अग्नीषोमभागाविन्द्रो जुषस्व' वे इन्द्र रश्मियाँ उस सूर्यलोक में होने वाली नाना प्रकार की यजन प्रक्रियाओं में अग्नि और सोम दोनों ही पदार्थों के मध्य होने वाली आकर्षण वा संगमन क्रियाओं में भाग लेती हैं।

(तृप्ताम्, जुहुः, मातुलस्य, इव, योषा, भागः) 'तृप्तामेवं मातुलयोगकन्याभागं सर्तृकेव सा' [योगः = यद् योक्त्रं स योगः (तै.ब्रा.३.३.३.३)। मातुलः = मातृ+डुलच् (आ.को.)] यहाँ अन्तरिक्ष को ही माता समझना चाहिए। इस विषय में ग्रन्थकार का कथन है— मातान्तरिक्षं निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (निरु.२.८) यहाँ 'मातुल' पद का अर्थ वायुतत्त्व है, क्योंकि यह आकाश से जुड़ा रहता है। इस विषय में ऋषियों का कथन है— युक्तो वातोऽन्तरिक्षेण ते सह (तां.ब्रा.१.२.१), युनज्मि वायुमन्तरिक्षेण ते सह (तै.सं.३.१.६.१-२)। इस प्रकार इन्द्र तत्त्व की रश्मियाँ वायु रश्मियों, विशेषकर प्राण रश्मियों एवं सूत्रात्मा वायु से संयुक्त व तृप्त होकर नाना प्रकार के यजन कर्म करने में समर्थ होती हैं। ये प्राण व सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ अनुष्टुप् तथा त्रिष्टुप् के युग्म के समान कार्य करने वाली कही गयी हैं। जिस प्रकार अनुष्टुप् रश्मियों

से मिलकर त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों का प्रभाव बढ़ जाता है, उसी प्रकार प्राण रश्मियों से मिलकर सूत्रात्मा वायु रश्मियों का संयोजक प्रभाव बढ़ जाता है। यहाँ 'कन्या' पद के विषय में ग्रन्थकार का कथन है— कन्या कमनीया भवति (निरु.४.१५)। यजन कर्मों में सूत्रात्मा वायु एवं प्राण रश्मियाँ ही कन्या के रूप में समझी जा सकती हैं।

(ते, पैतृष्वसेयी, वपाम्, इव) [स्वसा = स्वसारः अङ्गुलिनाम (निघं.२.५)। वपा = यजमान-देवत्या वै वपा (तै.ब्रा.३.९.१०.१), वपन्ति याभिः क्रियाभिस्ताः (म.द.य.भा.२१.३१)] यहाँ सूर्य को पिता कहा गया है और सूर्य से उठने वाली ज्वालाएँ सूर्य की स्वसा कहलाती हैं, क्योंकि ये सूर्य में ही रहती और सूर्य की अंगुलियों के समान कार्य करती हुई प्रतीत होती हैं। उन ज्वालाओं से जो तरंगें निकलती हैं, उन्हें पैतृष्वसेयी कहा गया है। वे तरंगें सूर्य के बाहरी क्षेत्र में नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ करती रहती हैं और नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न भी करती हैं। इसी प्रकार सूर्य के आन्तरिक भागों में इन्द्रतत्त्व नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ करता रहता है।

भावार्थ— विभिन्न दुर्बल छन्द रश्मियों को त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ ऊर्जा प्रदान करके तारने वाली होती हैं, उधर अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की सक्रियता को बढ़ाने का कार्य करती हैं। विभिन्न विद्युत् तरंगें प्राण एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियों से समृद्ध होकर सृष्टि में नाना प्रकार के यजन कार्य करती हैं। सूर्य के ऊपर उठने वाली विशाल ज्वालाओं में भी नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ होती रहती हैं।

अन्त में भाष्यकार ने लिखा है— 'या देवतास्ताः तत्स्थाने शक्रं निदर्शनम्'। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक में जो भी देव पदार्थ इस प्रकार की यजन क्रियाएँ करते हैं, उन सबके स्थान पर यहाँ इन्द्र का ही निर्देश किया गया है। शक्र इन्द्र का ही एक नाम है।

* * * * *

= द्वात्रिंशः खण्डः =

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये।
अग्निं गीर्भिर्हवामहे॥ [ऋ.८.११.६]
विप्रं विप्रासोऽवसे विदुः। वेद विन्दतेर्वेदितव्यम्। विमलशरीरेण वायुना। विप्रस्तु हृत्पद्मनिलयस्थितम्। अकारसंहितमुकारं पूरयेन्मकारनिलयं गतम्। विप्रं प्राणेषु बिन्दुसिक्तं विकसितं वह्नितेजः प्रभं कनकपद्मेष्वमृतशरीरम्। अमृतजातस्थितम्।
अमृतवाचम्। अमृतमुखे वदन्ति। अग्निं गीर्भिर्हवामहे। अग्निं सम्बोधयेत्। अग्निः सर्वा देवताः (ऐ.ब्रा.२.३, श.ब्रा.१.६.२.८)
इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ ३२॥

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये।
अग्निं गीर्भिर्हवामहे॥ [ऋ.८.११.६]

इस मन्त्र का ऋषि काण्व प्रगाथ है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न एक विशेष प्रकार की रश्मि से होती है। इसका देवता अश्विनौ और छन्द स्वराड् बृहती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित व अप्रकाशित कण तेजयुक्त होते हुए संघनन प्रक्रिया को समृद्ध करके नाना पदार्थों को आकार प्रदान करने लगते हैं।

भाष्य— (विप्रम्, विप्रासः, अवसे, देवम्, मर्तास, ऊतये) 'विप्रं विप्रासोऽवसे विदुः वेद विन्दतेर्वेदितव्यम् विमलशरीरेण वायुना विप्रस्तु हृत्पद्मनिलयस्थितम् अकारसंहितमुकारं पूरये-न्मकारनिलयं गतम् विप्रं प्राणेषु बिन्दुसिक्तं विकसितं वह्नितेजः प्रभं कनकपद्मेष्वमृतशरीरम् अमृतजातस्थितम् अमृतवाचम् अमृतमुखे वदन्ति' यहाँ विप्र पद परमात्मा के लिए प्रयुक्त है, क्योंकि इसे यहाँ हृदय कमल में स्थित बताया गया है। मेधावी योगी जन उस विप्ररूप अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा को अपनी रक्षा के लिए, विज्ञान और आनन्द के लिए जानने व प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इसके लिए उन्हें क्या करना पड़ता है, यह बताते हुए लिखा है कि योगी जन को शरीर और प्राण दोनों को ही निर्मल व पवित्र बनाना पड़ता है। प्राणायाम एवं पूर्ण

सात्त्विक स्वल्प भोजन से शरीर और प्राण को शुद्ध बनाया जा सकता है। वे विप्र अर्थात् योगी जन प्राण को शुद्ध करने के लिए हृदयस्थ मकार के साथ अकारसहित उकार को पूरित करें अर्थात् ओम् का जप करें। जप के विषय में महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है—

तस्य वाचकः प्रणवः तज्जपस्तदर्थभावनम् (यो.द.)

अर्थात् 'ओम्' पद के अर्थ और भावना के साथ ही जप करने का विधान है। [कनकम् = कन्यते दीप्यते काम्यतेऽभीप्स्यते वा तत् कनकम् (उ.को.२.३३)] वह विप्र अर्थात् योगी अपने हृदय कमल में स्थित प्राणों में विप्र अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करता है अथवा वह परमात्मा की प्राप्ति के लिए उसका जप करता है अर्थात् साधना करता है।

यहाँ परमात्मा के विषय में कहा गया है कि वह ईश्वर विप्ररूप है। 'विप्र' पद का निर्वचन करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष की व्याख्या में लिखा है— वपति धर्ममिति विप्रः (उ.को.२.२९) अर्थात् परमात्मा वेद के द्वारा, साथ ही प्रत्येक कर्म करते समय अपनी अन्तःप्रेरणा द्वारा मनुष्य के अन्तःकरण में धर्म का बीजारोपण करता है, इस कारण 'विप्र' कहलाता है। उसे यहाँ बिन्दुसिक्त भी कहा है। इसका अर्थ यह है कि वह परमात्मा एकदेशीय बिन्दुरूप जीवात्मा को अपने ज्ञान और आनन्द से संसिक्त करता है। वह परमात्मा 'विकसित' भी कहाता है, क्योंकि वह अनन्त आकाश में फैला हुआ अर्थात् व्याप्त है। उसी परमात्मा को 'वह्नितेज' भी कहा है, क्योंकि वह सभी प्रकार के तेज और तेजस्वी पदार्थों का वाहक है। उसे 'प्रभ' इसलिए कहा है, क्योंकि उससे अधिक तेजस्वी अन्य कोई वस्तु ब्रह्माण्ड में नहीं है।

वह परमात्मा अमृतशरीर है अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि का आश्रयदाता और अविनाशी है तथा जीवों को भी अमृतलोक अर्थात् मोक्ष प्रदान कराने वाला है। वह सबके लिए कामना करने योग्य है। ऐसे उस परमात्मा को ध्यानी लोग अपने हृदयाकाश में प्राप्त करते हैं। उस परमात्मा को 'अमृतजातस्थित' भी कहा है अर्थात् वह अमृत प्रकृति पदार्थ से उत्पन्न पदार्थ मात्र में विद्यमान रहता है। उसे 'अमृतवाक्' भी कहा है। इसका अर्थ यह है कि उससे उत्पन्न वाक्, 'ओम्' भी अमृतरूप होती है, इसलिए उसे अक्षर भी कहा गया है। 'ओम्' के विषय में ऋषियों ने कहा है—

ओमिति ब्रह्म, ओमितीदꣳ सर्वम् (तै.आ.७.८.१; तै.उ.१.८.१)।

वे विप्र जन सदैव अपने मुख से अमृतमयी वाणी ही बोलते हैं अर्थात् वे सदैव ईश्वर की साक्षी में आत्मा के अनुकूल ही बोलते एवं तदनुसार व्यवहार करते हैं। इस प्रकार उनका सम्पूर्ण व्यवहार ब्रह्म की साक्षी में ही होता है।

(अग्निम्, गीर्भि:, हवामहे) 'अग्निं गीर्भिर्हवामहे' वे विप्र जन प्रकाशस्वरूप परमात्मा की वेदमन्त्रों के द्वारा स्तुति करते हैं। यहाँ उपासना में और दैनिक जीवन में वेद की ऋचाओं की महिमा प्रदर्शित होती है।

तदुपरान्त कहा है— 'अग्निं सम्बोधयेत् अग्नि: सर्वा देवता: इति तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय' अर्थात् योगी पुरुष को चाहिए कि ज्ञानस्वरूप परमात्मा का सदैव आह्वान करता रहे अर्थात् उसको प्राप्त करने की इच्छा निरन्तर करता रहे, क्योंकि अग्निस्वरूप परमात्मा में ही सभी देवों का निवास होता है। सभी जीवात्मा और सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ उसी ब्रह्म में रहते हैं। इसी बात को अगले खण्ड में कहा गया है।

* * * * *

त्रयस्त्रिंश: खण्ड:

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेद:। स न: पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्नि:॥ [ऋ.१.९९.१]

जातवेदस इति।

जातमिदं सर्वं सचराचरं स्थित्युत्पत्तिप्रलयन्यायेन सुनवाम सोममिति।

प्रसवायाभिषवाय सोमं राजानममृतम्।

अरातीयतो यज्ञार्थमिति स्म: निश्चयेन दहाति दहति भस्मीकरोति।

सोमो ददिदित्यर्थ:।

स न: पर्षदति दुर्गाणि दुर्गमनानि स्थानानि नावेव सिन्धुम्।

यथा कश्चित्कर्णधारो नावेव सिन्धो: स्यन्दमानानां नदीं जलदुर्गां महाकूलां तारयति। दुरितात्यग्निरिति तानि तारयति। तस्यैषापरा भवति॥ ३३॥

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥ [ऋ.१.९९.१]

इसका ऋषि मरीचिपुत्र कश्यप है। [कश्यपः = कश्यपो वै कूर्मः (श.ब्रा.७.४.१.५)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूर्य की किरणों में विद्यमान कूर्म नामक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता जातवेदा अग्नि और छन्द निचृद् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पदार्थ मात्र में विद्यमान अग्नितत्त्व तीक्ष्ण तेज से सम्पन्न होता है।

(जातवेदसे, सुनवाम, सोमम्) 'जातवेदस इति जातमिदं सर्वं सचराचरं स्थित्युत्पत्तिप्रलय-न्यायेन सुनवाम सोममिति प्रसवायाभिषवाय सोमं राजानममृतम्' यहाँ जातवेद परमात्मा का नाम है। इसका कारण यह है कि वह परमात्मा इस सम्पूर्ण चराचर जगत् में उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को अपने न्याय एवं नियन्त्रणयुक्त व्यवहार से सम्पन्न करता है। वह सब जीवों के कर्मों का न्यायपूर्वक फल देने के लिए ही सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है अर्थात् जीवों के कर्म ही सृष्टि-उत्पत्ति का मुख्य हेतु हैं। इसी को महर्षि कपिल ने इस प्रकार कहा है— कर्माकृष्टेर्वानादितः (सां.द.३.६२) अर्थात् अनादि काल से कर्मों के आकर्षण-प्रभाव से भी प्रकृति में प्रवृत्ति हुआ करती है। इस कार्य के लिए वह सोमतत्त्व को सम्पीडित करता है वा निचोड़ता है। यहाँ 'सोम' पद का तात्पर्य सभी उत्पन्न सूक्ष्म पदार्थ समझना चाहिए, जिसमें प्राण एवं मरुत् दोनों प्रकार की रश्मियों सम्मिलित हैं। इस अविनाशी सोम पदार्थ [यहाँ सोम को अमृत इसलिए कहा है, क्योंकि सृष्टिकाल में यह पदार्थ नष्ट नहीं होता है।] को उत्पन्न वा सम्पीडित करने के लिए (अरातीयतः, नि, दहाति, वेदः) 'अरातीयतो यज्ञार्थमिति स्मः निश्चयेन दहाति दहति भस्मी-करोति सोमो ददिदित्यर्थः' और इसके द्वारा सृष्टि में नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को सम्पादित करने के लिए निश्चित ही असुरादि पदार्थों का दहन करके नष्ट करता है। ऐसा करके वह नाना प्रकार के सोम अर्थात् विभिन्न पदार्थों को यजन प्रक्रिया के लिए धारण करता है वा प्रदान करता है अर्थात् उन्हें सृष्टि प्रक्रिया में विनियुक्त करता है। (सः, नः, पर्षत्, अति, दुर्गाणि, विश्वा) 'स नः पर्षदति दुर्गाणि दुर्गमनानि स्थानानि' वह परमात्मा हम मनुष्यों को दुर्गम स्थानों से अर्थात् जीवन की कठिनाइयों से पार उतारता है। इसी प्रकार वह सृष्टि में सभी प्रकार के कणों एवं रश्मियों को हर बाधा से तारता है और उन्हें यजन कर्म में समर्थ

बनाता है।

(नाव, इव, सिन्धुम्, दुरिता, अति, अग्निः) 'नावेव सिन्धुम् यथा कश्चित्कर्णधारो नावेव सिन्धोः स्यन्दमानानां नदीं जलदुर्गां महाकूलां तारयति दुरितात्यग्निरिति तानि तारयति' वह जातवेदा ईश्वर हमें और सूक्ष्म पदार्थों को कैसे तारता है, यह बतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार कोई नाव यात्री को समुद्र वा नदी से तार देती है, पुनः कहा कि जैसे कोई नाविक नौका के द्वारा बहती हुई नदी के गहन जल और विस्तृत किनारों से यात्री को पार लगा देता है। इस सृष्टि में ऐसी अनेक रश्मियाँ होती हैं, जो अन्य दुर्बल हुई रश्मियों को बल प्रदान करके बाधाओं से पार लगा देती हैं। उन तारक रश्मियों की भी मूल तारक 'ओम्' रश्मि होती है और 'ओम्' रश्मि साक्षात् ब्रह्म से उत्पन्न होती है। इधर धर्मात्मा मनुष्य ईश्वर का आश्रय पाकर हर दुःख से तर जाता है। इसलिए वेद ने कहा— तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः (अथर्व.१०.१.४४)। यहाँ पुनः कहा कि वह जातवेदा अग्नि-रूप परमात्मा, जो अत्यन्त दुःख होते हैं, उनसे पार लगा देता है।

* * * * *

चतुस्त्रिंशः खण्डः

इदं तेऽन्याभिरसमानमद्भिर्याः काश्च सिन्धुं प्रवहन्ति नद्यः।
सर्पो जीर्णामिव त्वचं जहाति पापं सशिरस्कोऽभ्युपेत्य॥
इदं तेऽन्याभिरसमानाभिर्या काश्च सिन्धुं पतिं कृत्वा नद्यो वहन्ति।
सर्पो जीर्णामिव सर्पस्त्वचं त्यजति पापं त्यजन्ति। आप आप्नोतेः।
तासामेषा भवति॥ ३४॥

इदं तेऽन्याभिरसमानमद्भिर्याः काश्च सिन्धुं प्रवहन्ति नद्यः।
सर्पो जीर्णामिव त्वचं जहाति पापं सशिरस्कोऽभ्युपेत्य॥

इसका देवता आदित्य और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से आदित्य लोक विभिन्न प्रकार के तेजस्वी प्रकाश से संयुक्त होने लगता है।

(इदम्, ते, अन्याभिः, असमानम्, अद्भिः, याः, काः, च, सिन्धुम्, प्रवहन्ति, नद्यः) 'इदं तेऽन्याभिरसमानाभिर्या काश्च सिन्धुं पतिं कृत्वा नद्यो वहन्ति' आदित्य लोक के अन्दर विभिन्न प्रकार के संयोज्य कणों की धाराएँ अन्य असमान स्वभाव वाले संयोज्य कणों की जिन किन्हीं धाराओं के साथ आदित्य लोक के आभ्यन्तर भागरूपी समुद्र की ओर प्रवाहित होती हैं। सौर कूपों के माध्यम से पदार्थ की धाराएँ सूर्य के बाहरी तल से पदार्थ को अन्दर की ओर ले जाती रहती हैं। सूर्य का आभ्यन्तर भाग सिन्धु इस कारण कहलाता है, क्योंकि यह सभी धाराओं को अपने साथ बाँधे रखता है।

(सर्पः, जीर्णाम्, इव, त्वचम्, जहाति, पापम्, सशिरस्कः, अभि, उपेत्य) 'सर्पो जीर्णामिव सर्पस्त्वचं त्यजति पापं त्यजन्ति' [सर्पः = इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किञ्च (श.ब्रा.७.४.१.२५), देवा वै सर्पाः (तै.ब्रा.२.२.६.२)। जीर्णः = यह पद 'जॄ वयो-हानौ' धातु से व्युत्पन्न होता है, परन्तु हमें यहाँ यह पद 'जरते गृणाति' (निरु.४.२४) एवं 'जरते अर्चतिकर्मा' (निघं.३.१४) धातुओं से व्युत्पन्न हुआ प्रतीत होता है।] जब आदित्य लोक में स्थित सौर कूप तप्त तेज से युक्त होकर पदार्थ को निगलते हुए आभ्यन्तर भागों में ले जाने लगते हैं, तब वे पदार्थ अपने आच्छादक पतनकारी पाप संज्ञक पदार्थों को त्याग देते हैं। [शिरः = त्रिवृद्धि शिरः (श.ब्रा.८.४.४.४), गायत्रं हि शिरः (श.ब्रा.८.६.२.६), गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता शिरः (श.ब्रा.१०.३.२.१)] वे पदार्थ उस समय तीन गायत्री छन्द रश्मि समूहों के साथ संयुक्त होकर अथवा ऐसे समूहों के साथ अन्य आवश्यक रश्मियों एवं बलों को प्राप्त करके केन्द्रीय भाग की ओर पहुँच जाते हैं।

तदनन्तर कहा है— 'आप आप्नोतेः तासामेषा भवति' अर्थात् यहाँ 'अद्भिः' पद नाना प्रकार के सूक्ष्म कणों, जो सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं, के लिए तृतीया बहुवचन में प्रयुक्त है। उन्हीं आपः परमाणुओं की यह ऋचा है।

उपर्युक्त मन्त्र कहाँ से लिया गया है, यह अज्ञात है। सम्भवतः वेद की किसी लुप्त शाखा में यह विद्यमान हो।

* * * * *

= पञ्चत्रिंशः खण्डः =

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥ [ऋ.७.५९.१२]
त्र्यम्बको रुद्रः। तं त्र्यम्बकं यजामहे [सुगन्धिम्] सुगन्धिं सुष्टुगन्धिम्। पुष्टिवर्धनं पुष्टिकारकमिव। उर्वारुकमिव [फलं] बन्धनादारोधनात्। मृत्योः सकाशान्मुञ्चस्व मां कस्मादिति। एषाऽपरा भवति॥ ३५॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥ [ऋ.७.५९.१२]

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है, जिसकी चर्चा हम कई बार कर चुके हैं। इसका देवता रुद्र और छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से रुद्र अर्थात् तीक्ष्ण भेदक रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों के साथ अनुकूलतापूर्वक संयुक्त होकर अपने-२ कार्यों को उपयुक्त रीति से सम्पादित करने में सक्षम होती हैं। इसके साथ ही लाल और भूरे रंग का तेज उत्पन्न होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

आधिदैविक भाष्य— (त्र्यम्बकम्, यजामहे, सुगन्धिम्, पुष्टिवर्धनम्) 'त्र्यम्बको रुद्रः तं त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं सुष्टुगन्धिम् पुष्टिवर्धनं पुष्टिकारकमिव' [अम्बिकः = यह पद 'अबि गतौ' वा 'अबि शब्दे' धातुओं से उणादि सूत्र 'क्रिय इकन्' (उ.को.२.४५) से इकन् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। 'गन्धिम्' पद 'गन्ध अर्दने' धातु से व्युत्पन्न होता है। यहाँ 'त्र्यम्बकः' पद 'त्र्यम्बिका' का रूप प्रतीत होता है।] रुद्र संज्ञक तीक्ष्ण रश्मियाँ तीव्र ध्वनि उत्पन्न करती हुई तीन प्रकार की गतियों से युक्त होती हैं। यहाँ ऐसा भी प्रतीत होता है कि रुद्र संज्ञक तीक्ष्ण तरंगों में तीन प्रकार की रश्मियों की मुख्य भूमिका होती हो। रुद्र नामक पदार्थ इन्द्र का तीव्र रूप होता है, जिसमें ऊष्मा की मात्रा बहुत अधिक होती है। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है— अग्निर्वै रुद्रः (श.ब्रा.५.३.१.१०)। महर्षि तित्तिर का कथन है— एकादश रुद्रा एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् (तै.सं.३.४.९.७)। उधर अन्य ऋषियों ने कहा है— त्रिष्टुबिन्द्रस्य वज्रः (ऐ.ब्रा.२.२), इन्द्रस्त्रिष्टुप् (श.ब्रा.६.६.२.७)। इन वचनों से इन्द्र और रुद्र दोनों पदार्थों की एकरूपता सिद्ध होती है। इन्द्र के विषय में कहा गया है— ऋक्सामे वा

इन्द्रस्य हरी (ऐ.ब्रा.२.२४), ऋचश्च सामानि चेन्द्रः (श.ब्रा.४.६.७.३), स यस्स आकाश इन्द्र एव सः (जै.उ.१.२८.२)।

इससे स्पष्ट होता है कि वह इन्द्र, ऋक्, यजु एवं साम तीनों प्रकार की रश्मियों का मिश्रण होता है, आकाश के यजु रश्मियों से निर्मित होने के कारण। वह रुद्र सुगन्धियुक्त होता है, इसका तात्पर्य है कि वह पदार्थ के अन्दर तीव्र प्रहारक क्षमता एवं गति उत्पन्न करता है, जिससे यजन प्रक्रिया पुष्ट होने लगती है। ऐसी उन रुद्र संज्ञक रश्मियों को इस छन्द रश्मि की कारणरूप वसिष्ठ रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों के साथ संगत करती हैं। इसका अर्थ यह है कि अग्निरूप वसिष्ठ से उत्पन्न प्राण रश्मियाँ इन रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। रुद्र रश्मियाँ बाधक असुर पदार्थों को नष्ट करके यजन प्रक्रियाओं को निर्बाध बनाती हैं।

(उर्वारुकम्, इव, बन्धनात्, मृत्योः, मुक्षीय, मा, अमृतात्) 'उर्वारुकमिव बन्धनादारोधनात् मृत्योः सकाशान्मुञ्चस्व' [उर्वारुकम् = उरु+आरुकम्, यहाँ आरुकम् पद आङ्पूर्वक 'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च' धातु से व्युत्पन्न होता है।] वह रुद्रसंज्ञक पदार्थ व्यापक रूप से प्रकाशित व आकर्षित करने वाला होता है। ऐसे ही प्रकाशक व आकर्षक पदार्थों के समान विभिन्न संयोज्य कणों को मृत्यु अर्थात् प्राणतत्त्व से विहीन करने वाली असुर रश्मियों के बन्धन से मुक्त करता है। मृत्यु के विषय में महर्षि तित्तिर लिखते हैं— अशनया मृत्युरेव (तै.ब्रा. ३.९.१५.२)। ये रुद्र रश्मियाँ उन असुर रश्मि आदि पदार्थों को नष्ट करती हैं, जो संयोज्य पदार्थों का भक्षण करने अर्थात् उन्हें नष्ट करने का प्रयास करते हैं, परन्तु ये अमृत अर्थात् अग्नि से उन संयोज्य कणों को पृथक् नहीं करती और न ही उन्हें प्राण रश्मियों से वियुक्त करती हैं। इसका यहाँ यह अर्थ भी है कि रुद्र रश्मियाँ पदार्थ को असुर पदार्थ से वहाँ तक मुक्त करती हैं, जहाँ तक वह पदार्थ अग्नि और प्राण से समुचित रूप से युक्त न हो जाये। अमृत के विषय में ऋषियों ने कहा है— अमृतमु वै प्राणाः (श.ब्रा.९.१.२.३२), अग्निरमृतम् (श.ब्रा.१०.२.६.१७)। इन्हीं वचनों के आधार पर यहाँ अमृत का अर्थ ग्रहण किया है।

इसका ऋषि दयानन्द ने आध्यात्मिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (त्र्यम्बकम्) त्रिष्वम्बकं रक्षणं यस्य रुद्रस्य परमेश्वरस्य यद्वा त्रयाणां जीवकार-णकार्याणां रक्षकस्तं परमेश्वरम् (यजामहे) संगच्छेमहि (सुगन्धिम्) सुविस्तृतपुण्यकीर्तिम् (पुष्टिवर्धनम्) यः पुष्टिं वर्धयति तम् (उर्वारुकमिव) यथोर्वारुक

फलम् (बन्धनात्) (मृत्योः) मरणात् (मुक्षीय) मुक्तो भवेयम् (मा) निषेधे (आ) मर्यादायाम् (अमृतात्) मोक्षप्राप्तेः।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। हे मनुष्या अस्माकं सर्वेषां जगदीश्वर एवोपास्योऽस्ति यस्योपासनात् पुष्टिर्वृद्धिः शुद्धकीर्तिर्मोक्षश्च प्राप्नोति मृत्युभयं नश्यति तं विहायान्यस्योपासनां वयं कदापि न कुर्यामेति।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जिस (सुगन्धिम्) अच्छे प्रकार पुण्यरूप यशयुक्त (पुष्टिवर्धनम्) पुष्टि बढ़ाने वाले (त्र्यम्बकम्) तीनों कालों में रक्षण करने वा तीन अर्थात् जीव कारण और कार्यों की रक्षा करने वाले परमेश्वर को हम लोग (यजामहे) उत्तम प्रकार प्राप्त होवें उसकी आप लोग भी उपासना करिये और जैसे मैं (बन्धनात्) बन्धन से (उर्वारुकमिव) ककड़ी के फल के सदृश (मृत्योः) मरण से (मुक्षीय) छूटूँ वैसे आप लोग भी छूटिये जैसे मैं मुक्ति से न छूटूँ वैसे आप भी (अमृतात्) मुक्ति की प्राप्ति से विरक्त (मा, आ) मत हूजिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। हे मनुष्यो! हम सब लोगों का उपास्य जगदीश्वर ही है जिसकी उपासना से पुष्टि, वृद्धि, उत्तम यश और मोक्ष प्राप्त होता है, मृत्यु सम्बन्धी भय नष्ट होता है, उसका त्याग करके अन्य की उपासना हम लोग कभी न करें।''

आधिभौतिक भाष्य— (त्र्यम्बकम्, यजामहे, सुगन्धिम्, पुष्टिवर्धनम्) तीनों प्रकार के दुःखों से रक्षा करने वाला विस्तृत पुण्यकीर्ति से युक्त जो सम्पूर्ण प्रजा का पोषक राजा होता है, वह राष्ट्रविरोधी तत्त्वों एवं क्रूरकर्मा अपराधियों को तीक्ष्ण दण्ड देके रुलाने वाला होने से 'रुद्र' कहलाता है। प्रजा को चाहिए कि ऐसे ऐश्वर्यवान् राजा का सम्मान करे और उसके द्वारा बनाए हुए विधान के साथ अपने कर्म और व्यवहारों को संगत करने का प्रयत्न करे। यहाँ यह बात भी ध्वनित हो रही है कि जो राजा प्रजा का रक्षण, पोषण और धारण करने में समर्थ नहीं होता, उसे किसी को दण्ड देने का भी कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। इसके साथ ही जो राजा दुष्टों को दण्ड नहीं दे सकता, वह प्रजा का धारण, पोषण और रक्षण करने में भी समर्थ नहीं हो सकता। इसी कारण भगवान् मनु ने कहा है—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ (मनु.७.१८)

अर्थात् दण्ड सम्पूर्ण प्रजा पर शासन करता है और दण्ड ही प्रजा की रक्षा भी करता है। सोते हुओं में दण्ड ही जागता है, अतः विद्वान् लोग दण्ड को धर्म कहते हैं।

(उर्वारुकम्, इव, बन्धानात्, मृत्योः, मुक्षीय, मा, अमृतात्) जिस प्रकार पका हुआ सुगन्धित खरबूजा बेल के बन्धन से स्वयं मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार वह धर्मात्मा राजा अपने उन प्रजाजनों, जो धर्माचरण के कारण यशस्वी और सर्वोपकारक होते हैं, को प्रत्येक प्रकार के दुःखों के बन्धन से मुक्त करता है, जब तक की वे अमृत को प्राप्त नहीं कर लेते अर्थात् अक्षय सुख को प्राप्त नहीं कर लेते। यद्यपि अक्षय सुख अर्थात् मोक्षप्राप्ति में राजा का प्रत्यक्ष कोई योगदान नहीं होता, परन्तु राजा का चरित्र और विधान प्रजा को प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावित करता है। इसी कारण मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के राज्य में सभी मनुष्य सुखी और धर्मात्मा थे।

तदुपरान्त भाष्यकार का कथन है— 'मां कस्मादिति एषाऽपरा भवति' अर्थात् वह रुद्र मुझे अर्थात् वसिष्ठ संज्ञक आग्नेय पदार्थों को उपर्युक्त मृत्यु नामक पदार्थ से क्यों मुक्त कराता है, इस विषय में अगली ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

षट्त्रिंशः खण्डः

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्। शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥ [ऋ.१०.१६१.४]

शतं जीव शरदो वर्धमानः। इत्यपि निगमो भवति। शतमिति शतं दीर्घमायुः। मरुत एना वर्धयन्ति। शतमेनमेव शतात्मानं भवति। शतमनन्तं भवति। शतमैश्वर्यं भवति। शतमिति शतं दीर्घमायुः ॥ ३६ ॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥ [ऋ.१०.१६१.४]

इस मन्त्र का ऋषि प्राजापत्य यक्ष्मनाशन है। [नाशनः = नशत् व्याप्तिकर्मा (निघं.

२.१८)] इसका अर्थ यह है कि [प्रजापतिः = आनुष्टुभः प्रजापतिः (तै.ब्रा.३.३.२.१)] इसकी उत्पत्ति अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से उत्पन्न यजन कर्म को व्याप्त करने वाली सूक्ष्म रश्मि विशेष से होती है। इसका देवता राजयक्ष्मनाशन तथा छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सृष्टि में यजन कर्म व्याप्त तथा यजनशील पदार्थ संदीप्त होने लगते हैं। यहाँ 'यक्ष्म' पद यज्ञ अर्थ में प्रयुक्त है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

आधिदैविक भाष्य— (शतम्, जीव, शरदः, वर्धमानः) 'शतं जीव शरदो वर्धमानः शतमिति शतं दीर्घमायुः मरुत एना वर्धयन्ति शतमेनमेव शतात्मानं भवति शतमनन्तं भवति शतमैश्वर्यं भवति शतमिति शतं दीर्घमायुः' [शरत् = शरत् प्रतिहारः (ष.ब्रा.३.४), स्वधा वै शरद् (श.ब्रा.१३.८.१.४), शृणाति येन सा (ऋतुः) (म.द.य.भा.१३.५७), अन्नं वै शरद् (मै.सं. १.६.९), यद् विद्योतते तच्छरदः (रूपम्) (श.ब्रा.२.२.३.८)] आदित्य लोक के अन्दर इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियाँ असंख्य शरद् ऋतु रश्मियों को नाना प्रकार के प्राण, विशेषकर सूत्रात्मा वायु, प्राण, अपान एवं व्यान रश्मियों से संयुक्त करके यजन क्रियाओं को समृद्ध करने लगती हैं। ये शरद् रश्मियाँ तीक्ष्णतापूर्वक असुरादि अनिष्ट पदार्थों को नष्ट करके विभिन्न ऋतु रश्मियों की प्रहरी बनकर संयोज्य कणों को प्रकाशित करती हैं। ये शरद् रश्मियाँ विद्युत् बलों को समृद्ध करके यजन क्रियाओं को बढ़ाती हैं। इस यजन प्रक्रिया को विभिन्न मरुत् रश्मियाँ भी समृद्ध करती हैं। सैकड़ों अथवा असंख्य रश्मियों से युक्त यह आदित्य लोक स्वयं को प्रकाशित करने में समर्थ होता है। इसके साथ ही आदित्यलोकस्थ पदार्थ सूत्रात्मा वायु की असंख्य शाखा-प्रशाखाओं से संयुक्त होने लगते हैं।

अब 'शतम्' पद का अर्थ करते हुए लिखा है कि अनन्त ही 'शतम्' होता है और जो रश्मियों का नियन्त्रण सामर्थ्य है, उसको भी 'शतम्' कहते हैं। यदि रश्मियाँ अनन्त होवें, तो उनका असंख्य होना भी कोई महत्त्व नहीं रखता, इसलिए यहाँ ऐश्वर्य-सम्पन्नता को 'शतम्' कहा है। पुनः कहा कि जो दीर्घकाल तक आयु को प्राप्त करे अर्थात् उसमें दीर्घकाल तक यजन क्रिया चलती रहे और उसमें दीर्घकाल तक ऊष्मा व प्रकाश की मात्रा बनी रहे, उस आदित्य लोक को भी 'शतम्' कहा गया है। इसलिए ऋषियों ने आयु के विषय में कहा है— अग्निर्वाऽआयुः (श.ब्रा.६.७.३.७), यज्ञो वा आयुः (तां.ब्रा.६.४.४)।

(शतम्, हेमन्तान्, शतम्, उ, वसन्तान्) [हेमन्तः = हेमन्तो हिमवान् हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वा (निरु.४.२७)। वसन्तः = वसन्तो वै समित् (श.ब्रा.१.५.३.९), वसन्त एव भर्गः (गो.पू.५.

१५), ऊर्ग् वै वसन्तः (ऐ.ब्रा.४.२६)] आदित्य लोक में असंख्य हेमन्त एवं वसन्त रश्मियाँ भी सक्रिय रहती हैं। इनमें से हेमन्त रश्मियाँ अन्य रश्मियों को बार-बार उत्तेजित वा प्रक्षिप्त करती हुई यजन प्रक्रिया को बढ़ाती हैं, क्योंकि ये सहस् और सहस्य मास रश्मियों से युक्त होने के कारण बलों को समृद्ध करती हैं। वसन्त रश्मियाँ ईन्धन का कार्य करती हुई आदित्य लोक में प्रकाश की मात्रा को बढ़ाती हैं।

(शतम्, इन्द्राग्नी, सविता, बृहस्पतिः) [बृहस्पतिः = अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं (वायुः) पवते (श.ब्रा.१४.२.२.१०)] आदित्य लोक में अग्नि तत्त्व से समृद्ध इन्द्र तत्त्व की असंख्य धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। विद्युत् एवं वायु तत्त्व भी असंख्यात मात्रा में विद्यमान रहते हैं। सविता के विषय में कहा है— अभ्रमेव सविता (गो.पू.१.३३)। सूर्यलोक के तल पर असंख्य छोटे-बड़े मेघ विद्यमान होते हैं। (शतायुषा, हविषा, इमम्, पुनः, दुः) वह आदित्य लोक असंख्य प्रकार की यजन क्रियाओं से समृद्ध होता है, जो हवि अर्थात् मास रश्मियों के द्वारा बार-२ सक्रिय होती रहती हैं। यहाँ 'दुः' पद का तात्पर्य 'दद्युः' है, इसके लिए म.द.ऋ.भा.१.१२७.४ द्रष्टव्य है।

* * * * *

सप्तत्रिंशः खण्डः

मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान्कदा चना दभन्।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ॥ [ऋ.१.८४.२०]
मा च ते धनानि। मा च ते कदाचन सरिषुः। सर्वाणि प्रज्ञानान्युपमानाय।
मनुष्यहितः अयमादित्योऽयमात्मा। अथैतदनुप्रवदन्ति।
अथैतं महान्तमात्मानमेषर्ग्गणः प्रवदति वैश्वकर्मणे।
देवानां नु वयं जाना॥ [ऋ.१०.७२.१]
नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्॥ [ऋ.१०.१२९.१] इति च।
सैषाऽऽत्मजिज्ञासा। सैषा सर्वभूतजिज्ञासा।

ब्रह्मणः सारिष्टं सरूपतां सलोकतां गमयति य एवं वेद।
नमो ब्रह्मणे। नमो महते भूताय। नमो यास्काय।
ब्रह्मशुक्लमसीय ब्रह्मशुक्लमसीय॥ ३७॥

मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान्कदा चना दभन्।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ॥ [ऋ.१.८४.२०]

इस मन्त्र का ऋषि राहूगण गोतम है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति धनञ्जय रश्मि से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विस्तार को प्राप्त करते हुए नीलवर्ण को उत्पन्न करता है।

आधिदैविक भाष्य— (मा, ते, राधांसि, मा, ते, ऊतयः, वसो, अस्मान्, कदाचन, आदभन्) 'मा च ते धनानि मा च ते कदाचन सरिषुः' [सरः = वाङ्नाम (निघं.१.११), अथ यत्स्फू-र्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य (अग्नेः) सारस्वतं रूपम् (ऐ.ब्रा.३.४)] विभिन्न लोकों तथा प्राणियों को बसाने वाले सूर्यलोक में विद्यमान नाना प्रकार के धन अर्थात् वे पदार्थ, जो सूर्यलोक में होने वाली विभिन्न क्रियाओं के लिए तृप्तिकारी होते हैं अर्थात् वे कण जिनका संलयन होकर ऊर्जा की उत्पत्ति होती है, वे कभी नष्ट नहीं होते हैं। उनकी ऊतियाँ अर्थात् निर्बाध गमन मार्ग अथवा गमन मार्गों की सुरक्षा, उन कणों की कमनीयता एवं ऊर्जा भी नष्ट नहीं होती है। इसका कारण यह है कि उन क्षेत्रों में विद्यमान विभिन्न वाक् रश्मियाँ कभी नष्ट नहीं होती हैं। वस्तुतः जब कभी ऐसा होता है, तब वह सूर्यलोक ही नष्ट हो जाता है और एक ऐसे लोक में परिवर्तित हो जाता है, जिसे वसु नहीं कहा जा सकता। यहाँ संलयनीय कणों को धन इस कारण कहा गया है, क्योंकि उनके बिना भी आदित्य लोक का वास्तविक स्वरूप नष्ट हो जाता है। यहाँ 'दभन्' क्रियापद के साथ आङ् उपसर्ग भी है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक की सीमा के अन्दर, विशेषकर केन्द्रीय भाग में ऐसा नहीं होता।

(विश्वा, च, न, उपमिमीहि, मानुष, वसूनि, चर्षणिभ्य, आ) 'सर्वाणि प्रज्ञानान्युपमानाय मनुष्यहितः अयमादित्योऽयमात्मा अथैतदनुप्रवदन्ति' [चर्षणिः = चायितादित्यः (निरु.५.२४)। मानुषः = यदब्रुवन्मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मादुषमभवत्तन्मादुषस्य मादुषत्वं मादुषं ह वै नामैतद्यन्मानुषं तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते (ऐ.ब्रा.३.३३)] आदित्य लोक के अन्दर मानुष नाम की विशेष प्रकार की तेजस्वी रश्मियाँ आदित्य के केन्द्रीय भाग की ओर अनेक प्रकार

के कणों को पहुँचाने के कार्य में सहयोग करती हैं अथवा प्रकाश की उत्पत्ति में अपनी भूमिका निभाती हैं। वे रश्मियाँ धनञ्जय रश्मियों के साथ गमन करती हुई विभिन्न किरणों को निकटता से मापती हुई सीमांकित करती हैं अर्थात् उन्हें अन्तरिक्ष में गमन करने योग्य स्वरूप प्रदान करती हैं। मानुष संज्ञक रश्मियों के विषय में वेदविज्ञान-आलोक ३.३३.२ पठनीय है। यह आदित्यलोक मनुष्य संज्ञक अनेक प्रकार के कणों को धारण करता है और हम सबका हितकारी होने से हमारे लिए आत्मा के समान है।

भावार्थ— सूर्यलोक के अन्दर वे कण जिनके संलयन से ऊर्जा की उत्पत्ति होती है, वे कभी नष्ट नहीं होते हैं और उनसे उत्पन्न ऊर्जा भी नष्ट नहीं होती है। उनके गमन मार्ग भी सुरक्षित रहते हैं, क्योंकि विभिन्न वाक् रश्मियाँ इन सबकी सुरक्षा करती हैं। जब ये वाक् रश्मियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं, तब सूर्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। सूर्य के अन्दर कुछ विशेष प्रकार की रश्मियाँ संलयनीय कणों को सूर्य के केन्द्रीय भाग तक लाने का कार्य करती हैं।

इसके अनन्तर ये ऋषि महान् आत्मा, जो सम्पूर्ण जगत् का कर्त्ता है, के विषय में प्रवचन करते हुए लिखते हैं— 'अथैतं महान्तमात्मानमेषग्गणः प्रवदति वैश्वकर्मणे'। इसके लिए वे निम्नलिखित ऋचा को प्रस्तुत करते हैं— 'देवानां नु वयं जाना'। यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे॥ [ऋ.१०.७२.१]

इसका ऋषि आङ्गिरसो लौक्यो वा बृहस्पतिः द्राक्षापर्णी अदितिर्वा है। [लोकः = छन्दांसि वै सर्वे लोकाः (जै.ब्रा.१.३३२)। द्राक्षा = द्राङ्क्ष्+अ+टाप्, नलोपः (आ.को.), यहाँ द्राक्ष धातु इच्छा करने अर्थ में प्रयुक्त है।] इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अनेक परिस्थितियों में अनेक प्रकार की ऋषि रश्मियों से होती है अथवा अनेक ऋषि रश्मियों की उपस्थिति में होती है। ये ऋषि रश्मियाँ हैं— जलते हुए अग्नि में प्रकाशित विभिन्न छन्द रश्मियों में विद्यमान सूत्रात्मा वायु अथवा प्राणापान रश्मियाँ। दूसरी ऋषि रश्मियाँ हैं— आकर्षण व धारण गुणों से युक्त अदिति अर्थात् पार्थिव परमाणुओं से उत्सर्जित होने वाली सूक्ष्म रश्मियाँ।

इसका देवता देवाः और छन्द अनुष्टुप् होने से विभिन्न देव पदार्थ नाना प्रकार की

छन्द रश्मियों के अनुकूल प्रभाव से युक्त होने लगते हैं। इसके साथ ही लाल-भूरे रंग का तेज उत्पन्न होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य— (देवानाम्, नु, वयम्, जाना, प्र, वोचाम, विपन्यया) इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियाँ विभिन्न देव पदार्थों को अपने प्रकाशन आदि व्यवहारों के द्वारा उत्पन्न व प्रकाशित करती हैं। यह निश्चित है कि जब तक कारण पदार्थों में कोई गुण विद्यमान नहीं हो, तब तक वे कार्यरूप पदार्थों में उस गुण को उत्पन्न नहीं कर सकती। (उक्थेषु, शस्यमानेषु, यः, पश्यात्, उत्तरे, युगे) ये ऋषि रश्मियाँ प्रकाशमान उक्थों अर्थात् विभिन्न छन्दादि रश्मियों में होने वाले उत्कृष्ट संयोगों में नाना प्रकार के रूपों को दर्शाती अर्थात् प्राप्त कराती हैं। यहाँ उत्तर युग का तात्पर्य उन संयोग प्रक्रियाओं से है, जिनमें क्षीण बलयुक्त कणों वा रश्मियों को बल प्रदान करके पार लगाया जाता है।

भावार्थ— जो छन्द रश्मियाँ किसी कण आदि पदार्थ को प्रकाशित करती हैं, वे स्वयं भी प्रकाशयुक्त होती हैं। प्रकाशविहीन रश्मियाँ कभी किसी पदार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकतीं। सभी प्रकाश रश्मियों में प्रकाश का कारण 'ओम्' रश्मियाँ होती हैं और 'ओम्' रश्मियों में भी प्रकाश का कारण मूल प्रकृति का सत्त्वगुण होता है। जब संयोज्य कणों को संयुक्त करने वाली रश्मियाँ क्षीण बल हो जाती हैं, तब कुछ विशेष प्रकार की सूक्ष्म रश्मियाँ उन छन्द रश्मियों को बल प्रदान करती हैं।

आध्यात्मिक भाष्य— (देवानाम्, नु, वयम्, जाना, प्र, वोचाम, विपन्यया) यहाँ 'अहम्' के स्थान पर 'वयम्' पद का प्रयोग छान्दस है। यहाँ परमेश्वर कहता है कि मैं सृष्टि के सभी दिव्य पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय आदि के क्रम को अपनी सर्वज्ञता और सर्वकर्त्तृत्व के द्वारा प्रत्येक सृष्टि में अवश्य प्रकाशित करता हूँ अर्थात् उसका उपदेश करता हूँ।

(उक्थेषु, शस्यमानेषु, यः, पश्यात्, उत्तरे, युगे) पदार्थों की उत्पत्ति आदि का क्रम [उक्थम् = वागुक्थम् (ष.ब्रा.१.५), शास्त्रप्रवचनम् (म.द.ऋ.भा.१.८६.४)] जो वेद में वर्णित है और जिस रूप में वहाँ मेरी स्तुति की गई है और जो रूप हमें सृष्टि में प्रत्यक्ष वा परोक्ष अनुभूत होता है, उत्तर युग अर्थात् आगामी सृष्टियों में भी वैसा ही रूप बार-२ मैं दर्शाता हूँ। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि और प्रलय के क्रम में प्रत्येक सृष्टि और प्रलय के स्वरूप में समानता रहती है। इसी को अन्यत्र भी कहा गया है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ [ऋ.१०.१९०.३]

अब एक और अन्तिम मन्त्र प्रस्तुत करते हैं— 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्'। यह सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥ [ऋ.१०.१२९.१]

इसका ऋषि प्रजापति परमेष्ठी है। [परमेष्ठी = आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति (श.ब्रा.८.२.३.१३), ऋतमेव परमेष्ठी (तै.ब्रा.१.५.५.१)। ऋतम् = ओमित्येतदेवाक्षरमृतम् (जै.उ.३.३६.५)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सर्वत्र व्याप्त 'ओम्' रश्मियों से होती है। इसका देवता भाववृत्तम् और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से तीक्ष्ण तेजस्विता के साथ सृष्टि प्रक्रिया समृद्ध होने लगती है।

आधिदैविक एवं आध्यात्मिक भाष्य— (न, असत्, आसीत्, नो, सत्, आसीत्, तदानीम्) [सत् = प्राणा वै सत् (तै.सं.७.२.९.३), यत् सत् तत्साम तन्मनस्स प्राणः (जै.उ.१.५३.२), इमे वै लोकाः सतः (श.ब्रा.७.४.१.१४), सत् उदकनाम (निघं.१.१२)। असत् = मृत्युर्वाऽ-असत् (श.ब्रा.१४.४.१.३१)] इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मि अर्थात् 'ओम्' रश्मि के उत्पन्न होने से पूर्व सत् संज्ञक कोई पदार्थ नहीं था। इसका अर्थ यह है कि उस समय कोई भी लोक विद्यमान नहीं था। न कहीं भी उदक अर्थात् द्रव अवस्था का ही कोई चिह्न था अर्थात् न ठोस पदार्थ था और न द्रव पदार्थ था। साम रश्मियाँ न होने के कारण कहीं भी कोई विकिरण भी नहीं था अर्थात् सर्वत्र अनन्त अन्धकार था। उस समय किसी भी प्रकार की प्राण वा छन्द रश्मियाँ भी नहीं थीं और न अहंकार वा मनस्तत्त्व ही विद्यमान था। उस समय सबका प्रेरक कालतत्त्व भी अपनी प्रेरक भूमिका के साथ विद्यमान नहीं था।

इस प्रकार उस समय ऐसी अवस्था थी, मानो कोई भी पदार्थ विद्यमान न हो। इन पदार्थों के न होने से गति, बल, ऊष्मा, ध्वनि, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण आदि कोई भी गुण वा कर्म विद्यमान नहीं थे वा नहीं होते हैं। इतने पर भी उसमें असत् भी नहीं था अर्थात् मृत्यु भी नहीं थी। इसका अर्थ यह है कि इन सब पदार्थों का

अत्यन्त अभाव नहीं था अर्थात् उस समय वस्तुमात्र का अभाव नहीं था। इस प्रकार प्रकट रूप में किसी पदार्थ का भाव नहीं था, परन्तु उनका मूल उपादान कारण अवश्य विद्यमान था, जिसमें ये सभी पदार्थ सर्वथा विलीन थे। इसलिए उसे नितान्त अभाव भी नहीं कहा जा सकता। वर्तमान में इस सृष्टि में पदार्थ की जो भी मात्रा विद्यमान है, उतनी मात्रा उस समय भी विद्यमान थी, परन्तु मूल कारण के रूप में विद्यमान होने के कारण व्यवहार में कुछ भी विद्यमान नहीं था। यहाँ ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'असत्' पद से शून्य आकाश का ग्रहण करते हुए लिखा— 'यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत् तदाऽसत् सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत्। कुतः ? तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावात्' अर्थात् उस समय कहीं रिक्त स्थान (अभावरूप आकाश) भी नहीं था।

(न, आसीत्, रजः, नो, व्योम, परः, यत्) [रजः = रजसः अन्तरिक्षलोकस्य (निरु.१२.७), रजसी द्यावापृथिवीनाम (निघं.३.३०), इमे वै लोका रजांसि (श.ब्रा.६.३.१.१८)] उस समय प्रकाशित-अप्रकाशित किसी भी प्रकार के कोई भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण भी विद्यमान नहीं थे। न उस समय अन्तरिक्ष ही था अर्थात् पदार्थ के मध्य कोई दूरी ही नहीं थी, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ एकरस एवं अदृश्य होकर विद्यमान था। यहाँ 'व्योम' पद के विषय में ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है— 'व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्यं सोऽपि नो आसीत् किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्तत'। जब किसी प्रकार की रश्मियाँ ही विद्यमान नहीं थीं, तब उनसे निर्मित आकाश महाभूत कैसे विद्यमान हो सकता है ? हाँ, परमेश्वर के परम सामर्थ्य में सभी पदार्थ कारण रूप में अवश्य विद्यमान थे।

यहाँ 'व्योम' पद यह भी दर्शाता है कि उस समय जो भी मूल उपादान पदार्थ अव्यक्त रूप में विद्यमान था, उस पदार्थ के अवयवों में न कोई किसी से रक्षित था और न कोई किसी का रक्षक था, न कोई आच्छादक था और न कोई आच्छाद्य था। इसका अर्थ यह है कि प्रकृतिरूपी पदार्थ के अक्षर रूप अवयव प्रलयकाल में पृथक्-पृथक्, सर्वथा स्वतन्त्र, निश्चल और पूर्ण अव्यक्त अवस्था में विद्यमान होते हैं। वे सभी पृथक्-२ रूप से अनादि होते हैं। इस कारण प्रकृति पदार्थ भी अनादि कहा जाता है। यदि अक्षररूप अवयवों के मध्य प्रलयकाल में किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध-संयोग होता, तो उस संयोग के अनादि न होने से प्रकृति रूपी पदार्थ कभी अनादि नहीं हो सकता था। पाठकों को यह बात पूर्णतः हृदयङ्गम

कर लेनी चाहिए। उस समय सबको केवल ब्रह्म ही ढके रहता है।

(किम्, आवरीवः) यहाँ भी उसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि उस समय अक्षररूप अवयव किसी के द्वारा आवरणीय नहीं थे, तब आवरक की भी कोई आवश्यकता नहीं थी, सिवाय ब्रह्म के। (कुह, कस्य, शर्मन्) [शर्म = गृहनाम (निघं.३.४), सुखम् (तु.म.द.ऋ.भा. १.८५.१२), शरणनाम (निरु.९.१९)] कहाँ किसका कोई आवास था? कहाँ किसको सुख था? और कहाँ किसका कोई आश्रयदाता था? इन प्रश्नों से यह अर्थ निकलता है कि कोई भी जड़ पदार्थ किसी अन्य जड़ पदार्थ का आवास वा आश्रय नहीं था, क्योंकि किसी का कोई व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध ही नहीं था। सभी अक्षर रूप अवयव स्वतन्त्र थे और इतना होते हुए भी सम्पूर्ण पदार्थ सर्वथा एकरस था। उस समय कोई भी बद्ध जीवात्मा सुख वा दुःख से ग्रस्त नहीं था, उसकी सभी अनुभूतियाँ और संस्कार नितान्त शान्त थे। यहाँ 'कुह' पद से 'प्रजापति परमात्मा में' अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार 'कस्य' पद का अर्थ 'प्रजापति परमात्मा के आश्रित' भी ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार उस समय सभी मुक्तात्मा प्रजापति परमात्मा का आश्रय पाकर उसमें ही परमानन्द का भोग करते हुए स्वतन्त्र विचरते हैं। अन्य सम्पूर्ण प्रकृति रूपी जड़ पदार्थ एवं बद्ध जीवात्मा परमात्मा में ही अचल व सर्वथा निर्गुण भाव से विद्यमान वा आश्रित रहते हैं।

(अम्भः, किम्, आसीत्, गहनम्, गभीरम्) [अम्भः = अम्भः पद की व्युत्पत्ति करते हुए उणादि-कोष की व्याख्या में ऋषि दयानन्द लिखते हैं— आप्यते तत् अम्भः (उ.को.४.२११)। गहनम् = उदकनाम (निघं.१.१२), कठिनम् (म.द.य.भा.८.५३)। गभीरः = उदकनाम (निघं.१.१२), महन्नाम (निघं.३.३), गभीरा वाङ्नाम (निघं.१.११)] उस समय कौन पदार्थ व्यापक था? कौन पदार्थ उदकरूप अर्थात् सेचनादि क्रियाओं से युक्त था? कौन पदार्थ वाक् रश्मियों के रूप में विद्यमान था? यहाँ इन प्रश्नों से यह अर्थ निकलता है कि उस समय अव्यक्त कारण पदार्थ में न तो कोई व्यापक था और न कोई व्याप्य था। न कोई सेचक था और न कोई सेच्य पदार्थ था। किसी प्रकार की गति का सर्वथा अभाव होने के कारण कोई वागादि रश्मि भी विद्यमान नहीं थी। तब कोई कठिन वा सघन पदार्थ होने का तो प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार उस समय वर्तमान विज्ञान द्वारा माने जाने वाले ठोस, द्रव, गैस, ऊर्जा व आकाश आदि कोई भी पदार्थ विद्यमान नहीं थे अथवा नहीं होते हैं। हाँ, उस पदार्थ के अन्दर और बाहर परम चेतन तत्त्व परब्रह्म परमात्मा अवश्य विद्यमान होता है। पदार्थ की उस

अवस्था के विषय में भगवान् मनु का कथन है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ (मनु.१.५)

अर्थात् यह जगत् प्रलयकाल में गहन अन्धकार से नितान्त ढका रहता है। इसी कारण प्रकृति का एक नाम तमस् भी है। 'अप्रज्ञातम्' अर्थात् उस समय की अवस्था को अच्छी प्रकार से कभी किसी ने नहीं जाना। यहाँ यह अर्थ भी निकलता है कि उस अवस्था को ऋषियों ने जाना अवश्य है और जानकर ही आर्ष ग्रन्थों में वर्णित भी किया है, परन्तु नञ्पूर्वक प्र उपसर्ग यह संकेत करता है कि उसे प्रकृष्ट रूप से नहीं जाना गया है। 'अलक्षणम्' अर्थात् उस पदार्थ में कोई भी लक्षण विद्यमान नहीं होता, जिससे उसकी किसी प्रकार की अनुभूति हो सके। 'अप्रतर्क्यम्' पद यह बतलाता है कि पदार्थ की उस अवस्था पर महान् तत्त्वदर्शी तर्क-वितर्क तो कर सकते हैं, परन्तु बहुत अच्छी प्रकार से गम्भीर तर्क नहीं किये जा सकते, क्योंकि वह पदार्थ अव्यक्त रूप होता है। 'अविज्ञेयम्' पद यह बतलाता है कि कोई व्यक्ति कितना ही महान् ज्ञानी क्यों न होवे, वह उसे विशेष रूप से कभी नहीं जान सकता। वह महर्षियों द्वारा जानने योग्य तो है, परन्तु विशेष रूप से जानने योग्य नहीं है। इस प्रकार पदार्थ की वह अवस्था ऐसी होती है, मानो वह पूर्ण रूप से सोया हुआ हो।

इस प्रकार महाप्रलय काल में जब कोई भी जड़ पदार्थ भाव रूप होते हुए भी अभावरूप हो जाता है, उस समय भी परब्रह्म परमात्मा की सत्ता यथावत् बनी रहती है। वह सत् और असत् दोनों से परे नित्य एकरस विद्यमान रहता है। जब सूक्ष्म वा स्थूल पदार्थों का किसी प्रकार का कोई प्रकाश विद्यमान नहीं होता, क्योंकि वे पदार्थ भी प्रकाशित होने योग्य अवस्था में विद्यमान नहीं होते, वैसी स्थिति में परमात्मा का ज्ञानरूप प्रकाश अवश्य सर्वत्र विद्यमान होता है, जिसके अन्दर मुक्तात्मा सहजता और सुगमता से विचरण करते रहते हैं। वे मुक्तात्मा ब्रह्म को आधार बनाकर उसी में विचरण करते हैं। वही सबको आच्छादित करता, वही सम्पूर्ण आश्रय आवास देता और वही सबमें नितान्त व्याप्त रहता है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसके अन्दर और बाहर उस ब्रह्म की सत्ता विद्यमान न हो।

आधिभौतिक भाष्य— यहाँ उस समय की चर्चा है, जब किसी लोक पर मानव जैसा प्राणी उस लोक के गर्भ से युवावस्था में प्रथम बार जन्म लेता है। उससे पूर्व अनेक भोग योनियों वाले प्राणी जन्म ले चुके होते हैं। उनकी उत्पत्ति भी युवावस्था में भूमि के गर्भ से ही होती

है। उस समय जबकि चार ऋषियों को वेद का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ होता है, उस समय इस पृथ्वी पर क्या परिस्थिति थी अर्थात् युवावस्था में भूमि से उत्पन्न युवक-युवतियों का कैसा समाज था, इसकी चर्चा यहाँ की गई है—

(न, असत्, आसीत्, नो, सत्, आसीत्, तदानीम्) उस समय सत् भी नहीं था अर्थात् किसी मनुष्य को सत्य ज्ञान नहीं था। वह सृष्टि, परमात्मा और स्वयं को यथार्थ रूप में नहीं जानता था। उसमें असत् भी नहीं था। इसका अर्थ यह है कि प्रारम्भिक पीढ़ी के मनुष्य सर्वथा विद्याहीन भी नहीं थे। वे बुद्धिमान्, परम सत्त्वसम्पन्न, अत्यन्त स्वस्थ और बलवान् थे। वर्तमान के महाबुद्धिमानों की अपेक्षा भी उनका बौद्धिक स्तर अत्यन्त उच्च था अर्थात् वे ऋषियों के समान प्रज्ञासम्पन्न थे, परन्तु नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करने से पहले वे उस प्रज्ञा का पूर्ण उपयोग करने योग्य नहीं थे। उनके अन्दर असत्यभाषण आदि व्यवहार किञ्चिदपि नहीं था, परन्तु उन्हें यथार्थ व्यवहारों एवं यथार्थ विज्ञान का भी बोध नहीं था।

(न, आसीत्, रजः, नो, व्योम, परः, यत्) [रजः = ऐश्वर्यम् (म.द.ऋ.भा.३.१.५)] उस समय कोई मनुष्य राज्यादि ऐश्वर्य से युक्त भी नहीं था अर्थात् इस पृथिवी पर कोई राजा नहीं था, कोई किसी का पालक वा नायक नहीं था। इसी प्रकार व्योम अर्थात् कोई किसी का प्रेरक वा मित्र नहीं था। सभी स्वतन्त्र रूप से इस भूमि के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इस कारण किसी का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं था। (किम्, आवरीवः) उस समय कौन किसी का आवरक अर्थात् रक्षक था? अर्थात् कोई किसी का रक्षक और कोई किसी का रक्षित नहीं था, परन्तु परमात्मा ही सबका रक्षक था। (कुह, कस्य, शर्मन्) कहाँ कोई आवास था अर्थात् उस समय मनुष्य का कोई निश्चित आवास नहीं था। कोई किसी का शरणदाता वा शरणागत नहीं था, बल्कि सभी स्वतन्त्र व सुरक्षित जीवन जीने में स्वतन्त्र थे। (अम्भः, किम्, आसीत्, गहनम्, गभीरम्) कौन उस समय ज्ञान व विद्या की दृष्टि से गहन, गम्भीर और व्यापक था अर्थात् कोई नहीं था, केवल परमात्मा ही ज्ञान का स्रोत था।

भावार्थ— सृष्टि की प्रथम पीढ़ी अत्यन्त स्वस्थ, बलवान्, विशालकाय एवं महती प्रज्ञा की धनी होती है। उस पीढ़ी के मनुष्यों को वर्तमान मनुष्य की भाँति अत्यन्त निम्न स्तर से उपदेश करने की भी कोई आवश्यकता नहीं होती, पुनरपि उसको मोक्षरूपी जीवन लक्ष्य प्राप्त करने के लिए एवं सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए नैमित्तिक ज्ञान की अपेक्षा अवश्य होती है। उनकी प्रज्ञा का स्तर ऋषियों जैसा अवश्य होता है, परन्तु उस प्रज्ञा को विद्योपदेश की भी

अनिवार्यता होती है और वह उपदेशक केवल ब्रह्म ही हो सकता है, क्योंकि वही एकमात्र सर्वज्ञ सत्ता है। ऐसी स्थिति में ही चार ऋषियों द्वारा ब्रह्माण्ड से वेद की ऋचाओं को ग्रहण किया जाता है। वे सम्प्रज्ञात समाधि में इन ऋचाओं को ग्रहण करते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध करने की उनकी योग्यता पूर्व सृष्टि अथवा जब भी पहले कभी उन्हें मनुष्य योनि प्राप्त हुई थी, से संस्कार रूप में प्राप्त होती है। वे ऋचाओं का ग्रहण अवश्य कर लेते हैं, परन्तु उन ऋचाओं के अर्थ का बोध ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है। अग्नि, वायु, आदित्य एवं अङ्गिरा ये चारों ऋषि आद्य ब्रह्मा को उन ऋचाओं और उनके ज्ञान का उपदेश करते हैं। वेद की उन ऋचाओं में सम्पूर्ण सृष्टि का वह ज्ञान, जो मानव जाति के लिए अपेक्षित है और उस स्तर का ज्ञान, जिसे वह प्रथम पीढ़ी सहजतया समझ सकती है, विद्यमान होता है। फिर यह ज्ञान सभी मनुष्यों में संचरित हो जाता है।

तदुपरान्त भाष्यकार लिखते हैं— 'सैषाऽऽत्मजिज्ञासा सैषा सर्वभूतजिज्ञासा'। इस प्रकार ये अन्तिम दो मन्त्र अथवा यह सम्पूर्ण खण्ड सभी प्राणियों, विशेषकर मनुष्यों के आत्माओं की जिज्ञासा है अर्थात् शरीर त्याग के उपरान्त आत्मा कहाँ व कैसे जन्म लेता है, उसकी प्रक्रिया व क्रम क्या है, मुक्ति के मार्ग के चरण क्या हैं, सब प्राणियों के प्राण सूर्यलोक व उसके भी प्राण परब्रह्म को जानने की इच्छा करने वालों के लिए इस अध्याय का उपदेश किया गया है। मूल कारण पदार्थ से कार्यरूप सभी पदार्थों की जिज्ञासा का भी समाधान यहाँ किया गया है। तदुपरान्त कहा है—'ब्रह्मण: सारिष्टं सरूपतां सलोकतां गमयति य एवं वेद'। जो इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह परब्रह्म परमात्मा के सर्वथा विघ्नरहित स्वरूप और स्थान को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

अन्त में भाष्यकार लिखते हैं— 'नमो ब्रह्मणे नमो महते भूताय नमो यास्काय ब्रह्मशुक्लमसीय ब्रह्मशुक्लमसीय'। सृष्टि और वेद के कर्त्ता परब्रह्म परमात्मा एवं आद्य महर्षि भगवत्पाद ब्रह्मा को नमन। महान् बुद्धितत्त्व को नमन अर्थात् उस समष्टि महत्तत्त्व को नमन, जिसका कुछ सात्त्विक अंश हम सबको बुद्धितत्त्व के रूप में प्राप्त होता है और यही सभी प्राणियों, विशेषकर मनुष्य जाति का सबसे बड़ा धन है। यहाँ दुर्गाचार्य ने 'नमो पारस्कराय' पाठ को भी उद्धृत किया है। इस पर पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर लिखते हैं—

"यास्काय पद के स्थान में दूसरी शाखा का पाठ पारस्कराय है, क्या परिशिष्टों के साथ पारस्कर का कोई सम्बन्ध है?"

दुर्गाचार्य ने 'पारस्कराय' और 'यास्काय' दोनों पाठ दिये हैं। महर्षि पारस्कर को नमन करना यह स्वयं सिद्ध करता है कि इस परिशिष्ट के लेखक का महर्षि पारस्कर से कोई सम्बन्ध अवश्य था। इसके पश्चात् महर्षि यास्क को नमन किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह अध्याय महर्षि यास्क प्रणीत नहीं है, बल्कि उनके किसी शिष्य-प्रशिष्य वा अनुयायी द्वारा बाद में यह परिशिष्ट के रूप में जोड़ा गया है। परन्तु इससे इस अध्याय का महत्त्व न्यून नहीं हो जाता, बल्कि जो विषय इस ग्रन्थ में नहीं थे, उनको समाविष्ट करके इस परिशिष्ट के लेखक ने ग्रन्थ की महत्ता को और अधिक बढ़ा दिया है। अन्त में ग्रन्थकार ने 'ब्रह्मशुक्लमसीय' का दो बार प्रयोग करके ग्रन्थ की समाप्ति का संकेत किया है। यहाँ 'मंसीय' के स्थान पर 'मसीय' पद का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। इससे वे यह कहना चाहते हैं कि इस निर्वचन विद्या को प्राप्त करे और उससे वेद के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करते हुए परम पवित्र परमात्मा का चिन्तन करे। इस प्रकार यह भी संकेत मिलता है कि इस निर्वचन विद्या के बिना वेद का चिन्तन नहीं हो सकता है और वेद के बिना न परमात्मा का चिन्तन हो सकता है और न उसे प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार मैं परमगुरु सच्चिदानन्द परमात्मा की कृपा से उन्हें तथा उनके महान् भक्तों आद्य परमर्षि ब्रह्मा से लेकर इस ग्रन्थ के लेखक महर्षि यास्क एवं ऋषि दयानन्द पर्य्यन्त भगवन्तों को भावभरा प्रणाम करते हुए यह सम्पूर्ण निरुक्त का भाष्य समाप्त करता हूँ।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)

चतुर्दशोऽध्यायः समाप्यते।

इति निरुक्त-भाष्यं समाप्तम्

इति परब्रह्मणः सच्चिदानन्देश्वरस्याऽनुपमकृपाभाजेन, प्रखरवेदोद्धारकस्य परिव्राजकाचार्यप्रवरस्य श्रीमन्महर्षिदयानन्दसरस्वतिनः प्रबलार्यानुयायिवंशप्रवर्त्तकस्य भारतवर्षस्योत्तरप्रदेशस्थ-हाथरसमण्डलान्तर्गतस्य ऐहनग्रामाभिजनस्य सिसोदिया-कुल-वैजपायेणगोत्रोत्पन्नस्य तत्रभवतः श्रीमतो देवीसिंहस्य प्रपौत्रेण, श्रीघनश्यामसिंहस्य पौत्रेण श्रीमतोः ओम्वतीदेवीन्द्रपालसिंहयोस्तनूजेन वीरप्रसवितुर्राजस्थानप्रान्तस्य जालोरमण्डलान्तर्गत-प्रकाण्डगणितज्ञ-ब्रह्मगुप्त-महाकविमाघजन्मभूर्भीनमाल-निकटस्थभागलभीमग्रामस्थ श्रीवैदिकस्वस्तिपन्थान्यास-संस्थापकेन (वेद-विज्ञान-मन्दिर-वास्तव्येन) ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानम् (वेदार्थ-विज्ञानम्) समाप्यते।

वेद-रक्षार्थ मार्मिक निवेदन

वैदिक सनातन विचारधारा विश्व की सर्वश्रेष्ठ, सनातन एवं सर्वहितकारिणी विचारधारा है। सृष्टि के आदि से लेकर महाभारत काल पर्यन्त वैदिक सत्य सनातन धर्म संसार के मनुष्यों का एकमात्र धर्म रहा। महर्षि ब्रह्मा, भगवान् मनु, महाराजा इक्ष्वाकु, महाराजा हरिश्चन्द्र, भगवान् शिव, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, महर्षि परशुराम, महर्षि वसिष्ठ, महर्षि अगस्त्य, महर्षि भरद्वाज, महर्षि विश्वामित्र, महर्षि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, महावीर हनुमान, महर्षि पतञ्जलि, महर्षि ऐतरेय महीदास, कणाद, कपिल जैसे दिव्य पुरुषों, भगवती उमा, देवी सीता, सती अनसूया, देवी लोपामुद्रा, देवी रुक्मिणी, गार्गी, अपाला जैसी महिमामयी नारियाँ इस वैदिक धर्म की ही देन हैं। वेद प्रतिपादित धर्म (भौतिक व पदार्थ विज्ञान) के कारण सम्पूर्ण आर्य्यावर्त सम्पूर्ण विश्व में सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित था। सम्पूर्ण विश्व भी सुखी, सम्पन्न एवं आध्यात्मिक उन्नति से परिपूर्ण था। भगवान् श्रीराम का राज्य, जहाँ किसी प्राणी को किसी प्रकार का कोई दुःख नहीं था, आज तक संसारभर में विख्यात है।

क्या आप जानते हैं कि इस सबका कारण क्या था? इसका उत्तर वर्तमान काल में केवल ऋषि दयानन्द सरस्वती ने दिया और कहा कि भूमण्डल की सम्पूर्ण उन्नति एवं ज्ञान-विज्ञान व तकनीक की पराकाष्ठा का मूल कारण था— वेद। सभी मनुष्य वेदों के विद्वान् एवं तदनुसार आचरणवान् होते थे। सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान-विज्ञान का विस्तार आर्य्यावर्त से ही हुआ। दुर्भाग्य से महाभारत काल से पूर्व ही आर्य्यावर्त के साथ-साथ विश्व में मनुष्यों के सत्त्वगुण का ह्रास होते जाने के कारण वेदविद्या का भी अत्यधिक ह्रास होने लगा। इस कारण वैदिक सनातन धर्म विद्रूप हो गया। इसके नाम पर पशुबलि, नरबलि, मांसाहार, रंगभेद, छुआछूत, मदिरापान, अश्लीलता आदि पापों का प्रचलन हो गया। इसके प्रतिक्रिया-स्वरूप चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि मतों का प्रादुर्भाव हुआ। चार्वाक मत नितान्त भोगवादी था, परन्तु जैन व बौद्ध मतों के प्रवर्तक पवित्रात्मा होने के कारण सदाचार के पथिक बने, लेकिन महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध मत वैदिक धर्म का प्रबल विरोधी एवं वैदिक साहित्य का विध्वंसक बन गया।

ऐसे अन्धकार भरे काल में कुमारिल भट्ट एवं आद्य शंकराचार्य जैसे महापुरुषों ने

वैदिक सनातन धर्म को आर्य्यावर्त में पुनः प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाया, परन्तु आचार्य शंकर की महती प्रज्ञा से घबराकर वेदविरोधियों ने छल से उन्हें विष दे दिया और इस अद्भुत प्रत्युत्पन्नमति सम्पन्न शास्त्रार्थ समर के योद्धा को भारतभूमि से विदा कर दिया। इनके जाने के पश्चात् इनके अनुयायी भी इनके मन्तव्यों को अच्छी प्रकार समझ नहीं पाये और स्वयं को ब्रह्म मानकर कमण्डलु लेकर मिथ्या वैरागी भिक्षोपजीवी बनकर रह गये। उधर बौद्ध व जैन मतों के द्वारा अहिंसा की मिथ्या परिभाषा के प्रचार से क्षत्रिय भी क्षात्रधर्म भूलकर कायर वा शस्त्रास्त्र-विहीन बन गये।

उधर विश्व के अन्य देशों में पारसी, यहूदी, ईसाई व इस्लाम आदि मत भी प्रचलित होने से सम्पूर्ण विश्व में नाना पापों, दुःखों, अशान्ति व अराजकता का ताण्डव होने लगा। ऐसे दुष्काल में गुरु नानकदेव, संत कबीर, संत रविदास, संत ज्ञानेश्वर आदि ने अपने-अपने स्तर पर समाज को दिशा देने का प्रयास किया, परन्तु वेदविद्या का पूर्ण प्रकाश न होने से ये सभी महापुरुष काल की क्रूर गति को रोक नहीं पाये, बल्कि नये-नये सम्प्रदाय और उत्पन्न हो गये। वेद का नाम लेने वाले कथित ब्राह्मणों ने अन्य वर्णों एवं महिलाओं को वेद पढ़ने से ही वंचित कर दिया और स्वयं भी वेद के नाम पर मात्र कर्मकाण्डोपजीवी होकर रह गये। पशुबलि, नरबलि, मांसाहार, मदिरा सेवन, छुआछूत, नारी शोषण, बाल विवाह, जैसे पाप वैदिक कर्मकाण्ड के नाम पर प्रचलित थे। उधर देश के क्षत्रिय राजा मूर्तिपूजा व फलित ज्योतिष के भ्रमजाल में फँसकर तथा पारस्परिक फूट के कारण विदेशी आक्रान्ताओं से पराजित होने लगे और विदेशी लुटेरे हमारे घर में शासक बन गये। उन्होंने हमारा धन लूटा, हमारे साहित्य को जलाया, तो अंग्रेज उसे लूटकर वा चुराकर अपने देश ले गये। इस प्रकार संसार में हमारा शिरोमणि देश दीन-हीन हो गया। ऐसे समय में इस भारतभूमि में ऋषि दयानन्द जैसे दिव्य पुरुष ने जन्म लिया। उन्होंने वेदविद्या को भुला देना ही, अपने देश के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के अधःपतन का कारण माना।

इस कारण उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति का बिगुल बजाने का संकल्प लिया। स्वराज्य का प्रथम उद्घोष किया, सामाजिक दुरितों के विरुद्ध शंखनाद किया, परन्तु उनके सब कार्यों में से सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था— वेदोद्धार करना। उन्होंने मध्यकालीन वेदभाष्यकारों के भाष्यों के दोषों को दर्शाते हुए वेद की यथार्थ भाष्य शैली, जो वेद के वेदत्व का संकेत दे सकती थी, को संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया। दुर्भाग्यवश ऋषि दयानन्द का जीवन बहुत

छोटा रहा, विधर्मियों ने उन्हें भी संसार से विदा कर दिया। इस कारण उनका वेदभाष्य बहुत ही संक्षिप्त व सांकेतिक रह गया। यही कारण था कि उनके अनुयायी आर्य विद्वान् भी उसे पूर्णतः नहीं समझ पाये और जो शेष वेद का भाष्य इन विद्वानों ने किया, उसमें भी अनेकत्र वही दोष आ गये, जो सायण, महीधर, स्कन्दस्वामी आदि के भाष्यों में विद्यमान थे। आर्यसमाज ने इस देश में स्वाधीनता संग्राम के साथ समाज सुधार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। किसी भी संस्था-संगठन वा सम्प्रदाय से अधिक बलिदान आर्यसमाज ने दिये, परन्तु वेद के अपौरुषेयत्व तथा सर्वविज्ञानमयत्व की सिद्धि की दिशा में विगत डेढ़ सौ वर्ष में भी आर्यसमाज कोई कार्य नहीं कर पाया। आर्यसमाज सदैव शास्त्रार्थ-समर का एकछत्र विजेता भी रहा, परन्तु वेद के यथार्थ विज्ञान के बिना यह विजय अधूरी है।

आज परमपिता परमात्मा ने पूज्य आचार्य अग्निव्रत के रूप में हमें पुनः एक अवसर दिया है। भीनमाल, राजस्थान से 10 कि.मी. दूर एक छोटे से ग्राम में रहकर आचार्य श्री वेदों का वास्तविक स्वरूप संसार के समक्ष रखने का प्रयास कर रहे हैं। इस प्रयास में पहले आपने ऋग्वेद को समझाने वाले उसके ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण, जिसे लगभग सात हजार साल पुराना माना जाता है, का वैज्ञानिक (वस्तुतः वास्तविक) भाष्य 'वेदविज्ञान-आलोकः' (लगभग 2800 पृष्ठ) के रूप में विश्व में पहली बार किया है। यह ग्रन्थ सृष्टि विज्ञान के ऐसे अत्यन्त गम्भीर व अनसुलझे रहस्यों का उद्घाटन करता है, जिनके बारे में विज्ञान की वर्तमान पद्धति से सैकड़ों वर्षों में भी नहीं जाना जा सकेगा।

इसके पश्चात् आचार्य श्री ने वेदों को समझने के लिए वैदिक पदों की व्याख्या करने वाले एक अनिवार्य ग्रन्थ महर्षि यास्क विरचित निरुक्त का वैज्ञानिक भाष्य 'वेदार्थ-विज्ञानम्' (लगभग 2000 पृष्ठ) के रूप में संसार के सामने प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ में आचार्य श्री ने सैकड़ों मन्त्रों का भाष्य किया, किसी मन्त्र का एक, किसी का दो, तो किसी का तीन प्रकार का भाष्य किया है। उदाहरणार्थ 'विश्वानि देव...' मन्त्र का 16 प्रकार का भाष्य कर आचार्य श्री ने यह सिद्ध किया है कि किसी भी वेद मन्त्र के अनेक प्रकार के भाष्य सम्भव हैं, जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.10.11 में कहा है— 'अनन्ता वै वेदाः' अर्थात् वेदों में अनन्त ज्ञान है। ये दोनों ग्रन्थ आर्यसमाज ही नहीं, अपितु सनातन धर्म के गौरव हैं और हमें गर्व है कि हमारे मध्य में आचार्य श्री के रूप में अभी भी ऐसे वैज्ञानिक (वर्तमान की भाषा में) विद्यमान हैं, जो हमें हमारे मूल वेद, ईश्वर, धरती माँ और गौ माता से जोड़ते हैं। यह एक अकाट्य सत्य है कि जो अपने मूल से कट जाता है, वह नष्ट हो

जाता है और यही हो भी रहा है। वेद और ईश्वर से दूर जाता यह संसार निरन्तर विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है।

समाधान एक ही है— हमें आचार्य श्री के इस दुष्कर कार्य में अपना अधिक से अधिक सहयोग करना होगा, नहीं तो समय निकलने के पश्चात् हमारे पास पछताने के अलावा कुछ नहीं बचेगा। भारत के डी.आर.डी.ओ., इसरो से लेकर नासा, सर्न तक व नोबेल पुरस्कार विजेता तक कितने ही वैज्ञानिकों ने आचार्य श्री के अनुसंधान कार्य का लोहा माना है अथवा वर्तमान विज्ञान के सिद्धान्तों पर उठाये प्रश्नों से अभिभूत हुए वा निरुत्तर हुए हैं। जिस कार्य में वैज्ञानिकों को अरबों-खरबों डॉलर खर्च करने के बाद भी सफलता नहीं मिली, वह कार्य आचार्य श्री ने अत्यल्प संसाधनों में एक छोटी सी जगह पर रहकर और विपरीत परिस्थितियों में अनेक प्रकार के विरोधों को सहन करते हुए भी कर दिखाया है। इसके पश्चात् आचार्य श्री की योजना वेदों के ऐसे सूक्तों का भाष्य करने की है, जिनका भाष्य अत्यन्त कठिन है या जिनमें विज्ञान के गम्भीर रहस्य छुपे हुए हैं।

इसलिए हमारा यह कर्त्तव्य बन जाता है कि वैदिक विज्ञान के इस महान् यज्ञ में हम अपनी पवित्र आहुति अवश्य प्रदान करें और परमपिता परमात्मा के आशीर्वाद के पात्र बनें। इसके अतिरिक्त वेद, वैदिक धर्म और राष्ट्र को बचाने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

निवेदक— विशाल आर्य व डॉ. मधुलिका आर्या, प्राचार्य व उप-प्राचार्या,
आधुनिक एवं वैदिक भौतिकी शोध संस्थान
(श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास द्वारा संचालित) भीनमाल (राजस्थान) 343029

जय माँ वेद भारती

वेदार्थ-विज्ञानम्

(महर्षि यास्क विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या)

/vaidicphysics

वेद परमपिता परमात्मा का रहस्यमय व गम्भीरतम सृष्टि विज्ञान है। वेद की ऋचाओं वा स्पन्दनों के द्वारा ही मूल प्रकृति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं प्राणियों के शरीरों की रचना होती है। इसकी न केवल एक-एक ऋचा, अपितु एक-एक पद रहस्यमय विज्ञान को प्रकट करता है। इसी विज्ञान को उद्घाटित करने हेतु हमारे महान् ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रन्थों तथा निरुक्त आदि ग्रन्थों की रचना की। इन महान् ग्रन्थों को समझे बिना कोई वैदिक ज्ञान-विज्ञान को समझने में समर्थ नहीं हो सकता। ये ग्रन्थ उन महान् ऋषियों की अद्भुत एवं महती प्रज्ञा का दिग्दर्शन कराते हुए वेदविज्ञान के रहस्यों को उद्घाटित करते हैं। वेद के महद्द्रष्टा महर्षि यास्क विरचित यह निरुक्त स्वयं एक रहस्यमय ग्रन्थ है।

'वेदार्थ-विज्ञानम्' नामक मेरा यह व्याख्यात्मक ग्रन्थ उन्हीं रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयास है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' के पश्चात् वेद को जानने के लिए यह दूसरा आधारभूत ग्रन्थ है। मुझे आशा है कि इसे पढ़कर प्रौढ़ वैदिक विद्वानों व विदुषियों, गुरुकुलों के ब्रह्मचारियों व ब्रह्मचारिणियों और विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण युवा पीढ़ी को भी वेद का वास्तविक मर्म समझ आ सकेगा।

– आचार्य अग्निव्रत

www.thevedscience.com

ISBN 978-81-976604-6-7

द वेद साइंस पब्लिकेशन